व्यंग्य यात्रा

सार्थक व्यंग्य की रचनात्मक त्रैमासिकी

वर्ष : 5 अंक :21

अक्टूबर-दिसंबर 2009

व्यंग्य का नरेंद्र कोहलीय कोण

मूल्य २० रुपए

नरेंद्र कोहली के सत्तरवें वसंत के कुछ पुष्प

दीप प्रज्जवलन

ऐसे ही खिलते रहें

प्रेम जनमेजय और आशा कुंद्रा

पौत्र भृगु और नचिकेता की मुस्कान

पत्नी, पुत्र, पुत्रवधू और पुत्र के साथ

पुत्रवधू वंदना अपनी भूमिका में

बड़े भाई सुदर्शन कोहली के साथ

चुटकुले का आनंद

पुत्र कार्तिकेय काम पर

खाना खजाना

विनोद जी, श्रीमाली जी और सहाय जी

इतना खाना और खाली प्लेट

प्रेम जनमेजय को लीलावती पुरस्कार- आशा कुंद्रा, रुचिर, के. के.एल.गर्ग, प्रेम जनमेजय, हरीश नवल और बलदेव सिंह बद्दन

प्रेम जनमेजय की 51 श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाओं का लोकार्पण

रमाकांत स्मृति पुरस्कार- वीरेंद्र सक्सेना, राजेंद्र यादव एवं मुरारी शर्मा

वक्तव्य देते रामशरण जोशी

धर्मवीर स्मृति व्याख्यान के अवसर पर निर्मला जैन, रामशरण जोशी, जवरीमल्ल पारख, त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी

गिरिजाकुमार माथुर की सोलहवीं पुण्यतिथि पर एक कविता शाम

व्यंग्य यात्रा

सार्थक व्यंग्य की रचनात्मक त्रैमासिकी

अक्टूबर–दिसंबर 2009
वर्ष–5 अंक–21

एक अंक : 20 रुपए
पांच अंक : सौ रुपए
(डाक व्यय 5 रुपए प्रति अंक अतिरिक्त)
विदेशों में : दो डॉलर प्रति अंक

सहयोग राशि 'व्यंग्य यात्रा' के नाम से ही भेजने का कष्ट करें। दिल्ली से बाहर के चेक पर बीस रुपए अतिरिक्त जोडें।

'केन्द्रीय हिंदी संस्थान', आगरा से आर्थिक सहयोग प्राप्त।

संपादक
प्रेम जनमेजय

संपर्क
73, साक्षर अपार्टमेंट्स, ए-3 पश्चिम विहार
नई दिल्ली-110063
फोन : 011-25264227, 09811154440
फैक्स : 011-25264227
ई-मेल : vyangya@yahoo.com

रेखांकन
राजेंद्र परदेसी

प्रबंध सहयोग/लेजर टाइपसैटिंग
रामविलास शास्त्री
4, शॉपिंग कॉम्प्लैक्स दयाल बाग
सूरजकुंड, फरीदाबाद (हरियाणा)
09911077754, 0129-4092514

'व्यंग्य यात्रा' में प्रकाशित लेखकों के विचार उनके अपने हैं। विवादास्पद मामले दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे। संपादन एवं संचालन पूर्णत: अवैतनिक और अव्यावसायिक।

व्यंग्य का नरेंद्र कोहलीय कोण

अनुक्रम

आंरभ 2-3

आप चंदन घिसें 4-6

तट की खोज 7-11
ज्ञान चतुर्वेदी और प्रेम जनमजय के बीच बहस

पाथेय 13-51
नरेंद्र कोहली की चुनी हुई व्यंग्य रचनाएं
इतना मत रोना मेरी राधे (कविता) 14
इतना मत रोना मेरी राधे (गद्य) 15
हुए मर के हम जो रुसवा 17
एक और लाल तिकोन 26
अमेरिकन जांघिया 27
जगाने का अपराध 29
आश्रितों का विद्रोह 32
आधुनिक लड़की की पीड़ा 35
परेशानियां 38
त्रासदियां खंबा लेखन की 43
प्रश्नों में प्रश्न 47
व्यंग्य और मैं 48

चिंता 53-66
लिखते समय जहां मैं रोया मेरा पाठक रोएगा
हरीश नवल, रवि शर्मा एवं बी.डी. बजाज के साथ बातचीत 53
मैं व्यंग्य को एक विधा ही मानता आया हू–
महावीर अग्रवाल के साथ बातचीत 57
मैं केवल व्यंग्य नहीं लिखता–
प्रेम जनमेजय और राजेश कुमार के साथ बातचीत 61

व्यंग्य का नरेंद्र कोहलीय दृष्टिकोण 67-110
यज्ञ शर्मा 67
सी भास्कर राव 68
सुभाष चंदर 71
मनोहर पुरी 73
जवाहर चोधरी 76
एस मंजुनाथ 80
अजय अनुरागी 84
सतीश पांडेय 87
सुरेश कांत 90
प्रेम जनमेजय 95
हरीश नवल 99
शशि मिश्रा 100
मनहर चौहान 103
रमेश सोबती 104
सविता राणा 106
के.एल. गर्ग 110
संतोष खरे 111
सतीश पांडेय 112

एक व्यक्ति नरेंद्र कोहली 115-141
ज्ञान चतुर्वेदी
एक शिक्षाप्रद लेखक 115
प्रेम जनमेजय
मेरे हिस्से के नरेंद्र कोहली 117
सूर्यबाला
आप! चुप रहिए 122
हरिशंकर आदेश
एक अप्रतिम प्रतिभा 123
गिरीश पंकज
समांतर विधाओं में तालमेल 124
मधुरिमा कोहली
व्यंग्यकार नरेंद्र कोहली 125
सुभाषचंदर
कुछ नोट्स 127
हरीश नवल
मैं केवल व्यंग्य नहीं लिखता 129
कमलेश भारतीय 131
विवेकी राय 132
रमेश बतरा 134
वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता
ईमानदार व्यक्तित्व 134
तेजेंद्र शर्मा
सबंधों का कद्रदान 135
दिनेश कपूर
शीशे का व्यक्तित्व 136
धनराज चौधरी
सरलता एवं अपनापन 137
सी भास्कर राव
नरेंद्र छद्म बुद्धिजीवी नहीं है 137
सोमदेव कोहली
मेरा भाई नरेंद्र 138
मीरा सीकरी
व्यक्तित्व एवं कृतित्व में समान 140
आशा जोशी
कंटीले तार के पीछे 141
डॉ. वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता

अहं स्मरामि 142 -146

परिचय 147-151

पुस्तक एवं समाचार 152-164

आरंभ

हो सकता है, इस अंक के मुखपृष्ठ का दर्शन करते ही, कुछ संतों के मन में निर्वेद-भाव जागा हो, कुछ के मन में जुगुप्सा का, कुछ ने अछूत मान छुआ तक न हो, तथा कुछ ने भक्ति-भाव से इसे सादर ग्रहण किया हो। इसमें संतों का कोई दोष नहीं है, हिंदी साहित्य के अलोचना-प्रभु हैं ही ऐसे, जाकि रही भावना जैसी वाले, लिफाफा देख मज़मून भांपने वाले।

आदमी संत या दार्शनिक हो जाए तो अनेक उलझनों, दुविधाओं आदि से स्वयं तो बच जाता है पर दूसरों को उनमें डाल देता है। 'नाम में क्या रखा है', 'सब दिन होई एक समाना', आदि जैसे स्वर्णिम संतई/दार्शनिक वाक्य आपको सोचने पर विवश करते हैं कि क्या साहित्य में आपकी क्या कोई बिसात है? कबीर, तुलसी, सूर, भारतेंदु, प्रेमचंद, निराला हों या प्रसाद, इन नामों में क्या रखा है। नया साल हो, जन्मदिन या विवाह की वर्षगांठ, क्या फर्क पड़ता है? आप ऐसे संतों को किसी भी दिन की बधाई देकर देखिए- आप तो बड़े उत्साह में बधाई देते हैं परंतु वहां से जो प्रतिक्रिया मिलती है उसके सामने आपकी बधाई का सारा उत्साह झड़ जाता है। उत्साह तो झड़ता ही है साथ में बोनस के रूप में उपदेशात्मक स्वर भी सुनाई देता है। यह उनका स्वर होता है जिनके पास धन-धान्य सब होता है, नहीं होता है तो जीवन को सुखद पलों में बदलने का उत्साह। जो अभावग्रस्त है, जिसके पास खाने के ही लाले पड़े हों तो उसका नाम बिड़ला हो या अंबानी, नया साल हो शादी की सालगिरह, कोई अर्थ नहीं रखते। उसके लिए अर्थ रखती है तो अर्थाभाव में नित नई होती गरीबी। हां कुछ संत/दार्शनिक गरीबी का लबादा ओढ़, उदासीन तथा लटकी मुद्रा बनाने, मन की लाख चाहत के बावजूद अपनी हिपोक्रेसी के अवगुंठन में छिपने को ही विशिष्ट कर्म मानते हैं। मैं ऐसा संत नहीं हूं, इसलिए मुझे तिथियों और अवसरों से जुड़ी, अपनी तथा अपने करीबियों की, छोटी-छोटी खुशियां मनाना अच्छा लगता है। अपनी इसी असंतई सांसारिक मानसिकता को मैंने 'व्यंग्य यात्रा' से भी जोड़ा है। इसके प्रवेशांक का प्रकाशन हरिशंकर परसाई के जन्मदिन को केंद्र में रखकर किया गया था। श्रीलाल जी के जन्मदिन पर इसका 'श्रीलाल शुक्ल विशेषांक' निकालने के सार्थक प्रयत्न किए गए। 'व्यंग्य यात्रा' के पाठक, संपादक की इस असंतई मुद्रा से परिचित ही हैं।

6 जनवरी, 1940 हो सकता स्यालकोट में रहने वाले कोहली परिवार की कोई अति विशिष्ट घटना न रही हो परंतु धीरे-धीरे यह दिन हिंदी साहित्य के लिए महत्वपूर्ण हो गया। नरेंद्र कुमार कोहली नाम का बालक, हिंदी-साहित्य की, नरेंद्र कोहली के नाम से, वृद्ध-विभूति बन गया।

नरेंद्र कोहली का साहित्यिक व्यक्तित्व बहुमुखी है। उनमें लेखन की जठराग्नि विद्यमान है जो उन्हें बिना लिखे चैन से नहीं बैठने देती। वे नियमित लेखन में विश्वास ही नहीं करते अपितु अपने लिखे हुए को व्यवस्थित करने में भी विश्वास करते हैं।

साहित्य के गलियारों में ये ही खबर गुंजायमान हैं कि नरेंद्र कोहली इन दिनों प्रख्यात घटनाओं पर आधारित उपन्यासों के सृजन में ही रत हैं और ऐसे में अनपढ़ पाठकों के लिए ये खबर कि वे व्यंग्य रचनाओं का सृजन भी कर रहे हैं, चौंकाने वाली ही है। जिस निरंतरता के साथ नरेंद्र कोहली ने प्रख्यात कथा पर आधारित उपन्यासों का सृजन किया है उसी निरंतरता के साथ व्यंग्य रचनाओं का सृजन भी जारी रखा है। ये दीगर बात है कि व्यंग्य-लेखन के अपने आरंभिक काल में उन्होंने 'आश्रितों का विद्रोह', 'शंबूक की हत्या' और 'पांच एब्सर्ड उपन्यास' जैसी आकार में बड़ी व्यंग्य रचनाओं का सृजन किया पर बाद में वे 'महासमर' और 'तोड़ो कारा तोड़ो' जैसी वृहद् उपन्यास-श्रृंखला का सृजन तो करते रहे पर व्यंग्य के क्षेत्र में उन्होंने किसी वृहद् श्रृंखला का सृजन नहीं किया।

नरेंद्र कोहली ने जब लिखना आरंभ किया था उस समय व्यंग्य के क्षेत्र में हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवीन्द्रनाथ त्यागी ही छाए हुए थे और ऐसे में नए लेखकों के सामने स्वयं को दोहराने का खतरे से बचने और कुछ नया प्रस्तुत करने की चुनौती थी। नरेंद्र कोहली ने इस चुनौती का बखूबी सफलता के साथ सामना किया। शिल्पगत वैविध्य का हिंदी व्यंग्य साहित्य में अभाव रहा है पर इस अभाव को नरेंद्र कोहली ने तोड़ा है। हिंदी व्यंग्य वस्तुनिष्ठ अधिक रहा है। यही कारण है कि हिंदी व्यंग्य के रचनाकारों नें कथ्य की विविधता पर अधिक बल दिया है। व्यंग्य के संबंध में नरेंद्र कोहली का मत है कि वह पीड़ा से उत्पन्न होता है। हिंदी व्यंग्य साहित्य में एब्सर्ड उपन्यासों के वे एक मात्र सर्जक हैं, इतने मात्र कि वे एब्सर्ड रचनाओं का पुनः सृजन नहीं कर पाए। पांच एब्सर्ड उपन्यास प्रयोग-मात्र ही रह गए।

नरेंद्र कोहली निरंतर व्यंग्य लिख रहे हैं, जिसका परिणाम है उनके पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित 'आत्मा की पवित्रता', 'जनतंत्र का गणित', 'मेरे मोहल्ले के फूल', 'सबसे बड़ा सत्य', 'वह कहां है' आदि व्यंग्य संकलन। ये उनके निरंतर व्यंग्य लेखन का ही परिणाम है कि 'व्यंग्य यात्रा' के लिए उनसे उनकी श्रेष्ठ रचना का चुनाव करने के लिए कहा तो उन्होंने अपनी इधर की रचना का चुनाव किया और लिखा— अलग-अलग समयों पर पृथक-पृथक कारणों से विभिन्न रचनाएं प्रिय लगने लगती हैं। बहुत लंबे समय तक मैं 'अस्पताल' को अपनी सर्वाधिक प्रिय रचना मानता रहा। किंतु उसके पश्चात भी बहुत कुछ ऐसा लिखा गया है, जो मुझे प्रिय भी है और लेखन की दृष्टि से महत्वपूर्ण भी।'

व्यंग्य लेखन में जिस स्पष्टवादिता की आवश्यकता होती है वह नरेंद्र कोहली के लेखन और व्यक्तित्व में है। वे जो हैं, उसे छिपाते नहीं हैं और अपनी विचारधारा के प्रति शर्मिंदा नहीं हैं अपितु उसके प्रति दृढ़ हैं। इस दृढ़ता के फलस्वरूप उनके वैचारिक शत्रु (वे ऐसा ही मानते हैं) स्पष्ट हैं। ऐसे में वे न तो यह अपेक्षा करते हैं कि उनके 'शत्रु' उनके प्रति नम्र हों और न ही उनसे नम्र रहने की अपेक्षा रखें। आप कह सकते हैं कि इस मामले में वे असहिष्णु हैं। संभवतः इसी कारण उनकी व्यंग्य रचनाओं में आत्म-व्यंग्य की कमी है।

सत्तर के नरेंद्र कोहली

जैसा मेरा मन श्रीलाल जी के जन्मदिन, 31 दिसंबर, पर विशेषांक निकालकर उन्हें 'व्यंग्य यात्रा' की ओर से, उनकी दीर्घ साहित्य-यात्रा को प्रणाम करते हुए, उन पर केंद्रित अंक साहित्यिक - उपहार के रूप में देने का था, पर समयानुसार हो न सका, वैसा ही मन था कि नरेंद्र कोहली को उनके सत्तरवें जन्मदिन पर, 6 जनवरी 2010 को, 'व्यंग्य यात्रा' का उन पर केंद्रित अंक प्रकाशित कर उन्हें भेंट स्वरूप दिया जा सके, पर ये भी समयानुसार हो न सका। परंतु इस देरी का यह लाभ हो गया कि नरेंद्र कोहली के सत्तरवें जन्मदिन पर उनके कुछ चित्र मिल गए। नरेंद्र कोहली के साहित्यिक मित्र उतने नहीं होंगे जितने उनके गैर साहित्यिक मित्र हैं। मैं मित्रों की बात कर रहा हूं, परिचितों की नहीं। उनके मित्रों की यह दुनिया, जो मित्रता के इन अर्थों में सार्थक है कि मित्रता के संबंधों में औपचारिकता नहीं होनी चाहिए। नरेंद्र कोहली के मित्रों की इस दुनिया का विकास उनके द्वारा अपने ग्रेटर कैलाश वाले किराए के मकान को छोड़कर अपने वैशाली, पीतमपुरा वाले मकान में आने के बाद से हुआ है। औपचारिक नमस्कार से आरंभ हुई यह मित्र-मंडली पिछले अनेक वर्षों में अत्यधिक ठोस ही हुई है। जैसा कि मैंने कहा इस मंडली की सबसे बड़ी विशेषता है अनौपचरिकता। यह एक वसुदेव कुटुम्ब जैसा परिवारिक 'संगठन' है, जिसमें प्रख्यात इतिहासविज्ञ प्रो. कृष्ण मोहल श्रीमाली और उनकी पत्नी वंदना, प्रख्यात छायाचित्रकार एवं अंग्रेजी के वरिष्ठ प्राध्यापक सुरेंद्र सहाय और उनकी मिनाक्षी सहाय, प्रख्यात चिकित्सक के.एल. जैन और उनकी पत्नी उषा जैन, कृष्णलाल धाम और उनकी पत्नी सुदेश धाम, विनोद प्रकाश और नकी पत्नी करुणा तथा प्रख्यात राजनीतिशास्त्री स्व. रोशनलाल गुप्ता और उनकी पत्नी नवीन गुप्ता शामिल हैं। इस मंडली में गर्म बहसें भी होती हैं तो बंता-संता के चुटकले भी चलते हैं। एक दूसरे की टांग खिंचाई भी होती है और एक दूसरे की उपलब्धि पर हार्दिक बधाई भी। सामान्यत: यह मित्र मंडली एक दूसरे के जन्मदिन, विवाह की वर्षगांठ को शाम को सामूहिक रूप से मनाती है पर इसे मनाने की कोई अनिवार्यत: नहीं है। सुबह जिसका जन्मदिन या वर्षगांठ हो, उसे शुभकामना दी जाती है और यदि मेजबान का सम्मिलित आयोजन का मन हो तो वह सबको उस शाम घर बुला लेता है। इस बार नरेंद्र कोहली के सत्तरवें जन्मदिन पर कोई साहित्यिक आयोजन नहीं था। 6 जनवरी की शाम इसी मित्र-मंडली के नाम थी जिसमें मुझे और मेरी पत्नी आशा को भी पहली बार निर्मंत्रित किया गया था। नरेंद्र कोहली के जन्मदिन की उस सत्तरवीं शाम के चित्र 'व्यंग्य यात्रा' के पाठकों के लिए दिए जा रहे हैं।

इस अंक के माध्यम से प्रयत्न यह है कि नरेंद्र कोहली के व्यंग्यकार व्यक्तित्व का एक संपूर्ण परिचय 'व्यंग्य यात्रा' के पाठकों को मिल सके एवं इसी कारण नरेंद्र कोहली पर पूर्व प्रकाशित आलेखों का भी इस अंक में प्रयोग किया गया है। नरेंद्र कोहली बहुत ही व्यवस्थित लेखक हैं। उनकी फाईलिंग कैबिनेट में, उनके अब तक के लेखन से संबंधित लगभग सारी सामग्री उपलब्ध है। मैंने उनसे यह संस्कार रत्ती मात्र भी ग्रहण नहीं किया है। जितने वे व्यवस्थित हैं उतना ही मैं अव्यवस्थित। इस कारण मुझे नरेंद्र कोहली से संबंधित पुरानी सामग्री के लिए नरेंद्र कोहली की शरण लेनी पड़ीं। 'व्यंग्य यात्रा' आभारी है कि अपनी तमाम व्यस्तताओं के बावजूद उन्होंने हमारी सहायता की है। उनके व्यवस्थित होने के इस गुण को ज्ञान चतुर्वेदी के संस्मरणात्मक लेख में देखा जा सकता है।

बहस के लिए स्तंभ- 'तट की खोज'

इस अंक से 'व्यंग्य यात्रा' बहस का एक स्तंभ आरंभ करने जा रही है, 'तट की खोज'। व्यंग्य के पाठकों को ज्ञान तो होगा ही कि 'तट की खोज' परसाई जी के निबंध/व्यंग्य संकलन का नाम है। इस स्तंभ का उद्देश्य है व्यंग्य पर स्वस्थ बहस हो और व्यंग्य का स्वरूप स्पष्ट हो तथा कोई तट मिले। 'नई दुनिया' ने अपने 6 दिसंबर 2009 के अंक में ज्ञान चतुर्वेदी द्वारा लिखे गए एक आलेख से एक बहस की शुरुआत की। ज्ञान ने व्यंग्य से जुड़े कुछ मुद्दे बहुत गंभीरता से उठाए पर कुछ जगह मैं ज्ञान से सहमत नहीं था। मैंने ज्ञान से फोन पर बात की और 40 मिनट की बातचीत में लगा कि मुझे अपनी असहमति जाहिर करनी चाहिए और उस असहमति पर ज्ञान को जो असहमति है उसे वो जाहिर करे। ज्ञान ने मेरी असहमति पर जो असहमति जाहिर की उस पर मुझे असहमति थी पर मैं जाहिर न कर सका क्योंकि संपादक ने ज्ञान की असहमति को प्रकाशित कर बहस को बंद कर दिया। मुझे लगता है कि यह बहस और चलनी चाहिए थी। मैंने जब विष्णु नागर से यह कहा तो उन्होंने कहा कि आप 'व्यंग्य यात्रा' में चलाइए।

व्यंग्य से जुड़े महत्वपूर्ण मुद्दे हैं जिन पर व्यंग्यकार को सोचना चाहिए। वरना अट्टहास 2009 की गोष्ठी जैसे निष्कर्ष निकलेंगे कि व्यंग्य को आलोचना की बैसाखी की जरूरत नहीं तथा व्यंग्यकार को आलोचना की चिंता नहीं करनी चाहिए। आलोचना व्यंग्य का महत्वपूर्ण तत्व है- अजब विसंगति है कि दूसरों की आलोचना करना वाला निरंकुश हो अपनी आलोचना से विरक्त होना चाहता है। कविता, कहानी, उपन्यास को लेकर निरंतर बहसें होती रही हैं, और नई कविता के कम पाठक होने के बावजूद वह निरंतर चर्चा में है और व्यंग्य का विशाल पाठक वर्ग होते हुए भी वह दोयम दर्जे का दर्जा पा रहा है। व्यंग्य का अतीत बताता है कि हम बहस से बचते रहे हैं और यदि बहस की भी है तो पिटे पिटाए मुद्दों पर।

आशा है व्यंग्य का युवा इस आवश्यकता को समझेगा और व्यंग्य के प्रति अपने आधुनिक दृष्टिकोण से परिचित करवाएगा।

भिक्षाम् देहि...आभार

आशा जोशी, इंद्रसिंह जीत, उमा शशि दुर्गा, जवाहर चौधरी, रामविलास जांगिड, राजेंद्र निशेष, लक्ष्मीनारायण, विनोदशंकर शुक्ल, श्यामसुंदर गोइन्का, शांति प्रकाश कुंद्रा, श्रवण कुमार उर्मालिया, श्रीकांत चौधरी, संतोष खरे, सुधा ओम ढींगड़ा।

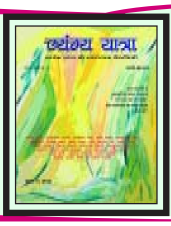

आप चंदन घिसें

डॉ. अजय नावरिया, दिल्ली

एक विधा को लेकर ऐसा सुसाध्य आयोजन आपकी कर्मठता, प्रतिबद्धता और दूरदर्शिता को दिखाता है। आभारी इस अर्थ में भी हूं कि आपको अशोक चक्रधर प्रसंग में मेरी ईमानदारी विवेकपूर्ण लगी।

यूं तो जुलाई-सितंबर 2009 पूरा ही पलट गया, परंतु हरिशंकर परसाई की व्यंग्य रचना 'जैसे उनके दिन फिरे' दोबारा पढ़कर जैसे एक नई दृष्टि मिली। संज्ञा उपाध्याय की आलोचना भी इस संदर्भ में पढ़ी. . .अच्छी है। यहां मैं थोड़ा रुककर कहना चाहूंगा कि इस व्यंग्य का संबंध सिर्फ तत्कालीन या समकालीन जनतांत्रिक राजनीति से ही नहीं है बल्कि भारतीय समाज व्यवस्था के विद्रूप और राजनीति के सामंतवादी विद्रूप के अन्य संबंध से भी है। आखिर हम चार राजकुमारों को चार वर्णों या जातियों के रूप में देखकर उसका एक अर्थ पाते हैं और यह अर्थ, अंततः कब अनर्थ पैदा करता है, यह रचना स्पष्ट करती है।

अंक, सूर्यबाला जी को समझने का भी एक वातायन बना है।

आपके कुशल संपादन का ही परिणाम ऐसी सार्थक पत्रिका है। इस विधा का उद्धार या परिष्कार अब आपके हाथों में ही है।

श्यामसखा 'श्याम', रोहतक

आप जिस लग्न, निष्ठा से एक के बाद एक सार्थक अंक निकाल रहे हैं वह आज के युग में विस्मयकारी है। मैं बिना लाग-लपेट के कह सकता हूं कि आज के दिन अगर कोई पत्रिका-पत्रिका के स्टैंडर्ड पर खरी उतर रही है तो वह व्यंग्य यात्रा ही है। आप जिस तरह साहित्य के उन पुरोधाओं पर विशेषांक निकाल रहे हैं जो न तो किसी खेमे से जुड़े हैं न किसी ऐसे पद पर आसीन हैं जो आपको कोई फायदा पहुंचा सकें, इसके अलावा आप नव आगंतुक व्यंग्य लेखकों को जिस तरह प्रकाश में ला रहे हैं, आपका यह काम कभी न कभी शोध-कर्ताओं द्वारा हिंदी साहित्य व पत्रकारिता में मील का पत्थर माना जाएगा। ऐसा मेरा विश्वास है।

इस अंक में सभी लेखकों ने आदरणीया सूर्यबाला जी के बहुआयामी व्यक्तित्व पर लिखा है वह भी अपने आप में विशेष है। मैं भाई ज्ञान चतुर्वेदी से शत-प्रतिशत सहमत हूं। सूर्यबाला जी ने मसि-कागद जैसी छोटी पत्रिका को भी आरंभ से अपना स्नेह दिया। और हमारे विशेषांकों महिला लेखन पर आधारित या प्रथम प्रकाशित व नई कहानी की जुगलबंदी पर आधारित अंकों में भी सबसे पहले रचना इन्होंने ही भेजी थी। एक बार तो हमने उन्हें पत्र लिखा और दो माह तक पत्र न आने पर फोन किया तो उनके घर से सूर्यबाला जी के अमेरिका होने की सूचना मिली, मैंने फोन पर जवाब देने वाले से अपने पत्र को उन तक पहुंचाने का अनुरोध किया, तीसरे दिन अमेरिका से सूर्यबाला जी का फोन आया और उन्होंने बतलाया कि उनके घर से मसि-कागद हेतु कहानी पोस्ट कर दी गई है। मैं एक बार फिर आपको अंक दर अंक सफल अंक निकालने पर बधाई देते हुए, साहित्य जगत के स्वार्थ हेतु आपके स्वस्थ व दीर्घ जीवन की कामना करते हुए सिमटने की इजाजत चाहता हूं।

सुबोध कुमार श्रीवास्तव, भोपाल

तुमने 20 अंक निकाल लिए और सभी एक पर एक ग्यारह। कमाल है। इस पर निरंतर लेखन भी। कहां से चुराते हो इतनी ऊर्जा। भैया, मुझे भी बतला दो।

पढ़ना-लिखना मना है पर इतना तो लिखना ही था। व्यंग्य को लेकर तुम्हारी पहल रंग ला रही है, दर्जनों नए लेखक सामने आ रहे हैं। बधाई।

डॉ. रामनारायण सिंह 'मधुर', वाराणसी

अशोक चक्रधर के संदर्भ में राजेन्द्र यादव को संबोधित आपका पत्र दिलचस्प व्यंग्यात्मक तो है ही, परोक्ष रूप से कईयों के 'पोल' खोलने वाला भी है।

त्रिकोणीय में सूर्यबाला पर अच्छी सामग्री दी गई है। जो उनके व्यंग्य लेखन पर अच्छा प्रकाश डालती है।

व्यंग्य रचनाओं का आस्वादन करना भी पाठक को मजेदार लगता है, साथ विसंगतियों एवं अव्यवस्थाओं से भी रूबरू कराता है। चिंतन में व्यंग्य पर समीक्षात्मक आलेख हिंदी व्यंग्य की दशा-दिशा का दिग्दर्शन कराते हैं। अन्य स्तम्भ भी सम्यक और समीचीन हैं।

'व्यंग्य यात्रा' व्यंग्य विधा की सशक्त पत्रिका है।

विनोदशंकर शुक्ल, रायपुर

त्रिकोणीय में सूर्यबाला को पढ़ा और उनकी व्यंग्य ऊर्जा से प्रभावित हुआ। बाला होते हुए भी उनकी व्यंग्य रचनाओं में चंद्र की अपेक्षा सूर्य तत्व प्रधान है, यह अच्छी बात है।

संपादकीय में आपके मंचीय कविता की अच्छी खबर ली है। ये कवि बीस-तीस चुटकुले सुनाने के बाद यह याद आने पर कि वे कविता के मंच पर हैं, दो-एक कविता भी सुना देते हैं। राजेन्द्र जी के कथन पर आपका आहत होना अर्थहीन है। उनके अमृत वचनों को बैठे-ठाले की पब्लिसिटी समझकर ग्रहण कीजिए।

सुबोध कुमार श्रीवास्तव, बलराम, श्रीकांत चौधरी, मधुसुदन पाटिल आदि पुराने चावलों को पढ़कर आनंद आया। काफी नए चने भी हैं। जो पकने की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं।

विजय प्रकाश बेरी, वाराणसी

आपके कुशल संपादन में प्रकाशित स्तरीय रचनाएं वैचारिक एवं मर्मस्पर्शी हैं। खासकर कथाकार सूर्यबाला जी की और उनके लिए संयोजित रचनाएं एक साहित्य साधिका की साधना से परिचित कराने में विशेष महत्व की हैं।

आपने इसी अंक में 'हिंदी प्रचारक शताब्दी सम्मान' की सूचना भी प्रकाशित की है। पूर्ववर्ती अंकों की भांति यह अंक भी पठनीय एवं हमारे लिए संग्रहणीय है।

श्रीकांत चौधरी, दमोह

जनवरी-जून 2009 अभी भी पूरी तरह नहीं पढ़ पाया, फिल्मी पत्रिका की तरह व्यंग्य यात्रा को देखना नहीं पढ़ना पड़ता है। तुम्हारा व्यंग्य नाटक 'सोते रहो' गहराई तक मार करता है और तुमने साबित किया है कि तुम बहुमुखी प्रतिभा के धनी हो, अध्यापन, संपादन और व्यंग्य में नाटक का सशक्त लेखन तो सबसे ज्यादा कठिन है। यह प्रतिभा मुझमें नहीं। ज्यादा गर्वित होने की जरूरत नहीं, तुम्हारी रचना से भी ज्यादा दमदार कुछ रचनाएं हैं इस अंक में। यह कामना जरूर है कि तुम कुशल सफल लेखक संपादक बनकर व्यंग्य यात्रा को द्वैमासिक करने में कामयाब रहो क्योंकि व्यंग्य के क्षेत्र में भारत की यह इकलौती पत्रिका है जो व्यंग्य अभिव्यक्ति का सार्वजनिक मंच बन गई है। द्वैमासिक और नियमित होना उतनी ही बड़ी उपलब्धि है जितना कि भारत का विदेशी कर्ज से मुक्त एक स्थायी अकंलकित सरकार का होना। खुदा खैर करे, कभी ऐसा हो काश!

डॉ. राधाकृष्ण विश्वकर्मा, ओड़ीसा

'व्यंग्य यात्रा' अच्छी लगी। व्यंग्य रचनाएं भी अच्छी हैं। परंतु आज यह सोचने वाली बात हो गई है कि एक तरफ हम हिंदी की तन मन धन से सेवा कर रहे हैं, पैसा बहा रहे हैं। साहित्यकार अपनी मेहनत लगन से साहित्य सेवा करने में कोई कसर नहीं छोड़ रहे हैं। उसी देश में हिदी में शपथ लेने पर पिटाई की जा रही है। क्या हम साहित्यकारों को यही दिन देखना बाकी रह गया था। ऐसा लगता है हमारी नसों में अब भी गुलामी की धारा ही बह रही है। अंग्रेजी के बंधन से हम मुक्त नहीं हो पाए हैं। पूरे देश को इस विषय पर सोचना होगा और ठोस कदम उठाने होंगे। वरना आपकी हमारी तथा अन्य हिंदी सेवी संस्थाओं के परिश्रम, इस मिट्टी में मिल जाएगें। कितनी सोचने वाली बात है कि अंग्रेजी पढ़ने और बोलने के लिए लोग लालायित हो रहे हैं तथा हिंदी बोलने पर पिटाई की जाती है। हिंदी साहित्य के लिए शायद उससे बड़ा कलंकित समय प्रत्यक्ष रूप से और दूसरा आज की तारीख में नहीं हो सकता।

मुर्शरफ आलम ज़ौकी

यादव जी के नाम आपका खुला पत्र पढने का इत्तेफाक हुआ। काश इस तरह के पत्र कुछ और लोगों के भी नाम होते।. . .कितने ही ग्रुप, कितने ही षड्यंत्र- अवार्ड से लेकर आलोचना द्वारा किसी को बड़ा बनाने का। अब भगवान दास मोरवाल को ही लीजिए . . .किताब के प्रकाशन से अवार्ड की गतिविधियों तक . . .(इसके पश्चात मुर्शरफ आलम ज़ौकी ने ढेर सारे नाम, संस्थान गिनाएं हैं। हमारा मकसद व्यक्तिगत बहसों मे न उलझ कर प्रवृति की विसंगति लाना है, व्यक्ति की नहीं- संपादक). . .एक अलेखक जिसे कलम थामनी भी नहीं आती आलोचक उसे आसमान पर पहुंचा देते हैं। 'पाखी' के जनवरी अंक में मेरा एक लेख देखेंगे। . . .बहुत अंधेरा है. . .और यादव को बहुत करीब से जानने के बाद अहसास होता है, वो नाहक बदनाम किए गए . . .साहित्य प्रदूषण को हटाना है, नाम लेना सीखिए। वहां भी लड़िए जहां आपके समस्त दरवाजे बंद हो सकते हैं।

देश के तमाम साहित्यकारों को लेखन के साथ-साथ 'हिंदी' की अस्मिता पर भी सोचना होगा।

व्यंग्य यात्रा से प्रभावित हुआ।

मुकेश रंजन, जमशेदपुर

व्यंग्य की बेहतरीन पत्रिका वो भी इतनी कम कीमत में क्या कहने। आपने हरिशंकर परसाई, शरद जोशी इत्यादि व्यंग्य के नामचीन लेखकों की परंपरा का बखूबी से निर्वहन किया है और इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण है आपके द्वारा संपादित 'व्यंग्य यात्रा'। 'व्यंग्य श्री' से सम्मानित प्रख्यात व्यंग्यकार सूर्यबाला पर आपने इतनी सार्थक जानकारी दी जिसे पढ़कर मन प्रसन्नता से नाच उठा! ज्ञान चतुर्वेदी का लेख 'जैसी हैं वैसी बनी रहें सूर्यबाला' दिल को छू गया। शैलेन्द्र अस्थाना की व्यंग्य रचना 'भगवान से चक चक' एक उत्कृष्ट व्यंग्य रचना लगी।

श्रीराम पाण्डेय भार्गव, रायनगर

पठन-पाठन अपनी विसंगति है। लोग पूछते हैं, 'घोर आर्थिक युग में शब्दों के प्रति इतना मोह क्यों?' मैं कहता हूं, 'बिना शब्द के अर्थ का प्रयोजन क्या?' जुलाई-सितंबर 2009 का अंक पढ़ रहा हूं। प्राय: मेरी अभिरूचि धार्मिक पुस्तकें पढ़ने में रही है। गीता प्रेस की पुस्तकों का दीमक मैं अब आपकी व्यंग्य यात्रा को चाट रहा हूं। व्यंग्य विधा में गंभीर चिंतन, समसामयिक विषयों पर मनन आपके संपादन का उदात्त चरित्र है जो मन को भाता है। हिन्दी साहित्याकाश में समबद्धता का स्थान शिविरबद्धता ने ले लिया है। रचना की उत्कृष्टता पर कम रचनाकार की चाटुकारिता पर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा है। ऐसी विषम परिस्थिति में आपका सृजन संभार स्तुत्य है, वरेण्य है।

सैली बलजीत, पंजाब

सच कहूं, आप व्यंग्य ग्रन्थ निकाल रहे हैं, इतनी स्तरीय सामग्री इकट्ठी कर रहे हैं। आप, आपका श्रम निस्संदेह रंग ला रहा है। रचनाएं अभी बीच-बीच में ही पढ़ी हैं। सूर्यबाला पर ढेर-सी सामग्री पढ़ने को मिली। अच्छा लगा। कवितायें भी खूबसूरत हैं। आपका यह प्रयास स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा, एक दिन।

स्नेहलता पाठक, रायपुर

त्रिकोणीय में डॉ. सूर्यबाला पर अच्छी जानकारी पढ़कर प्रसन्नता हुई। यह जानकारी देकर आपने शोध छात्रों का हौसला बढ़ाया है। इसके साथ ही आपकी व्यंग्य यात्रा में तमाम साम्रगी के साथ श्रीलाल शुक्ल-व्यंग्य-स्कूल के बड़े शालीन मास्टरजी और डॉ. उर्मिला मिश्रा का हिन्दी साहित्य में व्यंग्य विशेष रूप से रूचिकर लगा।

भगवान से चकचक, जमुना गंगा आख्यान, डंडा ददाति विनयम आदि व्यंग्य रचनाएं भी आज के सत्य से साक्षात कराने में सफल लगीं। इस तरह हम जैसे व्यंग्य रसिकों के लिए आपकी व्यंग्य यात्रा पूरी खुराक बन जाती है। आपकी पत्रिका के साथ मेरी वाचन यात्रा तब तक पूरी नहीं होती जब तक उसके अंतिम पृष्ठ तक नहीं पहुंच जाते। अपनी व्यंग्य यात्रा में सहयात्री बनाए रखें।

उर्मिकृष्ण, अंबाला

'व्यंग्य यात्रा' हाथ में आई, ऐसा लगा जैसे कोई बिछड़ा हुआ मीत मिल गया। आप तो इसे निश्चित अंतराल से निकालते हैं किन्तु मुझे प्रतीक्षा लंबी लगती है। आज के समय में व्यंग्य ही तो ऐसी विधा है, जिसको पढ़ने में बहुत आनंद आता है। क्योंकि इसे पढ़ने वाला तो आनन्दित होता है और जिस पर लिखा गया है वह तिलमिलाता रहता है। अभी तो हरिशंकर परसाई के शब्दों में जैसे उनके दिन फिरे, हमारे आपके भी फिरें, यात्रा समय के साथ चलें।

त्रिभुवन राय, मुंबई

प्रभात अंक की प्रभावी प्रस्तुति के लिए हमारी ओर से बधाई स्वीकार करेंगे। आपके दो टूक और बेधक आरंभ की जितनी प्रशंसा की जाए कम है।

डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ, अलीगढ़

'व्यंग्य यात्रा' का नया अंक 'त्रिकोणीय' में 'सूर्यबाला' पर अच्छी सामग्री है।
शायद आपको पता हो कि रोशनलाल सुरीवाला नहीं रहे। एक टिप्पणी उन पर भेजूंगा।

राजीव नामदेव, 'राना लिधौरी', टीकमगढ़

त्रिकोणीय में सूर्यबाला जी पर चर्चा बहुत पसंद आई। मैं भी उनका प्रशंसक हूं। सूर्यबाला जी भारत की प्रलभ महिला व्यंग्यकार हैं जिन्होंने इतनी ख्याति पाई है। उनके व्यंग्य मन पर गहरी छाप छोड़ते हैं। हरिशंकर परसाई जी (जैसे उनके दिन फिरे) ने व्यंग्य यात्रा में चार चांद लगा दिए। आरंभ में राजेंद्र यादव जी के नाम खुला पत्र पढ़ा, बहुत बढ़िया लिखा है आपने, 'जाकि रही भावना जैसी. . .' बधाई। व्यंग्य यात्रा का सफर अंत तक यूं ही चलता रहे यही कामना है।

रघुनंदन चिले, दमोह

निरंतर निखरती जा रही है 'व्यंग्य यात्रा'। उसके सौंदर्य में अभिवृद्धि हो रही है और सौष्ठव में चार चांद लग रहे हैं। व्यंग्य-शिल्पियों की चतुरंगिणी सेना को 'धर्म क्षेत्रे, युद्ध क्षेत्रे' कुरुक्षेत्र मिल गया है। इसके विशाल फलक में उन्हें अपने कौशल की पटा-बनेटी घुमाने का सुअवसर उपलब्ध होने लगा है। 'व्यंग्य यात्रा' के सारथी होने के नाते आपको बधाई।

शिव शर्मा, उज्जैन

जब दूरस्थ गांव के एक पाठक का पत्र आया कि उसने 'व्यंग्य यात्रा' में मेरा आलेख पढ़ा है तो आश्वस्त हुआ कि आपका और मेरा लेखन निरर्थक नहीं जा रहा है। मैं यह मानता था कि ही लिखते और स्वयं पढ़ते हैं। 'व्यंग्य यात्रा' ने लंबी यात्रा तय कर ली है जो आदिवासी क्षेत्र में भी पढ़ी जाती है। शहरी क्षेत्र में तो फुरसत नहीं है पढ़ने-लिखने की।

व्यंग्य के शलाका-पुरुष हरिशंकर परसाई की कालजयी रचना 'जैसे उनके दिन फिरे' प्रकाशित कर आपने उनके जन्मदिन पर उन्हें स्मरण-प्रणाम किया है। परसाई जी की रचना-प्रक्रिया पर संज्ञा उपाध्याय का सशक्त लेख 'व्यंग्य को अपना औजार और हथियार बनाते हैं परसाई' प्रकाशित कर मणि कांचन योग उपस्थित कर दिया है। सूर्यबाला की रचनाएं तथा उन पर दिग्गज व्यंग्यकारों के लेख पठनीय हैं।

सुधारानी श्रीवास्तव, जबलपुर

'व्यंग्य यात्रा' जुलाई-सितंबर अंक हाथ में है। परसाई जी को समर्पित करके आपने हमारे नगर को सम्मानित किया है। हमारी व्यंग्य यात्रा के गुरु परसाई जी थे। हमारा बहुत आना जाना था। आपने हमें बरसों पीछे धकेल दिया। बुढ़ापे में जब इंद्रियां शिथिल हो जाती हैं तो व्यक्ति यादों में डूबता इतराता है। हम तो अब डूबते सूरज हैं।
कहानी-कविता ता लिखते ही थे पर 13 अप्रैल 1975 को महादेवी जी जबलपुर सुभद्रा कुमारी चौहान की प्रतिमा का अनावरण करने पधारीं तो हम कुछ साहित्यकार बहनें उनसे मिलीं। हमारी मां इलाहाबाद की थीं व महादेवी जी मौसी होती थीं। उन्होंने हमें देखा तो भड़क गईं बोलीं- 'वकील होकर सुधा तू महिलाओं के लिए क्या कर रही है।' पर हथौड़े ने दिमाग पर ऐसा प्रहार किया कि लेखन की दिशा बदल गई।
सूर्यबाला पर लेख अच्छे लगे। महिला हूं न, अतः किसी महिला का सम्मान अच्छा लगता है।

सूर्यकांत नागर, उज्जैन

हमेशा की तरह अंक पठनीय और विचारप्रधान है। शरद जोशी, रामदरश मिश्र, रवींद्रनाथ त्यागी, हरीश नवल जैसे रचनाकारों की लेखनी से अंक समृद्ध हुआ है। कैलाश मण्डलेकर की जवाहर चौधरी की व्यंग्य-दृष्टि पर टिप्पणी सार्थक है। कठिन और चुनौतीपूर्ण कार्य को सफलतापूर्वक संपन्न करते रहने के लिए बधाई।

संदीप रशिनकर, इंदौर

'व्यग्य यात्रा' का अंक देखकर अभिभूत हुआ। पत्रिका कथ्य, कलेवर व प्रस्तुतिकरण के स्तर पर प्रभावशाली बन पड़ी है। आपके परिकल्पकतापूर्ण संपादन से यह पत्रिका निरंतर नए आयाम स्थापित करे।

शिवभूषण सिंह 'गौतम', छतरपुर

व्यंग्य विधा पर इतनी अच्छी पत्रिका तथा स्तरीय सामग्री पहली बार देखकर सुखद आश्चर्य हुआ। एक से बढ़कर एक आलेख, सभी उल्लेखनीय एवं स्मरणीय हैं। धारदार बेलाग, बिना किसी संकोच के तीक्ष्ण तथा लक्ष्य पर सीधा आक्षेप ही नहीं, प्रक्षेप करती सामग्री संजोने के लिए आप निश्चय रूप से बधाई के पात्र हैं। पुस्तक परिचय तथा समाचार स्तंभ भी उपयोगी एवं ज्ञानवर्धक हैं।

हलीम आईना, कोटा

व्यंग्य के सूरमा भोपालियों के साथ नाचीज की कविता छपी तो दिल कमल-सा खिला। पांच लाइनें उड़ा देने से, कविता फ्लो का राम नाम सत्य हो गया। संपूर्ण अंक व्यंग्य के विद्यार्थियों के लिए पढ़ना जरूरी है।

जलज भादुड़ी, कोलकत्ता

राजी सेठ, सूर्यबाला, वेदप्रकाश अमिताभ, राजेंद्र परदेसी, श्याम सखा 'श्याम' तथा आपको पढ़कर प्रसन्नता हुई। सभी लेखक मेरे बड़े पुराने मित्र हैं। कुछ मुद्रण दोष हैं। अनुक्रम में काफी लंबे चौड़े आलेख हैं, पढ़ने में समय लगेगा। पर आनंद आ रहा है।

तट की खोज

हरिशंकर परसाई का व्यंग्य संकलन है- तट की खोज। मुझे लगता है कि हिंदी व्यंग्य विशाल सागर में गोते तो लगा रहा है परंतु उसके पास तट नहीं है। बहुत आवश्यक है उस तट के खोज की जो व्यंग्य को सीमा में बांध एक स्वरूप दे सके। इसलिए इस अंक से 'व्यंग्य यात्रा' में नया स्तंभ आरंभ किया जा रहा है। व्यंग्य लेखन के साथ-साथ आवश्यक है कि व्यंग्य से जुड़े गंभीर मुद्दों पर भी सार्थक बातचीत हो। 'व्यंग्य यात्रा' के प्रकाशन का उद्देश्य ही यह है कि व्यंग्य कैसा लिख जा रहा है, इस पर चर्चा हो। जितनी मात्रा में व्यंग्य लिखा जा रहा है उस मात्रा में आलोचना नहीं। इस बहस की शुरुआत ज्ञान ने 'नई दुनिया' के ६ दिसंबर अंक में की थी। अखबार की अपनी सीमा होती है, उसे व्यंग्य के अतिरिक्त बहुत कुछ और भी प्रकाशित करना होता है। 'व्यंग्य यात्रा' की सीमा ये है कि उसे व्यंग्य के अतिरिक्त और कुछ, बहुत कम प्रकाशित करना होता है। इसलिए इस बहस को 'व्यंग्य यात्रा' में आरंभ किया जा रहा है। आपकी बेबाक टिप्पणियां आमंत्रित हैं।

ज्ञान चतुर्वेदी

'समाज और व्यंग्य का समाज'

साहित्य समाज का दर्पण है- इस लोकप्रिय उक्ति के संदर्भ में यदि हिंदी व्यंग्य को तौलने बैठूं तो पहला प्रश्न ही यह बनता है कि क्या (वर्तमान) हिंदी व्यंग्य को वास्तव में समाज का दर्पण कहा जा सकता है? यह दर्पण ऐसा क्यों है कि समाज इसके कांच को टेजमेज मानकर, इसमें मात्र हंसने के लिए ही झांकना चाहता है, बस? यह तो एक बात। पर दूसरी बात है कि प्रायः यह दर्पण दोनों ही तरफ से काला है और कोई तस्वीर बनती ही नहीं। प्रश्न यह है कि दर्पण तैयार करते हुए वर्तमान हिंदी व्यंग्य दर्पण की टेकनालॉजी और व्यंग्य के सौंदर्यशास्त्र से इतना अनजान क्यों है कि शीशे को सब तरफ से काला करके बैठा है और फिर दुखी है कि लोग हमारे दर्पण में झांकते क्यों नहीं? यह दर्पण या तो बहुत काला है या एकदम घिसा-घिसा, ऐसा क्यों है? यह दर्पण स्थायी रूप से राजनीति छुटभैयों की ठिठोलियों और औरतों की दिशा में ही क्यों टिका रहता है? या फिर क्या व्यंग्य इतनी अलग चीज है कि इसका समाज से रिश्ता दर्पण वाले उक्त मेटाफर से आगे निकल गया है?

वैसे भी वृहत्तर अर्थों में समाज और साहित्य के अंतर्संबंधों का प्रश्न बेहद जटिल विषय है। व्यंग्य के संदर्भ में सोचो तो यह और भी जटिल लगता है। मेरे व्यंग्य के पाठक जिस तरह के प्रश्न कई बार पूछते हैं उससे तो यही प्रतीत होता है। कई तरह क`प्रश्न आप व्यंग्य ही क्यों लिखते हो? व्यंग्य समाज की गड़बड़ियों की तरह ही क्यों देखता रहता है? व्यंग्य इतनी 'निगेटिव' बातें क्यों करता है? समाज में तना कुछ सुंदर और मंगलमय भी तो है, व्यंग्य उसे क्यों नहीं देखता? अच्छा, यह बताएं कि यदि समाज पूरा ठीक और आदर्श हो जाये तब तो व्यंग्यकार बेरोजगार हो जाएगा? आप इतने लंबे समय से व्यंग्य लिख रहे हैं तो आपके लिखने से समाज ठीक हो गया क्या? बल्कि क्या एक भी आदमी आपका लिखा पढ़कर बदल गया? आपके व्यंग्य लिखने से समाज को क्या मिला? आप व्यंग्य लिखते बैठे हो, इससे बेहतर क्यों नहीं इन्हीं मुद्दों के लिए समाज में उतरकर कोई सामाजिक या राजनीतिक आंदोलन चलाएं? फील्ड में क्यों नहीं उतरते? क्यों नहीं 'एक्टीविस्ट' लेखक बनते?

एक तरह तो इस तरह के तीखे तो इस तरह के तीखे प्रतीत होने वाले भोले प्रश्न और एक तरफ ऐसे मूर्ख प्रश्न भी कि आपका तो नाम भी है। तो क्यों नहीं आप टीवी चैनलों के 'लाफ्टर शो' में जाते? आप भी अहसान कुरैशी टाइप 'व्यंग्य' क्यों नहीं परोसते? आप टीवी के लिए कुछ क्यों नहीं लिखते? टीवी हमारे वर्तमान समय का बेहद महत्वपूर्ण हिस्सा है और हिंदी व्यंग्य से उम्मीद की जा रही है कि है कि वह वैसा 'टीवी साहित्य' क्यों नहीं पैदा कर रहा जिसमें पैसा, चमक और लोकप्रियता है? समाज के सामान्यजन का बड़ा तबका टीवी पर नाम आने के बाद ही आपको कायदे का व्यंग्यकार मानने को तैयार है। उनका आग्रहपूर्ण प्रश्न है कि हिंदी व्यंग्य टीवी से क्यों नहीं जुड़ता? और यह आग्रह प्रबल होता जाता है।

फिर कुछ प्रश्न जो हिंदी साहित्य में अपने समाज के प्रायः कवि,

कथाकार, आलोचक आदि बीच के बीच प्रायः पूछे और कहे जाते हैं, वे प्रश्न भी व्यंग्यकारों को विचारणीय लगने चाहिए जोकि वे इन्हें विचारणीय मानते नहीं। एक प्रश्न तो यही कि क्या कारण है कि प्रायः साहित्यकार व्यंग्यकार को और व्यंग्यकर्म को कमतर कर्म मानते हैं? क्यों वे व्यंग्यकार के साथ दिखने में शरमाते हैं? क्यों वे परसाई का परिचय बेहतरीन गद्यकार के रूप में ही देते हैं और क्यों श्रीलाल शुक्ल को व्यंग्यकार कह दो तो वे इसका बुरा भी मान सकते हैं? हिंदी के कुछ महत्वपूर्ण लोग व्यंग्य लेखन को बेहद एकायामी लेखन मानकर दोयम दर्जे की चीज मानते हैं। भोपाल के ही एक बड़े कहानीकार ने एक बार मुझसे अपनी यह महत्वपूर्ण आब्जर्वेशन बताई थी कि ज्ञान, तुमको नहीं लगता कि ज्यादातर हिंदी व्यंग्य लेखन में लेखक एक ऊंचे स्थान पर बैठकर बाकी सबको नीचा मानकर समाज के बारे में इकतरफे फतवे टाइप देता मिलता है। वह इस 'ऊंचे बैठकर' लिखने को ही ऊंची दृष्टि क्यों मानता है? व्यंग्यकार गहरे में क्यों नहीं उतरता? क्यों उसकी रचनाएं एक 'ओवरव्यू' सा बनकर, टिप्पणीनुमा बयान बनकर रह जाती हैं? वह जीवन के बारे में कोई गहरी बात क्यों नहीं कहता / कह पाता? वह अपने बनाए ऊंचे 'पेडस्टल' से उतरकर समाज का हिस्सा बनकर, समाज में क्यों नहीं गहरे उतरता कि उसकी रचनाओं में तात्कालिकता से परे जाकर वह गहराई और गंभीरता आए जो रचना को अधिक ग्राह्य तथा लंबे समय तक टिकने वाला बनाये। परेशानी यह है कि 'व्यंग्य के तेवर में' कभी परसाई और शरदजोशी ने ही 'क्षणभंगुर रचनाओं की पैरवी' करते हुए वक्रोक्ति में कुछ लिखा था। जिसे आज व्यंग्यकार ऐसी तात्कालिक तथाकथित व्यंग्य टिप्पणियों के पक्ष में प्रयोग करने से नहीं चूकते जबकि इन दिग्गजों की प्रायः रचनाओं में यह क्षणभंगुरता है ही नहीं। व्यंग्यकार को अपनी रचनाओं की क्षणभंगुरता पर ऐसा अभिमान क्यों है? वे पूछते हैं। व्यंग्यकार साहित्य की सरहदों से बाहर पत्रकारिता, बयानबाजी, मंचीयतेवरों के इलाके में इतनी आवाजाही क्यों करता है? वह अपनी हर रचना में एक सरलीकृत अंत का अविष्कार करने की कोशिश क्यों करता है? यह उसकी हिम्मत है कि हिमाकत?

प्रश्न ये भी उठते हैं कि क्या इस अग्रसर होते समाज में व्यंग्य लिखना बेहद सरल नहीं हो गया है क्योंकि विसंगतियां इतनी बढ़ गई हैं कि व्यंग्य लिखते चले जाओ और मुद्दे समाप्त ही न हों? प्रश्न यह भी है कि फिर भी आजकल व्यंग्य जैसा मारक और बेधक क्योंनहीं लिखा जा रहा जैसा परसाई, जोशी के जमाने में लिखा जाता था? ऐसे कठिन समय में जब अभिव्यक्ति का एकमात्र सटीक उपाय व्यंग्य ही रह गया हो तब व्यंग्य रचना सरल कर्म हो जाता है या और भी कठिन? परसाई के जमाने में हमारे पूर्वजों ने जो बातें फैंटेसी में रची वे इस उत्तर-आधुनिक समाज में ओज यथार्थ बन चुकी हैं, ऐसे में क्या परसाई के जमाने के व्यंग्य के हथियार और उपादान आज के व्यंग्यकार को अपने समय के समाज पर व्यंग्य रचने में मदद पर पा रहे हैं? क्या यह कटु सत्य नहीं है कि हिंदी व्यंग्य को परसाई, शरद जोशी आदि से आगे का रास्ता स्वयं तलाशना, तराशना और बनाना होगा? पाठक समाज यदि आज के व्यंग्य से नये विषयों, शैली, भाषा, कहन आदि की अपेक्षा करता है तो गलत क्या है?

मित्रो, समाज और हिंदी व्यंग्य पर विचार करने बैठो तो इतने अंतर्गुफित, उलझे हुए प्रश्न सामने आते हैं कि हिंदी व्यंग्यकार घबराकर या जानबूझकर उनसे कन्नी काट जाता है। पर कब तक?

प्रेम जनमेजय

काले दर्पण का सच

रविवार 6 दिसंबर का कुछ महानुभावों के लिए भारतीय राजनीति में विशेष 'महत्व' है। इस दिन का 'नई दुनिया' का पेज 12 खोला तो अनुभव हुआ कि इस दिन का हिंदी-व्यंग्य-साहित्य में भी कुछ मतलब हो गया है। शीर्षक था- व्यंग्य का दर्पण दोनों तरफ से काला है' और ऐसा कहने वाले का नाम लिखा था ज्ञान चतुर्वेदी। पहली प्रतिकिया मन ने ये ही दी कि यह ज्ञान को क्या हो गया। जो ज्ञान वर्षो से अपने रचना कर्म के द्वारा व्यंग्य के दर्पण को निरंतर स्वच्छ कर रहा है, जिसने हिंदी व्यंग्य के इस मिथ् को तोड़ा है कि 'राग दरबारी' के बाद कोई अच्छे व्यंग्य उपन्यास नहीं लिखे गए और जो निरंतर अपने लेखन के माध्यम से सार्थक व्यंग्य की एक सही तस्वीर प्रस्तुत करने में संलग्न है, वो ही कह रहा है कि व्यंग्य का दर्पण दोनो ओर से काला है। क्या हमारे कुछ अग्रज रचनाकारों की तरह ज्ञान को भी व्यंग्य काजल की कोठरी लगने लगा है जिसमें घुसने से दागी कहलाए जाने का भय हो रहा है। उसे भी उम्र के इस दौर मे स्वयं को व्यंग्यकार कहलवाने से शर्मीदगी होने लगी है और वो शपथपूर्वक कह रहा है कि उसने जो भी किया पर व्यंग्य लिखने का गुनाह नहीं किया माई लार्ड! ज्ञान चतुर्वेदी को मैंनें कभी व्यंग्य-लेखक होने के लिए शर्मिंदा होते नहीं देखा है अपितु जो अग्रज व्यंग्यकार शर्मिंदगी महसूस करते हुए दृष्टिगत हुए उनसे ज्ञान को सवाल करते ही पाया है।

फिर, व्यंग्य का दर्पण दोनों ओर से काला है जैसा स्वर्णिम वाक्य क्यों?

वो साहित्य हो, राजनीति हो या साहित्य की राजनीति हो और विशेषकर हिंदी साहित्य की राजनीति हो वहां दो प्रकार के आलोचक पाए जाते हैं- एक वे जो पढ़कर आलोचना करते हैं और दूसरे वे जो बिना पढ़े आलोचना करते हैं। बिना पढ़े आलोचना करने वाले ये आलोचक अक्सर पिच्छलग्गू किस्म होते हैं जो अपने-अपने हाई कमांड की ओर नज़रें गढ़ाए, किसी भी विषय पर होने वाली उनकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा करते हैं। जैसे ही श्रीमुखों से स्वर्णिम वाक्य उच्चरित होते हैं वैसे ही संगठनों के ये स्वयंसेवक उनको लपक लेते हैं और राम-नाम की माला जपने लगते हैं। ऐसी ही माला बहुत दिनों से हिंदी-साहित्य में जपी जा रही है कि व्यंग्य नाम की कोई चीज नहीं होती है, यदि है तो बहुत घटिया है, इतनी घटिया एक अच्छी रचना इस विधा में दो कौड़ी की भी नहीं रह जाती है। हिंदी व्यंग्य के विरुद्ध लामबंद ऐसे प्रचारकों को डॉ. ज्ञान का यह 'कन्फेशंस-सा' लगने वाला वाक्य निश्चित ही स्वास्थ्यवर्द्धक टॉनिक सिद्ध होगा। जैसे कुछ लोग व्यंग्य को विधा बनाने के व्यवसाय में लिप्त हैं वैसे ही कुछ व्यवसायी व्यंग्य को दोयम दर्जे का साहित्य सिद्ध करने में व्यस्त हैं। इन व्यावसायिओं के लिए ज्ञान ने एक अच्छा मुद्दा दे दिया है।

ज्ञान चतुर्वेदी के आलेख के शीर्षक से ही संतुष्ट हो जाने वाले और अपना प्राप्य पाया-सा जान लेने वाले बहस वीरों के लिए तो यह लेख आरंभ में ही समाप्त हुआ माना जाएगा और इसे नारे की तरह न उछाला जाए तो गनीमत ही होगी। परंतु जो इस गहराई में जाकर जानना चाहेंगें कि ज्ञान को आखिर ऐसा कहने की आवश्यकता क्यों पढ़ी, वे अपनी जिज्ञासा की शांति के लिए इसे अंत तक पढ़ेंगे और मेरे जैसे तो इसे दो-तीन बार भी पढ़ ले तो कोई आश्चर्य नहीं। ज्ञान ने अपने आलेख में बहुत ही जेनुइन सवाल उठाए हैं। ये आलेख नहीं है अपितु कुछ महत्वपूर्ण सवालों की एक श्रृंखला है जो रचनात्मक सोच के उस सृजनशील रचनाकार ने प्रस्तुत की है जो इनसे अपने सृजनशील क्षणों में दो-चार होता रहा है। वस्तुतः यह समाकलीन हिंदी व्यंग्य की वो चुनौतियां हैं जिनसे ज्ञान जैसे जेनुइन रचनाकार का जूझना ही होगा वरना इस दर्पण के पत्थर बन जाने में कोइ कसर नहीं रहेगी। ज्ञान के ये सवाल सोचने और रिएक्ट करने को बाध्य करते हैं।

इस आलेख को पढ़ने के बाद मैंने ज्ञान से लगभग पौन घंटे फोन पर बात की और उसके सवालों के समांतर उसके सामने कुछ सवाल भी रखे।

मेरे सवाल हैं- क्या सभी व्यंग्यकार (ज्ञान चतुर्वेदी समेत) व्यंग्य के शीशो को काला करके बैठे हैं? क्या सभी व्यंग्य के सौंदर्यशास्त्र अथवा इसकी टेकनोलॉजी से इतने अनजान हैं? क्या समग्र हिंदी-व्यंग्य-साहित्य का दर्पण स्थायी रूप से राजनीतिक छुटभैयों की ठिठोलियों और औरतों की दिशा में टिका रहता है? क्या व्यंग्य केवल नेगेटिव सोच ही पैदा करता है? क्या टीवी एक अलग माध्यम नहीं है और यदि लाफ्टर शो का रिश्ता व्यंग्य से जोड़ा जा सकता है तो क्या घटिया धारावाहिकों का रिश्ता कथा-साहित्य से नहीं जोड़ा जा सकता? यदि व्यंग्यकार से पूछा जा सकता है कि तुम अहसान कुरेशी टाइप क्यों नहीं लिखते, तो क्या किसी 'श्रेष्ठ' कथाकार से सवाल नहीं किया जा सकता कि वह प्यारेलाल आवरा या गुलशन नंदा टाइप क्यों नहीं लिखता? व्यंग्य ही क्यों, संपूर्ण साहित्य टीवी से क्यों नहीं जुड़ता? क्या सभी व्यंग्यकार गहरे में नहीं उतरते हैं और समस्त कथाकार,नाटककार और कवि गहरे में ही उतरे पाए जाते हैं? क्या परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, मनोहरश्याम जोशी, ज्ञान चतुर्वेदी, विष्णु नागर आदि (आदि की सूची काफी लंबी है) जैसे व्यंग्य लेखक सतही हैं? क्या व्यंग्य-लेखन साहित्य लेखन से अलग की वस्तु है? क्या व्यंग्यकार के सामाजिक सरोकार वही नहीं हैं जो एक कथाकार, कवि या नाटककार के हैं? क्या स्तरहीनता केवल व्यंग्य में ही है, कहानी, उपन्यास, नाटक कविता आदि में नहीं? क्या छलनी का प्रयोग साहित्य की अन्य विधाओं के लिए ही किया जा सकता है, व्यंग्य के लिए नहीं? सूरे होके, ये व्यंग्यकार, काहे घिघियात है?

ज्ञान चतुर्वेदी

दर्पण की चिंता में

मेरे लेख 'व्यंग्य का दर्पण दोनों तरफ से काला है' की प्रतिक्रिया में मेरे मित्र प्रेम जनमेजय का लेख 'काले दर्पण का सच' पढ़ा।

लेखन में इतना लोकतंत्र तो होना ही चाहिए जाहं आप मित्रों, वरिष्ठों तथा साथियों की राय पर अपनी राय बेखरके प्रकट कर सकें। मैं और प्रेम दोनों ही हिमायती रहे हैं। बिना लागलपेट के अपनी राय प्रकट करने की स्वतंत्रता देने की प्रवृत्ति ने हमेशा हमारी मित्रता को ताकत ही दी है। प्रेम की प्रतिक्रिया एकदम निर्दोष तथा काफी हद तक भोली ही है, उसकी एक दो बातों पर अपना पक्ष नहीं दूंगा तो मेरी चुप्पी के गलत अर्थ लिए जा सकते हैं, इसलिए यह लेख लिखना पड़ रहा है।

मुझे प्रेम के पूरे लेख में उसके इस वाक्य और धारणा पर सख्त ऐतराज है कि 'उसे भी उम्र में इस दौर में स्वयं का व्यंग्यकार कहलवाने पर शर्मिन्दी होने लगी है।' मैं दो कारणों से इस पर सहमत नहीं। एक तो यह कि प्रेम मुझे मेरी उम्र बाद दिला रहा है, और दूसरा यह कि मुझे इतने करीब से जानने के बावजूद उसे संदेह हो रहा है कि मैं लेखन की ओछी राजनीति का मोहरा / खिलाड़ी बनने की चाहत रखता हूं और उसी के तहत, बाकायदा प्लान करके मैंने उक्त लेख लिखा होगा जो मुझे व्यंग्यकारों की जमात में बाहर मात्र एक अच्छा गद्यकार बताएगा (यह लेख किस कोण से ऐसा बता रहा है यह मैं जान नहीं पा रहा हूं) 'उम्र के इस मोड़' या 'दौरे' का क्या मतलब? मित्र, टुच्चेपन और स्वार्थसिद्धि की कोई उम्र नहीं होती। करने वाले कभी भी कर सकते हैं और मेरी तो परेशानी ही यह है कि मैंने मेडिकल कॉलेज के दिनों के बाद भी यह अहसास ही नहीं किया कि उम्र बढ़ी है। मुझसे जब तक कोई पूछ न ले या वरिष्ठ वगैरह संबोधित करके याद न दिला दे मुझे अहसास ही नहीं होता की सत्तावान साल का हो चुका। गोविंद मिश्र ने कभी मुझे कहा भी था कि ज्ञान, तुममें एक किशोर लड़का जिंदा है, तभी तुम ऐसी खिलंदड़ी भाषा लिख लेते हो। सच यह है कि लेखन, डाक्टरी और परिवार की जिम्मेदारियों के बीच कब समय गुजर जाता है, पता ही नहीं चलता। उम्र के बारे में सोचने की फुर्सत ही नहीं कभी न ही इस लेखे-सोखे की कि लिखकर क्या मिला या मिल सकता है। हर रचना को लिखते-भेजते हुए अभी भी नौजवान, नये लेखक की तरह घबराता और चिंतित होता हूं इस बार बात ठीक बनी कि नहीं? एक बात और। लेखन को मैंने कभी भी एक कैरियर के तौर पर नहीं बरता। कभी पुरस्कार, अपनी किताब पर किसी भी तरह की समीक्षा, गोष्ठी, सम्मान, कमेटियों, ज्यूरी, संपादक, आलोचक को ध्यान में रखकर कुछ नहीं किया। बस, लिखा। लिखता रहा हूं। लिखता हूं क्योंकि व्यंग्य लिखे बिना मुझसे रहा नहीं जाता। मजबूरी टाइप मान लें। व्यंग्य लिखता हूं। कहानियों पर अपनी तरह से आलोचनानुमा भी लिखा है। पर व्यंग्यकार ही कहता हूं स्वयं को, और कोई मुझे व्यंग्यकार कहे तो बड़ा गर्व और सुख भी अनुभव करता हूं। हास्यकार भी कह दो तो अच्छा लगता है। व्यंग्यकार कहकर आप मुझे परसाई, शरदजोशी, श्रीलाल शुक्ल, पीवी बुडहाउस, बर्नाड शॉ, हब्नेइंसा, युसुफी साहब आदि की बड़ी व्यंग्य परंपरा के खानदान से जोड़ते हैं। यह बड्प्पन की बात है, शर्मिंदगी की नहीं। मैंने उक्त लेख लिखकर वैसी कोई

राजनीति नहीं की है। मैं हिंदी लेखन की राजनीति और लेखन के राजनीतिज्ञों से कितना दूर रहता हूं इसे भोपाल के सभी लेखक मित्र जानते हैं और दिल्ली के भी और प्रेम तो खूब जानते हैं। फिर भी!

दरअस्ल मैंने यह लेख विष्णुनागरजी के आग्रह पर लिखा था। उनका आदेश था कि व्यंग्य समाज को, समाज व्यंग्य को और साहित्य समाज व्यंग्यकारों को कैसे लेते हैं– इसको मिलाकर कुछ लिख सको तो लिख दो। तो मैंने इस लेख को प्रश्नों की एक श्रृंखला सी बनाकर लिखा। इसमें पहला पैराग्राफ छोड़ दें तो बाकी के लेख में वे प्रश्न हैं। प्रश्न सही भी है, बेवकूफी भरे भी हैं, इनमें राजनीति के तहत आरोपों की तरह पूछे प्रश्न भी हैं, गलतफहमीवश पैदा प्रश्न भी हैं, नासमझ प्रश्न भी हैं और व्यंग्य की चिंता में पूछ गए जायाज प्रश्न भी इनमें हैं। मैंने बिना कोई पक्ष लिए वे सारे प्रश्न इस लेखे में डाल दिए थे। हो सकता है कि नागरजी यदि शायद सीमा न रखते तो लेख को पड़ा करके इनके उत्तर भी अपनी समझ से देता। केवल प्रश्न उठाकर रह जाना कॉलम में स्पेस की सीमा के कारण था। वह मेरी समझ या नीयत की सीमा नहीं थी।

निश्चित ही व्यंग्य के दर्पण को दोनों तरफ से काला करने पर उतारु लोगों में वे सारे नाम (तथा स्वयं प्रेम जनमेजय, हरीश नवल, पूरन सरमा, लतीफ घोंघी, विनोद शंकर शुक्ल, सुधीर ओखदे, श्रीकांत आप्टे, ईश्वर शर्मा, यशवंत व्यास, यज्ञ शर्मा आदि) नहीं हैं, यह हम सभी जानते हैं। लेख इनकी चिंता में लिखा भी नहीं गया है। इनमें स्वयं मेरा विष्णु नागर जी और आलोक पुराणिक का लेखन भी नहीं है जोकि हम सभी के लेखन पर अलग तरह से चिंतन और चिंता की जानी चाहिए। मैं समकालीन व्यंग्य कॉलमों, व्यंग्य पत्रिकाओं, अखबारों, व्यंग्य संकलनों द्वारा परोसे जा रहे व्यंग्य को लेकर मेरी जायज चिताएं हैं, रही हैं- 'दर्पण दोनों तरफ से काला' वाली बात उस परिप्रेक्ष्य में देखी जाए, यह निवेदन मैं प्रेम से भी करूंगा और उन तिकड़मियों से भी जिनके द्वारा मेरी इस पंक्ति का दुरुपयोग करने का डर प्रेम को है।

एक अंतिम बात भी। वह प्रेम की इस सलाह और चिंता पर कि ज्ञान व्यंग्य को लेकर काहे घिघियाता है।' प्रेम लिखता है कि कविता और कहानी में भी तो गड़बड़ चल रही है। उनकी बात ज्ञान ने क्यों कहीं? मेरा कहना है कि कविता मेरी कहानी में क्या गड़बड़ है इसकी चिंता कविता और कहानी वाले करें। हम तो पहले अपना घर देखें न। यदि हम ही अपनी बीमारी की चिंता यह तर्क देकर न करें कि और लो भी तो बीमार हैं, उनसे दवाई लेने को क्यों नहीं कहते हैं तो यह गलत तर्क कहलाएगा। वैसे भी कविता और कहानी में तो निरंतर बहस चलती ही रहती है। हम व्यंग्य पर भी खुले हृदय तथा निषकपट दिमाग से चिंता, चर्चा, पड़ताल और बहस कर लिया करें तो बुरा क्या है? मेरे लेख से यदि प्रेम जनमेजय जैसा मित्र उद्वेलित हुआ तो अवश्य ही मेरे लिखे प्रश्नों में कुछ तो रहा होगा। यही बात मुझे आश्वस्त कर रही है। मैं चाहूंगा कि मेरे और प्रेम जनमेजय द्वारा प्रारंभ की गई इस बहस में और मित्र भी जिम्मेदारीपूर्ण उतरें। मित्रों के बीच इतना लोकतंत्र आवश्यक है।

प्रेम जनमेजय

बहस का लोकतंत्र

लगता है, मेरे मित्र ज्ञान ने मेरी प्रतिक्रिया पर कुछ अनकहे को अनकहा मान लिया है। लगता है मेरी बात को वे व्यक्तिगत स्तर पर ले बैठे हैं और इस कारण गलतफहमी जैसी कुछ बात ने जन्म ले लिया, जिसके लिए मैंने तो कम से कोई प्रयत्न नहीं किया। आपके प्रयत्न के बिना यदि कोई बात जन्म ले ले और गलतफहमी के रूप में परिवर्तित होने लगे तो आवश्यक हो जाता है कि उसको एक स्पष्टीकरण के साथ समाप्त करने का प्रयत्न किया जाए। मेरा तो निरंतर प्रयत्न रहा है, और जो ज्ञान की भी सार्थक सोच रही है कि कभी व्यक्ति केंद्रित व्यंग्य न लिखे जाएं। इस दिशा में तो ज्ञान ने अनेक स्तंभों के निरंतर लेखन द्वारा अनुकरणीय उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। अधिकांश स्तंभ लेखन तात्कालिक होता है और व्यक्ति केंद्रित होता है, जिसके कारण व्यंग्य कम कैरिकेचर अधिक सामने आते हैं। ज्ञान ने स्तंभ लेखन का आदर्श प्रस्तुत किया है। पर वो ही ज्ञान मेरी प्रतिक्रया में छुपे प्रवृति पर किए गए व्यंग्य को लक्षित नहीं कर पाया और उसे व्यक्तिगत आक्षेप के रूप में ले गया।

ज्ञान ने लिखा है– मुझे प्रेम के पूरे लेख में उसके इस वाक्य और धारणा पर सख्त ऐतराज है कि 'उसे भी उम्र में इस दौर में स्वयं का व्यंग्यकार कहलवाने पर शर्मिन्दी होने लगी है।' मैं दो कारणों से इस पर सहमत नहीं। एक तो यह कि प्रेम मुझे मेरी उम्र बाद दिला रहा है, और दूसरा यह कि मुझे इतने करीब से जानने के बावजूद उसे संदेह हो रहा है कि मैं लेखन की ओछी राजनीति का मोहरा/खिलाड़ी बनने की चाहत रखता हूं और उसी के तहत, बाकायदा प्लान करके मैंने उक्त लेख लिखा होगा जो मुझे व्यंग्यकारों की जमात में बाहर मात्र एक अच्छा गद्यकार बताएगा (यह लेख किस कोण से ऐसा बता रहा है यह मैं जान नहीं पा रहा हूं) 'उम्र के इस मोड़' या 'दौर' का क्या मतलब? मित्र, टुच्चेपन और स्वार्थसिद्धि की कोई उम्र नहीं होती। करने वाले कभी भी कर सकते हैं और मेरी तो परेशानी ही यह है कि मैंने मेडिकल कॉलेज के दिनों के बाद भी यह अहसास ही नहीं किया कि उम्र बढ़ी है। मुझसे जब तक कोई पूछ न ले या वरिष्ठ वगैरह संबोधित करके याद न दिला दे मुझे अहसास ही नहीं होता की सत्तावान साल का हो चुका।'

मुझे लगता है कि ज्ञान मेरे कथन का लक्ष्य नहीं समझ पाए और व्यक्तिगत ले गए।

ज्ञान ध्यान दे और देखों कि मैंने लिखा है–जो ज्ञान वर्षों से अपने रचना कर्म के द्वारा व्यंग्य के दर्पण को निरंतर स्वच्छ कर रहा है, जिसने हिंदी व्यंग्य के इस मिथ् को तोड़ा है कि 'राग दरबारी' के बाद कोई अच्छे व्यंग्य उपन्यास नहीं लिखे गए और जो निरंतर अपने लेखन के माध्यम से सार्थक व्यंग्य की एक सही तस्वीर प्रस्तुत करने में संलग्न है, वो ही कह रहा है कि व्यंग्य का दर्पण दोनो ओर से काला है। क्या हमारे कुछ अग्रज रचनाकारों की तरह ज्ञान को भी व्यंग्य काजल की कोठरी लगने लगा है जिसमें घुसने से दागी कहलाए जाने का भय हो रहा है। उसे भी उम्र के इस दौर

मे स्वयं को व्यंग्यकार कहलवाने से शर्मींदगी होने लगी है।' ज्ञान ने स्वयं लिखा है– क्यों वे परसाई का परिचय बेहतरीन गद्यकार के रूप में ही देते हैं और क्यों श्रीलाल शुक्ल को व्यंग्यकार कह दो तो वे इसका बुरा भी मान सकते हैं?' हिंदी व्यंग्य के इतिहास को समीप से गंभरीरता के साथ देखने वाले जानते होंगे कि समस्त जीवन व्यंग्य की पैरवी करने वाले हरिशंकर परसाई ने अपनी उम्र के अंतिम दौर में परसाई ने वक्तव्य दिए कि उन्होंने कहानी, निबंध आदि लिखे हैं पर व्यंग्य नहीं लिखे। इसी प्रगतिशील नीति के तहत 'पहल' ने व्यंग्य के नाम से कुछ भी प्रकाशित नहीं किया। 'राग दरबारी' ने अपने व्यंग्यात्मक तेवरों के कारण चर्चित हुआ, व्यंग्यकारों की दुनिया का मसीहा बना। जबकि इसके विपरीत इसके प्रबुद्ध आलोचकों ने इसके व्यंग्यात्मक विशिष्टता को नजरअंदाज करते हुए इसे दो कौड़ी का माना। श्रीलाल जी ने व्यंग्य के अतिरिक्त भी बहुत कुछ लिखा परंतु उनकी विशिष्टता व्यंग्यकार की ही रही। इन्हीं श्रीलाल शुक्ल ने ज्ञान को भी परामर्श दिया था कि वे 'बारामासी' को व्यंग्य उपन्यास न कहें। मुझे इन दो उदाहरणों से लगा कि व्यंग्य की दुनिया से अपनी यात्रा आरंभ करने वाले और प्रसिद्धि पाने वालों को उम्र एक दौर में आकर कहीं ये तो नहीं लगने लगता है कि व्यंग्यकार होना उन्हें सीमित कर रहा है। इसलिए जब मैंने 'उम्र के इस दौर में' का प्रयोग करता हूं तो मेरा लक्ष्य व्यक्ति ज्ञान नहीं है अपितु अपने अग्रज परसाई और श्रीलाल के व्यंग्य संबंधी विचारों पर ध्यान दिलाना है।

ज्ञान बहस को व्यक्तिगत कर रहे हैं। और ये झलक दे रहे हैं कि मैं उन्हें कहीं टुच्चा मान रहा हूं। ज्ञान यदि मुझे अपना मित्र मानते हैं, साहित्यिक परिचित नहीं, तो इस बात का विश्वास करें कि उनका मित्र पहले स्वयं अपनी टुच्चापनती का जिक्र करेगा, बाद में अपने मित्र के टुच्चेपन का, यदि उसमें है तो। ज्ञान की सारी बातों से मैं सहमत हूं, ज्ञान ने तो उन लोगों का विरोध किया है जो स्वयं को व्यंग्यकार कहने मे शरमाते रहे। पर जब ज्ञान ये कहते हैं कि व्यंग्य का दर्पण दोनों ओर से काला है तो लगता है जिस अच्छे व्यंग्य को लिखना वे चुनौती के रूप में लेते हैं वे ही उसके दर्पण को काला कहते हैं। जिस दर्पण को निरंतर चमका रहे हैं वे काला कहां से हो गया। ज्ञान को मैंने कभी हताश नही पाया पर ये स्वर कुछ हताशा से भरा लगा।

इस बहस में व्यंग्य के अनेक महत्वपूर्ण सवाल उठे हैं और मुझे लगता है इनपर बातचीत होनी चाहिए।

ज्ञान की इस बात को बड़ाते हुए कि हम अपना घर देखें, और इस बहस को आगे बढ़ाएं। ऐसे में तो बहस बढ़ाना और आवश्यक हो गया है जब ऐसे स्वर उठने लगे हो कि व्यंग्य को आलोचना की आवश्यकता नहीं है और व्यंग्यकार को चाहिए कि वह आलोचक की चिंता ही न करे।

बधाई

कैलाश वाजपेयी को साहित्य अकादमी पुरस्कार

प्रख्यात कवि आलोचक और चिंतक, कैलाश वाजपेयी को उनके कविता-संग्रह 'हवा में हस्ताक्षर' के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार 2009 के लिए पुरस्कृत किया जाएगा। 24 भारतीय पुरस्कारों में सम्मानित होने वाले, इस वर्ष पुरस्कारों में आठ कवि और छह कथाकार हैं। ये पुरस्कार 16 फरवरी को दिल्ली में, एक विशेष समारोह में प्रदान किए जाएंगे।

कैलाश वाजपेयी के अब तक 28 संकलन प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें 18 संकलन, काव्य संकलन हैं। श्री कैलाश वाजपेयी का कहना है कि एक ईमानदार कवि को केवल अपने रचनाकर्म के प्रति समर्पित होना चाहिए, क्योंकि कविता वाणिज्य नहीं है। पहले कैलाश वाजपेयी का विश्वास था कि कविता से दुनिया बदली जा सकती है, पर अब वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि कविता कुछ नहीं करती, यह हवा में हस्ताक्षर भर है।

कैलाश वाजपेयी ने मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय से वरिष्ठ प्राध्यापक के रूप में पदमुक्त हुए है।

'व्यंग्य यात्रा' की हार्दिक बधाई!

यज्ञ शर्मा को व्यंग्यश्री 2010 सम्मान

प्रख्यात व्यंग्यकार यज्ञ शर्मा को, इस वर्ष के प्रतिष्ठित व्यंग्यश्री सम्मान से, सम्मानित करने की घोषणा की गई है। यह सम्मान उन्हें गोपालप्रसाद व्यास के जन्मदिन, हास्य-व्यंग्य दिवस, 13 फरवरी 2010 को हिंदी भवन, दिल्ली में दिया जाएगा। यज्ञ शर्मा को दिया जाने वाला यह 14वां सम्मान हैं पिछले वर्ष यह सम्मान प्रेम जनमेजय को दिया गया था। इससे पूर्व यह सम्मान श्रीलाल शुक्ल, शेरजंग गर्ग, सूर्यबाला, ज्ञान चतुर्वेदी, विष्णु नागर, अलका पाठक आदि को प्रदान किया जा चुका है।

1 जून, 1941 को मथुरा में जन्में यज्ञ शर्मा ने 4 वर्ष तक भूगर्भ वैज्ञानिक की नौकरी की, 17 वर्ष तक टीवी स्ट्रिंगर रहे, 2 वर्ष अमर चित्र कथा के सहयोगी संपादक रहे, 2 वर्ष 'साइफन' के हिंदी संपादक एवं 16 वर्ष से एक प्रमुख विज्ञापन एजेंसी में भारतीय भाषा विभाग के प्रमुख। यज्ञ शर्मा का ताजा व्यंग्य संग्रह 'सरकार का घड़ा' प्रकाशित हुआ है।

'व्यंग्य यात्रा' की हार्दिक बधाई!

नरेन्द्र कोहली की रचनाएं
नरेन्द्र कोहली
अभ्युदय (2 भागों में)......275.00 प्रत्येक
नरेन्द्र कोहली
समग्र कहानियां भाग-1.......150.00
नरेन्द्र कोहली
मेरी इक्यावन व्यंग्य रचनाएं
125.00
नरेन्द्र कोहली
वह कहां है? (व्यंग्य)
75.00
नरेन्द्र कोहली
पांच एब्सर्ड (उपन्यास)
50.00
नरेन्द्र कोहली
आश्रितों का विद्रोह (उपन्यास)
60.00
51 श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं
51 श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं
जवाहर चौधरी
95.00
51 श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं
प्रेम जनमेजय
95.00
51 श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं
रेखा व्यास
95.00
51 श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं
सरोजनी प्रीतम
95.00
21 श्रेष्ठ कहानियां
महेश चन्द्र द्विवेदी
95.00
51 श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं
विनोद शंकर शुक्ल
95.00
51 श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं
दामोदरदत्त दीक्षित
95.00
51 श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं
हरि जोशी
95.00
51 श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं
गजेंद्र तिवारी
95.00
51 श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं
गोपाल चतुर्वेदी
95.00
डायमंड बुक्स
X-30, ओखला इण्डस्ट्रियल एरिया, फेज-२, नई दिल्ली-110020
फोन : 011-41611861, 40712100, फैक्स : 011-41611866
ई-मेल : sales@dpb.in website : www.dpb.in

वैसे तो हर व्यक्ति का जीवन नौकुचिया ताल होता है। नैनीताल की खूबसूरत झील का पड़ोसी नौकुचितया ताल, जिसके संबंध में प्रसिद्ध है कि उसके किसी भी स्थल से खड़े होकर उसके नौ कोण नहीं देखे जा सकते हैं। व्यक्ति भी तो अनेक कोणों से निर्मित व्यक्तित्व है। किसी को समग्र देखने या जानने का दावा करना न्यायालय में गीता पर हाथ रखकर खाई गई कसम के समान ही है। किसी भी कोण से, अपने अभीष्ट को देखने के लिए आपको उस कोण के स्थल पर खड़ा होना होगा। और जब किसी साहित्यकार को देखना हो जो स्वयं समाज को विभिन्न कोणों से देखता है, तो. . .

व्यक्ति चाहे कितनी भी खुली किताब हो उसके अनेक अलिखित पन्ने बांचने से रह जाते हैं। नरेंद्र कोहली के साहित्यिक व्यक्तित्व के विभिन्न कोण हैं। मुख्यत: तीन कोण हैं- पुराकथाओं के शीर्षस्थ चितेरे, सामाजिक संबंधों एवं सरोकारों के कथाकार तथा विसंगतियों पर निर्मम प्रहार करने वाले व्यंग्यकार। नरेंद्र कोहली के व्यंग्य संकलन 'एक ओर लाल तिकोन' की पैरोडी में इसे नरेंद्र कोहली का एक तिकोन माना जा सकता है। इस अंक में हम उनके व्यंग्य कोण को देख रहे हैं। जानते हैं कि इस प्रयास में हमसे बहुत कुछ छूट जाएगा।

नरेंद्र कोहली ने अपना लेखन कविता से आरंभ किया। उनकी एक कविता है, 'इतना न रोना मेरी राधे'। इस कविता को उन्होंने गद्य व्यंग्य में परिवर्तित किया और नरेंद्र कोहली के गद्य व्यंगयकार ने जन्म लिया। पाथेय में उस कविता और उस व्यंग्य को प्रस्तुत किया जा रहा है। साथ ही उनके व्यंग्य के विभिन्न पड़ावों को चिह्नित करती उनकी कुछ रचनाएं भी।

–संपादक

नरेंद्र कोहली

इतना मत रोना मेरी राधे

(1)
जाता हूं
अब विदाई दो मुझको।
प्राण! साथ ही वचन भी यह दो–
मेरी अनुपस्थिति में तुम नहीं रोओगी।
नैनों को अपने निशि-दिन अश्रु-कणों से नहीं धोओगे।

(2)
कहते हैं–
ब्रज की गोपिकाओं में राधा थी कोई।
श्रीकृष्ण के मथुरा जाने पर वह बहुत थी रोई।
तुम,
इतना मत रोना मेरी राधे!
रो-रोकर नयन-ज्योति मत खोना मेरी राधे!
आंखें अपनी मूल्यवान हैं,
आंखों वाले भाग्यवान हैं,
रो-रोकर इन आंखों से हाथ न धोना मेरी राधे!
सच है, आंखें धुंधली होने पर
बाजार से चश्मा मिल सकता है।
हम यदि अपना जोर लगा दें
नेत्र-पुष्प फिर खिल सकता है।
पर मेरी राधा
यह तो मानोगी तुम भी–
हैं मूर्ख, व्यर्थ जो पैसे खोते हैं।
सच जानो तुम
चश्मे के फ्रेम बड़े महंगे होते हैं।

(3)
इतना मत रोना मेरी राधे!
अश्रु बाढ़ में
भूमि को अपनी न डुबोना मेरी राधे!
मैं गोकुल का ग्वाला कृष्ण नहीं कि
नगरी को अपनी बचा लूंगा।
न ही विष्णु का अवतार कृष्ण हूं
कि गोवर्धन को मैं उठा लूंगा।
(औ' यह यमुना तट का ब्रज नहीं

लौह नगरी टाटा की है।)
यदि बाढ़ में डूबी नगरी यह
तो अनर्थ महा इक हो जाएगा।
कारखाने को
बाढ़ का पानी धो जाएगा।
कार्य ठप होगा सारा
इस्पात का उत्पादन भी बंद हो जाएगा।
इस्पात नहीं होने से
योजना पर क्या आघात न होगा?
दौड़ में उन्नति की
देश हमारा मात न होगा?
सोचो तुम ही
देश से अपने क्या विश्वासघात न होगा?
फिर सारे देश में चंदा होगा।
नया-नया पर धंधा होगा।
जाने कितने लोग
इस धंधे में अपनी जेब भरेंगे।
देंगे भाषण, चित्र खिचाएंगें।
नेता बनकर नाम करेंगे।
कह सकती हो
ऐसे में बेकारों को कुछ काम मिलेंगे।
नेता भी कुछ
शायद जनता में जाकर हिले-मिलेंगें।
पर भूलती हो–
तुम प्रियसी हो मेरी,

सरकार का इम्पलाइमेंट एक्सचेंज नहीं,
कहते हो जो उम्मीदवारों से,
खड़े रहो तुम धूप में जाकर
तुम्हारे लिए कुरसी-मेज नहीं।'

(4)
इतना मत रोना मेरी राधे!
कि अश्रु-धार को बांधने को
सरकार हमारी डैम बना दे।
कहीं अफसर कोई
रिश्तेदारों को अपने ठेका न दिला दे।
ठेकेदार ऐसा होगा कहां,
जो सीमेंट के बदले बालू न मिला दे।
इस भारत में
बांध नहीं कोई बना है ऐसा
जिसमें न कोई छिद्र हुआ हो।
ऐसा कोई मां का लाल नहीं
जिसने देश के धन से
न खिलवाड़ किया हो।
सच जानो तुम,
टंगा नहीं फांसी पर कोई,
जिसने ऐसा व्यापार किया हो।

(5)
औ' यदि बांध ही ली
सरकार ने अश्रुधार तुम्हारी।
होगी क्या न हार तुम्हारी?
शायद फिर तेरी आंखों के खारे पानी से
सरकार हमारी नमक निकाले।
कह सकता है कौन, कहीं वह
नमक बनाने को नव धंधा न चला दे।
मैं नहीं चाहता मेरी राधे
कि नमक तुम्हारी आंखों का
बाजार में बारह नए पैसों में इक सेर बिके।
बहुतों ने बेचा है पानी अपनी आंखों का
पर नहीं चाहता मैं कि–
तुम्हारी भी आंखों के पानी का मोल लगे।
इतना मत रोना मेरी राधे!

नरेंद्र कोहली

इतना मत रोना मेरी राधे!

. . .डार्लिंग!

कल ही पहुंचा हूं यहां। दिली मेरा देखा हुआ शहर है, इसलिए शहर घूमने के स्थान पर मैं अपने काम में ही लग गया। आश्चर्य होगा तुम्हें– मुझे भी हुआ था– कि मेरा कार्य कल ही हो गया। विदेश-यात्रा से संबंद्ध सारी कारवाई पूर्ण हो गईं और अब परसों यहां से मैं लक्ष्य के लिए चल पड़ूंगा।

आश्चर्य हुआ न तुम्हें, सब कुछ इतनी शीघ्र हो जाने पर? होना ही चाहिए। कबीर ने कहा था कि इस शरीर रूपी कमरे में पांच द्वार हैं। फिर आत्मा रूपी पक्षी उड़ जाए तो क्या आश्चर्य? आश्चर्य तो यह है कि वह ठहरा हुआ क्यों है। वही बात है हमारे सरकारी दफ्तरों के विषय में भी। इतने लोग हैं वहां काम करने वाले (या टांग अड़ाने वाले) ऐसी स्थिति में कार्य जल्दी हो जाए, तभी आश्चर्य है।

वैसे मैं यह पत्र सरकारी कार्यों की समीक्षा के लिए नहीं लिख रहा, क्योंकि यह पत्र मैं तुम्हें लिख रहा हूं डार्लिंग– और तुम मेरी प्रेयसी हो, यदि किसी समाचार पत्र के संपादक को लिखता तो ऐसी बातें शोभती मुझे खैर कहना मैं यही चाह रहा हूं कि अब विदाई का समय है, प्यार की बातें कर लें, सरकार को बीच में लाने से क्या लाभ! वैसे यह देश ऐसा ही है जहां प्यार की बातें करने के लिए भी सरकार, समाज या उनके प्रतिनिधि माता-पिता से अनुमति-पत्र लेना पड़ता है।

हां तो डार्लिंग! मैं जा रहा हूं। विदाई दो, पर हां एक बात का ध्यान रखना– मैं शरीर से ही दूर रहूंगा तुम से। मन मेरा सदा तुम्हारे पास ही रहेगा। इसलिए प्रिय अधिक रोना-धोना मत! प्रवास लंबा है इसलिए इतने समय के लिए दिन-रात रोते रहना कठिन है क्योंकि व्यक्ति एक ही काम निरंतर करते-करते बोर हो जाता है।

हां रोने के प्रसंग में एक बात याद आई है। सुन लो तुम भी! किसी से सुना था कि ब्रज की गोपिकाओं में राधा नाम की भी एक गोपिका थी। कहते हैं कि उसकी प्रसिद्धि इसलिए है कि जब श्रीकृष्ण मथुरा चले गए थे तो उनके इस प्रवास में वह बहुत रोई थी। इतना रोई थी, कि सूरदास नामक किसी कवि के अनुसार उसकी आंखों की पुतलियां धुंधली पड़ गई थीं। तुम इतना मत रोना मेरी राधे! रो-रोकर आंखों की ज्योति को मत खोना। बात यह है कि आंखें बड़ी मूल्यवान हैं। आंखों वाले इस युग में बड़े भाग्यवान हैं। तुम रो-रोकर इन मूल्यवान आंखों से हाथ मत धोना।

ठीक है, कि हम अब उस युग में नहीं हैं। जमाना बहुत आगे बढ़ गया है। विज्ञान ने उन्नति कर ली है और खतरा उतना नहीं है। आजकल आंखें यदि रो-रोकर कमजोर हो भी जाती हैं। पुतलियां धुंधली पड़ भी जाती हैं, तो भी प्रयत्न करने पर ये कमल नेत्र फिर विकसित हो सकते हैं। खोई हुई वस्तु फिर प्राप्त की जा सकती है। पर राधा डार्लिंग। एक बात और भी है। इस युग में बड़े-बड़े वैज्ञानिकों के साथ एक और महान व्यक्ति उत्पन्न हुआ था– मार्क्स! उसका कथन है कि पैसे में बड़ी शक्ति है और इसीलिए मैं सोचता हूं कि व्यर्थ पैसे बर्बाद करने वाला व्यक्ति मूर्ख है और तुम जानती हो कि चश्मों के फ्रेम

कितने महंगे होते हैं। फिर रोकर आंखें धुंधली करने से क्या लाभ?

बात केवल आंखों की ही नहीं है राधा डार्लिंग! बातें और भी हैं। आज व्यक्ति स्वतंत्र नहीं है। वह अपने देश, राष्ट्र और समाज के साथ संबद्ध है। उसके प्रत्येक कार्य का प्रभाव अन्य लोगों पर पड़ता है। तुम यदि श्रीकृष्ण की प्रेमिका राधा के समान ही रोती रही तो बहुत सी कम्पलिकेशन उत्पन्न हो जाएंगी। युग बदल गया है न, इसीलिए कह रहा हूं ऐसी बात। कृपा कर के तुम इतना मत रोना कि अपनी नगरी को बाढ़-पीड़ित देखने की स्थिति आ जाए। तुम जानती हो मैं गोकुल का ग्वाला कृष्ण नहीं हूं कि बाढ़-पीड़ित नगर में जाऊं, ना ही मैं विष्णु का अवतार ही हूं। (आजकल जाने क्यों भगवान ने अवतार लेने ही बंद कर दिए हैं) कि मैं गोवर्धन को उठा लूंगा। और सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि यहां तुम रह रही हो, वह यमुना तट की ब्रज नहीं, उससे यहीं अधिक महत्वपूर्ण टाटा की लौह-नगरी है। यदि यह नगरी बाढ़ में डूबी तो व्यर्थ ही समझो। परिणाम की ओर जरा ध्यान तो दो। इस विशाल कारखाने को- जिसे लोग 'टिस्को' कहते हैं। बाढ़ का पानी धो जाएगा। और सारा कार्य क्षणभर में ही ठप होगा तथा इस्पात का उत्पादन बंद हो जाएगा और महत्वपूर्ण बात भी यही है। तुम स्वयं ही सोचो इस्पात के नहीं होने से हमारी योजना पर क्या आघात नहीं होगा? और जब योजना पर प्रभाव पड़ेगा तो स्वयं ही हमारा देश उन्नति की इस भाग-दौड़ में अन्य देशों से पिछड़ जाएगा और राधा डार्लिंग सच कहना क्या विरह में इस प्रकार रोना देश के प्रति विश्वासघात नहीं होगा?

और फिर बाढ़-पीड़ित लोगों की सहायता में अपीलें होंगी। लोग तुम्हारी नगरी के लिए चंदा करेंगे। एक नए प्रकार का धंधा आरंभ हो जाएगा। जाने कितने लोग इस धंधे में अपनी जेबें भरेंगे, साथ ही भाषण देंगे, चित्र खिंचाएंगे और नेता बनकर नाम भी करेंगे। तुम कह सकती हो कि ऐसी स्थिति में कुछ लाभ ही होगा। कम से कम ये हाथी-दांत की मीनारों में बैठे नेता जनता से मिलेंगे तो सही और दूसरी बात कि इस अवस्था में बेकारों को कुछ काम भी मिलेगा। पर डार्लिंग तुम बड़ी ही फॉरगेटफुट हो। तुम यह भूल जाती हो कि तुम मेरी प्रेयसी हो, सरकारी इम्प्लायमेंट एक्सचेंज नहीं जो उम्मीदवारों को धूप में बनी लाइन में खड़े रख-रखकर ही कार्य के अयोग्य बना देते हैं।

राधे डार्लिंग तुम इतना मत रोना कि तुम्हारी अश्रुधार से देश को बचाने के लिए, उस धारा को बांधने के लिए सरकार एक 'डैम' बना दे। मैं जानता हूं कि यदि तुम मेरे पास होती तो यह प्रश्न कर बैठती कि क्या हानि है सरकार यदि डैम बनाए ही तो। पर

यहां भी तुम भूलती हो। यदि सरकार ने इस प्रकार का डैम बनाया तो उसको बनाने का ठेका मुझे तो नहीं मिलेगा न, और न ही तुम्हारे पापा को ही मिलेगा। वह तो मिलेगा किसी सरकारी अफसर के रिश्तेदार को और फिर ऐसा ठेकेदार ही कहां मिलेगा (कम से कम इस देश में) जो सीमेंट के बदले बालू न मिला दे। वैसे तो पूरा देश में आज तक ऐसा बांध ही नहीं बना है जो टूट कर गिर न पड़ा हो, या जिसमें दरारें न पड़ी हों। ऐसा कोई मां का लाल यहां पैदा ही नहीं हुआ जिसने देश के धन से इस प्रकार का खिलवाड़ न किया हो। और तुम जानती हो सरकार हमारी मजबूर है। अहिंसा की नीति अपनाने के कारण ऐसे गद्दारों को भी फांसी के तख्ते पर नहीं चढ़ाया जा सकता। सॉरी डार्लिंग। मजबूरी है।

वैसे भी बांधों के बंधने और टूटने दोनों से ही लाभ होता है। सरकार हमारी कम बुद्धिमान नहीं है, वह सारे कार्य सोच समझकर ही करती है। तुम जानती हो (विदेशियों की गणना के अनुसार) भारत की जनसंख्या बहुत अधिक हो गई है और यही कारण है कि हमारे सम्मुख अन्न की समस्या है। इसी लिए हमने बांध बांधने आरंभ किए थे कि अन्न का उत्पादन बढ़ सके। बांध बंध गए तो अन्न का उत्पादन बढ़ेगा और अन्न की समस्या नहीं रहेगी। और यदि बांध टूट गए तो उनमें रुके पानी के कारण प्रलय होगा और असंख्य जनता मारी जाएगी और परिणामतः हमारी अन्न समस्या सुलझ जाएगी। इसीलिए सरकार न बांध-बांधने पर आपत्ति करती है न टूटने पर।

ऐसा ही बुद्धिमान देश चीन भी है। वह जानता है कि अन्न समस्या उनके यहां भी है और हमारे यहां भी। इसी अन्न समस्या को सुलझाने के लिए उसने भारत के साथ युद्ध छेड़ दिया ताकि कुछ लोग युद्ध के कारण और कुछ देश में पड़े अकाल के कारण कालग्रस्त होंगे। फिर क्या? दोनों देशों की जनसंख्या घटेगी और अन्न समस्या स्वयं ही सुलझ जाएगी।

पर बात तो मेरे विरह में बहे हुए तुम्हारे आंसुओं की थी. . .हां तो मैं यह कह रहा था कि यदि तुम्हारी अश्रु धारा को सरकार ने बांध ही लिया (मेरा मन है कि यदि वह डैम भी न टूटा) तो मुझे लगेगा कि उसमें तुम्हारी हार हुई है। बंध जाना हार नहीं तो और क्या है? और फिर तुम्हारे अश्रु बंधेंगे। और पानी खारा होगा। यह भी तो हो सकता है कि हमारी सरकार तुम्हारे आंखों के खारे पानी से नमक निकालना आरंभ कर दे। कौन कह सकता है कि इस बहुधंधी सरकार का ध्यान इस ओर न जाएगा। और सच्ची बात तो यह है मेरी राधा! कि मै नहीं चाहता कि तुम्हारी आंखों का नमक बीच बाजार में बारह नए पैसे में एक सेर, बिके। मैं जानता हूं कि इस देश में बहुतों ने अपनी आंखों का पानी बेच डाला है, पर डार्लिंग मैं यह नहीं चाहता कि तुम्हारी आंखों के पानी का भी मोल लगे। सच, मैं यह नहीं चाहता, राधा डार्लिंग।

इसीलिए तो कहता हूं कि इन सब झगड़ों की जड़ ही समाप्त करो। मेरे विरह में तुम रोना ही मत और क्या . . .हां. . .

तुम्हारा अपना

नरेंद्र कुमार कोहली
69, रामजस कॉलेज होस्टल, दिल्ली-6

नरेन्द्र कोहली

हुए मर के हम जो रुसवा. . .

मैं यह तो नहीं कहूंगा कि यह मेरी सर्वाधिक प्रिय व्यंग्य रचना है, क्योंकि अलग-अलग समयों पर पृथक-पृथक कारणों से विभिन्न रचनाएं प्रिय लगने लगती हैं। बहुत लंबे समय तक मैं 'अस्पताल' को अपनी सर्वाधिक प्रिय रचना मानता रहा। किंतु उसके पश्चात भी बहुत कुछ ऐसा लिखा गया है, जो मुझे प्रिय भी है और लेखन की दृष्टि से महत्वपूर्ण भी। अपनी रचनाओं की साहित्यिक उत्कृष्टता इत्यादि की चर्चा लेखक स्वयं नहीं करता। न उसे कभी इसका अधिकार दिया गया और न ही शालीनता उसकी अनुमति देती है।

इधर मुझ से कुछ छोटी, किंतु अत्यंत तीखी रचनाएं लिखी गई हैं। वे मेरे लिए बहुत महत्वपूर्ण और अत्यंत प्रिय रचनाएं हैं। किंतु उनका संक्षेप ही उन्हें प्रतिनिधि रचना होने से रोक देता है। 'हुए मर के हम जो रुसवा. . .' अनेक कारणों से मेरी सर्वाधिक प्रिय व्यंग्य रचनाओं में से एक है।

विश्वविद्यालयों में नियुक्ति के लिए, अयोग्य लोगों द्वारा योग्य लोगों के परीक्षण की पीड़ा मेरे मन में बहुत पुरानी है। दिल्ली में ही राजनीति अथवा विभिन्न व्यवसायों के साधारण लोगों को अध्यापकों से अधिक विद्वान मान लिए जाने का प्रचलन रहा है। पत्रकार अथवा वकील बनकर, किसी प्रकार का कोई चुनाव लड़कर, आप विद्यालयों और विश्वविद्यालयों की चयन तथा प्रबंध समितियों के सदस्य हो सकते हैं; और अध्यापकों का मनमाना अपमान कर सकते हैं।

यह भी सत्य है कि विश्वविद्यालय अपने यहां पढ़ाने वालों का अधिक सम्मान नहीं करता। उन्हें विद्वान मानने के स्थान पर, वह उन्हें अपने कर्मचारी मात्र ही मानता है (और कर्मचारी कभी अपने कर्म-स्थल पर सम्मान का पात्र नहीं होता।

रचनाकार और अध्यापक अथवा समीक्षक का टकराव भी कहीं मेरे मन में है। अध्यापकों और समीक्षकों द्वारा मैंने श्रेष्ठ रचनाओं का कीमा बनते देखा है। प्रतिभा उन तीनों में ही हो सकती है (किंतु प्रतिभा के भी प्रकार और कोटियां होती हैं। और जहां प्रतिभा होती ही नहीं, वहां का क्या कहना।)

मेरा मन सदा ही वर्तमान को अतीत में, और अतीत को वर्तमान में प्रतिबिंबित होते देखता आया है। संयोग ही कहें कि रचनाकार संबंधी ये सारी समस्याएं किसी न किसी रूप में मुझे मिर्ज़ा ग़ालिब के जीवन में भी दिखाई दीं। और कहीं मेरा तादात्म्य उन से हो गया। मेरा तादात्म्य ग़ालिब से हुआ या नहीं, उन समस्याओं से हो गया। आप यह भी मान सकते हैं कि मुझे ग़ालिब के संदर्भ से उन समस्याओं को सामने लाने का अवकाश दिखाई दिया। लेखकीय सम्मान का आहत और अपमानित होना मुझे बहुत अखरता रहा है और वैसा करने वाले लोगों को क्षमा करना मेरे वश में नहीं है। अत: यह रचना कथा न बनकर व्यंग्य ही बन सकती थी। व्यंग्य के कुछ छींटे साहित्यकारों पर भी पड़े हैं, क्योंकि साहित्यकार भी पूर्णत: निर्दोष और निष्कलंक नहीं हैं।

अपना आक्रोश रच लेने के पश्चात मुझे लगा कि यह रचना बहुत ही सर्जनात्मक है और मेरे मन के निकट है। यदि यह रचना अभी न लिखी जाती और मेरे मन में पलती रहती, पकती रहती, तो बहुत संभव था कि यह सामग्री उपन्यास या कुछ बडे आकार का नाटक बन जाती; किंतु यह संभावना भी थी कि मेरी अन्य बृहत् रचनाओं के प्रवाह में इसका अस्तित्व खो जाता। अत: मैंने निर्णय किया कि इसका लिखा जाना ही उचित है। यदि जीवन ने अवसर दिया तो इसका परिवर्तन तो हो सकता है; किंतु यदि यह खो गई तो उसकी रचना कभी नहीं हो सकेगी। इसे लिखे हुए पांच वर्ष हो गए हैं; और अभी तक इसका किसी प्रकार का कोई विकास नहीं हुआ है। सोचता हूं, शायद इसे वर्तमान रूप में लिख लेने का निर्णय ही उचित था।

मिर्ज़ा ग़ालिब के दो नौकर– कल्लू और कल्याण कमरे की झाड़-पोंछ कर रहे थे। कल्याण कुछ उत्तेजित सा था। कल्लू ने दो एक बार उसकी ओर देखा भी और सोचा कि उससे पूछे कि उसका मुंह क्यों इतना सूजा हुआ है; पर फिर यह सोच कर कि उसे क्या लेना-देना है। घर में पत्नी से लड़ कर आया होगा। किस घर में लड़ाई नहीं होती और कौन सा पति, पत्नी से डांट नहीं सुनता। और फिर पत्नी से डांट खा कर पति सिवाय मुंह सुजाने के और कर भी क्या सकता है। . . .रोटी पकाने से तो कोई इंकार

कर सकता है, रोटी कमाने से इंकार कैसे किया जा सकता है. . .

आखिर कल्याण ही फूटा, 'ये हमारे मिर्जा कोई काम क्यों नहीं करते। भगवान की दया से पढ़े-लिखे हैं। दस्तखत भी कर लेते हैं। फारसी भी बोल लेते हैं। हाथ इतना तंग है, फिर भी बैठे-बैठे हुक्का गुड़गुड़ाते रहते हैं।'

अपना अनुमान गलत निकलने पर कल्लू को कुछ खेद हुआ; किंतु संतोष भी हुआ कि कल्याण ने पत्नी से डांट नहीं खाई थी, वह अपने स्वामी के लिए चिंतित था। रूठने से तो चिंता ही भली।

'ऊंट बूढ़ा हुआ, पर उसे मूतना न आया।' कल्लू मुंह बना कर बोला, 'बुड्ढा हो गया, पर कल्याण रहा तू बुद्धू का बुद्धू ही।'

'क्यों मालिक की भलाई के विषय में सोचना मूर्खता है क्या?' कल्याण बोला, 'पर शायद तुम ठीक ही कहते हो, बुद्धू तो मैं हूं ही। समझदार होता तो मालिक का हाथ तंग देखकर मैं भी औरों के ही समान कोई और घर न देखता! . . .तुम क्यों नहीं चले जाते, तुम तो बुद्धू नहीं हो?'

'वह नहीं कह रहा हूं मैं।' कल्लू ने समझाया।

'तो क्या कह रहा है भाई तू?'

'मैं तो कह रहा हूं कि शायर लोग भी कहीं कोई काम करते हैं क्या?'

'तो कवि लोग बेकाम और नाकाम ही होते हैं?' कल्याण ने कहा, 'निष्काम तो वे होते नहीं।'

'जाने क्या होते हैं और क्या नहीं होते, पर उनकी एक नाक होती है, जिस पर वे मक्खी नहीं बैठने देते। इसलिए कोई काम तो उनसे होता नहीं।' कल्लू बोला, 'किताब का बोझ उठा लें- इतना ही बहुत है। जिनकी कमर खयालों के नाजुक बोझ से झुक जाती है, वे कलम चला लें तो ही बहुत है; फावड़ा तो उनसे चलेगा नहीं।'

कल्याण भी उसी प्रवाह में बह गया, 'कमर में तलवार चाहे बांधी हो किंतु शत्रुओं को हाथ नहीं लगा सकते, बस छालिया कुतरते रहेंगे दांतों तले, जैसे अंग्रेजों के लश्कर को चबा रहे हों। हुक्का गुड़गुड़ाएंगे, जैसे शेर दहाड़ रहा हो।'

कल्लू जोर से हंसा, 'कल्याण! तू तो ऐसे ही पड़ गया शायरों के पीछे। कितना तो काम है उनके पास। दोस्त यार आ जाएं तो गप्पें मारनी पड़ती हैं। मार न भी पाएं तो हांकनी तो पड़ती ही है। कभी किसी बाई जी का गाना सुनना पड़ता है, कभी किसी नचैनी का नाच देखने जाना पड़ता है। पालकी में बैठे-बैठे ही कमर टूट जाती है। मुजरे में वाह-वाह कर बाई जी के कदमों में बिछ जाना पड़ता है। दाद देने के बहाने सिर के बाल नोच लेने पड़ते हैं. . .'

'दाद तो है ही बुरा रोग। खुजला-खुजला कर चमड़ी छील लो, बाल नोचना क्या बड़ी बात है।'

'अबे खुजली की बात नहीं कर रहा हूं।' कल्लू झींका, 'दाद माने तारीफ। प्रशंसा। तू कर सकता है यह काम? बाई जी को देखते ही बेहोश हो जाएगा। 'वाह' तक तो तेरे मुंह से निकलेगी नहीं। मैदाने जंग में दुश्मन का सामना करने के लिए एक तरह का कलेजा चाहिए और बाई जी के कदमों में बिछने के लिए दूसरी तरह का। है तुझ में हिम्मत कि नचैनी की नजरों की कटारी झेल सके?'

कल्याण ने कानों को हाथ लगाए, 'न भैया! मुझ में तो इतना सा भी साहस नहीं है कि बाई जी की वीथि में पग धार सकूं। . . .पर मैं तो केवल इतना ही कह रहा हूं कि जब इतने परेशान हैं, तो कोई काम क्यों नहीं कर लेते। मुंशीगिरी तो कहीं भी मिल जाएगी। वह तो करेंगे नहीं, दाद के मारे बाल नोचते रहेंगे।'

'मैंने कहा न कि तू पागल ही रहेगा।' कल्लू बोला, 'अरे काम करते हैं कमीन लोग। ये ठहरे शरीफ लोग। शर्फा।'

'शर्फा ही हैं, कोई अशरफी तो हैं नहीं।'

'अशरफी नहीं हैं, फिर भी इनसे अपने हाथों से काम तो होगा नहीं। क्या काम करेंगे ये लोग।'

'हां ! हम हैं कमीन। ये ठहरे कर्महीन।' कल्याण बोला, '. . .पर तुम ठीक कहते हो कि कवि लोग कोई काम नहीं करते। सूरदास और तुलसी बाबा भी कोई काम नहीं करते थे। बस भगवान का भजन ही किया करते थे। . . .हां ! कहते हैं कि कबीरदास जुलाहे का काम किया करते थे।'

'अबे जब इतना सब कुछ जानता है तो यह क्यों कहता है कि मिर्ज़ा काम क्यों नहीं करते।' कल्लू बोला, 'शायरी और फ़क़ीरी कोई दो अलग चीज़ें थोड़ी हैं।'

'शायरी और फकीरी तो है ही एक चीज; पर मिर्जा तो शायरी और रईसी को एक करने पर तुले हुए हैं।'

'फ़क़ीरी और रईसी भी एक ही चीज़ है मूरख। फ़क़ीर से बड़ा रईस कौन हुआ है, आजतक?' कल्लू झल्ला कर बोला, 'इस बात को तू कभी नहीं समझेगा. . .'

'मेरी तो सारी समझ ही गड़बड़ा गई है भैया।' कल्याण बोला, 'कभी कभी मुझे ये सारे रईस फकीर ही नजर आने लगते हैं। बेचारे न कुछ पैदा कर सकें, न कुछ बना सकें। आश्रित हैं गरीबों के, मजदूरों के, किसानों के, अपने नौकरों-चाकरों के. . .'

'और कभी-कभी तुझे फ़क़ीर भी रईस नज़र आने लगते होंगे. . .' कल्लू बोला, 'कैसी शान से बादशाहों के हुक्म को भी ठुकरा कर चल देते हैं. . .'

'हां! तुम ठीक कहते हो।' कल्याण बोला, 'पर फिर यह मेरी समझ में क्यों नहीं आता कि हमारे मिर्जा फकीर हैं या रईस?'

'गड़बड़ कहीं और नहीं, तेरी खोपड़ी

में है।' कल्लू बोला, 'तू ने सुना नहीं: ये मिसाइले तसव्वुफ़, यह तेरा बयान ग़ालिब। तुझे हम वली समझते, जो न बादाख़ार होता।'

इतने में कादार आंधी के झोंके के समान कमरे में प्रविष्ट हुई और डांटकर बोली, 'बतियाते ही रहोगे कि किसी की सुनोगे भी। मियां कब से पुकार रहे हैं। बेगम अलग परेशान हैं कि तुम लोग सुनते क्यों नहीं हो। बहरे हो गए हो क्या?'

उनका कोई प्रश्न या उत्तर सुनने के लिए वह नहीं रुकी। जैसे आई थी, वैसे ही कमरे से निकल गई।

कल्लू और कल्याण ने एक दूसरे को देखा और मिर्ज़ा के कमरे की ओर चल पड़े। वहां महफ़िल लगी हुई थी। कोई नए कवि अपनी कविता सुना रहे थे। मिर्ज़ा ग़ालिब सिर झुकाए उसे सुन रहे थे।

कल्लू और कल्याण ने एक दूसरे की ओर देखा।

'उस चुड़ैल ने यह नहीं बताया कि मेहमान आए हैं। उनके लिए शर्बत लाना है।' कल्लू बोला और वे दोनों उलटे पैरों लौट गए।

नए कवि ने अपनी कविता पूरी की और मिर्ज़ा ग़ालिब की ओर देखा।

'अच्छी है।' मिर्ज़ा ने कहा, 'हुआ जब ग़म से यूं बेहिस, तो ग़म क्या सिर के कटने का। न होता गर जुदा तन से तो ज़ानूं पर धरा होता।।'

'क्या मतलब?' नए कवि ने हैरान हो कर पूछा।

'मतलब यह कि, 'घर हमारा जो न रोते भी तो वीरां होता। बहर गर बहर न होता, तो बयाबां होता।'

'मैं अपनी ग़ज़ल के बारे में पूछ रहा था।' नया कवि कुछ परेशान होकर बोला।

'आप की ग़ज़ल के बारे में ही अर्ज़ किया है।'

नए कवि की समझ में कुछ नहीं आया। बोला, 'आप कुछ उदास हैं मिर्ज़ा साहब!'

मिर्ज़ा ग़ालिब थोड़ी देर उसकी ओर देखते रहे और बोले, 'दिल ही तो है, न संगोखित, दर्द से भर न आए क्यों। रोएंगे हम हज़ार बार, कोई हमें सताए क्यों।'

'वाह! वाह!! क्या बात कही है।' श्रोताओं की ओर से दाद उमड़ पड़ी, 'कोई हमें सताए क्यों।'

ग़ालिब ने हाथ के संकेत से दाद स्वीकार कर उसका धन्यवाद करते हुए अगला शेर पढ़ा, 'हां वो नहीं खुदापरस्त, जाओ, वो बेवफा सही। जिनको हो दीनोदिल अज़ीज़, उनकी गली में जाए क्यों।''

लोगों ने दाद में फिर से वाह वाह का जलूस निकाला, पर उन सब से ऊपर एक नारा नए कवि का था, 'वाह! वाह!! कहीं जनाब हमारे मदरसे में उस्ताद हुए होते, तो कोई हमें भी राह दिखाने वाला होता।'

ग़ालिब मुसकराए, 'मदर्सा और उस्ताद। बर्ख़ुर्दार! मदर्से में मुदर्रिस होते हैं उस्ताद नहीं।'

'अगर बुरा न मानें मिर्ज़ा साहब! तो एक बात कहूं।' एक और व्यक्ति ने कहा।

'बर्ख़ुर्दार! जब हमने ज़माने की बेअदबी का ही बुरा नहीं माना तो तुम्हारी बात का क्या बुरा मानेंगे। कहो। बेख़ौफ़ कहो।'

'जनाब! जब हम मदरसे में इल्म हासिल करने जाते हैं और वहां हमें आलिम मिलते ही नहीं, तो हम भी क्या करें? . . . आपके पांव धोकर पीने की भी औक़ात नहीं हमारे मुदर्रिसों की और कहते वे ख़ुद को उस्ताद हैं। . . .एक अच्छा शेर कहने की सलाहियत नहीं और सारे नए शायरों के कलाम में इस्लाह करने का दम भरते हैं।'

'वह तो उन्हें मौक़ा नहीं मिलता, नहीं तो वे पुराने उस्तादों के कलाम में भी इस्लाह कर दें।' किसी और ने कहा।

ग़ालिब हंस पड़े, 'मियां साहबज़ादे! तुम तो बहुत नाराज़ मालूम पड़ते हो, अपने मुदर्रिसों से। आख़िर ऐसी भी क्या बात है?'

'नाराज़ होने की तो बात ही है मोहतरम!' एक और युवक बोला, 'आप अपने एक शेअर में जो बात कह गए, वे बरसों की अपनी तक़रीरों में नहीं कह पाए। पान चबाते आएंगे। संटी बरसाएंगे। वाही तबाही बकेंगे और चले जाएंगे। और दावा यह कि मुल्क और क़ौम की अगली पीढ़ी की तामीर कर रहे हैं। वल्लाह! हमारा एक भी मुदर्रिस आप जैसा उस्ताद होता।'

ग़ालिब ने एक उदास-सी दृष्टि उस पर डाली, 'नौजवान! ख़्वाहिश तो तुम्हारी बहुत नेक है; पर तुम यह बताओ कि मुल्क और क़ौम ही ने उन ग़रीब मुदर्रिसों के बारे में क्या सोचा है कि वे लोग नई पीढ़ी तामीर करें। बेचारे फटे हाल रहते हैं, रोटी की जगह मुहल्ले के बनिए की घुड़कियां खाते हैं। कहां उस्ताद को देख कर शाहंशाह सलाम करते थे और कहां सरकारी प्यादे को देख कर मुदर्रिस सलाम बजा लाते हैं। मुझे तो इस मुदर्रिसी में ऐसा कुछ दिखाई नहीं देता कि कोई रौशन दिमाग़ नौजवान मुदर्रिसी की तरफ लपके। उससे तो वह किसी सौदागर की नौकरी कर ले, जो अपने नौकरों की परवरिश तो करता है। किसी रईस की ड्योढ़ी में नौकर हो जाए, जो उसे अपने दस्तरख़ान का नवाला तो देता है। अंग्रेज़ी पल्टन में सिपाही हो जाए, जहां तनख़्वाह के साथ लूट की इजाज़त भी मिलती है। . . . तुम अपने मुदर्रिस को भूख से भी मारते हो और जूतियों से भी, फिर कहते हो कि वह क़ौम की नई पीढ़ी की तामीर करे. . .'

'तामीर करने की लयाक़त किसी में हो तो क़ौम उसे सिर माथे पर उठाए।' नए कवि ने तड़पकर कहा।

'ठीक कहते हो।' ग़ालिब बोले, 'पर जब मुदर्रिसी में आधे पेट खाने और फटेहाल रहने के सिवाय कुछ रखा ही न हो, तो कोई उधर मुंह ही क्यों करे। तुमने कभी ग़ौर किया है कि मुदर्रिस कौन बनता है?'

'जिसे किताबों से प्यार होता है। इल्म से मुहब्बत होती है।'

'नहीं।' ग़ालिब आक्रोशपूर्ण स्वर में बोले, 'जिसे कोई कुंजड़ा भी अपनी झल्ली ढोने लायक नहीं समझता। . . .जब सब तरफ से पिटे हुए ख़स्ताहाल दिमागी हालत वाले लोग मुदर्रिस बनेंगे, तो मदरसों में इल्मी दिवालियापन ही तो दिखाई देगा. . .'

'मैं कहता हूं कि अच्छे उस्ताद मुदर्रिस बन जाएं तो न मदरसों की यह हालत रहेगी', नया कवि बोला, 'न हमारी नई पीढ़ी ऐसी ऊलजलूल हरकतें करेगी। आप तसव्वुर कीजिए, अगर आप हमारे उस्ताद बन कर आएं. . .'

'मुझे तो तुम मुआफ ही रखो बर्ख़ुर्दार!' ग़ालिब कुछ अवसादपूर्ण स्वर में बोले, 'सुबह उठकर बजाय कुछ अच्छा पढ़ने लिखने के या सोचो-फ़िक्र करने के, कहीं अपने भीतर कोई सरूर खोजने के, मिर्ज़ा ग़ालिब अचकन और टोपी डाट कर बल्लीमारान के मदरसे में जा पहुंचेंगे। लौंडे

सीटियां बजाते हुए आएंगे और कहेंगे, 'मौली साहब! आदाब!' मिर्ज़ा ग़ालिब मौली साहब हो जाएं। दिमाग में कोई नाज़ुक ख़्याल मुजस्मे की शक्ल में ढल रहा हो, कहीं कोई तख़ैयुल आसमान पर रखे इंदरधनुष पर पैर रखकर उड़ जाने की तैयारी में हो और मिर्ज़ा असदुल्ला खां ग़ालिब लड़कों की तख़्तियों पर उनकी हिज्जे दुरुस्त कर रहे हों। दिमाग में एक से बढ़कर एक शेअर आ रहा हो और मियां ग़ालिब हाथ में छड़ी लिए हुए लड़कों को गर्दानें रटा रहे हों . . .लाहौलविला कुवत . . .'

'मिर्ज़ा साहब!. . .''

पर ग़ालिब ने उसे बात पूरी नहीं करने दी, 'और किसी वक्त न हुई तबीयत लौडों से मग्ज़ मारने की, न पढ़ाना चाहा तो वे सीटियां बजाने और आदाब करने वाले लौंडे, आदाब कहना छोड़ बस सीटियां ही बजाएंगे। आंखों में आंखें डाल कर रौब गांठेंगे, 'पढ़ाओगे कैसे नहीं? तलब नहीं पाते क्या।' उनके अब्बा मियां तैश के साथ चिल्लाएंगे, 'अमां पढ़ाओगे कैसे नहीं, हम तुम्हें महीने में प्रति लड़का दो पैसे नहीं देते?' . . .तब उनको कोई कैसे कहेगा कि ग़ालिब का एक एक शेअर, साल भर की तलब पर भारी पड़ता है. . . अशर्फ़ियों से तुलने वाले अशआर कमजर्फ़ और बददिमाग़ लोगों की गालियों से तुला करेंगे. . .। मियां! ग़ालिब के होशोहवास अभी दुरुस्त हैं।'

ग़ालिब रुक गए। दरवाजे की ओर देखा। वहां शिवनारायण खड़े थे। शिवनारायण का चेहरा कुछ उड़ा हुआ था। उधर ग़ालिब की टकटकी लगी देख शेष लोग भी उधर ही देखने लगे। शिवनारायण एक हाथ से आदाब कर चुपचाप एक कोने में बैठ गए।

उन्हें कुछ न बोलते देख ग़ालिब ही स्वयं बोले, 'क्या बात है मियां शिवनारायन! ऐसे गुमसुम क्यों हो, जैसे कहीं ग़मी में आए हो। ऐसे घुन्ने तो तुम हो नहीं। मौलवी फ़ज़्लहक़ खैराबादी होते तो बात और थी।'

शिवनारायण ने एक बार बड़ी अनाथ सी दृष्टि से मिर्ज़ा को देखा और फिर धीमे स्वर में बोले, 'आपकी इस महफिल को बदमजा नहीं करना चाहता मिर्जा साहब! बाद में आपसे बात करूंगा।'

'यार हमारा बदमज़ा होता रहे और हम महफिल में जमे रहें, ऐसा भी कभी हुआ है क्या?' ग़ालिब बोले, '. . .पर बात क्या है मियां? तुम महफिल की फिक्र मत करो शिवनारायन, नहीं तो हमारी ज़िंदगी ही बदमज़ा हो जाएगी।'

किंतु शिवनारायण अपने स्थान से नहीं टले, 'महफिल में कहने की बात नहीं है, एकांत में कहूंगा।'

नया कवि उठ खड़ा हुआ। समझ गया कि अब मिर्ज़ा से और बात नहीं हो सकेगी। बाकी लोग भी उठ गए। शिवनारायण का संकेत स्पष्ट था कि वे कोई गंभीर चर्चा करना चाहते हैं– पर एकांत में।

'मिर्ज़ा साहब! अब हमें इजाज़त दें। लगता है कि आपके दोस्त कोई अहम ख़बर लाए हैं।' सलाम कर वह बाहर निकल गया। शेष लोग भी सलाम कर चले गए। मिर्ज़ा जैसे बेधयाने से खड़े रह गए। उनकी समझ में ही नहीं आ रहा था कि यह क्या हो गया और क्या होता जा रहा है। सब के चले जाने के पश्चात वे शिवनारायण की ओर मुड़े।

'क्या बात है शिवनारायन?' वे बोले, 'ऐसी क्या बात हो गई भाई! कि तुमने मिर्ज़ा की महफ़िल ही उजाड़ दी?'

'हुज़ूर को कुछ खबर भी है?'

'अरे क्या हो गया? बादशाह सलामत को अंग्रेज़ों ने लालकिले से निकाल बाहर कर दिया क्या?'

'नहीं! वे तो वहीं हैं।' शिवनारायण बोले, ''ऋण न चुकाने के अपराध में अदालत में आपके खिलाफ पांच सहस्र की डिग्री हो गई है. . .।''

'पांच हज़ार रुपए!' मिर्ज़ा हैरान रह गए, 'यह कहां का इंसाफ़ है . . .जागीर छीन ली . . .वजीफा नहीं देते . . .सारी जायदाद के हिस्से बख़रे कर दिए . . .दरबार के शायर के लिए ख़र्च नहीं . . .और अब यह डिग्री . . .आखिर क्या चाहते हैं ये लोग श्रीलाल शुक्ल, लखनऊ. . .रुतबा नहीं, ओहदा नहीं, . . .ख़र्च नहीं . . .क्या करे शायर? इस मुल्क में कोई शायर जिंदा कैसे रहेगा?'

'कौन चाहता है कि कवि जीवित रहे?' शिवनारायण बोले, 'किस को आवश्यकता है इस देश में कवि की?'

'इस मुल्क को शायर नहीं चाहिए?'

'नहीं! वे पूछते हैं कि कवि करता ही क्या है?'

'तो इस मुल्क में लोगों की ज़बान में हुस्नोलताफत कौन पैदा करेगा?'

'किसको आवश्यकता है कलाबोध और सौन्दर्यबोध की? इस देश में आज कुंजड़नों की गालियां लोगों को कवियों के दीवान से अधिक प्यारी लगती हैं।'

'इन्हें ख़ूबसूरत तसव्वुर और नाज़ुक ख्याल कौन देगा?'

'दिल्ली में सुंदर कल्पनाओं और मृदुल विचारों का नहीं, झूठ फरेब, लांछनों और षड्यंत्रों का महत्व है मिर्जा साहब! किसको चाहिए कवि की इंद्रधनुषी कल्पना।'

'इन्हें फिक्रोसुख़न की बुलंदियां कौन समझाएगा?'

'उदात्तता की चिंता किसको है। अमीरोउमरा, दरबारी, मनसबदार, अहलकार– सब तो झूठे और मक्कार हैं। नरक के कीड़े। चिंता है तो यह कि किस प्रकार सारे देश को अपने पैरों तले रौंद कर, स्वयं धन दौलत और विलास के आकाश को छू लें।' शिवनारायण कुछ आक्रोश में बोले।

'इन में अहसास कौन पैदा करेगा? इनके जज़्बात में वलवले कौन जगाएगा?'

'वे तो चाहते ही हैं कि सारा देश संवेदनाशून्य हो जाए . . .जड़ पत्थर . . .उसे पीसकर रख दिया जाए, तो भी उसे कांटा चुभने की-सी भी अनुभूति न हो। वे चाहते हैं कि कवि को इतने बेभाव की पड़े कि कवि के भाव मर जाएं। वलवलों की किसी को आवश्यकता नहीं है यहां। कीचड़ में बिलबिलाने वाले कीड़ों को वलवलों की आवश्यकता नहीं होती।'

'और इन्हें हैवानियत से निकाल कर रूहानियत के रू-ब-रू खड़ा कौन करेगा?' गालिब अपनी उसी मुद्रा में कहे जा रहे थे।

'हमारे देश के नेताओं को आध्यात्मिक लोगों की नहीं, गधे, घोड़ों और खच्चरों की लीद उठाने वालों की आवश्यकता है। देश क्या है, अस्तबल हुआ पड़ा है।' शिवनारायण को मिर्ज़ा ने आज तक इतने आक्रोश में नहीं देखा था, 'दुर्गंध से नाक फटी जा रही है। हिंदुस्तानी अमीरोउमरा हैं, जो धन और विलास के पीछे देश को अंग्रेजों के हाथों बेचने पर तुले हुए हैं। बादशाह सलामत अपने लालकिले से ही संतुष्ट हैं। उनको अपनी गद्दी बचती दिखाई नहीं देती . . .और अंग्रेज! अंग्रेज चाहता है कि यह देश

बाग-बगीचों, वाटिका और उद्यानों के स्थान पर श्मशान हो जाए और वह चांडाल बनकर उस पर शासन करे।'

'जब देश तबाह हो रहा है, तभी तो उसे शायरों, फनकारों और सोच विचार करने वाले मुफ़क्किरों की ज़रूरत है. . .।' मिर्ज़ा बोले।

'होती होगी, पर इस समय तो आप अपने आप को तबाह होने से बचाइए।' शिवनारायण ने कहा, 'पांच सहस्र रुपयों की डिग्री है। या तो कहीं से पांच सहस्र रुपयों का प्रबंध कर अपना ऋण चुकाइए, या फिर घर से बाहर निकलते ही गिरफ़्तार हो जाइए।'

'क्या कहते हो शिवनारायन।' मिर्ज़ा पहली बार कुछ विचलित होते दिखाई दिए।

'हां जनाब!' शिवनारायण बोले, 'वह तो अदालत ने आपको शर्फ़ा में शुमार किया है, इसलिए आपको आपके घर के भीतर से गिरफ्तार करने की मनाही है; नहीं तो वे कमबख्त आप को घर में ही धर लेते और घसीटते हुए कोतवाली तक ले जाते।'

'पर घर से बाहर न निकलूं तो मेरी ज़रूरतें. . .'

'जनाब मिर्जा साहब! आपके ये दोस्त अहबाब, यह मित्र मंडली किस दिन काम आएगी?' शिवनारायण ने कहा, 'आप निश्चिंत रहें, आपको हम किसी किस्म की तकलीफ नहीं होने देंगे। पर कृपा कर घर से बाहर मत निकलिएगा।'

'पर पैसों का भी तो इंतज़ाम करना होगा, मियां!' ग़ालिब बोले, 'कब तक चूहे की तरह बिल में दुबका रहूंगा?'

'मौलवी फजलहक कह रहे थे कि वे आपकी नौकरी का कोई रास्ता निकाल रहे हैं।' शिवनारायण उठ खड़े हुए।

'नौकरी।' मिर्जा की आंखें फटी की फटी रह गईं।

'हां ! वे कह रहे थे कि अंग्रेजों की एक पाठशाला की इंतजामिया कमेटी में उनकी कोई जान पहचान है। कोई नवाब कल्लन और उनकी रखैल दोनों ही उसके सदस्य हैं। वे आपको उनसे मिलवा देंगे।'

ग़ालिब ने कुछ कहा नहीं, बस देखते ही रह गए।

२

हवेली के एक बड़े से कमरे में महफ़िल सजी हुई थी। अनेक लोग बैठे थे। उन सबके बीच बड़ी ठसक के साथ शबरातन बैठी थी। दासियां पान की गिलौरियां पेश कर रही थीं। हुक्के का धुआं उड़ रहा था। कहकहों की आवाज़ें आ रही थीं।

मौलवी फ़ज़लहक़ खैराबादी, अपने साथ मिर्ज़ा ग़ालिब को ले कर आए थे। मौलवी साहब ने अंदर झांक कर देखा और दासी को संकेत से बुलाया। दासी आकर

उनकी बात सुन गई और लौटकर शबरातन के कान में धीरे से कुछ बोली। शबरातन के चेहरे पर अप्रसन्नता-सी झलकी और बोली, 'अब आ ही गए हैं तो ले आओ।' फिर स्वयं ही ऊंचे स्वर में पुकार कर बोली, 'अब आ भी जाइए मौली साहब! कब तक इस तरह शरमाते रहिएगा।'

पहले मौलवी फ़ज़लहक़ और फिर मिर्ज़ा ग़ालिब ने प्रवेश किया। मिर्ज़ा हक्के बक्के से खड़े रह गए और मौलवी साहब ने झुक कर बी शबरातन को ऐसे सलाम किया जैसे वे बहादुरशाह ज़फ़र के दरबार में खड़े हों।

सब लोग मिर्ज़ा को ऐसे देख रहे थे, जैसे कोई अजीब सा जानवर घर में घुस आया हो।

सहसा शबरातन इधर-उधर देख, कुछ हाव-भाव से मुंह बना कर बोली, 'तशरीफ रखिए। कब तक ऊदबिलाव की तरह गर्दन उठा कर देखते रहिएगा।'

मिर्ज़ा ग़ालिब अटपटी सी चाल चल कर मौलवी साहब के पास जा बैठे, जैसे कोई बच्चा अपरिचितों की भीड़ में अपनी मां का आंचल थाम कर बैठता है।

फ़ज़लहक अपनी निकटता जताने के लिए जैसे शबरातन को सुना कर बोले, 'आप इन्हें पहचानते हैं न मिर्ज़ा साहब!'

मिर्ज़ा ग़ालिब को वे अच्छी तरह सिखा पढ़ा कर लाए थे, पर मिर्ज़ा जैसे अपनी मन:स्थिति से बाहर नहीं आ पा रहे थे। वे पहचानने का बहुत सारा प्रयत्न कर भी नहीं पहचानते और नकार में सिर हिला देते हैं।

मौलवी साहब को इसी का भय था। इतना समझा कर लाए थे, पर मिर्ज़ा ग़ालिब तो मिर्ज़ा ग़ालिब ही थे। अपनी प्रकृति को कैसे बदल लेते।

मिर्ज़ा का सिर हिलाना जैसे बहुत सारे मुसाहिबों को सुनहरा अवसर दे गया। वे समूह गान के स्वर में बोले, 'अरे साहब! आप इन्हें नहीं जानते। तो दिल्ली शहर में किसे जानते हैं आप। ये दिल्ली की जानी पहचानी हस्ती हैं. . .बी शबरातन!'

मिर्ज़ा कुछ झेंपे और बोले, 'माफ़ कीजिएगा। मेरे ज़ेहन में न यह शक्ल उभर रही है, न यह नाम ही याद आ रहा है। बड़ी बी शायरा हैं क्या?'

'बड़ी बी' सुनकर ही शबरातन के मुंह का स्वाद कसैला हो गया।

मौलवी साहब ने स्थिति संभालने के लिए कहकहा लगाया, 'ये शायरा नहीं, शाहेराह हैं। किसी ऊंची मंजिल तक पहुंचना हो तो ये ही वहां तक पहुंचाती हैं।'

'होंगी शाहेराह, मगर नाम तो नानबाइयों का-सा है।' ग़ालिब बोले।

'नहीं! हमारी बी शबरातन न शायरा हैं, न नानबाई।' एक मुसाहिब ने उनकी प्रशंसा में कहा और परिचय देना आरंभ किया, जिसे शबरातन बड़े गौरव से मुसकरा कर सुन रही थी, जैसे राजा लोग चारणों से अपने वंश की विरुदावली सुनकर मुस्कराते होंगे, 'हमारी बी शबरातन जाति से कुंजड़न हैं। इनके पुरखे दरियागंज की मंडी में अपनी टोकरी लेकर बैठा करते थे। इनकी मां एक अमीर की नज़र में चढ़ गईं और अंजाम यह हुआ कि बिना निकाह के ही यह चांद का टुकड़ा पैदा हो गया।' वह मुस्कराया,

'आजकल ओहदे से आप नवाब कल्लन मियां की रखैल का दबदबा रखती हैं।'

'माशाअल्लाह! इल्म की बड़ी ऊंची सनद पाई है इन्होंने।' ग़ालिब कुछ कुछ अपने रंग में आ रहे थे, 'दिल्ली दरवाज़े से अजमेरी दरवाज़े तक की सारी सनदें पार कर गईं।'

'और नहीं तो क्या।' शबरातन मिर्ज़ा का अभिप्राय समझे बिना अपने फूहड़ ढंग से बोली, 'कुंजड़नें तो आज भी बहुत हैं बाजार में। साग भी तौलती हैं और ग्राहक की जेब भी टटोलती हैं। दरियागंज की मंडी अटी पड़ी है उनसे। क्यों न बन गईं वे नवाब कल्लन मियां या नवाब रल्लन मियां की रखैलें. . .'

'आपके ओहदे की ऊंचाई नहीं समझ आई उनको। साग तौलती रह गईं, अपना जिस्म नहीं तौल पाईं।' मिर्ज़ा ने बड़ी शालीनता से कहा।

'और नहीं तो क्या । समझ की ही तो बात है सारी।' शबरातन इतरा कर बोली, 'नहीं तो जनाब ही को किसी शाहजादी या अमीरजादी ने क्यों नहीं रख लिया। उनमें से भी तो बहुत सारी बड़ी शौकीन मिजाज होती हैंगी सालियां।'

'आप ठीक फ़रमाती हैं।' मिर्ज़ा ग़ालिब बोले, 'यह लयाक़त तो मुझ में सिरे से है ही नहीं।'

'तभी तो चूतड़ रगड़ रहे हो,' शबरातन बोली, 'नहीं तो बैठे ऐश कर रहे होते।'

मिर्ज़ा ने बुरा-सा मुंह बना कर मौलवी साहब की ओर देखा, जैसे कह रहे हों, 'यह कहां ले आए तुम।' फ़ज़लहक उन्हें शांत रहने का संकेत कर दूसरी ओर देखने लगे।

मिर्ज़ा जैसे उकता कर बोले, 'तो अब हम यहां किस इंतज़ार में बैठे हैं?'

'नवाब साहब आ जाएं तो हम कार्रवाई शुरू करें।' एक मुसाहिब ने कहा, 'चाहे आप की ही गजल से शुरू हो जाए।'

'मैं गजल नहीं ग़ज़ल कहता हूं।' मिर्ज़ा बोले।

'तो आप ईरान चले जाइए, यहां तो वह गजल ही होगी।'

'अरे छोड़ो। क्यों उलझते हो इनसे। ये गजल कहते हैं तो गजल ही सही।' शबरातन बोली, 'हम कौन रुबाई के लिए हठ कर रहे हैं।'

'तो जनाब! ये नवाब रल्लन कौन साहब हैं?' मिर्ज़ा ने पूछा।

'आप तो सब गड़बड़ किए दे रहे हैं।' मौलवी साहब ने धीरे से कहा।

शबरातन फूहड़ ढंग से क़हक़हा लगा कर हंसी, 'नवाब कल्लन। नवाब रल्लन नहीं।'

मिर्ज़ा जैसे परेशान होकर बोले, 'मेरे लिए एक ही बात है।'

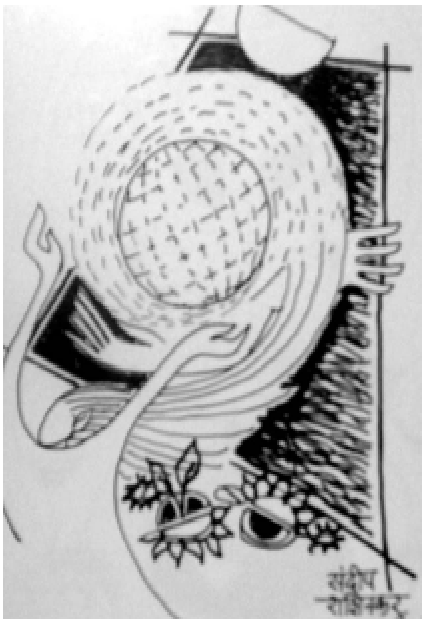

'मियां! तुम्हारे लिए होगी एक बात।' शबरातन इतराई, 'हम तो नवाब कल्लन की दाशता हैं, नवाब रल्लन की नहीं हो सकती हैंगी। आखिर हमारा भी तो साला कोई उसूल हैगा।'

'तो नवाब कल्लन कौन हैं?'

'मदरसा उन्हीं के मकान में चलता है।'

'तो वे मालिक मकान हैं?' ग़ालिब ने पूछा।

'मालिक मकान नहीं, मालिक ही कहो।' शबरातन ने कहा, 'नवाब साहब की पहले कसाई की दुकान थी। अब नौकर चाकर वह दुकान चलाते हैं।'

'माशाअल्लाह।' ग़ालिब समझ नहीं पा रहे थे कि वे हंसें या रोएं, 'तो नवाब साहब कसाई हैं और उन्हें शायरी का शौक भी है।'

'जब नवाब साहब को शराब और कुंजड़नों का शौक है, तो शायरी का शौक अपने आप ही होगा।' शबरातन की बाछें खिल गईं।

'खैर होगा। पर मेरी क़ाबलियत का इम्तहान कौन लेगा?'

'वे ही लेंगे।' शबरातन बोलीं, 'कुछ हम पूछ लेंगे।'

'कसाई . . .मेरा मतलब है, नवाब साहब?'

'हां साहब! वे मालिक हैं। यह फैसला बिल्कुल वे ही करेंगे कि उन्हें लायक उस्ताद चाहिए या नालायक।'

ग़ालिब हैरान रह गए, 'नालायक उस्ताद।'

'हां! यह फैसला तो खरीदार ही करेगा न कि उसे डाक पहुंचाने वाला तेज रफ़्तार घोड़ा चाहिए, या बोझ उठाने वाला गधा।' शबरातन कुछ बिगड़ गईं, 'पर आप ये सारे सवाल करने वाले कौन होते हैं। आप को नौकरी चाहिए या नहीं?'

'बी हसीना! आप नाराज़ न हों।' मौलवी फ़ज़लहक बीच में बोले, 'ये मिर्ज़ा ग़ालिब हैं। शायर हैं। दुनिया की ख़बर कुछ कम ही रहती है इन्हें। बेचारे नहीं जानते कि नवाब साहब कैसी अहम शख़्सियत हैं।'

'ऐ ये लो। ये नवाब कल्लन को ही नहीं जानते, जिनका सारे मुहल्ले में दबदबा है।' एक मुसाहिब उछल कर बोले, 'कहीं बहुत दूर से तशरीफ़ लाए लगते हैं। कहीं आप शाहदरा से तो नहीं आए?'

'मुझे तो महरौली से आए लगते हैं।' दूसरा मुसाहिब बोला, 'वहीं के लोग दिल्ली की मशहूरोमारूफ़ हस्तियों को नहीं जानते।''

'नहीं! रहने वाले तो ये भी ख़ास दिल्ली के ही हैं।' मौलवी साहब ने बीच बचाव किया, 'पर मैंने अर्ज़ किया न कि शायर हैं। अपने ख़्यालों की दुनिया में रहते हैं।'

'तो अपना मकान भी ख्यालों की दुनिया में ही बनाया होता। मुई दिल्ली में क्यों आ बसे।' बी शबरातन ने कहा, 'रहेंगे दिल्ली में और नवाब कल्लन मियां को नहीं जानेंगे। आखिर इनका गुजारा यहां कैसे होगा?'

'इसीलिए तो आपके कदमों के दीदार के लिए आए हैं।' मौलवी साहब बोले।

'जान जाएंगे, जान जाएंगे।' एक और मुसाहिब बोला, 'जब ये अपने ख़्यालों की दुनियां से नीचे उतरकर, दिल्ली की सरज़मीन

पर अपने नाज़ुक क़दम रखेंगे, तो सख़्त ज़मीन इनकी एड़ियों और पंजों में चुभेगी तो इनकी आंखें अपनेआप खुल जाएंगी। वैसे नवाब साहब के आते ही लोगों के होश उड़ जाते हैं, आंखें कैसे बंद रह जाएंगी।'

'नवाब साहब की बात ही क्या', एक और मुसाहिब बोला, 'यह ख़ुसूसियत तो दिल्ली की सरज़मीन में ही बहुत है कि यहां रहकर जिसने आंखें बंद कीं, उसका सिर कलम हो गया. . .'

मिर्ज़ा ग़ालिब से जैसे रहा नहीं गया। बोले, 'सिर क़लम होगा या क़लम सिर हो जाएगी– उसे छोड़िए; आप यह बताने की तकलीफ तो गवारा करें कि नवाब साहब हैं कौन सी शख़सियत।'

सहसा शबरातन क्रोध में आ गई, 'बस! बहुत हुआ। अब आपको नवाब साहब की शखसियत का पता तो तभी चलेगा, जब वे आपका सिर कलम कर, आपकी खाल उतार कर, आपको भी अपनी दुकान पर बकरों के गोश्त के साथ टांग देंगे. . .'

3

मिर्ज़ा ग़ालिब को पसीना आ गया। वे हड़बड़ा कर उठ बैठे। वे अपने शयनकक्ष में अपने बिस्तर पर थे। पास ही बेगम लेटी हुई थीं।

'ओह! कैसा ख़ौफ़नाक ख़्वाब था।' उन्होंने अपने आप से कहा।

बेगम को अभी शायद नींद ही नहीं आई थी। बोलीं, 'अयहय। ऐसा भी क्या देख लिया?'

'मौलवी फ़ज़्लहक मुझे एक जगह नौकरी दिलवाने ले गए थे।' मिर्ज़ा बोले।

'नौकरी दिलवाने ले गए थे, किसी कत्लगाह में तो नहीं ले गए थे।' बेगम ने हंसकर कहा।

'कत्लगाह ही समझो। वे मुझे एक मदरसे में मुदर्रिस बनवा रहे थे।'

'मुदर्रिस ही तो बनवा रहे थे', बेगम बोलीं, 'कोई आपकी कमर में चपरास तो नहीं बंधवा रहे थे।'

'नहीं! मैं नौकरी नहीं करूंगा।'

'नौकर तो अब भी आप हैं ही– मुग़लों के हुए या अंग्रेज़ों के हुए।'

'अरे दरबार की नौकरी भी कोई नौकरी है!' मिर्ज़ा बोले, 'जब इजलास हुआ, सजधज कर अपनी मुकर्रर जगह पर जा बैठे। किसी को आदाब अर्ज़ कर दिया, किसी को दुआ दे दी। बहुत हुआ तो दो चार शेअर बादशाह सलामत के हुज़ूर में पढ़ दिए। और फिर. . .''

'और क्या?'

'वहां तो मैं बादशाह के उस्ताद के रूप में बैठता हूं।'

'यह ग़लतफ़हमी छोड़ दीजिए। आप एक ही वक्त पर नौकर और उस्ताद दोनों तो नहीं हो सकते।' बेगम ने कहा।

'क्यों महाभारत के द्रोणाचार्य दोनों नहीं थे क्या?'

'आपको लगता है कि द्रोणाचार्य उस्ताद रह गए थे? . . .यह तो वैसा ही है, जैसे अब भी आप बहादुरशाह ज़फ़र को बादशाहे हिंद मानते रहें।' बेगम हंसीं, 'अच्छा! सच सच बताइए, क्या आप अब भी बादशाह को ताजदारे हिंदुस्तां मानते हैं? ''

'आप कहां सयासत ले बैठीं।' मिर्ज़ा ने कहा, 'मुझे तो यह ग़म खाए जा रहा है कि असद शायर से मुदर्रिस हो जाएगा?'

'तो क्या बुरा है?' बेगम बोलीं, 'मुदर्रिस भी तो उस्ताद ही होता है। लड़कों को शेख़ सादी का कलाम पढ़ाइएगा, फ़िरदौसी का कलाम पढ़ाइएगा। उन्हें पढ़ाते हुए , खुद भी पढ़िएगा, समझिएगा. . .'

'तुम्हारी बातों पर हंसूं तो बुरा मत मानना।'

'क्यों ? इस में हंसने की क्या बात है?' बेगम इतराईं।

'हंसने की बात नहीं है क्या? शायर खुद ऊंचा उठने के लिए पढ़ता है और मुदर्रिस शायर के कलाम की चीरफाड़ कर उसे तबाहो-बर्बाद करने के लिए पढ़ता है।'

बेगम हंसीं, 'क्यों ऐसा क्या किया बेचारे मुदर्रिस ने?'

'मुदर्रिस तो शायरी का कसाई है। खूबसूरत नज़्म को पहले हलाल करेगा और फिर उसकी बोटी-बोटी कर उसे अपने ग्राहकों को दिखा कर उन्हें ख़ुश करेगा– यह लफ़्ज़ अच्छा है। यह तसव्वुर खूबसूरत है, यह बात गहरी है। नज़्म गई भाड़ में।'' मिर्ज़ा के मन में नवाब कल्लन की दुकान घूम गई।

'कसाई का काम तो आप कर रहे हैं।' बेगम हंस पड़ीं, 'बेचारे अच्छे खासे मुदर्रिस को ज़बह किए दे रहे हो। मुदर्रिस तो उस्ताद है। शायर उस्ताद नहीं होता क्या?'

'शायर तो वह उस्ताद होता है, जिसने नज़्मों की मूरतों को अपने बच्चों की तरह पाला है। वह उसकी रग-रग से वाकिफ़ होता है। बच्चा अंगुली भी हिलाए तो उसके अंदाज़ को देख कर भी मां समझ जाती है कि उसकी तबीयत ठीक नहीं है।'

'और मुदर्रिस!' बेगम ने दृष्टि को वक्र कर उनकी ओर देखा।

'मुदर्रिस तो मूरतों का वह व्यापारी है, जो खुद मूरत की असलियत को समझे बगैर, ग्राहक को समझा देता है कि मूरत की ख़ासियत क्या है।' मिर्ज़ा बोले।

'आप उसके साथ ज़्यादती कर रहे हैं।'

'ज़्यादती नहीं कर रहा, सच बोल रहा हूं। जिन लड़कों को वह मदरसे में पढ़ाता है, वे न शायर को समझते हैं, न समझना चाहते हैं। ख़ुद मुदर्रिस के लिए शायर को समझना ज़रूरी नहीं है, ज़्यादा ज़रूरी तो लड़कों को बहका ले जाना है।'

'इसका क्या सुबूत है आपके पास?'

'मेरे पास सुबूत हैं, पर वे शायर के सुबूत हैं।'

'शायर के सुबूत क्या बाक़ी लोगों के सुबूतों से अलग होते हैं?' बेगम कुछ हैरान हुईं।

'हां अलग ही तो होते हैं। बाक़ी लोगों के सुबूत चलते हैं दलील पर। दलील चलती है अल्फ़ाज़ की गाड़ी पर। अल्फ़ाज़ ठोस होते हैं, उनका जिस्म होता है।' मिर्ज़ा बोले, 'शायर का सुबूत उसका अपना अहसास है, वह दलील पर नहीं चलता। वह तो क़ुदरत के बारीक और नफ़ीस इशारों को तख़ैयुल के रूप में अपने भीतर जज़्ब करता है, जैसे कोई धूप में बैठ कर धूप को अपने जिस्म में जज़्ब करे।'

'यह सारी लफ़्फ़ाज़ी है आपकी।'

'धूप में रहकर एक पौधा जल जाता है। उसी धूप में दूसरा पौधा लहलहाकर सूरज के रंग अपने पत्तों और फूलों में खिलाता है। . . .सूरज गदले पानी को सुखा कर कीचड़ बनाता है। झरने और बादलों के शफ़्फ़ाक पानी में वह अपनी रूह ढालकर इंदरधनुष बनाता है। शायर का दिल वह साफ शफ़्फ़ाक पानी है। वह तो क़ुदरत का

आइना है। कभी-कभी मुझे लगता है कि मैं आंखें बंद कर , चुपचाप बैठ जाऊं, तो क़ुदरत की तरह तरह की ताक़तें आ आकर मेरे जिस्म में जज़्ब होती जा रही हैं। मेरे दिल का तलातुम ठहर जाता है, जैसे अंधड़ के बाद गर्द बैठ जाए और चश्मे का पानी आइने की तरह साफ हो जाए। तब उस आइने में क़ुदरत अपना तिलस्म खोलने लगती है। अल्फ़ाज़ नहीं होते, मैं कुछ सुनता नहीं, पर समझता हूं (तस्वीर नहीं होती, मैं कुछ देखता नहीं हूं, पर मैं महसूस करता हूं. .'

'आप कहना क्या चाहते हैं– आप पैग़म्बर हैं, आपको अल्हाम होता है? आप मामूली इंसानों से अलग हैं, उनसे बेहतर हैं?'

'ये मिसायले तसव्वुफ़, यह तेरा बयान ग़ालिब! तुझे हम वली समझते, जो न बादाख़ार होता।'

'शायरों ने अपनी तारीफ़ करने के लिए बहुत कुछ उड़ा रखा है।' बेगम हंसीं, 'कौन मानेगा आपकी इस बात को?'

'कोई माने या न माने, तुम्हारा मुदर्रिस नहीं मानेगा (क्योंकि उसे अल्फ़ाज़ ही दिखाई देते हैं, उनके भीतर का कुछ नहीं दीखता। कुंएं की जगत दीखती है, कुंएं का पानी नहीं दीखता। उसके पास न तो अल्फ़ाज़ के पार जाने वाली नज़र है और न ही धूप जज़्ब करने वाला दिल।'

'मुदर्रिस को इतना गया बीता मत समझिए जनाब! आखिर वह भी लफ़्ज़ों से ही खेलता है। उन्हीं के बीच जीता मरता है।'

'हां! कुछ तो है। मगर होशियार से होशियार मुदर्रिस भी शायरी की दुनिया की धाय ही तो है।. . .'

'धाय क्यों?'

'बच्चे पैदा होते भी देखे हैं धाय ने, जच्चा को तड़पते भी देखा है, पर कभी रत्ती भर दर्द का अहसास नहीं हुआ उसे। तुम्हारा मुदर्रिस भी धाय है। धाय कम से कम बच्चा पैदा होने में ज़च्चा की कुछ मदद तो करती है। मुदर्रिस तो उस वक्त ज़च्चा के पास पहुंचता है, जब वह उसे पैदा कर नहला धुला, कपड़े पहना, पालने में सुला, खुद आराम करने के लिए लेट चुकी होती है।'

'नहीं! जनाब मिर्ज़ा साहब! मुदर्रिस को इतना बुरा न समझिए। कमी दरअसल मुदर्रिस में नहीं है। हां! कुछ ऐसे लोग मुदर्रिस बन जाते हैं, जिन्हें क़ुदरत ने दुनिया में तबीयत से कुंजड़े बना कर भेजा होता है। ऐसे कुछ हादसे तो कहीं भी हो सकते हैं।'

'अच्छा। सो जाएं। कहीं बहस में ही कोई हादसा न हो जाए।'

4

शिवनारायण और मौलवी फ़ज़लहक़ खैराबादी एक साथ ही मिर्ज़ा से मिलने आए। मिर्ज़ा अपने इन दो मित्रों को एक साथ देख कर कुछ डर से गए।

'क्या बात है मिर्ज़ा साहब!' मौलवी साहब बोले, 'अपने दोस्तों को देख कर आप का रंग क्यों उड़ गया है?'

'मियां! अब क्या कहें आपसे कि यह सोच कर कि आप लोग मुझे उस मदरसे में जाने को कहेंगे, मुझ पर क्या गुज़र रही है।'

'खैर वह तो हम आपसे कहने आए ही हैं।' मौलवी फ़ज़लहक़ ने कहा, 'पर एक बात और कहनी है।'

'क्या?'

'खुलेआम मत जाइएगा कि सारे बाजार को पता लगे कि मिर्ज़ा ग़ालिब की सवारी जा रही है।'

'आखिर क्यों भाई?' मिर्ज़ा बोले, 'हम पर्दानशीन कब से हो गए ?'

'जब से आपकी गिरफ़्तारी का हुक्म नाज़िल हुआ है।' शिवनारायण बोले, 'यह न हो कि आप अपने गंतव्य पर पहुंचने के स्थान पर कोतवाली पहुंच जाएं।'

'ओह! यह तो हम भूल ही गए।' मिर्ज़ा बोले, 'अब आप से हम सच कहें मौलवी साहब! कि जब से हमको मालूम हुआ है कि वह कुंजड़न शबरातन और वह कसाई नवाब कल्लन हमारी क़ाबलियत का इम्तहान लेंगे, तब से हमारे होश ही ठिकाने नहीं हैं।'

'आप वह सब भूल जाइए। वे सब अफ़वाहें हैं।' शिवनारायण बोले, 'हम आपको किसी मदरसे में जाने को नहीं कह रहे। आप दिल्ली कॉलेज जा रहे हैं, जहां एक अंग्रेज टामसन आचार्य यानी प्रिंसिपल है। उसने कह दिया है कि यदि मिर्ज़ा हमारे यहां फारसी पढ़ाएंगे तो उनकी काबलियत का इम्तहान लेने का अधिकार किसी को नहीं है। उनका कलाम ही उनकी काबलियत है। आपकी नौकरी पक्की हो चुकी। टामसन साहब वहां बैठे आपके आने की प्रतीक्षा कर रहे होंगे।'

मिर्ज़ा मुस्कराते हैं, 'याने इस मुदर्रिस की इज़्ज़त शबरातन के हाथ में नहीं है।'

'आप फिक्र न करें।' मौलवी साहब बोले, 'शबरातन के हाथ तौलेंगे तो सब्जी ही तौलेंगे, आपकी काबलियत नहीं।'

5

टामसन साहब अपने कार्यालय में बैठे ऊपर से अपना काम करते दिखाई पड़ रहे थे, पर उनका सारा ध्यान मिर्ज़ा ग़ालिब की ओर लगा हुआ था। बड़ी मुश्किल से फ़ारसी पढ़ाने के लिए इतना अच्छा अध्यापक मिला था। ग़ालिब को मनाना कोई आसान नहीं था। जो बादशाह की महफ़िल में बैठता हो। सारे साहित्य में पुराने उस्तादों की बराबरी का उस्ताद माना जाता हो, उसे एक कॉलेज के अनुशासन में बांधना आसान नहीं था। और अब तो उनके बंदी होने का भी संकट था। कोतवाल तुला हुआ था कि वह उनको कारागार की शक्ल दिखा कर ही रहेगा। टामसन साहब ने अपनी ओर से कोई कसर नहीं छोड़ी थी। उन्होंने ऊपर तक कहलवा दिया था कि यदि मिर्ज़ा अपने घर से दिल्ली कॉलेज आने के लिए निकलें, तो उनको बंदी न किया जाए। उनका ऋण चुकाने का कोई न कोई मार्ग निकाल लिया जाएगा। पर ग़ालिब अभी तक आए नहीं थे।

जब टामसन साहब से रहा नहीं गया

तो उन्होंने घंटी बजाकर चपरासी को बुलाया। चपरासी ने आकर सलाम किया।

'मिर्ज़ा ग़ालिब की हवेली में जाओ और उनसे कहो कि हम उनका इंतज़ार कर रहे हैं।' टामसन बोले, 'उनसे पूछो वे कब तक आएंगे?'

चपरासी चुपचाप अपने स्थान पर खड़ा रहा।

'क्या बात है, जाते क्यों नहीं?'

'हुजूर मिर्ज़ा ग़ालिब की पालकी तो कब से आई खड़ी है। न वे पालकी से उतर रहे हैं और न पालकी फाटक के भीतर आ रही है।'

टामसन गंभीर हो गए। उनकी समझ में कुछ नहीं आया।

'मिर्ज़ा पालकी में आए हैं, तामझाम में नहीं?'

'नहीं हुज़ूर तामझाम में आते तो कोतवाल उन्हें रास्ते में ही गिरफ़्तार कर लेते।'

'तो वे कॉलेज के भीतर क्यों नहीं आ रहे?'

'कह नहीं सकता सरकार!'

'किसी को भेजो। उनको लेकर भीतर आए।' टामसन रुक गए, 'नहीं! ठहरो। मैं खुद जाकर देखता हूं कि मामला क्या है।'

टामसन आगे आगे चला, चपरासी पीछे पीछे। दूर से ही चपरासी ने ग़ालिब की पालकी की ओर इशारा कर दिया। टामसन आकर पालकी के पास रुक गए।

कहारों ने देखा कि एक अंग्रेज आ कर पालकी के पास रुका है। उन्हेंने पालकी का पर्दा उठा दिया।

'आदाब! मिर्ज़ा साहब।' टामसन ने कहा।

'आदाब। आदाब।' मिर्ज़ा पालकी से निकल आए, 'शायद आप ही यहां के प्रिंसिपल टामसन साहब हैं।'

'जी! बंदा ही टामसन है।' प्रिंसिपल ने कहा, 'आप आ कर यहां रुक गए हैं। कॉलेज में क्यों नहीं आ रहे?'

'आया तो मैं इसी ग़र्ज़ से था, पर यहां फाटक पर मेरे इस्तकबाल के लिए कोई नहीं था।' मिर्ज़ा बोले, 'ऐसे में मैं कॉलेज में कैसे आता?'

'इस्तकबाल!' टामसन कुछ हकलाए, 'पर कॉलेज के फाटक पर तो इस्तकबाल के लिए कभी कोई नहीं होता।'

'मैं पिछली बार एक महफ़िल के लिए आया था तो यहां बाक़ायदा मेरा इस्तकबाल हुआ था।' ग़ालिब ने कहा।

'पिछली बार आप हमारे मेहमान बन कर आए थे। इसलिए आपके इस्तकबाल के लिए हम सब यहां थे। पर कॉलेज में नौकरी करने वालों का तो इस्तकबाल नहीं होता। वे अपने काम से आते हैं। काम करते हैं और वापस चले जाते हैं।'

'तो इसका मतलब यह हुआ कि कॉलेज में नौकरी करने से इज़्ज़त कम हो जाती है।' मिर्ज़ा बोले, 'उस्तादों की वह इज़्ज़त नहीं होती, जो मेहमानों की होती है।'

'यह तो ज़ाहिर ही है।' टामसन ने कहा।

मिर्ज़ा लौटकर अपनी पालकी में बैठ गए।

'चलो भाई!' उन्होंने कहारों से कहा।

'क्यों क्या हुआ मिर्ज़ा साहब?' टामसन ने हैरान होकर पूछा।

'मैंने तो आपके यहां नौकरी के लिए हामी इसलिए भरी थी कि आपके नामी कॉलेज में पढ़ाने से मेरी इज़्ज़त और बढ़ जाएगी।'

'देखिए, मुलाज़िम और मेहमान की इज़्ज़त एक जैसी तो नहीं हो सकती।' टामसन बोले, 'अब तक आपका कलाम हमारे कॉलेज में पढ़ाया जाता है, पर जब आप कॉलेज के मुलाज़िम होंगे, तो आपका कलाम यहां पढ़ाया तो नहीं जा सकता।'

'आपके यहां पढ़ाने से यह ग़ालिब इतना छोटा आदमी हो जाएगा?'

'नौकरी करने पर आदमी अपने कलाम से नहीं, अपने ओहदे से जाना जाता है।'

'जले पर और नमक मत छिड़किए टामसन साहब!' मिर्ज़ा बोले, 'ऐसी जगह कोई काम क्यों करे, जहां उसकी इज़्ज़त का जनाज़ा धूमधाम से निकाला जाता है।' वे कहारों की ओर मुड़े, 'परदा गिरा दो मियां और हवेली चले चलो।'

कहारों ने परदा गिरा दिया था और पालकी उठा ली थी। टामसन खड़े के खड़े रह गए। शायद मिर्ज़ा धीरे-धीरे गुनगुना रहे थे, 'हुए मर के हम जो रुसवा, न हुए क्यों ग़र्क़े दरिया। न कहीं जनाज़ा उठता, न कहीं मज़ार होता।''

175, वै

'व्यंग्य यात्रा'

के निम्नलिखित शुभचिंतकों से आप 'व्यंग्य यात्रा' अंकों के लिए संपर्क कर सकते हैं–

श्री अशोक आनंद
103/2-1 गुरु रोड, देहरादून
दूरभाष : 9410394466 (मोबाइल)

श्री रमेश सैनी
245, एफ.सी.आई.लाईन, त्रिमूर्ति नगर
दमोह नाका, जबलपुर-482002 (म.प्र.)
दूरभाष : 09425866402

श्री तरसेम गुजराल
78 रामशरणम कॉलोनी, कॉलेज रोड
बस्ती दानिशमंद, जालंधर (पंजाब)

श्री अरविंद विद्रोही
बिरसानगर रोड नं.-2 पूर्व, जोन-2
गुप्ता गैस गोदाम के पीछे
जमशेदपुर (बिहार)

रामबहादुर चौधरी चंदन
फुलकिया, बरियारपुर
मुंगेर-811211 (बिहार)

श्री अतुल चतुर्वेदी
380 शास्त्री नगर
दादाबाड़ी, कोटा (राजस्थान)
दूरभाष : 9414178745

प्रेम विज, 1284 सैक्टर 37 बी
चंडीगढ़ 7110036
दूरभाष : 2688139

परिदृश्य प्रकाशन
दादी संतुल लेन, धोबी तालाब
मरीन लाईन, मुंबई
दूरभाष : 20192689

श्री अनंत श्रीमाली
4/64 'गीतांजली' समता नगर
कांदिवली (पूर्व) मुंबई
दूरभाष : 9819051310

पंजाब बुक सेंटर
एस सी ओ न 1126
सैक्टर 22 बी, चंडीगढ़

श्री शिवानंद सहयोगी
ए-233 गंगानगर, मवाना रोड, मेरठ
दूरभाष : 9412212255

व्यास बुक हाउस और रोजगार केंद्र
बी-5, श्रीकल्याणपुरा
रेलवे फाटक के सामने, करतारपुरा रोड
महेश नगर, जयपुर-18 (राजस्थान)
दूरभाष : 0141-3250525

नरेंद्र कोहली

एक और लाल तिकोन

मैं कुछ लोगों के बहकावे में आ गया था और अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार बैठा था। अब मैं अंग्रेजी का विरोध नहीं करता। हमारे आराम और सुख-सुविधा के लिए अंग्रेजी बहुत जरूरी है। देश की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए भी अंग्रेजी को बनाए रखना आवश्यक है।

एक खाते-पीते किसान का लड़का अपने गांव के स्कूल में पढ़ता था। वह हर परीक्षा में अपनी कक्षा में प्रथम आता था। पर छठी में अंग्रेजी लगी और वह उसमें फेल हो गया। फेल होने की लज्जा से वह घर से भागकर दिल्ली आ गया और आजकल मेरे घर में बर्तन मांजने और झाड़ू देने के काम पर नियुक्त है।

अंग्रेजी उच्च शिक्षा का माध्यम है और उच्च शिक्षा केंद्र दिल्ली है। वह लड़का दिल्ली पहुंच गया है, तो उच्च शिक्षा भी प्राप्त कर ही लेगा। मैं अंग्रेजी को धन्यवाद देता हूं कि उसने मेरी सुख-सुविधा के लिए एक नौकर भेजा। और वह लड़का अंग्रेजी का आभारी है कि उसके कारण वह 'हम जैसे बड़े लोगों के सम्पर्क में आया, नहीं तो गांव-गंवई में पड़ा रहता और ज्यादा-से-ज्यादा पढ़ा-लिखा किसान बन पाता।' सच बात है, अंग्रेजी न होती तो उसे इतनी ऊंची शिक्षा कौन देता!

सारी पढ़ाई मातृभाषा में होती तो किसी को घरेलू कामकाज के लिए कोई नौकर भी नहीं मिलता। लोगों को खुद अपने जूठे बर्तन मांजने पड़ते, अपने घर में झाड़ू देनी पड़ती। वह तो कहो कि अंग्रेजी ने शरीफ लोगों की इज्जत ढांप रखी है। अंग्रेजी ने सरकार की भी इज्जत बचा रखी है, नहीं तो ये घरेलू कर्मचारी भी पढ़-लिखकर सरकार से नौकरी मांगने लगते। व्यर्थ ही उनपर सरकारी नौकरियां नष्ट करनी पड़तीं। फिर अफसरों के बेटे क्या करते?

उस दिन एक स्कूटर-ड्राइवर मुझसे नाराज हो बैठा। कहने लगा कि वह गरीब है, अनपढ़ है, पर वह अपने बच्चे को पढ़ाना चाहता है। मैंने कहा कि पढ़ाओ, पढ़ाने में क्या हर्ज है। वह और नाराज होकर बोला कि वह अपने बच्चे को लेकर एक पब्लिक स्कूल में गया था, पर उन लोगों ने उसके बच्चे को स्कूल में इसलिए प्रवेश नहीं दिया, क्योंकि बच्चे के बाप को अंग्रेजी नहीं आती। अंत में वह बहुत नाराज होकर बोला, 'आप ही बताएं, अंग्रेजी देश को शिक्षित बनाने का माध्यम है या देश को अनपढ़ बनाए रखने का साधन?'

मैंने उससे पूछा, 'पढ़ाई जरूरी है कि व्यवस्था?'

'व्यवस्था।' उसने कहा, 'आदमी पढ़े बिना भी इज्जत से जी सकता है, किंतु व्यवस्था के बिना किसी की भी इज्जत सुरक्षित नहीं रहेगी।'

'ठीक कहते हो।' मैंने उसकी प्रशंसा की, 'यदि हमने अंग्रेजी हटा दी और पढ़ाई मातृभाषाओं में होने लगी तो सब लोग पढ़ने लगेंगे। तुम्हारा बेटा भी पढ़ जाएगा।'

'जी हां!' वह खुश होकर बोला।

'तो फिर स्कूटर क्या मेरा बेटा चलाएगा?' मैंने उसे डांटा, 'सब लोग पढ़ गए तो स्कूटर कौन चलाएगा? और स्कूटर कोई नहीं चलाएगा तो हम एक स्थान से दूसरे स्थान तक कैसे जाएंगे? और हम एक स्थान से दूसरे स्थान नहीं जाएंगे तो समाज की व्यवस्था कैसे चलेगी? इसलिए समाज की व्यवस्था के लिए अंग्रेजी का होना बहुत आवश्यक है। अंग्रेजी ही हमारे समाज की व्यवस्था को चला रही है।'

'हां जी! हां जी!' वह मान गया।

'फिर, एक बात और है।' मैंने उसे समझाया, 'अंग्रेजी रही तो मेरा बेटा हर परीक्षा में तुम्हारे बेटे से अधिक अंक प्राप्त करेगा और अंग्रेजी हट गई तो तुम्हारा बेटा भी क्लास में फर्स्ट आ सकता है। अब तुम खुद ही सोचकर ईमानदारी से कहो कि एक स्कूटर-ड्राइवर का बेटा क्लास में फर्स्ट आए और एक आई.सी.एस. अफसर का बेटा पीछे रह जाए, क्या यह अच्छा लगेगा?'

'नहीं जी! नहीं जी!' वह बोला, 'हम ऐसी गुस्ताखी कैसे कर सकते हैं।'

'तो अंग्रेजी रहे न?'

'हां जी! हां जी!' उसने अनुमति दे दी, 'सिर-आंखों पर रहे।'

मेरे एक मित्र कॉलेज में लेक्चरार हैं। वे भी मेरी ही तरह पहले कुछ लोगों के बहकावे में आ गए थे और अंग्रेजी की बुराई करने लगे थे। अब वे भी मेरे ही समान अंग्रेजी के समर्थक हैं।

उन्होंने मुझे बताया, 'कॉलेज में अनुशासन के लिए अंग्रेजी का होना बहुत आवश्यक है।'

'हिंदी में अनुशासन नहीं रहता क्या?' मैंने पूछा।

'अजी, लानत भेजो।' वे बोले, 'हिंदी भी कोई भाषा है! क्लास में जो कुछ बोलो, लड़के सब कुछ समझ जाते हैं और फिर धड़ाधड़ प्रश्न पूछने लगते हैं। उन प्रश्नों का उत्तर न दे सको तो क्लास का अनुशासन बिगड़ता है और उनका उत्तर देना चाहो तो रोज घर पर लेक्चर की तैयारी के लिए छह घंटे पढ़ना पड़े। उससे तो अंग्रेजी ही भली। बिना तैयारी के क्लास में चले गए। जो जी में आया बोल आए। न कोई समझेगा, न प्रश्न करेगा। किसी ने कुछ पूछा तो अंग्रेजी में डांट दिया। न कोई अंग्रेजी बोल सकेगा, न क्लास का डिसिप्लिन बिगड़ेगा।'

मैं मान गया कि डिसिप्लिन के लिए भी अंग्रेजी जरूरी है।

हायर सेकण्डरी का परीक्षा-फल निकला तो यूनिवर्सिटी में काफी हलचल मच गई। पता चला कि कालेजों में जितनी सीटें हैं, प्रवेश के प्रत्याशी उससे कहीं अधिक हैं। उपकुलपति बड़े परेशान थे। मिले तो

उसी परेशानी का दुखड़ा ले बैठे।

'आखिर इमने लोग कहां से आ गए?' मैंने सहानुभूति जताने के लिए पूछा, 'क्या जनसंख्या बहुत बढ़ गई है?'

'जनसंख्या कितनी भी बढ़ती कुछ नहीं होता, 'वे बोले, 'यह तो हायर सेकण्डरी वालों ने अंग्रेजी का लाल तिकोन हटाकर अच्छा नहीं किया। मैं कहता हूं, हर परीक्षा में अंग्रेजी के छह परचे रखो और हर विषय में अध्ययन का माध्यम अंग्रेजी हो। एक ही वर्ष में यूनिवर्सिटी में परिवार-नियोजन न हो गया तो मुझे कहना।'

'पर विद्वान लोग तो कहते हैं कि अंग्रेजी उच्च शिक्षा का माध्यम है। अंग्रेजी हट तो उच्च शिक्षा नहीं रहेगी और आप उसे उच्च शिक्षा से रोकने का साधन बना रहे हैं?' मैंने पागलों का सा प्रश्न किया।

वे मेरी मूर्खता पर खूब हंसे, जी भर। बोले, 'मैं भी अंग्रेजी को उच्च शिक्षा का माध्यम मानता हूं। उच्च शिक्षा के माध्यम से अभिप्राय है, समाज में ऊंच-नीच बनाए रखने का माध्यम। अंग्रेजी हटी तो सब लोग बराबर हो जाएंगे। तब भारत में जनतंत्र हो जाएगा। ऊंच-नीच नहीं रह पाएगी।'

'हूं!' मैं बोला।

'और भी एक बात है', उन्होंने बताया, 'अंग्रेजी भारतीय संस्कृति की रक्षक है।'

'भारतीय संस्कृति की रक्षक?' मैं समझा नहीं।

'शिक्षा का माध्यम हिंदी हो गया लोग अपनी पुस्तकों को लाल कपड़े में बांधकर रखने और रोज प्रणाम करने के बदले उन्हें पढ़ने लगेंगे। उससे उन पुस्तकों का आदर-मान कम हो जाएगा। नीच जाति के लोग भी अपने ग्रंथों को समझने लगेंगे।'

'ठीक है।' मैंने उन्हें बताया, 'मैं इस बात को पूरी तरह मान गया हूं। अंग्रेजी के शत्रु राष्ट्र-विरोधी लोग हैं, उन्हें गोली से उड़ा दिया जाना चाहिए।'

नरेंद्र कोहली

अमरीकन जांघिया

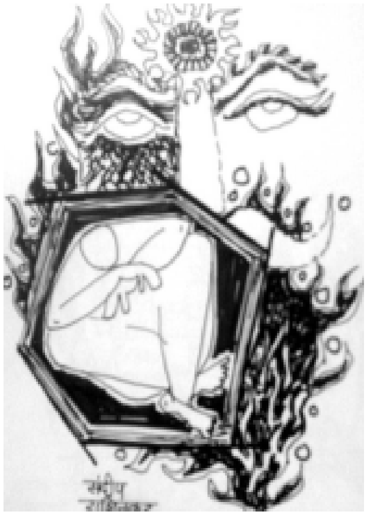

माथुर साहब खुली छत पर खड़े थे। सारा शरीर नंगा था। हनुमानजी के लंगोट के बराबर, छोटा-सा लाल रंग का जांघिया पहन रखा था।

मैं संकुचित हो गया, जैसे पेटीकोट में घर से गली में निकल आई किसी औरत को देखकर सकुचा जाता हूं। ऐसी स्थिति में मेरी दृष्टि उन पर नहीं पड़नी चाहिए थी। शायद वे बाथरूम से निकले थे, अभी भीतर जाकर कपड़े पहन लेंगे। पर, वे अपनी छत का मध्य भाग छोड़ आगे आ गए, ताकि गली के जिन कोनों से वे देखे नहीं जा सकते थे, वहां भी देखे जा सकें।

मेरे पोंगापंथी मन को बुरा लगा। मैं एक भले आदमी को, भरे मुहल्ले में, इस प्रकार नंग-धड़ंग खड़ा नहीं देख सका। आंखें झुका लीं और चाल तेज कर दी।

'अजी कोहली साहब! नजरें चुराए, कहां भागे जा रहे हैं?' वे सीढ़ियां उतरकर गली में आ गए।

मैंने अपने मन को डांटा, 'अबे नंगा वह है और शरमा तू रहा है। मर्द बन।'

'आपसे कौन आंखें मिला सकता है माथुर साहब!'

'क्यों जी!' ऐसी क्या बात है?' उन्होंने अपने लाल जांघिए पर प्यार का हाथ फिराया।

'नंगे से तो खुदा भी घबराता है। हम तो फिर आपके मुहल्ले के एक आदमी भर हैं।'

उन्होंने अपने भद्दे, थुलथुल शरीर पर गर्व-भरी एक दृष्टि डाली, 'अजी वह तो यूं ही जरा गर्मी लग रही थी, इसलिए बाहरी कपड़े उतार दिए।'

'हां साहब!' आप लोगों को अधिकार है, जब चाहें, अमरीकनों के समान बीच चौराहे पर अपने कपड़े उतार दें।'

'आप तो मजाक कर रहे हैं।' वे मेरे मजाक पर हंस पड़े, 'वैसे यह आपको में ही काट देते थे।'

उनके चेहरे पर मलाल आ गया। अपने उन दिनों की चर्चा शायद उन्हें अच्छी नहीं लगी थी।

'तब की बात कुछ और थी साहब! पर अब गर्मी सचमुच ही अधिक हो गई है।'

'हां, हो तो गई है।' मैंने कहा, 'अमरीका ठंडा देश जो ठहरा।'

वे हंसकर मुझे ऐसे टाल गए, जैसे कोई हाथ हिलाकर मक्खी उड़ा देता है।

अब तक मैं कुछ धृष्ट हो गया था। पूछा, 'इंपोर्टेड है?'

'क्या?'

और फिर मेरा तात्पर्य समझ, उन्होंने अपने लाल जांघिए को बड़े प्यार से सहलाया, 'हां! हमारी एम्बैसी के मिस्टर किथकिन अमरीका लौटा रहे थे। अपना सामान वे ले जाना चाहते नहीं थे। उन्होंने अपनी चीजों की नीलामी की। उसी में से ले लिया है।'

'काफी ऊंची बोली दी होगी।'

उनके स्वर में आकस्मिक आवेश भर उठा, 'अजी साहब! पूछिए मत। बोली तो यूं ऊपर चढ़ रही थी, 'जैसे दिल्ली में जमीन के भाव चढ़े हैं। लोग टूटे पड़ रहे थे। मैं तो एकदम निराश हो गया था। पर लगता है, ग्रह

अच्छे थे। भगवान ने सहायता की। हायेस्ट बिड मेरी ही रही।'

'न मिलता, तो आपको काफी तकलीफ होती।'

'हां, मन को समझा लेते कि अपनी किस्मत में ही नहीं था। पर मिल ही गया।'

वे अत्यंत प्रसन्न थे।

'फिटिंग बढ़िया है।' मैंने मुग्ध दृष्टि से जांघिए को देखा।

'हां! काफी कंफर्टेबल है।'

'कोई हिन्दुस्तानी दर्जी तो ऐसी चीज क्या बनाएगा।'

'अजी! राम का नाम लो।' उन्होंने मुंह बनाया, 'यहां किस साले को कपड़े सीने का शऊर है। पता नहीं क्या करते है; लोग घास छीलते-छीलते कपड़े सीने लगते हैं।'

वे फिर जांघिए को निहारने लगे थे।

'इसी समस्या के मारे मैं धोती बांधता हूं। फिटिंग की तो समस्या नहीं है न।'

'हां, दर्जियों की हालत से तो आप बच जाते हैं, पर सच पूछा जाए तो धोती कोई ड्रेस नहीं है। उसमें आदमी नंगा होता रहता है।'

'हां साहब! जांघिए की और ही शान है। और वह भी अमरीकन जांघिया।' मैंने हथियार डाल दिए।

वे ऐसी मुग्ध दृष्टि से जांघिए को पी रहे थे, जैसे कोई नया प्रेमी अपनी प्रेमिका के रूप को पीता है।

'ऐसा शेड आपको भारत में नहीं मिलेगा।' मैंने फिर चर्चा आरंभ की।

'मैंने एक-एक दुकान दान मरी है।' वे तुरंत मुझसे सहमत हो गए, 'ऐसा रंग तो दूर, इसके आसपास का भी कोई रंग नहीं मिला। खास अमरीकन फार्मूले पर बना हुआ है। अपने देसी रंग तो इसके पासंग भी नहीं है।'

'इसकी चमक लाजवाब है।'

'अजी दो पतलूनों मे भी इसकी चमक नहीं छिपती। नीचे पहनकर दफ्तर जाता हूं तो पतलून के भीतर से अपना रंग दिखाता है। बिना बताए ही सब लोग जान जाते हैं कि इम्पोर्टेड है।'

'पता नहीं हिंदुस्तानी लोग कपड़े में ऐसी चमक क्यों नहीं ला सकते।' मैंने आह भरकर कहा।

'अजी, ऐसी चमक लाने के लिए बड़ी डेवलप्ड इंडस्ट्री होनी चाहिए। अपना देश अभी बहुत पिछड़ा हुआ है।' सहसा उन्होंने आवाज दबाकर भेद-भरे स्वर में कहा, 'बिना ईमानदारी और कठिन परिश्रम के इंडस्ट्री आगे नहीं बढ़ सकती और अपने यहां ईमानदारी तो ईमानदारी, कैरेक्टर ही सिरे से गायब है। आपसे क्या छिपाना... आप अपने ही आदमी हैं। मेरे सैक्शन में छः अमरीकन हैं और हम दो हिंदुस्तानी। पर ऊपरी आमदनी केवल हम दोनों की ही है. . .।'

मैंन बड़ी करुण दृष्टि से उसे देखा, वह आदमी अपने अमरीकन जांघिए की प्रशंसा में अपने-आपको नंगा करता जा रहा था।

'आप इस जांघिए को पहनकर सोते भी हैं, या केवल गली में खड़े होते समय ही इसे पहनते हैं?' मैंने पूछ लिया।

'कभी-कभी पहनकर सो भी जाता हूं।' वे आश्वस्त होकर मुस्कराए, 'सोने में एकदम तकलीफदेह नहीं है।'

'पर ऐसी शानदार चीज पहनकर सोने से क्या लाभ?' मैंने टोका, 'जल्दी घिस जाएगा। इसे तो आपको केवल विशेष अवसरों के लिए संभालकर रखना चाहिए। ऐसे जांघिए कौन-से रोज मिल जाते हैं।

'आप कहते तो ठीक हैं कोहली साहब!' वे मुझसे सहमत हो गए, 'पर इम्पोर्टेड चीज लेने का लाभ तो तभी है, जब उसका पूरा उपयोग किया जाए। मैं उन लोगों में से नहीं हूं, जो इम्पोर्टेड कपड़े वार्डरोब में टांग कर अपनी शान बढ़ाते हैं। मैं तो उनसे कसकर काम लेने के पक्ष में हूं. . .।

'फिर भी, पहनकर सोने. . .।' मेरा स्वर काफी पीड़ित था।

'बात यह है भाई जान।' वे बोले, 'कि वह जांघिया मल्टीपर्पज है। इसे नाइट सूट के समान भी पहना जा सकता है, यह ईवनिंग सूट का काम भी देता है, इसे आप सूट के नीचे पहनकर दफ्तर भी जा सकते हैं। यानी जहां जैसे जो सूट करे।'

'तो यह अमरीकन पालिसी के अनुसार ही बनाया गया है।'

'बिल्कुल! बिल्कुल!!'

'पर इसे पहनकर सोने से आपको मच्छर नहीं काटते?'

वे बड़प्पन से मुस्कराए, 'अब देखिए, फारेन ड्रेस पहनने से अपने देश की क्लाइमेट में कुछ न कुछ तकलीफ तो उठानी ही पड़ती है। मच्छर तो कटते ही हैं।'

'हां जी! ये एशियाई कीड़े-मकोड़े अमरीकनों का एकदम लिहाज नहीं करते। अब देखिए, वियतनामियों ने अमरीका की क्या गत बना रखी है. . .।'

'वह तो पालिटिक्स की बात है।' वे बोले।

अर्थात वह उनके जांघिए की बात नहीं है। अतः उसमें रुचि नहीं थी।

'भाभी के लिए आपने कोई अमरीकन ड्रेस नहीं खरीदा? आखिर उन्हें भी तो गर्मी लगती होगी।' मैंने पूछा।

'हैं-हैं!' वे हंस पड़े, 'वे भी मुझसे इसी बात को लेकर नाराज हैं। पर कैसे खरीदता। मिस्टर किथकिन तो कुंवारे ही हैं। वेस मैं सोच रहा हूं, किसी को लिखकर सीधे वहीं से मंगवा लूं।'

'जरूर-जरूर।' मैंने सलाह दी, 'सीधे अमरीकन प्रेजिडेंट को ही लिखिए। वे तो कब से इस कोशिश में हैं कि सारे देश उनके जांघिए पहनने के लिए नंगे हो जाएं।'

'आपकी बड़ी आर्थोडाक्स थिंकिंग है। इसे आप नंगा होना कहते हैं।' वे मेरी नादानी पर हंस दिए।

'नहीं, नंगा तो मैं हूं। आंखें उठाकर पूरी तरह आपकी ओर देख भी नहीं सकता।'

उन्होंने मेरी बात का एकदम बुरा नहीं माना। परोपकार की भावना से प्रेरित होकर तुरंत बोले, 'आपको पसंद हो तो आपके लिए भी कोई जुगाड़ लगाऊं। कुछ जांघिए रफू होने के लिए दर्जी के पास गए हुए थे। तब नहीं बिके थे, अब बिकेंगे।'

'भगवान ऐसी मुसीबत की घड़ी न लाए। इतनी गर्मी का लगना राष्ट्रीय हित में नहीं है।'

'आप तो बात को फिर पोलिटकल लेवल पर ले गए।' वे बोले, 'मैं तो दोस्ताना बात कह रहा था।'

'आपकी दोस्ती के पॉलिटिक्स को भी लोग समझने लगे हैं।'

वे पहली बार पूरी तरह उदास हो गए। उनके चेहरे पर निक्सन की निराशा और क्षोभ था। इस काला देश, उनकी सहायता के प्रस्ताव को ठुकरा रहा था।

नरेंद्र कोहली

जगाने का अपराध

बाहर से भीतर तक थाने में सतर्कता नजर आ रही थी। सिपाही इधर से उधर तेजी से सरकारी जूते बजाते हुए आ-जा रहे थे- ठकठक! और फाटक पर खड़ा सिपाही कुछ अधिक तन गया था। बहुत दिनों बाद एक केस आया था, जिससे सारे क्षेत्र में उत्तेजना फैल गयी थी उसे फाटक पर से बार-बार लोगों की भीड़ हटाने की आवश्यकता पड़ जाती थी।

थोड़ी-थोड़ी देर के बाद वह अपना डंडा फटकार देता था- 'भागो! यहां कोई राशन-कार्ड बन रहे हैं!'

थानेदार के सामने एक कुरसी पर एक शरीफ आदमी बैठा था। उसकी कमीज और पतलून पर जगह-जगह खून के धब्बे लगे हुए थे। उसका चेहरा परेशान और दुखी था। उसके बाल बिखरे हुए थे। वह थका हुआ भी लग रहा था। उसने अपनी गर्दन कुरसी की पीठ की टेक रखी थी।

एक आदमी जो अपने कपड़ों से बड़ा संभ्रांत और फैशनेबल लग रहा था, उन दोनों के सामने खड़ा था। वह परेशान भी नहीं था और दुखी भी नहीं था। वह उग्र और उत्तेजित लग रहा था।

थानेदार मुस्करा रहा था। साला! आज आया है काम का केस। नहीं तो किसी के अफसर के आने पर थाने की सफाई होती थी और जुलूस के साथ-साथ शोभा के रूप में पुलिस चलती थी। न किसी को डांट सको, न किसी को मार सको, न गाली दे सको, न उत्कोच मांग सको। पुलिस की जिंदगी ही नहीं रह गयी थी।

उसने कुरसी पर बैठे परेशान आदमी को घूरा और फिर अपना घूरना खड़े आदमी पर स्थानान्तरित कर दिया।

'तुमने इन्हें छूरा मारा?' थानेदार ने पूछा।

'हां जी! मारा' खड़े आदमी का मुख क्रोध से लाल हो गया, 'और थाने के बाहर निकलते ही फिर मारूंगा।'

'चुप बदमाश!' थानेदार ने स्कूल मास्टरों की तरह मेज पर छड़ी बजायी, 'बकवास मत कर!'

'थानेदार साहब!' वह आदमी तनकर बोला, मुझे कुछ भी कह लीजिए, बदमाश मत कहिए। मैं शरीफ आदमी हूं। सरकार को हर महीने इनकम टैक्स देता हूं। साफ धुले हुए कपड़े पहनता हूं। अच्छे से अच्छे सैलून में जाकर बाल कटाता हूं। आप मुझे बदमाश कहते हैं और मैं जनाब बिल्किंसन्स ब्लेड से भी केवल दो बार शेव करके उसे फेंक देता हूं। आप मुझे बदमाश कैसे कह सकते हैं?'

थानेदार हतप्रभ हो गया। फिर उसके चेहरे पर विरही कवियों-सी अनंत वेदना भरी। बोला, 'विल्किंसन्स ब्लेड! कहां मिल जाते हैं तुम्हें। मैंने हर बाजार की हर दुकान से पूछा है, पर मुझे कीं नहीं मिले।'

'आपको कितने चाहिए?' वह व्यक्ति बोला, 'पांच ब्लेड़ों का पैकेट साढ़े सात रुपए का ला दूंगा जितने कहिए ला दूंगा।'

'साढ़े सात रुपए के पांच!' थानेदार ने अपने होंठ चाटे, 'अच्छा उन्हें छोड़ो। यह बताओ कि दो बार शेव करने के बाद अपने ब्लेडों का क्या करते हो?'

'फेंक देता हूं!' वह व्यक्ति बोला।

'फेंक देते हो! थानेदार ने क्रूद्ध होकर लगभग खड़ा हो गया, 'फिर कहते हो, तुम बदमाश नहीं हो। वेस्ट! नेशनल वेस्ट! तुम्हें चाहिए कि दो शेव करने के बाद वे ब्लेड तुम थाने में जमा करवाओ। तुम इतनी-सी बात भी नहीं जानते कि हम कितना फारेन एक्सचेंज खर्च करके विल्किंसन्स ब्लेड मंगवाते हैं और तुम दो शेव करके उन्हें फेंक देते हो और कहते हो, तुम बदमाश नहीं हो!'

'नहीं, मैं बदमाश नहीं हूं।' वह व्यक्ति अकड़कर बोला, 'गोल्ड फ्लैक सिगरेट पीने वाला आदमी बदमाश नहीं होता।'

'गोल्ड फ्लैक पीते हो?' थानेदार ने फिर होंठ चाटे, 'अच्छा अपने सिगरेटों में से हर हफ्ते एक पैकेट थाने में जमा कर जाया करो, हम देखेंगे कि तुम असली गोल्ड फ्लैक पीते हो या नहीं।'

'बहुत अच्छा।' वह व्यक्ति बोला, 'मैं कुरसी पर बैठ जाऊं?'

'बैठो।' थानेदार ने बेरुखी से कहा और दूसरे आदमी की ओर मुड़ा, 'हां साहब! आप अपनी बात कहिए।'

'देखिए!' उस व्यक्ति ने बड़े पीड़ित स्वर में कहा, 'पहले हम पड़ोसी थे। इनसे हमारा काफी मेल-जोल था। काफी मित्रता हो गयी थी। एक बार इन्होंने मुझसे एक हजार रुपया मांगा। इनको अपनी बीमा पालिसी के पैसे देने थे और इनके पास पैसे नहीं थे। मैंने इन्हें एक हजार रुपए दिए. . .।'

'तुमने इनसे एक हजार रुपए लिए थे?' थानेदार ने फैशनेबल आदमी से पूछा।

'हां लिए थे।' वह बोला, 'रुपयों का क्या है, लेना-देना किसको नहीं होता?'

'हां जी! फिर?' थानेदार ने पूछा।

'फिर यह कि समय. . .।'

'ठहरिए!' थानेदार ने उसे टोका, 'आपने इनसे लिखवाया था कि इन्होंने आपसे रुपए लिए हैं?

'जी हां।' थका हुआ व्यक्ति बोला, 'वह कागज मेरे पास है।'

'ठीक है।' थानेदार ने आगे बढ़ने की अनुमति दी, 'फिर'?

'फिर यह कि समय बीतता गया।' थका हुआ व्यक्ति बोला, 'मैं समझा था कि ये अपनी सुविधा से मेरे रुपये लौटा देंगे, पर इन्होंने रुपये नहीं लौटाए।'

'आप लोग इस बीच भी मिलते रहे?' थानेदार ने पूछा।

'हां साहब! मिलते रहे।' थका हुआ व्यक्ति बोला, 'फिर एक समय आया जब मजबूर होकर मुझे इनसे रुपये मांगने पड़े। पहले तो यह टालते रहे, फिर नाराजगी

दिखाने लगे और अंत में इन्होंने मुझे एक हजार रुपए का चैक दे दिया. . .।'

'देखिए थानेदार साहब!' फैशनेबल आदमी बीच में झपटकर बोला, 'ये अपने मुंह से स्वीकार कर रहे हैं कि मैंने इनके एक हजार रुपये लौटा दिए थे। इनसे कहिए, ये अपना स्टेटमेंट लिखकर दें।'

'क्यों साहब!' थानेदार ने थके हुए आदमी से पूछा, 'आप अपने मुंह से स्वीकार कर रहे हैं कि इन्होंने मुझे एक हजार रुपए दिए हैं।' थका हुआ आदमी बोला।

रुपये और चैक में कोई अंतर है, क्यों थानेदार साहब?' फैशनेबल आदमी बोला।

'नहीं, कोई फर्क नहीं होता।' थानेदार ने उत्तर दिया, 'मुझे मेरा वेतन चाहे रुपयों के रूप में मिले या चैक के रूप में, मुझे कोई अंतर नहीं पड़ता।'

'वेतन में कोई अंतर नहीं पड़ता।' थका हुआ आदमी मुसकराया, 'पर रिश्वत के रूप में यदि मैं आपको रुपये न देकर चैक दूं तो फर्क पड़ेगा कि नहीं?'

थानेदार ने चिंता की मुद्रा बनायी। फिर बोला, 'हां, रिश्वत मैं चैक के रूप में नहीं लेता। चैक बाद में फंसा देता है। हां साहब! मैं आपसे सहमत हूं कि कभी-कभी रूपये और चैक में अंतर होता है। आगे बोलिए. . .।'

थके हुए आदमी ने अपना वक्तव्य फिर आरंभ किया, 'चैक और रुपयों का भेद और भी बढ़ जाता है जब चैक कैश न हो सके। इन्होंने जिस एकाउण्ट का चैक दिया था, उस एकाउण्ट में पैसा नहीं था, इसलिए बैंक ने वह चैक लौटा दिया। देखिए है न भेद!' वह थानेदार की ओर मुड़ा, 'रुपया बैंक से नहीं लौटता, जबकि चैक कभी-कभी लौट आता है।'

'हां साहब! भेद होता है।' थानेदार ने चिंतित स्वर में कहा, 'मैंने इस ओर कभी ध्यान नहीं दिया था। आपने मुझे बचा लिया। नहीं तो मैं सोच रहा था कि अब वेतन के समान ही रिश्वत भी में चैक के रूप में लिया करूंगा। कभी-कभी अपराधियों के पास नगद रुपया नहीं होता। अब मैं चैक कभी न लूंगा।'

'मेरी एक सलाह और मानिए!' थका हुआ आदमी बोला, 'आप अपना वेतन भी चैक के रूप में लेना बंद कर दीजिए। कोई पता नहीं कि कब सरकार के एकाउण्ट में रुपया समाप्त हो जाए और उसका चैक लौट आए। कभी-कभी यह भी होता है कि रुपये के रहते हुए भी सरकार रुपया गायब कर जाती है।'

'आप ठीक कहते हैं।' थानेदार ने अपना सर हिलाया, 'मैजिशियन पी.सी. सरकार को कई चीजें गायब करते हुए मैंने स्वयं देखा है। यदि सरकार रुपया गायब कर दे तो कौन बड़ी बात! वैसे सरकार और पी.सी. सरकार रिश्तेदार हैं क्या?'

'नहीं!' इस बार फैशनेबल आदमी बोला, 'रिश्तेदार नहीं है। दोनों हमपेशा है। दोनों ही जादूगर हैं। चीजें गायब करने और निकालने में दोनों उस्ताद हैं।'

'तुम चुप रहो।' थानेदार ने उसे डांटा, 'हां जी! आप बताइए, आगे क्या हुआ?'

थके हुए आदमी ने सोचने की मुद्रा बनाई और बोला, 'जब वह चैक ने वापस कर दिया तो मैंने फिर इनको टेलीफोन किया। मैंने इनको बताया कि बैंक ने इनका चैक वापस कर दिया है। इन्होंने कहा कि तब इनका क्या दोष? इन्होंने तो चैक दे दिया। अब चैक की जगह रुपया देना तो बैंक का ही काम है न!'

'क्यों थानेदार साहब!' फैशनेबल आदमी फिर बीच में बोला, 'मैंने गलत कहा क्या? आप अपने थाने के खजांची के नाम एक चिट्ठी मुझे दें कि वह मुझे पांच सौ रुपया दे दे. . .।'

थानेदार यहां खूब जोर से हंसा। वह ठहाके पर ठहाके लगाता रहा। कभी थके हुए आदमी की ओर देखता और कभी फैशनेबल आदमी की ओर, और फिर हंसने लगता।

सहसा वह चुप होकर फैशनेबल आदमी से बोला, 'बड़े चालाक बनते हो। मैंने भी बड़े-बड़े घाघ देखे हैं। चमड़ी उधेड़ लूंगा। क्या समझते हो अपने-आपको। मुझे चकमा देना चाहते हो। साले, बदमाश. . .!'

फैशनेबल आदमी हक्का-बक्का उसे देखता रहा। फिर बोला, 'आप तो खामखा ही नाराज हो रहे है। भला आपके होते हुए मैं अपने-आपको चालाक कैसे समझ सकता हूं। आपको किस बात से लगा कि मैं आपको चमका दे रहा हूं?

'तुमने कहा नहीं कि मैं अपनी खजांची के नाम एक चिट्ठी तुम्हें दे दूं कि वह पांच सौ रुपए तुम्हें दे दे। क्यों बे, क्यों दे दूं? तुम साले बहुत चालाक हो। अब मुझे लूटना चाहते हो?'

'मेरा मतलब यह नहीं था थानेदार साहब!' फैशनेबल आदमी ने सर खुजलाया, 'मैं तो केवल एक उदाहरण दे रहा था। उदाहरण! ताकि बात साफ हो जाए। मैं कह रहा था कि यदि आप ऐसा करें!'

'पर मैं ऐसा करूं ही क्यों?' थानेदार बोला, 'पर उदाहरण की बात और है। तुमने पहले क्यों नहीं कहा कि यह उदाहरण है। जब अपना बयान लिखकर दोगे तो पहले साल स्याही से लिख देना- उदाहरण! और बात साफ करने के लिए उसके नीचे लाल स्याही से लकीर भी खींच देना। अंडर लाइन कर देना, रेखांकित! अब साली हिंदी भी सीखनी पड़ रही है। तुम हमारी मुसीबत क्या समझो! हां तो तुम्हारा उदाहरण क्या था?'

'मेरा उदाहरण यह था कि', फैशनेबल आदमी बोला, 'आप अपने खजांची के नाम पत्र लिख दें कि वह पांच सौ रुपये मुझे दे दे और वह मुझे रुपये न दे तो दोष किसका है? आप या खजांची का?'

'खजांची का।' थानेदार गरजा, 'बाई गाड, खजांची का। वह साला ऐसा करेगा तो मै। उसका सर फोड़ दूंगा। नौकरी से निकलवा दूंगा साले को! क्या समझता है, वह अपने-आपको! बुलाओ उसको! कहा है वह?'

'यह उदाहरण था, थानेदार साहब!' थका हुआ आदमी बोला।

'ओ हां! यह उदाहरण था' थानेदार बोला। फिर वह फैशनेबल आदमी की ओर मुडे, 'तुम साले ऐसे घटिया उदाहरण क्यों देते हो? उसका जिम्मेदार कौन होता? मेरे जी में आता है कि तुम्हारी ही खाल खींच लूं। तुम मुझे बदमाश नजर आते हो। अब बताओ तुमने वह उदाहरण किसलिए दिया था?'

'थानेदार साहब! आप मेरी पूरी बात सुनें।' फैशनेबल आदमी बोला, 'आपकी चिट्ठी पर भी यदि खजांची रुपये नहीं देता तो दोष खजांची है, उसी प्रकार मेरे चैक पर यदि बैंक पैसे नहीं देता और चैक लौटा देता है तो दोषी कौन है? मैं या बैंक?'

बैंक! ऑफ कोर्स बैंक!' थानेदार बोला।

'नहीं साहब!' थका हुआ आदमी बोला, 'यहां एक अंतर है। इनके एकाउण्ट में रुपये नहीं थे।'

'तो भी बैंकवालों का दोष है।' फैशनेबल आदमी बोला, 'उन्होंने जब सब लोगों के एकाउण्ट में रुपये रखे तो मेरे एकाउण्ट में क्यों नहीं रखे? एक आदमी सारे सिपाहियों को रिश्वत दे और आपको न दे तो आप उसे क्या कहेंगे?'

'बदमाशी। यह साफ-साफ बदमाशी है।' थानेदार बोला।

'यह बदमाशी ही नहीं है।' फैशनेबल आदमी बोला, 'यह उससे भी बड़ी चीज है। यह पक्षपात है। भाई-भतीजावाद है। यह भ्रष्टाचार है। देश डूब रहा है. . .।'

'एक अंतर और है।' थका हुआ आदमी बोला।

'क्या?' थानेदार ने पूछा।

'वह यह कि आप थानेदार हैं। यह थानेदार नहीं है। यह आपके साथ अपनी तुलना क्यों कर रहा है?'

थानेदार आगबबूला हो गया, 'मेरे साथ तुलना करता है। बराबरी करता है! बदमाश! बैंक का कोई दोष नहीं है, तुम्हारा दोष है।'

फिर वह थके हुए आदमी की ओर मुड़ा, 'बयान जारी रखो।'

'तो साहब! काफी झगड़े के बाद इन्होंने मुझसे कहा कि मैं इनके घर आकर अपने रुपये ले जाऊं।' थका हुआ आदमी बोला, 'तब मैं इनके घर पहुंचा। इन्होंने दरवाजा खोलकर मुझे भीतर बुला लिया और पूछा कि मैं क्या चाहता हूं। मैंने कहा कि केवल अपने रुपये चाहता हूं और चाहता हूं कि रुपये देने के बाद ये मुझसे कोई वास्ता न रखें।'

'फिर क्या हुआ?' थानेदार ने पूछा।

'फिर इन्होंने कहा कि ये रुपये ला रहे हैं। ये भीतरी कमरे में गए और एक बड़ा-सा चाकू ले आए। जब तक मैं संभलूं, इन्होंने मुझ पर दो वार कर दिए। इन्होंने मेरी हत्या का प्रयत्न किया। मर्डर. . .।'

'तुम साले हत्या करने चले थे?' थानेदार ने फैशनेबल आदमी बोला, 'तुम एक शरीफ आदमी को मार डालना चाहते थे!'

'देखिए, आप उनका पक्ष ले रहे हैं।' फैशनेबल आदमी से पूछा, 'आपने मुझसे पूछा ही नहीं कि मैंने ऐसा क्यों किया।'

'क्यों किया?' थानेदार ने पूछा।

'मैंने इनको देखते ही हजार रुपये के नोट इनको देने चाहे थे। पर इन्होंने कहा कि हमारा झगड़ा तो रुपयों का है, पर वैसे तो हम मित्र ही हैं। अब जब मैं इनके रुपये वापस कर रहा हूं तो इनका और मेरा झगड़ा ही क्या। इसलिए हम घर के भीतर मैत्रीपूर्ण वातावरण में बैठकर बातचीत ही कर लें। मैं इनकी बातों में आ गया और ये मेरे घर में आ गए। फिर जानते हैं कि क्या हुआ?' फैशनेबल आदमी फिर नाराज हो गया था।

'क्या हुआ?' थानेदार ने पूछा।

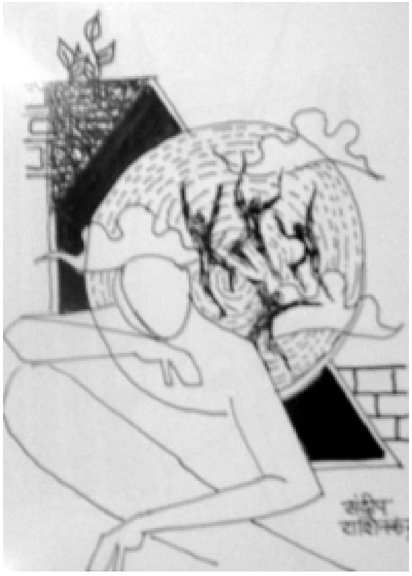

'फिर इन्होंने मेरी बेटी और मां दोनों को छेड़ा। मैं यह नहीं सह सका। मैं गुस्से में भीतर से चाकू ले आया और उन्माद की अवस्था में मैंने इस पर चाकू चला दिया।' फैशनेबल आदमी, थके हुए आदमी को घूर रहा था।

'तो तुमने इनकी बेटी और मां को छेड़ा?' थानेदार ने थके हुए आदमी को घूरा, 'तुम जानते हो कि किसी की बेटी और मां को छेड़ना कितना बड़ा अपराध है? इसके लिए यदि तुम्हारी हत्या भी हो गई होती, तो कुछ नहीं होता। अभी तो तुम्हें दो ही चाकू लगे हैं। जाओ घर चले जाओ।'

'इनसे पूछिए', थका हुआ आदमी बोला, 'इनकी बेटी और मां की आयु क्या है?'

'क्या है?' थानेदार ने पूछा।

फैशनेबल आदमी हकलाया, 'जी, मेरे मां की आयु सत्तर वर्ष है और मेरी बेटी की तीन महीने।'

थका हुआ आदमी हंसा, 'मेरी आयु तीस वर्ष है। तीस वर्षों का एक व्यक्ति तीन महीने की बच्ची या सत्तर वर्ष का वृद्धा को छेड़ेगा?'

'क्यों बे!' थानेदार बोला, 'साले, हमे उल्लू बनाता है? इस आयु की बच्ची या वृद्धा को तो मैं भी नहीं छेड़ता। साले, यह तो फिर भी शरीफ आदमी है।'

'आपकी बात और थानेदार साहब!' फैशनेबल आदमी बोला, 'आप तो सरकारी आदमी हैं। आप छेडें भी तो क्या! पर यह किसी की बेटी और मां को क्यों छेड़ता है?'

'क्यों छेड़ते हो?' थानेदार ने पूछा।

'इनसे पहले पूछिए कि मैंने इनकी बेटी और मां को कैसे छेड़ा?'

'हां बताओ साले, कैसे छेड़ा?' थानेदार बोला।

फैशनेबल आदमी बोला, 'जब ये हमारे घर में आए तो मेरी मां और मेरी बेटी सो रही थी। ये बहुत जोर-जोर से बोले, चीखे-चिल्लाये और वे लोग जाग पड़े। अब बोलिए वे लोग छेड़े बिना जाग गए क्या? उनका दिमाग खराब था?'

'तो छेड़ने का मतलब है जगाना?' थका हुआ आदमी बोला।

'छेड़ना अपराध जरूर है।' थानेदार बोला, 'किसी को जगाना अपराध नहीं। मेरी घरवाली मुझे रोज सवेरे जगा जाती है।'

'नहीं साहब! जगाना पूर्णतः अपराध है।' फैशनेबल आदमी बोला, 'आपकी घरवाली की बात और है, वह थानेदार की पत्नी है। वैसे तो किसी को जगाना घोर अपराध है।'

'कैसे?' थानेदार ने पूछा।

'देखिए, भगतसिंह देशवासियों को जगाने के अपराध में फांसी पर चढ़े। राजगुरु, सुखेदव, खुदीराम बोस, आजाद और इस देश के सारे शहीद देश को जगाने के अपराध में मृत्यु को प्राप्त हुए।'

'वह अंग्रेजों के समय की बात है। थका हुआ आदमी बोला, 'स्वतंत्रता के बाद किसी को जगाना अपराध नहीं रह गया है।'

'हां साहब! स्वतंत्रता के बाद समय बदल गया है।' थानेदार बोला, 'अंग्रेजों का

समय होता तो मैं आपको कुर्सी पर न बैठाकर फर्श पर बैठता और दस जूते आपके सिर पर मारता। समय बदल गया है साहब!'

'समय तो बदल गया है।' फैशनेबल आदमी बोला, 'आप देखिए, गोडसे को इसलिए फांसी हुई कि उसने महात्मा गांधी को समाधि से जगाने की कोशिश की थी। केनेडी भाइयों को गोली इसलिए मारी गई, क्योंकि वे अपने देश को जगा रहे थे। देखिए, प्रत्येक आंदोलन में नेताओं को दंड मिलता है, क्योंकि वे किसी न किसी को जगाने का प्रयत्न करते हैं। चीन को हम अपना शत्रु मानते हैं, क्योंकि वह हमें सोने ही नहीं देता। अमरीका, रूस और दूसरे बड़े देश इस देश के सबसे बड़े मित्र हैं, क्योंकि उन्होंने सदा इस देश की जागृति का विरोध किया। वे चाहते थे कि यह देश सोया रहे। और उदाहरण दूं?' उसने पूछा।

'नहीं।' थानेदार बोला, 'मैं कनविंस हो गया हूं और बोर भी। तुम साले कहीं टीचर हो जाओ। इतने उदाहरण दोगे तो सारे लड़के बोर होकर सो जाएंगे।'

'किसी को सुलाना अपराध नहीं है।' फैशनेबल आदमी बोला।

'तुम ठीक कहते हो।' थानेदार ने कहा और वह थके हुए आदमी की ओर मुड़ा, 'इसने तुम्हें केवल छुरा मारने की कोशिश की है, सरकार को पता लगता तो तुम्हें गोली मार देती। अब मेरी बात मानो।'

'क्या?' थके हुए आदमी ने पूछा।

'इसके घर जाओ और इसकी बेटी और मां को सुलाओ। या फिर इसे अनुमति दो कि यह छुरा मारकर तुम्हें सुला दे। सोना सेहत के लिए अच्छा होता है। जाओ, भागो, मुझे सोने दो।'

और अपनी दोनों टांगें मेज पर रखकर थानेदार सो गया।

नरेंद्र कोहली

आश्रितों का विद्रोह

प्रधानमंत्री ने अपने घर पर मंत्रिमण्डल की एक विशेष आपतकालीन बैठक बुलायी थी।

सिवाय विदेश-मंत्री के शेष सभी मंत्री ठीक समय पर आ गए थे। विदेशमंत्री एक मित्र देश के निमंत्रण पर वहां गए हुए थे। अपने यहां शिष्टाचार का एक साधारण नियम यह है कि हम कहीं जाते अपनी इच्छा से हैं और लौटते आतिथेय की इच्छा से हैं। इसी नियम के विस्तृत प्रपंच में एक धारा यह भी है कि हम जब किसी के निमंत्रण पर उसकी इच्छा से उसके घर जाते हैं, तो लौटते अपनी इच्छा से हैं। इसी नियम के अधीन विदेशमंत्री मित्र देश के निमंत्रण पर वहां गए थे और अपनी इच्छा से लौटने वाले थे; पर उनकी इच्छा अभी लौटने की नहीं थी। वैसे भी वर्तमान समस्या अपने देश से संबद्ध थी, इसलिए विभाग की दृष्टि से उनका यहां होना बहुत आवश्यक नहीं था। उनका काम विदेशों में अपने देश के लिए समस्याएं उत्पन्न करना था, जिसे वे बड़ी दक्षता से पूरा कर रहे थे।

सभी मंत्रियों के आ जाने पर प्रधानमंत्री ने अपनी विशेष देखभाल में कमरे के सारे दरवाजे बंद करवा दिए; और बाहर अपने निजी तथा विश्वसनीय सेवकों को बैठा दिया। रात को हम दरवाजे इसलिए बंद करते हैं कि बाहर से कोई भीतर बाहर न जाए। प्रधानमंत्री ने दरवाजे इसलिए बंद करवाए थे कि न कोई बाहर से भीतर आए, न भीतर से बाहर जाए। जब हमारा दृष्टिकोण यह होता कि न कोई बाहर से आकर हम में मिले और न कोई हम में से बाहर जाकर दूसरों से मिले, तो उसे हम शुद्धतावादिता कहते हैं। रक्त तथा धर्म की शुद्धता के लिए नहीं, भेद के लिए था। ऐसा बहुत ही असाधारण स्थिति में होता था। आज प्रधानमंत्री बहुत ही सावधान, गंभीर तथा चिंतित थे।

प्रधानमंत्री की गंभीरता को देखते हुए शेष मंत्री भी उन स्कूली बच्चों के समान नोंचबाजी छोड़कर चुपचाप बैठ गए थे, जो मास्टर को नाराज देखकर चुप हो जाते हैं। वे कार्रवाई के आरंभ किए जाने की प्रतीक्षा उस बारात के सामान कर रहे थे, जो दूल्हे द्वारा खाना आरंभ करने की राह देख रही होती है, ताकि वे भी खा सकें।

प्रधानमंत्री सब ओर से आश्वस्त होकर मंत्रियों के साथ आ बैठे। उन्होंने स्वराष्ट्रमंत्री की ओर देखा और बोले, 'अब क्या स्थिति है?'

प्रधानमंत्री के स्वर में किसी गंभीर रोगी के स्वास्थ्य के विषय में पूछने की-सी चिंता थी।

स्वराष्ट्रमंत्री इस प्रकार की अनौपचारिक बातचीत के लिए तैयार नहीं थे। वस्तुत: वे प्रधानमंत्री की किसी भी बात के लिए तैयार नहीं होते थे। तैयार नहीं होना, जीवन का एक बड़ा स्वस्थ सिद्धांत है। भारत सन् 1962 में चीन का करारा तमाचा यह कहकर हजम कर गया कि हम तैयार नहीं थे।

इजराइल से बार-बार पिटते रहकर भी अरब देश यह कहकर संतुष्ट रहते थे कि वे तैयार नहीं थे। किसी भी कार्यक्रम से आप यह कहकर पीछे हट सकते हैं कि आप तैयार नहीं हैं। स्वराष्ट्रमंत्री आज तक अपनी सारी अयोग्यता 'मैं तैयार नहीं हूं' के बोर्ड के नीचे ही छिपाए बैठे थे।

पर इस समय इस उत्तर से काम नहीं चलता, इसलिए संभलने के लिए थोड़ा-सा समय लकर बोले, 'स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। दार्शनिक धरातल पर मेरी बात गलत हो सकती है, कोई भी स्थिति अधिक समय तक समान नहीं रह सकती। पर मैं दर्शन की बात नहीं कर रहा, मैं राजनीति की बात कर रहा हूं। जो परिवर्तन आया है, वह हमारे लिए शुभ नहीं है, इसलिए हम उसे परिवर्तन को परिवर्तन नहीं मानते।'

वे फिर बोले, 'बसों का बहिष्कार अब पुरानी बात हो गयी है। एक बार बहिष्कार करने के बाद कभी भी कोई सवारी बस में नहीं बैठी। रघुकुल के विषय में कहा जाता है कि 'प्राण जाए पर वचन न जाई।' हमारी जनता के व्यवहार से पता लगता है कि यह सारी जनता रघुकुल की ही संतान है या यदि ऐसा नहीं है तो यह जनता भी वहीं पढ़ी है, जहां रघुकुल वाले पढ़ा करते थे।

'दूसरा बहिष्कार राशन का हुआ है और वह छूत की बीमारी के समान फैल गया है। (मैं पहले ही कहता था कि अपने देश के लोगों में छूत का प्रतिवाद करने की क्षमता है- पर राशन की दुकान के पास नहीं फटकते, जैसे वैष्णव लोग मांसाहारी भोजनालय के अंदर प्रवेश नहीं करते। यदि लोगों को कुछ भी खाने को न मिले तो वे भूखे मर जाते हैं, पर राशन का अन्न नहीं खाते। अब तक राजधानी में ही ढाई सौ व्यक्ति मर चुके हैं। सबसे दुखद स्थिति यह है कि इन मृतकों में सरकारी अस्पताल के मैडिकल सुपरिन्टेंडेंट भी हैं। कहते हैं न, शेर भूखा मर जाता है, पर घास नहीं खाता। तो अपने देश के ये शेर घास खाने से इंकार कर भूखे मरते जा रहे हैं। मैंने वन-पशु-रक्षा-मंत्रालय से कहा है कि किसी प्रकार वह इन शेरों की रक्षा करे। पर लगता है कि अब तक वह असमर्थ ही रहा है।

'तीसरा बहिष्कार दिल्ली दुग्ध-योजना का है। सारा का सारा दूध या तो कर्मचारियों के घर जाता है या नालियों में बहाना पड़ता है। कर्मचारियों के घर जाना भी नालियों में बहाने के ही समान है, क्योंकि उस दूध का मूल्य हमें नहीं मिलता। मुझे लगता है कि दुग्ध योजना के कर्मचारी स्वयं यह चाहते हैं कि यह बहिष्कार चलता रहे और उनके घर खीर पकती रहे। मैं अपने सहयोगियों को बता देना चाहता हूं कि दुग्ध-योजना के कर्मचारियों का यह दृष्टिकोण विश्व-शक्तियों के समान है, जो यह चाहती हैं कि छोटे-छोटे देश लड़ते रहे और उनके घरसोना बरसता रहे। मैं विश्व शक्तियों से अपील करता हूं कि वे दुग्ध-योजना के कर्मचारियों का सा अपना यह रवैया बदल लें। नहीं तो हम भी उनसे दूध लेना बंद कर देंगे।

'चौथा बहिष्कार डाक-तार विभाग का है। डाक-तारघर खाली पड़े हैं। मुझे इस बात से शिकायत नहीं है कि डाक-तारघर खाली क्यों पड़े हैं। शिकायत मुझे यह है कि उन डाक-तारघरों में निठल्ले कर्मचारी पड़े सोते रहते और हम उन भवनों को किराये पर भी नहीं उठा सकते। हम किसी अनावश्यक कर्मचारी को नौकरी से निकाल भी नहीं सकते, क्योंकि तब स्थिति और भी बिगड़ जाने का भय है। स्थिति के बिगड़ने से मेरा तात्पर्य यही हे कि जो कर्मचारी पड़े सो रहे हैं, वे उठकर भौंकने लगेंगे। उनको जगाने से हमें मीर ने यह कहकर रोक दिया, 'सिरहाने मीर के आहिस्ता बोलो, अभी दुक रोते-रोते सो गया है।'

'वैसे सामान्य जीवन एकदम सहज है। लोग मशीनों के समान एक निर्णय ले लेते हैं ओर उससे चिपके रहते हैं, इसके लिए चाहे उन्हें कितना ही कष्ट क्यों न सहना पड़े। वे उन मकौड़ों के समान हो गए हैं जो आदमी के शरीर को डंक मारने के लिए उसके साथ चिपक जाते हैं तो फिर उनके टुकड़े हो जाएं, वे आदमी के शरीर को नहीं छोड़ते।'

प्रधानमंत्री ने अपनी नजरों की तोप शिक्षा, जन-कल्याण तथा संस्कृति विभाग के मंत्री पर टिका दी, 'आपका क्या विचार, ऐसा क्यों हुआ?'

शिक्षामंत्री तनिक कसमसाये, जैसे मच्छर के काटने पर सोया हुआ आदमी कसमसाता है और बोले, 'यह हमारी संस्कृति की विशेषता कहिए या शिक्षा का प्रचार कि हमारी जनता एक नयो चेतना की मशाल लेकर आगे बढ़ रही है। पर मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि वह मशाल उजाला करने के लिए है, आग लगाने के लिए नहीं। महात्मा बुद्ध की बात जनता ने ढाई हजार साल बाद मानी है, पर मान ली है। देर आयद, दुरुस्त आयद। महात्मा बुद्ध ने कहा था कि अपना दीपक आप बनो। जनता अपना दीपक आप बन रही है। जनता ने इस बात का संकल्प किया है कि वह आत्मनिर्भर बनेगबी और अपने सम्मान का मूल्य चुकाकर वह सुविधाएं स्वीकार नहीं करेगी। अपने सम्मान का मूल्य देना एक महंगा सौदा है। वस्तुतः यह आंदोलन बढ़ती हुई कीमतों और महंगाई के विरुद्ध है। यह एक जाग्रत राष्ट्र का चिन्ह है. . .।'

'मंत्री महोदय!' प्रधानमंत्री की तीखी आवाज ने उनकी बात बीच में ही इस प्रकार रोक दी, जैसे रेफरी की सीटी तेजी से चलते हुए खेल को रोक देती है, 'आप कया इतनी-सी बात भी नहीं समझते कि कटड़े को भैंस की आवश्यकता तभी तक होती है, जब तक वह दूध के लिए उस पर आश्रित होता है। सरकार की सत्ता तभी तक है, अब तक जनता आश्रित है। जिस घर के लोग अपने हाथ से पानी तक नहीं पी सकेंगे, वहां नौकर बहुत जरूर होता है। जिस देश की जनता जितनी आराम-पसंद, सुविधा-प्रिय और आश्रित होगी, वहां की सरकार उतनी ही सत्ता-सम्पन्न होगी। यदि घर के लोग स्वयं अपने हाथों खाना पकाकर खा लेंगे, बर्तन साफ कर लेंगे, घर की सफाई कर लेंगे, कपड़े धो लेंगे तो नौकर की उसी दिन छुट्‌टी कर देंगे। ऐसी स्थिति में आश्रितों का आत्मनिर्भर होना राजद्रोह है। यह सरकार का तख्ता पलट देने की दुरभि-संधि है और आप गधों के से स्वर में बेताल, बेसुरा जनता की जागृति की गीत गा रहे हैं सरकार की सुरक्षा के लिए आवश्यक है कि जनता अधिक से अधिक आलसी और आरामपसंद हो। कष्ट सहने को तैयार लोग क्रांति की बाढ़ ले आते हैं, जिसमें हमारी सरकार जैसी पचासों सरकारें डूब जाती हैं; और उनका कोई अवशेष तक शेष नहीं बचता, जो उनके

बाद उनकी मूर्खता का परिचय दे सके। मैंने आपको शिक्षामंत्री इसलिए बनाया था कि आप लोगों को अधिक से अधिक सभ्य बनाएं। सभ्यता का अर्थ जागृति नहीं, आश्रयप्रियता है। उन्हें चाहिए कि बस-स्टॉपों, रेलवे स्टेशनों, राशन की दुकानों तथा डाकघरों में ही नहीं, अस्पतालों, दफ्तरों तथा अन्य स्थानों पर भी लंबी-लंबी पंक्तियों में धैर्य से, बिना किसी प्रतिरोध के खड़े रहें; और अपनी इस आश्रित पंक्ति-प्रियता पर गर्व करें तथा स्वयं को आत्मनिर्भर लोगों से अधिक सभ्य एवं उन्नत मानकर उनसे घृणा करें। उनके जीवन में जब तक यह कृत्रिमता नहीं आती, हमारी सरकार स्थायी नहीं हो सकती। सहज तथा अकृत्रित लोग बहुत खतरनाक होते हैं।

'पर अपने यह सब तो नहीं ही किया, बल्कि जब जनता में आत्मनिर्भरता तथा कष्ट सहने की तत्परता जैसी भयंकर प्रवृत्तियां जन्मीं और फैली तो आपने उनकी रोकथाम का भी कोई प्रयत्न नहीं किया। आप क्या समझते हैं कि यह जनता कल रेलों, पुलिस, सेना तथा अन्य सरकारी संस्थानों का बहिष्कार नहीं कर देगी। इस प्रकार तो एक ऐसे समाज का निर्माण होगा जिसमें शासन की आवश्यकता नहीं होगी। क्या आपके कोढ़-मग्ज को नहीं सूझ रहा कि यह बहुत ही भयंकर स्थिति है?'

प्रधानमंत्री चुप तो हो गए थे, पर उनकी नजरों की सुइयां अब भी शिक्षामंत्री को चुभ रही थीं। शिक्षामंत्री को कुछ सूझ भी नहीं रहा था कि वे क्या कहें। वे पाठ घर से याद करके चलने वाले जन्तु थे। समय पर उन्हें कुछ नहीं सूझता था। सामान्य अवसरों पर बोलने के लिए उन्होंने अपने विभाग से संबद्ध 'शिक्षा और समाज', 'शिक्षा और राजनीति', 'छात्रों का कर्तव्य' तथा ऐसे ही दो-चार और निबंध याद कर रखे थे। यदि इन निबंधों मं से भी काम न चले तो उनसे पास एक अमोघ अस्त्र था, जिसके प्रयोग से वे अपनी पत्नी से छुटकारा पाया करते थे। उन्होंने उसी का प्रयोग किया।

बोले, 'सदा के समान एक और भूल हो गयी श्रीमान्! आगे से नीति-निर्धारण आपकी देखरेख में ही होगा।'

'आप इस आशय के निबंध प्राइमरी स्कूलों के पाठ्यक्रम में निर्धारित करवा दें, 'प्रधानमंत्री ने अपनी देख-रेख में नीति-निर्धारण आरंभ किया, 'कि आत्मनिर्भरता सामाजिक दृष्टि से पिछड़ेपन का सर्वप्रधान गुण है। केवल आदिम मनुष्य ही आत्मनिर्भर था, इसलिए वह मनुष्य नहीं, पशु था। कष्ट सहने की प्रवृत्ति जंगली है। सभ्य केवल वे लोग हैं, जो सरकारी सेवाओं पर आश्रित रहते हैं, क्योंकि सरकारी सेवाएं केवल सभ्य देशों में ही उपलब्ध होती हैं।'

'बहुत अच्छा श्रीमान्!' शिक्षामंत्री ने कुछ इस ढंग से सिर झुका दिया जैसे किसी बड़े आदमी की मृत्यु पर उसके सम्मान पर लगे राष्ट्रीय झण्डे झुका दिए जाते हैं।

'और आप', प्रधानमंत्री स्वराष्ट्रमंत्री की ओर घूमे, 'इस विद्रोह और विप्लव को दृष्टि में रखते हुए राष्ट्रपति जी के द्वारा देश में आपातकालीन स्थिति घोषित करवाइए। आप संसद में इस आशय के विधेयक उपस्थित कीजिए जिनमें एक फर्लांग से अधिक पैदल चलने का अपराध घोषित किया जाए, निजी सवारी में परिवार के बाहर के लोगों को लिफ्ट देना अपराध हो। प्रत्येक व्यक्ति के लिए दिन में तीन बार भोजन करना अनिवार्य हो, जिसका प्रमाण उसे डाक्टरी परीक्षण द्वारा देना होगा। सप्ताह में कम से कम एक पत्र लिखना प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य घोषित किया जाए। लोगों को अधिक से अधिक आश्रित और पंगु बनाइए; और जब वे लोग पंगु, आश्रित, आलसी तथा आरामपसंद बन जाएं तो उन सुविधाओं को धीरे-धीरे कम करते जाइए, जैसे व्यापारी लोग किसी चीज के पहले मुफ्त नमूने बांटते हैं, घर-घर चीजें पहुंचाते हैं, बाजार को उस वस्तु से भर देते हैं; और जब लोगों को उस चीज की आदत पड़ जाती है तो वह चीज धीरे-धीरे बाजार से गायब कर लोगों को लूटते हैं इन सारे कामों के लिए यदि आप आवश्यक समझें तो प्रतिरक्षा मंत्री से पूरी सहायता लीजिए। यदि यह सब नहीं किया गया तो यह सरकार नहीं रहेगी और तब आप मंत्री भी नहीं रहेंगे।

'जी, बहुत अच्छा!' स्वराष्ट्रमंत्री ने साष्टांग दंडवत किया।

'ओम् जय जगदीश हरे. . .।'

प्रधानमंत्री ने बैठक समाप्त कर दी!

नरेंद्र कोहली मेरा मित्र है और प्रिय कहानीकार भी।
मैं लगातार सावधान रहा हूं कि नरेंद्र की रचनाएं कहीं मैं इसीलिए तो पसंद नहीं करता कि वह मेरा मित्र है? इसी सावधानी के कारण नरेंद्र का सबसे कड़वा आलोचक भी मैं हूं। उसकी कुछेक रचनाएं पढ़कर मैंने यहां तक कहा कि ये तुम्हारे नाम से छपनी ही नहीं चाहिए। मगर जब वे रचनाएं छपीं तो उन्होंने नरेंद्र को न केवल साहित्यिक प्रतिष्ठा दी, उसे चमत्कारिक लोकप्रियता का वरण करने का भी अवसर दिया। वियतनाम युद्ध की विभीषिका का चित्रण करती नरेंद्र की छोटी-सी कहानी 'किरचें'।
किसी ने कहा है- मित्र के रूप में वही स्वीकृत होता है, जो स्वयं का प्रतिरूप हो। लेखक और व्यक्ति, दोनों रूपों में मैं और नरेंद्र सचमुच काफी ज्यादा समानांतर हैं। नए-पुराने किसी भी लेखक को स्व से उबरने की जिस कठिन परीक्षा का सामना करना पड़ता है, उसमें अधिकांश लेखक असफल हो जाते हैं। स्व से उबरकर 'हटना' अथवा स्व के बारे में परे हटकर किसी अन्य व्यक्ति जैसी तटस्थता से लिखना नरेंद्र के लिए अब इतना सहज हो गया है कि मुझे गई बार उससे ईर्ष्या हुई है। स्वानुभवों को रचनायित करने से कई बार मैं केवल इसलिए कतरा गया हूं कि मुझे भय लगा है, 'कहीं मैं तटस्थ न रह पाया तो?' किंतु नरेंद्र बड़ी दिलेरी के साथ इस भय से अपरिचित हैं। अत्यंत सहजता से वह स्वानुभवों को न केवल रचनायित करता है, उन 'संस्मरणात्मक कहानियों' में स्वयं अपना मजाक भी उड़ाया है। नरेंद्र की रचना 'अस्पताल', जिसे वह अपने कई एब्सर्ड उपन्यासों में से एक मानता हैं, इसका सबसे अच्छा उदाहरण है।

—मनहर चौहान

नरेंद्र कोहली

आधुनिक लड़की की पीड़ा

बहुतों को है, उसे भी हो सकती है, पर मुझे ऐसी कोई गलतफहमी नहीं है। वह युवती भी थी और उदास भी, पर मुझे वह उदास होकर भी सुंदर नहीं लगी। फिल्में देखता हूं, इसलिए ऐसी गलतफहमियां कम पालता हूं। बेकार के दुखों को भी मैं लिफ्ट नहीं देता; न प्यार के नाम पर न कला के नाम पर। कई बार मेरी चप्पल का कील विद्रोह कर अपने स्थान से ऊंचा उभर आया है। उससे मेरी उंगली या एड़ी पीड़ित भी हुई है। पर उस पीड़ा से मैं कोई रचना नहीं लिख पाया। उस कील का इलाज कला नहीं, मोची है।

वह लड़की दुखी थीं उसका दुख भी कलात्मक नहीं भौतिक ही था। वैसे तो वह मेरे पास साहित्यिक एवं कलात्मक समस्याएं लेकर ही आई थी, पर वे अधिक चल नहीं पाईं। साहित्यिक समस्याएं अपनी औकात बड़ी जल्दी समझ लेती हैं। एक डॉक्टर साब ने पूछा था, 'साहित्यिक कृतियों के सुसृजन की सूक्ष्म प्रक्रिया के विभिन्न आयामों के कलात्मक धरातल. . .।' मैंने टोक दिया, 'भाई जान! आदमी की भाषा में पूछिए। डॉक्टरी भाषा कहीं और के लिए उठा रखिए।' उन्होंने पूछा, 'रचना का जन्म कैसे होता है?' मैंने कह दिया, 'जैसे संतान का जन्म होता है।' वे कला को भूल गए, उन्हें अपनी भौतिक पीड़ा याद आ गई- विवाह के दस वर्षों के पश्चात भी संतानहीन थे। उठकर चल दिए साहित्य को एकदम भूल गए। बच्चे के विचार ने सारी पोथियां फाड़कर उनका अस्तितव मिटा दिया। माया मिट गई, ब्रह्म रह गया।

इस लड़की ने बात उतनी ऊंचाई से आरंभ नहीं की थी, पर बात शुद्ध साहित्यिक ही थी। बोली, 'देखिए! प्रेमचंद का युग बहुत पीछे छूट गया है, अब कोई अच्छा साहित्यकार अपनी रचनाओं में दहेज की समस्या का चित्रण नहीं करता। पर हमारी जाति अब भी इतनी पिछड़ी हुई है कि लड़के तिलक में दस-दस हजार रुपये मांगते हैं।'

जी में आया, कहूं- बड़े मूर्ख हैं तुम्हारी जाति के लड़के। साहित्य पढ़ते नहीं होंगे। साहित्य पढ़ते तो उन्हें मालूम होता कि साहित्य में अब दहेज की समस्या नहीं है। प्रेमचंद के समय की बात और थी। साहित्य पिछड़ा हुआ था, इसलिए प्रेमचंद ने दहेज की समस्या जैसी घटिया समस्या साहित्य में उठाई। साहित्य में समस्या उठी तो लोग दहेज लेने लगे। न लेते तो प्रेमचंद का साहित्य अप्रामाणिक होने का भय था। तब मजबूरी थी। अब, जब कोई साहित्यकार यह समस्या नहीं उठाता, तो दहेज क्यों मांगते हो। अच्छे लड़के के वे ही होते हैं जो जीवन में केवल वे समस्याएं उठाते हैं, जिनकी चर्चा साहित्य में होती है।

पर यह कह नहीं पाया। समझ गया, वह कुछ और कह रही थीं- वह सुंदर है, एम.ए. पास है, (तथाकथित) अच्छे परिवार की है। उसकी आयु पच्चीस से ऊपर हो चुकी है, पर विवाह है कि होने पर ही नहीं आ रहा। विवाह हो गया होता तो बच्चे खेलाती, सास-ननद से लड़ती, पड़ोसिनों से चिढ़ती, अपने तीन वर्ष के लड़के की बहू और उसके दहेज की बात सोचती। पर नहीं हुआ, तो साहित्य से सिर मारना पड़ रहा है।

मुझे उससे सहानुभूति नहीं हुई। मेरी दृष्टता इस सीमा तक पहुंच गई है कि शिकायती लोगों के साथ शिकायत करने नहीं बैठता, उलटे उन्हें ही कुरेदना शुरू कर देता हूं।

पूछा, 'आप तो स्वयं को पिछड़ा हुआ नहीं मानतीं?'

वह बड़ी जोर से खिलखिलाकर हंसी। मेरी मूर्खता के लिए परिहास-भरी दृष्टि मुझ पर डाली। एक बार अपना सर्वेक्षण किया और बोली, 'मैं अपनी जाति की अन्य लड़कियों के समान पिछड़ी हुई होती, तो आपके पास इस प्रकार नहीं जा सकती थी।'

'तब आपके आने का कोई और प्रकार होता क्या?'

'नहीं, आ ही नहीं सकती थी। आप मेरे लिए पराये पुरुष होते; और हमारी जाति की लड़कियां, पराये पुरुषों से बात तक नहीं करतीं।

उसने बात स्पष्ट नहीं की। पता नहीं, वह मुझे पराया नहीं मानती थी या पुरुष नहीं समझती थी। सीधे-सीधे पूछ बैठता, तो पता नहीं क्या उत्तर मिलता। बात लपेटकर कही-

'पर आप. . .।'

'मैं तो अपनी आधुनिकता के लिए बदनाम हूं।' फिर वह हंसी, 'मैंने अपने बाल कटवा दिए हैं। लुंगी और बैल-बाटम पहनती हूं। दुपट्टे को एकदम छोड़ दिया है। आप मुझे पिछड़ी हुई कैसे कह सकते हैं?'

नहीं कह सकता था। बाल कटवा देने पर कोई पिछड़ा हुआ कहां रह जाता है। बंगाल और तमिल प्रदेश मे विधवाएं अपने बाल कटवा देती हैं। वे पिछड़ी हुई कहां हैं?

'तो आप आधुनिका हैं और अपनी जाति के पिछड़ेपन से लड़ना चाहती है?'

'जी हां!'

'साहित्यिक धरातल पर या व्यावहारिक धरातल पर?'

'दोनों धरातलों पर।'

मुझे उसके भोलेपन पर दया आई। कितनी सीधी लड़की है। सोचा, उसे चेता दूं, 'मुश्किल में पड़ जाएंगे। साहित्य में आधुनिक होना है तो संस्कृति के संकट की बात कीजिए। शब्दों के अर्थहीन हो जान का नारा लगाइए। बहन-भाइयों के अवैध संबंधों की बात कीजिए। साहित्य में दहेज की बात उठाएंगी तो लोग आपको आधुनिक नहीं मानेंगे।'

'म मानें।' उसने बड़ी दृढ़ता से कहा।

समझ गया कि लड़की शहीद होने के

लिए पैदा हुई है।

'तो आपके लिए यह क्यों आवश्यक है कि आप अपनी जाति में ही विवाह करें? क्या आपको यह नहीं लगता कि जात-बिरादरी का विचार बड़ा पिछड़ा हुआ विचार है?'

वह हतप्रभ-सी होकर मेरा चेहरा देखने लगी। लगा, उसकी जगह पर उसकी दीदी आ बैठी है। निश्चित रूप से वह सोच रही थी कि मैं उसका चरित्र भ्रष्ट करने का प्रयत्न कर रहा हूं।

'तो आप चाहते हैं कि मैं किसी ब्राह्मण या कायस्थ से विवाह कर लूं?'

वह मुझ पर व्यंग्य कर रही थी। अभी पिछले दिनों की एक पढ़ी-लिखी महिला ने व्यंग्य किया था, 'जाइए, जाइए, कोई पुस्तक पढ़िए।' अपनी ओर से वह उतनी ही संतुष्ट थी, जितनी वह कोई भद्दी-सी गाली देकर या 'जाइए, जाकर जुआ खेलिए।' कहकर हो सकती थी।

मैंने लड़की के व्यंग्य का बुरा नहीं माना। समझाया, यदि आपको कोई अच्छा ब्राह्मण या कायस्थ लड़का मिला है, तो अवश्य कर लें।'

वह मेरी भूल पर उत्तेजित हो उठी, 'इस प्रकार तो कल आप यह भी कह देंगे, कि किसी मुसलमान या ईसाई के लड़के से शादी कर लूं।'

मैं फिर भी अपनी भूल नहीं समझा। अड़ा रहा, 'यदि आपको कोई मुसलमान या ईसाई लड़का पति के रूप में पसंद आ जाए, तो अवश्य कर लीजिए।'

उसने छिपी दृष्टि से चारों ओर देखा। शायद देख रही थी कि उसे मेरे साथ ऐसी बातें करतें, किसी ने देख तो नहीं लिया। उसका आधुनिक चेहरा काफी घबराया हुआ-सा था।

थोड़ी देर वह मौन बैठी रही। शायद सोच रही थी, सब कुछ छोड़कर जिस एक चीज को उसने पकड़ा था, उस आधुनिकता की कसौटी पर मैंने उसे फेल कर दिया था। धीरे-धीरे उसने अपा खोया हुआ आत्मविश्वास जगाया। बोली, 'मान लीजिए कि मैं किसी दूसरी जाति के लड़के से विवाह करने को तैयार हो भी जाऊं, तो मेरे माता-पिता कैसे मानेंगे।'

मैं भी भूल पर था। पता नहीं था कि यह लड़की श्रवणकुमार है।

'आपको पिछड़ेपन से लड़ना है न?'

'जी हां।'

'पिछड़ा हुआ कौन है?'

'जाति, समाज।'

'और आपके माता-पिता?'

मेरे प्रश्न से उसका काफी मनोरंजन हुआ दिखता था। वह मुस्कराकर बोली, 'वे लोग तो बहुत पढ़े-लिखे हैं। पापा ने तो एकदम माडर्न ढंग की कलमें रखी हुई हैं। मूंछें भी ठोढ़ी की ओर झुकी हुई, लेटेस्ट फैशन की हैं।'

इसके माता-पिता पढ़े-लिखे हैं, अतः

पिछड़े हुए नहीं हैं। जिन लड़कों से वह विवाह करने की सोच रही है, वे पिछड़े हुए हैं- तो क्या वे पढ़े-लिखे नहीं हैं? वह अनपढ़ लड़के से विवाह करने की सोच रही हैं? मैंने नया प्रश्न पूछकर उसे नई दिशा नहीं दी। पिछली बात को ही आगे बढ़ाया।

'खैर, आपको बिरादरी से बाहर विवाह करने से जाति नहीं रोक रही, आपके मां-बाप रोक रहे हैं। मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि पिछड़ा हुआ कौन है और आप लड़ना किससे चाहती हैं।

मेरा पांव भूल से कुत्ते की पूंछ पर पड़ गया था।

वह एमदम बौखला उठी, 'मैं उनसे कैसे लड़ सकती हूं। उन्होंने मुझे जन्म दिया है। पाला-पोसा है। प्यार दिया है। पढ़ाया है। आप शायद नहीं जानते, हमारे देश में मां-बाप का कितना ऊंचा स्थान है।'

मैं सचमुच ही अपनी संस्कृति से भ्रष्ट हो रहा था। घबराहट में पूछ बैठा, 'तो समाज से लड़ने के नाम पर, आप अपने पड़ोसियों से लड़ेंगी क्या?'

'नहीं! पड़ोसियों से क्यों लड़ूंगी। मैं कोई पागल हूं क्या? लड़ूंगी उनसे जो स्वयं पिछड़े हुए हैं और समाज को अपने पिछड़ेपन से बांधे रखना चाहते हैं।'

'वे तो आपके माता-पिता भी हैं।'

वह फिर मौन हो गई। अब तक निश्चित रूप से मेरे विषय में उसकी धारणा काफी खराब हो गई होगी। मां-बाप से लड़ना, तौबा-तौबा। जो लोग उसकी शादी करेंगे। उधार लेकर शामियाने लगवाएंगे, पांच सौ आदमियों का खाना खिलाएंगे और ढेर सारा दहेज देंगे। मैं अवश्य ही उसका भविष्य बिगाड़ने पर तुला हुआ था।

सहसा वह मुझ पर झपटी। इस बार उसने पूछा कुछ नहीं, मुझे ही उपदेश दिया। शायद वह मेरा भविष्य सुधारना चाहती थी।

'आप क्या पुराने ढंग के कपड़े पहने हुए हैं। पुराने ढंग के बाल रखे हुए हैं। आप अपने पिछड़ेपन से क्यों नहीं लड़ते। आधुनिक क्यों नहीं बनते?'

मैंने खिसियानी बिल्ली के पंजे की उपेक्षा कर उसे फिर कुरेदना आरंभ किया।

'आधुनिकता का संबंध व्यक्ति के कपड़ों और बालों से है या उसके चिंतन और व्यवहार से?'

उसने उत्तर नहीं दिया। चेहरा नीचे झुकाए, फर्श को डांटती रही। उसका चेहरा साधारण भारतीय विद्यार्थी का चेहरा था, जो अध्यापक को कहता है, 'बक, जो बकना है। पूछ मत।'

मैंने फिर नहीं पूछा, कह दिया, 'आप अपने दर्जी और नाई से आधुनिकता सीखती हैं, मैं चिंतकों, दार्शनिकों तथा अपने जीवन के अनुभव से।'

वह युद्ध-नीति में चतुर निकली। नये मोर्चे पर रुद्ध होकर, पुराने मोर्चे पर लौट गई, 'मैं गैर-बिरादरी के लड़के से शायद शादी कर ही लूं, पर पापा मेरे लिए दूसरी बिरादरी से लड़का चुनेंगे ही नहीं।'

'पर यही क्यों जरूरी है कि आपके लिए लड़का पापा चुनें?'

'तो और कौन चुनेगा!'

'क्यों, आप स्वयं नहीं चुन सकतीं।'

उसने मुझे फिर घूरकर देखा। लड़कियों के चरित्र को बिगाड़ने वाली मेरी यह बात भी उसे पसंद नहीं आई थी। वह मेरे पास

आकर अवश्य ही पछता रही थी। ऐसे दुश्चरित्र व्यक्ति से बात करने का क्या लाभ, जो कहता है कि लड़की के लिए वर पिता न ढूंढे, लड़की स्वयं खोजे। आधुनिक होने का अर्थ राष्ट्र विरोधी होना तो नहीं है। चरित्र के संबंध में लेखक बहुत विश्वसनीय होते भी नहीं।

वह नहीं बोली। मैं ही बोला, 'लगता है आपकी आधुनिकता त्वचा के ऊपर ही ऊपर है- त्वचा के नीचे आप सनातन ही हैं।'

'नहीं। ऐसी बात तो नहीं है। पर आप स्वयं ही सोचिए। कोई भी लड़की अपने लिए लड़का नहीं खोजेगी! लड़के सड़कों पर पड़े तो मिलते नहीं हैं, न ही बाजार में बिकते हैं।'

हां, लड़कों की दुर्लभता की बात मैंने नहीं सोची थी। विश्वविद्यालय में हजारों लड़के देखता हूं, सोचता था शायद इनको भी कोई लड़की चुन लेगी। पर शायद वे शादी के लिए नहीं हैं, विश्वविद्यालय के लिए होंगे।

'आपके पिताजी कहां खोजेंगे? मैंने पूछा।

'क्यों?' प्रश्न में अपने पिताजी की असमर्थता की गंध पाकर वह क्षुब्ध हो उठी, 'नाते-रिश्तेदार हैं, उनके दफ्तर के लोग हैं, मिलने-जुलने वाले हैं। और कुछ नहीं, तो समाचारपत्रों के मैट्रीमोनियल के कालम हैं। आखिर और लोग अपनी बेटियों के लिए वह कहां खोजते हैं।'

'आप भी विश्वविद्यालय में पढ़ी हैं। एक दफ्तर में काम करती हैं। गली-मुहल्ला है, नाते-रिश्तेदार हैं, सखी-सहेलियां है; और समाचारपत्र हैं। आप क्यों नहीं खोज सकतीं?'

'मेरी चायस अच्छी होगी, यह जरूरी तो नहीं है।'

अबोधता का कवच बड़ी काम की चीज है, कर्तव्य की हर गोली छाती से फिसल जाती है।

'तो इसकी क्या गारंटी है कि आपके पापा की चायस अच्छी ही होगी?'

वे बड़े हैं। समझदार हैं। उन्हें जीवन का अनुभव है। गारमेंट में सैक्शन आफिसर हैं।'

'तो फिर पुरानी पीढ़ी ही अधिक समझदार हुई है न। उनकी बुद्धि आपकी आधुनिक बुद्धि से अधिक विश्वसनीय है। उनकी बात मान जाइए- वे कहते हैं दहेज लेने-देने में कोई बुराई नहीं है।'

'नहीं, यह बात नहीं है।' वह मेरी मूर्खता पर झल्ला उठी, 'पर आप ही सोचिए, एक जवान लड़की अपने लिए स्वयं लड़का खोजती फिरे तो क्या अच्छा लगेगा?'

सोचा, कहूं, जवान लड़की ही लच्छी लगेगी, बच्ची या बुढ़िया अपने लिए लड़का खोजेगी तो अच्छा नहीं लगेगा।

पर कहा, 'एक लड़की अपने लिए नौकरी खोजे, अपनी पसंद की साड़ी खोजे, अपने रहने के लिए मकान खोजे. . .तो आपको कोई आपत्ति है?'

'ये तो जरूरत की चीजें हैं।'

'तो शादी जरूरत नहीं है?'

वह अचकचाकर मुझे देखने लगी...। दिन-रात जरूरत की अनुभूति को लिए फिरते हुए, कैसे कह दे कि शादी की जरूरत नहीं है; और होते हुए अपने मुंह से कैसे कह दे कि है। आखिर तो लड़की है। बाल कटा दिए हैं तो क्या हुआ! दुपट्टा छोड़, लुंगी पहन ली तो क्या हुआ! आत्मा शाश्वत है, वह कभी नहीं बदलती। आखिर तो एक महान देश की आदर्श नारी है। उसे देश की लाज बचानी है। उसकी आत्मा को कभी जवाब भी तो देना है। अपनी शादी के लिए, देश को तो बदनाम नहीं किया जा सकता।

मैंने फिर कुरेदा, 'समाज में पुरुष और नारी बराबर हैं न?'

'जी।' उसके चेहरे पर कुछ तेज झलका।

'साधारण से साधारण पुरुष भी बड़ी सुविधा से, अपने मुंह से स्वीकार कर लेता है कि शादी उसकी आवश्यकता है. . .।'

वह फिर कुछ नहीं बोली। चुपचाप मुझे देखती रही। पर उसकी आत्मा उनकी आंखों की राह मुझे गालियां देती रही, 'दुष्ट मनुष्य! मैं तेरे पास साहित्य-चर्चा के लिए आई थी। मुझे क्या पता था कि तू मुझे कुलटा बनने का पाठ पढ़ाएगा. . . ।'

'अच्छा, मैं चलती हूं।' सहसा वह उठ खड़ी हुई।

'नमस्कार।' मैंने कहा।

पर उसने उत्तर नहीं दिया।

कमलकिशोर गोयनका-
आपका लेखकीय व्यक्तित्व बहुमुखी है। आपने उपन्यास, कहानी, नाटक, व्यंग्य आदि अनेक विधाओं में लिखा है, बल्कि कथा-साहित्य में आपने अपने समय के समाज और पुराकथाओं दोनों को ही आधार बनाया है। विभिन्न विधाओं में लिखना, सोचना तथा उसमें अपनी बात कहना एक लेखक के रूप में क्या आपको कष्टदायक तथा कठिन प्रतीत हुआ है।

नरेंद्र कोहली-
आपके इस प्रश्न के उत्तर में मुझे शरद जोशी से हुए एक संवाद का स्मरण हो आता है। बहुत पहले जब मेरे कुछ आरंभिक उपन्यासों की सूचना उनको मिली थी तो उन्होंने कहा था- कि भई, तुम व्यंग्य छोड़कर क्यों भाग रहे हो? व्यंग्य लिखने वाले हैं ही कितने। मैंने उनसे कहा था कि मुझे स्वयं को किसी विधा से बांधकर चलने की कोई बाधृयता दिखाई नहीं देती। यदि व्यंग्य की सामग्री होगी तो व्यंग्य लिखूंगा, उपन्यास की सामग्री होगी तो उपन्यास लिखूंगा। ठीक इसी प्रकार नाटक से संबंधित लोग प्रायः यह आग्रह करते हैं कि चूंकि हिंदी में नाटकों की कमी है, इसलिए मुझे नाट्य-लेखन की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। वस्तुतः मैं तो किसी विधा की उपेक्षा नहीं कर रहा किंतु सृजन की कुछ शर्तें होती हैं और लेखक को उन्हीं के अनुसार चलना पड़ता है। . . . अपनी सीमाओं में जितनी अधिक विधाओं में लिखा जा सके, वह लेखक का सुख है, कठिनाई नहीं।

नरेंद्र कोहली

परेशानियां

रामलुभाया की परेशानियों का इतिहास बहुत पुराना है। गिरते-पड़ते स्कूल की पढ़ाई पूरी कर, जब कॉलेज में प्रवेश पाने के लिए, रामलुभाया ने फार्म भरकर प्रिंसिपल की मेज पर रखा था, उसी क्षण उसने अपनी परेशानियों के साम्राज्य की नींव रखी थी।

रामलुभाया के चाचाजी उसी कॉलेज में पढ़ाने की नौकरी करते थे। वह बड़ा मसत था कि चाचाजी तो हैं ही। आजकल तो वैसे भी 'स्टाफ-युग' चल रहा था। प्रत्येक संस्था बनती तो 'जनता' के लिए है, पर हो जाती है 'स्टाफ' की। और उसके चाचाजी तो केवल स्टाफ नहीं थे. . .क्योंकि स्टाफ तो चपरासी होता है. . .वे तो अध्यापक थे। पर जब प्रिंसिपल ने फार्म पर 'प्रवेश-निषेध' की पर्ची चिपका दी तो रामलुभाया बहुत नाराज हुआ। उसे कॉलेज में प्रवेश नहीं मिलता, न सही; किंतु चाचा-भतीजावाद के युग में चाचाजी के कॉलेज में भतीजे का अपमान हो; यह तो प्रलंयकारी अनर्थ हुआ। रामलुभाया अपना अपमान तो फिर भी सह जाता, पर युग का अपमान कैसे सहता!

उसने कॉलेज में किसी से बात करने की आवश्यकता नहीं समझी। किसी प्रचंड राष्ट्र के झंडे के समान फड़फड़ाता हुआ अपने चाचाजी के पास चला गया, 'चाचाजी! आपके कॉलेज वाले मुझे एडमिशन नहीं दे रहे!'

पर जाने चाचाजी की समाधि कितनी गहरी थी कि 'सती-दाह' जैसे इस कांड से भी वे विचलित नहीं हुए। बोले, 'कितने प्रतिशत अंक हैं तुम्हारे?'

'बयालीस प्रतिशत!' रामलुभाया ने अपने कीर्तिमान की घोषणा की।

'एडमिशन संभव नहीं है।' चाचाजी ने इतनी सहजता से कह दिया जैसे कहा हो, 'बेटा! चाय पी लो।'

'क्यों?' रामलुभाया जैसे अंतरिक्ष से गिर पड़ा।

'क्योंकि तुम्हारे अंक बहुत कम हैं।' जामवंत ने हनुमान को उसके बल की याद दिलाई, 'आप स्टाफ हैं।'

'पर चाचाजी को नहीं चेतना था, नहीं

चेते। वे अपनी औकात को अच्छी तरह जानते थे, 'मैं वहां नौकरी करता हूं।'

'आप चाहें तो किसी लड़के को एडमिट नहीं करा सकते?'

'कॉलेज मेरे बाप का नहीं है।' चाचाजी माया के बंधनों के काफी मुक्त थे, 'विश्वविद्यालय के बनाए हुए नियमों के अनुसार वहां लड़कों को प्रवेश दिया जाता है। यह काम प्रवेश-समिति करती है; और प्रिंसिपल उनकी राय पर ही चलते हैं।'

अब तक तो रामलुभाया परेशान ही था, पर अब नाराज भी हो गया। उसकी नाराजगी विश्वविद्यालय और कॉलेज के विरुद्ध तो थी ही, पर सबसे अधिक नाराज वह अपने चाचाजी से था, 'चाचाजी अपने-आपको बड़ा आदमी समझते हैं। किसी की कोई सहायता नहीं करना चाहते। डरते हैं कि कोई और पढ़-लिखकर उनके समान बड़ा आदमी न बन जाए। हैल विथ हिम एण्ड हिज कॉलेज। अब मैं पढूंगा ही नहीं।'

रामलुभाया की पढ़ाई आगे नहीं चली : वह कहता है कि उसने किसी और कॉलेज में प्रवेश चाहा नहीं, पर मेरा उससे मतभेद है। मेरा विचार है कि उसे प्रवेश मिला नहीं।

गई वर्षों के बाद एक दिन जब वह मेरे घर का धमका तो बहुत प्रसन्न था। कुछ तो उसकी प्रसन्नता छुतहा रोग रही होगी, और कुछ एक लंबे अंतराल के बाद, अपने एक पुराने सहपाठी को इस प्रकार अपने सामने खड़ा देख मैं प्रसन्न हो गया।

पूछा, 'भई! कैसे हो?'

'सेवानगर में एक कोठी खरीद ली है।' वह बोला, 'गाड़ी भी खरीदी है। बाहर खड़ी है, चलकर देखो।'

वह मुझे घसीटकर बाहर ले आया। देखा, एक चमचमाती एम्बैसेडर कार मेरे दरवाजे पर खड़ी थी। मैं बहुत प्रभावित हुआ।

'नई है क्या?' मैंने पूछा।

'नई नहीं लग रही क्या?' उसने ट्रक ड्राइवर के अंदाज में कहा, 'कोई नई गाड़ी इतनी चमकदार तो दिखा दे।'

मैं समझ गया, बहुत चमकने वाली गाड़ी नई नहीं होती।

'कौन-सा मॉडल है?' मैंने पूछा।

'मॉडल तो बहत्तर का ही है, पर है ब्रैंड न्यू!'

मैं रामलुभाया की तर्क-पद्धति का अनुसरण कभी नहीं कर पाया : बहत्तर का मॉडल सन् पचासी में ब्रैंड न्यू कैसे हो

सकता है! स्वयं को रोक नहीं पाया। पूछ ही बैठा, 'नया कैसे है?'

'बहुत कम चली है। लगभग नहीं के बराबर। और जो कुछ घिसा-घिसाया था, वह तो मैंने बदल ही डाला।'

मेरे मन में उसके तर्क के समानांतर एक उदाहरण जागा, 'कोई पुरुष नौकरी न करे तो पचास के वय में पंद्रह वर्ष का माना जाएगा क्या?'

'तुम हमेशा गधों वाली बात ही करोगे।' मेरे तर्कों का शमन उसके इस एक वाक्य से ऐसे हो गया, जैसे दमकल से आग का शमन हो जाता है।

मैं चुप हो रहा। उसकी तर्क-प्रणाली में एकमद कोरा जो था।

'आकर किसी दिन हमारी कोठी देखो।' वह अपने उल्लास को छिपा नहीं पा रहा था, 'कैसी चमक रही है। टीक की लकड़ी लगाई, फर्श पर मार्बल का पत्थर, दीवारों पर धौलपुर का पत्थर, रेंप पर करेजी का पत्थर। बस कोठी में पत्थर ही पत्थर कर दिया है। ऐसा पेंट कराया है कि सारे टाउन के अंदर किसी दूसरे ने नहीं कराया। फंटास्टिक वाली कोठी है।'

कोठी के नमा पर मैं कुछ ऐसा रौब में आया कि मन में एक पूरा चित्र खींच डाला : वर्तुल मार्ग पर एक बड़ा-सा फाटक। बाहर लकड़ी के डब्बे में खड़ा खुखरी वाला नेपाली दरबान। सामने ड्राइव-वे और गैरेज। चारों ओर विस्तृत लान। दो सीढ़ियां चढ़कर चबूतरा। फिर बरामदा, प्रवेश-द्वार, बड़े-बड़े कमरे। भीतर खुला आंगन। बीचो-बीच बना सरोवर, जिसमें फव्वारे चल रहे हों।

सोचा, गर्मियों की इन छुट्टियों में बाहर क्यों जाएं। चलकर सप्ताह दो सप्ताह रामलुभाया की कोठी में ही रहा जाए।

मन में उभरे कोठी के चित्र की प्रामाणिकता परखने के लिए पूछा, 'कितना बड़ा प्लाट है?'

'एक सौ पांच गज का।' गर्व से उसी छाती प्लाट से भी अधिक चौड़ी हो गई, 'ऐसी बनाई कि लोगों की आंखें गड़ी-की-गड़ी रह जाएं।'

कोठी के बड़प्पन और कार की नवीनता सुनकर मेरा मन बुझ गया। पर इस संदर्भ में कुछ कहकर उसका दिल दुखाना व्यर्थ था। इतने वर्षों के बाद एक पुराना मित्र मिला था। स्वयं चलकर मेरे घर आया था। फिर वह इतना प्रसन्न था, तो मैं ही क्यों रंग में भंग डालता?

पूछा, 'काम क्या कर रहे हो, जिसमें इतनी चांदी बरस रही है?'

'काम क्या है, सप्लाई का धंधा है।' वह बोला।

'दुकान है?'

'नहीं!' वह बोला, 'अबे दुकान क्या करनी है। एक कंपनी के परचज अफसर का पी.ए. मेरा कजन है। बस उसी पटा को रखा है। हल्का माल सप्लाई कर देते हैं, चेक भारी-भरकम मिल जाता है। कुछ परचेज अफसर का, कुछ पी.ए. का और कुछ मेरा।'

'ऐसे में तो कंपनी मिट जाएगी।' मुझ पर उपदेश का भूत सवार हो गया, 'वह परचेज अफसर गाय का दूध नहीं पी रहा, उसका रक्त पी रहा है। जब गाय नहीं रहेगी तो वह दूहेगा किसे?'

मेरे उपदेश का उस पर उल्टा प्रभाव पड़ा। उसकी नाक ऐसे सिकुड़ गई, जैसे उसे कोई भीषण दुर्गंध आई हो। बोला, 'आजकल ग्वालों में रहते हो या कसाइयों में?'

'क्यों?'

'गाय दूहने और गाय को मारने की बात कर रहे हो।'

'मैं तो कंपनी के बनने-बिगड़ने की बात कर रहा था।'

'कंपनी बिगड़ जाएगी तो मैं तो बन जाऊंगा न!'

'कितना बना रहे हो?'

'बस, बन ही रहा है। वह बोला, 'जो नहीं बना, वह भी बन जाएगा।'

'शादी हो गई?'

'हां, हो गई!' वह बोला, 'जो नहीं बना, वह भी बन जाएगा।'

'शादी हो गई?'

'हां, हो गई!' वह बोला, 'पर हुई बड़ी मुश्किल से है।'

'क्यों? मुश्किल से क्यों?' मैंने जिज्ञासा की, 'लड़की की शादी में तो कठिनाई होती है, पर लड़के की शादी में और कठिनाई।' फिर कुछ समझकर मैंने स्वयं ही पूछ लिया, 'दहेज में कुछ बहुत ज्यादा मांग रहे थे क्या? वहां भी भावी ससुराल को मिटाकर स्वयं को बनाने का धंधा तो नहीं चला रखा था?'

'वह भी था ही।' उसने स्वीकार किया, 'मेरी मां अपने कमाऊ पूत को सस्ते में, किसी परायी लड़की को हैंड-ओवर करने को तैयार नहीं थी पर कठिनाइयां और भी थीं। कोई लड़की मुझे चुड़ैल लगती थी, किसी लड़की को मैं राक्षस नजर आता था। किसी लड़की के मां-बाप, मेरे मां-बाप को गधे चराने वाले लगते थे; और कहीं लड़की के मां-बाप को मेरे मां-बाप घसियारे।'

'फिर शादी हो कैसे गई- घसियारां को घसियारे मिल गए क्या?'

'नेम-व्रत, पूजा-पाठ। बिरादरी के चौधरियों की खुशामद और फाइनली मेरे मां-बाप द्वारा दहेज की रकम में डिसकाउंट की घोषणा।'

'कालेज वालों ने तेरे एडमिशन के समय ही नंबरों में डिसकाउंट की घोषणा कर दी होती तो तेरी शादी साल-दो साल में वैसे ही हो जाती। सारा दोष कालेज वालों का ही है।'

मैंने अपनी ओर से लाखों रुपयों की बात कही थी, पर वह मुझसे एकमद सहमत नहीं हो पाया। बोला, 'नहीं। दोष कालेज वालों का नहीं है। मैं ही पागल था।'

'क्यों?' रामलुभाया का यह शालीन रूप देखकर मैं चकित रह गया। उसने जैसे पैसा कमाया है, वैसे ही कहीं से कुछ समझदारी भी बटोर ली क्या?

'आजकल मैं खर्च घटाने की नहीं, आय बढ़ाने की सोचता हूं। उसमें लगता ही क्या है। जरा-सी हेरा-फेरी बढ़ा दो, बस पैसा ही पैसा। वैसे ही तब यदि मैंने उनके परसेंटेज को नीचे लाने के स्थान पर अपना परसेंटेज बढ़ाने की बात सोची होती तो मुझे तुरंत प्रवेश मिल जाता।'

'पर अंकों पर परसेंटेज बढ़ाना तुम्हारे वश में था क्या?'

'सीधे ढंग से अधिक अंक लाने की सोचता तो नहीं ला सकता था, जैसे आज सीधे ढंग से कमाने की सोचूं तो कमाई नहीं

बढ़ा सकता। पर आज पैसों के लिए हेरा-फेरी करता हूं, वैसे ही तब अंकों के लिए हेरा-फेरी कर सकता था। नकल की मात्रा बढ़ा देता, तो अंकों की संख्या बढ़ जाती।. . .पर यार! तब तो मेरी शादी हाती ही नहीं।'

'क्यों?' मैं हैरान रह गया, 'अधिक अंक आते, कॉलेज में प्रवेश मिलता। तुम बी.ए., एम.ए., कुद करते; तो कई लड़कियों वाले तुम्हारे यहां चक्कर काटते।'

'वे तो चक्कर काटते', जाने क्यों मैं कह गया, 'कि मां ही अपने बेटे के विवाह में आड़े आए।'

'बड़ी विचित्र बात है', जाने क्यों मैं कह गया, 'कि मां ही अपने बेटे के विवाह में आड़े आए।'

'विचित्र क्या है इसमें?' रामलुभाया ने घूरकर मुझे देखा, सीधे-सीधे बिजनेस की बात है। मकान और दुकान दूसरे के लिए खाली करने से पहले कोई भी व्यक्ति पगड़ी मांगता है। जितने मौके की जगह होगी, उतनी ही पगड़ी ऊंची होगी।'

'बेटे का विवाह क्या मकान खाली करने जैसा है?' मैंने भरसक उसे डपटा।

'ऊपर से तो नहीं लगता, पर बात वही है।' वह पूर्ण आत्मविश्वास के साथ बोला, 'सास, बहू के पक्ष में बेटे पर से अपना कब्जा हटाती है या नहीं? बहू बेटे का कब्जा लेती है या नहीं?

'तुम दुकान हो या मकान?'

'मैं गोदाम हूं।' वह हंसा, 'ताला लगा गोदाम। किसी को भी पता नहीं है कि गोदाम में क्या भरा है। सास भी ब्लाइंड ही खेलती है और बहू भी।. . .'

मामला कुछ ज्यादा ही टैक्निकल होता जा रहा है।

'खैर!' मैंने उसकी बात काट दी, 'अब तो हो गई न शादी!' सहसा मुझे बात क अगला सूत्र सूझ गया, 'बच्चे?'

'हां!' मेरी अपेक्षा के विपरीत रामलुभाया कुछ चहककर बोला, 'शादी हो गई तो बच्चा ही होने पर न आए, जैसे धंधा तो चले पर उसका लाभ हाथ न आए।'

'फिर?'

'फिर क्या!' वह बोला, 'माताजी ने आदेश दे दिया कि दूसरा विवाह कर लो। उन्हें अपनी पिछली बहू से छुटकारा और एक भरा-पूरा दहेज सामने दिखाई दे रहा था।'

'तुम्हारे लिए भी तो वह बोनस ही था।'

'नहीं! दूसरा विवाह होने की नौबत नहीं आई।' पता नहीं, वह प्रसन्न था या उदास, 'उससे पहले ही एक पुत्र-रत्न का जन्म हो गया।'

'चलो! अच्छा हुआ।' मैंने कहा, 'नहीं तो व्यर्थ ही घर टूटता।'

'घर तो टूट ही चला था।' रामलुभाया मुसकराया, 'मुझे तो जीवन में पहली बार अपनी मां के रण-कौशल का ज्ञान हुआ। वह बूढ़ी, निरीह और असहाय-सी स्त्री कैसी रण-बांकुरी हो उठी थी उन दिनों। कैसे-कैसे मोर्चे बांधे, कैसी-कैसी व्यूह-रचना की, आरोप जुटाए, कैसे-कैसे हथियार जमा किए. . . । वाह! मजा आ गया।'

'तो तुम्हारी पत्नी रह कैसे पाई तुम्हारे घर में?'

'रह पाई!' रामलुभाया बड़े उत्साह में बाला, 'वह तो ऐसी रही कि राज करने लगी- मुझ पर भी और मेरी मां पर भी।. . .'

मैं आश्चर्य से उसी ओर देखता रह गया।

'वह मेरी मां के करतब चुपचाप देती रही, जैसे कोई उस्ताद किसी नौसिखिए के पैंतरे देखता है; और जिस दिन अम्मा के एक संभावित समधी मुझे देखने आने वाले थे, उस दिन उसने चुपके से एक प्रसिद्ध लेडी डॉक्टर का सर्टिफिकेट निकाल कर मेरे सामने धर दिया। उस लेडी डॉक्टर ने प्रमाणित किया कि मेरी पत्नी में किसी प्रकार की कोई कमी अथवा शारीरिक दोष नहीं था। वह मां बन सकने में पूरी तरह सक्षम थी। मैंने सर्टिफिकेट देखा और घूरकर पूछा, 'मैं क्या करूं इसका?' उसने अत्यंत शांत भाव से उत्तर दिया, 'इसका अर्थ समझो', 'क्या है इसका अर्थ?' मैंने कुछ क्रुद्ध होकर पूछा। 'नहीं, समझे?' उसने उसी प्रशांत मुद्रा में मुझे समझाया, 'इसका अर्थ है कि तुममें ही कोई कमी है, जो हमारी संतान नहीं हो रही।' जी में आया कि खींचकर एक चाटा दूं उसे, हरामजादी मुझमें कमी बता रही है। पर मामला इतना नाजुक था कि बहस का कोई सकोप नहीं था। न ही उसे प्रमाणित कर दिखाने का चैलेंज दिया जा सकता था। नहीं तो वह अपनी स्त्रीत्व और मेरा हिजड़ापन साबित कर मेरे मुंह पर कालिख पोत देती। साली ने डाक्यूमेंटरी प्रूफ तो पर्स में रख छोड़ा था। दूसरा प्रूफ लाने के लिए भी उठकर कहीं चल देती।' उसने रुककर मुझे देखा, 'डॉक्टरी सर्टिफिकेट के सामने कोई क्या कह सकता है। डॉक्टर चाहे तो मुर्दे को जीवित होने का सर्टिफिकेट दे दे और न चाहे तो जीवित को भी मुर्दा ही बता दे।'

'फिर?' मैंने उसके डॉक्टरी विश्लेषण में रुचि नहीं ली।

'फिर क्या! मां ने नये समधियों के आने से पहले ही मैं पत्नी को ले उड़ा। जितनी मिठाइयां मां ने नये समधियों को खिलाने के लिए मंगवा रखी थीं, उनसे कहीं ज्यादा मैंने अपनी पत्नी की खिलाईं। उसे दिल्ली के हर रेस्ट्रां में खाना खिलाया। उसके साथ जाकर हर मंदिर में नाक रगड़ी। हर ज्योतिषी को अपनी जन्म-कुंडली दिखाई। पत्नी के कहे अनुसार हर व्रत-उपवास किया। पचासों तरह की अंगूठियां पहनीं. . .और. . . पत्नी से छुपकर कई डॉक्टरों को सलाह ली. . .और अंत में ये पुत्र-रत्न आए।. . .और भैया! अब हम तुम्हारी शरण में आए हैं।'

'मेरी शरण में क्यों भाई?' मेरी बुद्धि कोई असंभव कल्पना करने में लगी हुई थी।

'यार! उसका किसी स्कूल में एडमिशन करवा दो।'

'क्यों? क्या हो गया?'

'होना क्या है,' वह बोला, 'हालात मेरी शादी वाली हो रही है। किसी स्कूल को हमारा बेटा पसंद नहीं आता, और कोई स्कूल हमारे बेटे की मां को पसंद नहीं आता।'

'कैसा स्कूल चाहते हो?'

'अरे कोई हो जाए।' वह बोला, 'हमें कौन-सा उसे कोई पंडत-शंडत बनाना है।'

'नगर निगम का सकूल. . .।'

'अरे गोली मारो।' वह बोला, 'वहां तो भंगी पढ़ते हैं। मैं अपने बच्चे को वहां नहीं

भेजना चाहता।'

मैं जल्दी ही समझ गया। बोला, 'और जिस स्कूल में तुम उसे भर्ती कराना चाहते हो, वहां वाले तुम्हें भंगी समझते हैं। है न?'

'बिल्कुल ठीक!' वह मुस्कराया, 'तुम आदमी समझदार हो। अब फटाफट कहीं सोर्स भिड़ा दो।'

'मैं तो कॉलेज में पढ़ाता हूं।' मैंने भागने का प्रयत्न किया, 'स्कूलों के विषय में मैं क्या जानूं।'

'बको भी मत और बनों भी मत।' वह मेरी उपेक्षा से अधिक चतुर हो चुका था, 'स्कूल और कॉलेज में क्या फर्क है? कॉलेज में पढ़ाते हो तो स्कूल में पढ़ने वालों को भी जानते ही होंगे। मैं यदि खारी बावली में काम करता हूं तो यह थोड़ी है कि सदर बाजार वालों को नहीं जानता। खूब जानता हूं।'

'कोशिश करूंगा।' मैंने उसे टालना चाहा।

'चालू काम तो करो मत!' वह हंसा, 'हम बिजनेस में हैं। जो डंडा लेकर हमको मारने दौड़ता है, उसकी जेब में से भी रुपया-दो रुपया उड़ा ही लेते हैं। तुम जैसे कल्मी लोग भी हमें टाल दें तो फिर हम खा-कमा चुके।'

'कैसा स्कूल चाहिए भाई! तुम्हें?' मैंने हथियार डाल दिए।

'अंग्रेजी स्कूल।' वह बोला, 'ऐसा स्कूल, जहां हिंदी-शिन्दी तो आसपास दिखाई ही न पड़े।. . .बड़ी तैयारी की है हमने, अंग्रेजी स्कूल के लिए।' उसने अपनी बाईं आंख दवाई, 'मेरी पत्नी अंग्रेजी जानती नहीं, नहीं तो मुन्ने की तो मदर-टंग ही अंग्रेजी हो जाती। पर कसर फिर भी कोई नहीं छोड़ी हमने।'

'बच्चे के साथ घर में अंग्रेजी बोलते हो क्या?' मैंने पूछा।

'नहीं!' वह बोला, 'बोलते तो हिंदी में हैं, पर ऐसी हिंदी जिसमें हिंदी कम से कम हो।'

'कैसे?' में समझ नहीं पाया।

वह हंसा, 'बाबा! नोजी पोंछी। बाबा! चेयर पर बैठकर स्पून से खाओ. . .।'

'इससे तो तुम लंदन के भारतीयों की हिंदी-पंजाबी बोल लेते।'

लगा, उसके मुंह में पानी आ गया, 'कैसे?'

मैंने नमूना बताया, 'अच्छा फिर थिक-थाट कर लो, ईवनिंग में किसी पब में मीटते हैं।'

वह निढाल हो गया, 'किसी ने पहले इशारा किया होता तो ऐसी ही हिंदी सिखाता।'

'तो अब ही क्या बिगड़ गया है?' मैंने कहा, 'आज से शुरू कर दो। स्कूल खोजते-खोजते वह निपुण हो जाएगा।'

'उसके लायक कोइ स्कूल तो मिले।'

मैंने कुछ देर सोचकर कहा, 'शेख सराय में एक नर्सरी है।'

'नहीं यार!' वह बोला, 'चिराग दिल्ली वहां से पास है, मदनगीर भी। मैं ऐसी गरीब-गुर्बा मुहल्लों के निकट अपना बच्चा नहीं भेजना चाहता। गरीब लोग चोर होते हैं।'

'चोर होते तो गरीब ही क्यों रह जाते?' मैंने पूछा।

'अब बहस नहीं करना चाहता, पर मैं अपने बच्चे को वहां नहीं भेजूंगा।'

'अच्छा, ग्रेटर कैलाश में?. . .'

'हां, ग्रेटर कैलाश ठीक है। मुहल्ले का नाम ही अंग्रेजी में है।' उसने कहा, 'इंग्लिश मीडियम है।'

'हां इंग्लिश मीडियम!'

'ठीक है।' वह बोला, 'वहां की टीचरें क्रिश्चन हैं?'

'मैंने कभी पूछा तो नहीं। पर शायद ईसाई नहीं हैं। पर यदि हों भी तो तुम्हारा बच्चा ईसाई तो नहीं हो जाएगा।' मैंने उसे डांट दिया।

पर रामलुभाया मेरी डांट से हतप्रभ नहीं हुआ। उल्टे उसकी बात ने मुझे हतप्रभ कर दिया, 'मैं तो क्रिश्चन टीचरों का स्कूल खोज रहा हूं गुरु! वे लोग अच्छा पढ़ाती हैं।'

मैं हैरान रह गया : भला किसी के धार्मिक विश्वास से उसकी अध्यापन-क्षमता का क्या संबंध? यह रामलुभाया तो प्रकारांतर से मुझे भी अयोग्य शिक्षक घोषित कर रहा है, क्योंकि मैं ईसाई नहीं हूं। पर उससे उलझना व्यर्थ था। टालने का एक ही तरीका था और कोई स्कूल सुझाकर उससे मुक्ति पा ली जाए।

मैंने उसे एक-दूसरा स्कूल सुझाया, जिसमें निश्चित रूप से ईसाई अध्यापिकाएं ज्यादा थीं।

'देसी ईसाई है या ऐंग्लो-इंडियन?' उसने तपाक से पूछा।

'भारतीय ईसाई हैं।' मैंने बताया, 'मलयाली है।'

'नहीं!' उसी नाक चढ़ गई, 'ईसाई हैं तो क्या हुआ, हैं तो देसी ही। मैं ऐसे स्कूल में अपने बच्चे को नहीं भेजना चाहता।'

'हां! एक और स्कूल है।' मेरे मन ने कंप्यूटर की-सी तेजी से एक और स्कूल ढूंढ निकाला, 'उसकी मालिक, संचालिका और प्रिंसिपल एक फ्रेंच महिला है।'

'फ्रेंच!' उसकी आंखों में चमक आ गई, 'अरे वह तो एंग्लो इंडियन से भी बढ़ गई। वेरी गुड! कहां हैं वह स्कूल?'

'पास ही है।'

'तुम उसे जानते हो?'

'उससे सीधा परिचय तो नहीं है।' मैंने

बताया, 'पर कई बार उसे देखा अवश्य है। सादी-सी बूढ़ी औरत है। वर्षों से भारत में रह रही है और एकदम भारतीय हो गई है साड़ी. . .'

मेरी दृष्टि उठी तो पाया कि रामलुभाया के चेहरे पर पतझड़ छा गया है। पूछा, 'क्या हुआ?'

'साड़ी वाली बूढ़ी मेम में मेरी कोई रुचि नहीं है।' वह बोला, 'मैं अपने बच्चे को स्मार्ट टीचरों के पास भेजना चाहता हूं। गोरी-गोरी, कटे बालों वाली ऐंग्लो-इंडियन या अंग्रेज लड़कियां हों, स्मार्ट! एकदम स्मार्ट! ऊंचे-ऊंचे फ्राक या स्कर्ट पहनती हों। उनकी गोरी-गोरी पिंडलियां देखकर सीने में दर्द होने लगता हो। गिटपिट अंग्रेजी बोलती हों। बच्चे का बाप मिलने जाए, तो मुस्कराकर उसका स्वागत करती हों।'

'तुम्हें बच्चे की पढ़ाई का प्रबंध करना है या रोमांस लड़ाना है?' मैं कुछ खीझा।

'मुझे अपने बच्चे को ऊंची सोसायटी के लायक बनाना है।' वह बोला, 'मैंने सुना है कि तुम्हारे पड़ोस में छोटे बच्चों का कोई ऐसा स्कूल है, जहां सिर्फ मेमें पढ़ाती हैं और केवल गोरे बच्चे पढ़ते हैं।'

याद करने के लिए मुझे थोड़ा प्रयत्न करना पड़ा, 'हां, है तो! मैं बोला, 'एक छोटा-सा स्कूल है, जहां विदेशी दूतावासों के कर्मचारियों के बच्चे पढ़ते हैं।'

'वही! वही!' वह बोला।

'पर वहां गोरे बच्चे कम हैं।' मैंने बताया, 'वहां तो अफ्रीकी और एशियाई देशों से आए हुए, दूतावासों के साधारण कर्मचारियों के बच्चे अपना समय काटने जाते हैं। वहां पढ़ाई-वढ़ाई कुछ नहीं होती।'

'पढ़ाई चाहिए किसको।' उसका आत्मबल जाग उठा, 'तुमने इतना पढ़कर क्या पाया? अभी तक किराये के मकान में रहते हो, दिल्ली मिल्क स्कीम का दूध पीते हो, बाजार से खरीदकर सस्से सिले-सिलाए कपड़े पहनते हो, बाजारी पिसा हुआ आटा खाते हो और डी.टी.सी. की बसों में धक्के खाते हुए यात्रा करते हो. . .।'

मैंने उसकी बात पर विचार किया। वह ठीक कह रहा था: उसका अपना मकान था, जिसे वह कोठी कहता था। वह भैंस का ताजा दूध दुहाकर लाता था। किसी देहात से गेहूं मंगवाकर उसका आटा पिसवाता था। अपनी पसंद का कपड़ा खरीदकर अपनी पसंद के दर्जी से उसे सिलवाता था और अपनी बहत्तर मॉडल की तेरह साल पुरानी ब्रैंड न्यू ऐंबैसेडर कार में घूमता था. . .। और वह ठीक बात है कि उसने पढ़ाई नहीं की. . .

'तो बच्चे को स्कूल में भर्ती करवाना चाहते हो?'

'ओह!' मैंने कहा, 'तो तुम अपने शाहजादे को इसी स्कूल में भर्ती करवा दो; पर फीस वे कसकर लेते हैं।'

'फीस की चिंता मत करो।' उसने कहा, 'तुम भर्ती करवा दो। फीस भी दे देंगे। और यदि उन्होंने चाहा तो दस-बीस हजार रुपये डोनेशन के भी दे देंगे. . .।'

मैंने आश्चर्य से उसकी ओर देखा।

'हां!' उसने अपनी बाईं आंख दबाई, 'इतनी हैसियत है मेरी। यही तो बिजनेस के ठाठ हैं कि दस-बीस हजार रुपये कोई अर्थ नहीं रखते।'

मैंने उसे देखा : यह आदमी, जिसे अपनी नाक साफ करने की भी तमीज नहीं है, वह उतनी रकम को कुछ समझता ही नहीं- जितनी रकम मुझे जैसे कितने ही लोगों का स्वप्न है।

और सहसा जैसे उसे दौरा पड़ा : वह हाथ जोड़कर इस मुद्रा में मेरे सामने खड़ा हो गया, जैसे मेरा संकेत पाकर अभी अपनी नाक से जमीन पर लकीरें खींचने लगेगा, 'तुम उसे किसी प्रकार भर्ती करवा दो यार। मेरे बच्चे तेरा गुण गाएंगे।'

उसकी अतिशय दीनता पर मुझे लज्जा आने लगी। मुझे लगा, उसकी यह मुद्रा मुझे अपमानित कर रही है। मैं किसी भी रूप में इस योग्य नहीं था कि वह मुझे इस प्रकार हाथ जोड़ता।

'मैं उस स्कूल में किसी को नहीं जानता', मैंने अपनी बात साफ की, 'न वे लोग मुझे जानते हैं। मैं तो केवल इतना जानता हूं कि यहां एक ऐसा स्कूल है। तुम चाहते हो तो मैं तुम्हें वहां ले चलता हूं।'

'हां, ले चलो।' वह अब तक उसी प्रकार दीन बना खड़ा था, 'पर वहां यह जरूर बता देना कि तुम प्रोफेसर हो।'

'अच्छा!'

मैं रामलुभाया और उसके बेटे को उस स्कूल में ले गया; पर वहां जाकर कुछ भी कहने की नौबत ही नहीं आई। फाटक पर ही कई बच्चों को आते-जाते देख, रामलुभाया चौंक उठा, 'इन बच्चों ने टाई नहीं बांध रखी?'

मैंने आज तक इस ओर ध्यान नहीं दिया था। अब देखा : बच्चों ने बहुत प्यारे-प्यारे सुंदर और मूल्यवान कपड़े पहन रखे थे, टाई किसी बच्चे ने नहीं बांधी थी। उस स्कूल में शायद वर्दी का बंधन नहीं था, तभी तो इसका वैविध्य था कपड़ों में।

'इन बच्चों ने टाई क्यों नहीं बांध रखी?' रामलुभाया प्रायः विक्षिप्त-सा बोल रहा था। पता नहीं वह मुझसे पूछ रहा था या अपने-आप से।

मैंने उसे इस विक्षिप्तावस्था से उबारने के लिए कहा, 'इनकी स्कूली वर्दी नहीं है।'

'वर्दी नहीं है।' वह अपना सिर पीटने को तैयार खड़ा था, 'मैं तो वह स्कूल खोज रहा था, जहां लड़के ही नहीं, लड़कियां भी टाई बांधती हों और यहां वर्दी ही सिरे से गायब है। और तुम कहते हो यहां ऐम्बेसियों के इम्प्लाइयों के बच्चे पढ़ते हैं। रब्बिश! इससे तो हमारे मुहल्ले की ममटियों में खुले गिटपिट कानवेंट ही अच्छे हैं। चाहे बच्चे की नाक बह रही हो, पर टाई तो वह बांधता ही है।'

मेरी समझ में कुछ नहीं आया। मैंने कहा, 'तुम अपने बच्चे को टाई बांधकर भेज देना।'

'नहीं! टाई कम्पलसरी होनी चाहिए। चलो।'

उसने बच्चे को अपने पड़ोस में खुले किस गिटपिट कानवेंट में ही भरती करवा दिया और अपने बच्चे को अंग्रेजी सिखाने के लिए कानवेंट की प्रिंसिपल की ट्यूशन लगवा दी। कहते हैं कि वह प्रिंसिपल पहले किसी बड़े स्कूल में बच्चों को घर से स्कूल लाने और स्कूल से घर तक पहुंचाने वाली बुलावी थी।

नरेंद्र कोहली

त्रासदियां खंभा-लेखन की

'श्रीवर्षा' के विषय में सबसे पहले शरदजी से बात हुई, अर्थात शरद जोशी से। यह स्पष्ट कर देना बहुत आवश्यक है; क्योंकि अपने साहित्य को तो भ्रम ही मार गया है। बिलकुल स्पष्ट कर अभिधा में न कहूं तो लोग पूछेंगे ये 'शरद' कौन हैं- शरतचंद्र चट्टोपाध्याय, सत्येन्द्र शरत् या...? और अब तो समस्या और भी गंभीर हो गई है। समाचारपत्र कहते हैं कि नासिक जिला में एक किसान-आंदोलन चल रहा है और उसे चला रहे हैं शरद जोशी। मैं बड़ा हैरान हुआ कि यह शरद जी को क्या सूझा कि हिंदी एक्सप्रेस चलाते-चलाते यह नासिक-आंदोलन चलाने लगे। एक्सप्रेस होती है एक रेलगाड़ी। लगता है वे बंबई से गाड़ी चलाते हैं और नासिक में गाड़ी उलट देते हैं। यह ब्रह्म का रूप है। आप ही जन्म देता है, आप ही मारता है। पर मैं बहक गया हूं। क्या करूं, बिना बहके व्यंग्य लिखा ही नहीं जाता। बहक कर लिखी गई चीज ही व्यंग्य हो पाती है। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि व्यंग्यकार पाठक को बहका देता है। स्वयं चाहे कितना बहक जाए पर पाठक को सीधी लीक पर रखता है।. . .इस विषय में अधिक नहीं लिखूंगा, नहीं तो व्यंग्यकार की प्रशंसा में जाने कहां तक बहक जाऊं। बहकने की कोई सीमा नहीं है और न बहकने में कोई दोष है; पर बहकने में एक खतरा अवश्य है। आज विश्व के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ बहकी-बहकी बातें कर रहे हैं; और मैं नहीं चाहता कि मुझे राजनीतिज्ञ समझ बैठे। यह कलंक मैं झेल नहीं पाऊंगा।

तो शरद जोशी बोले, 'यह श्रीवर्षा का क्या होता है? इसमें व्याकरण की भूल है। इसे श्रीमती वर्षा होना चाहिए। 'वर्षा' स्त्रीलिंग शब्द है।' मुझे उनसे सहमत होना पड़ा। उस समय वे नहीं बोल रहे थे; उनकी जिह्वा से स्वयं पाणिनी बोल रहे थे और जब से मैंने सुना है कि पाणिनी पठान थे, मुझे उनसे सहमत हो जाना ही उचित लगता है।

वैसे भी सुखद बातचीत का ट्रेड-सीक्रेट यही है कि आप बात करने में सहमत हो जाएं। पूरे विस्तार से तो इसका वर्णन मैं अपनी पुस्तक 'संक्षिप्त बातचीत के लाभ' में करूंगा, किंतु कुछ लाभ आपको अभी ही बता देता हूं। आप ट्रेलर देखकर ही तो फिल्म को ओर आकृष्ट होंगे न!

संक्षिप्त बातचीत का पहला लाभ यह है कि बातचीत तत्काल समाप्त हो जाती है। दूसरा पक्ष कितना ही बकता क्यों न हो, आखिर कितना बोलेगा! परिणामतः न तो आपको एक मूर्ख की संगति में अधिक देर तक रहना पड़ता है और न ही आपकी मूर्खता दूसरे व्यक्ति पर उजागर होती है। दूसरा लाभ यह है कि आपकी ऊर्जा कम खर्च होती है। देश में ऊर्जा का बहुत संकट है- आप जानते ही हैं। आप अपनी ऊर्जा से न बल्ब जलते हैं, न यह ईंधन के काम आ सकती है; पर मैं यह भी जानता हूं कि इस सृष्टि की सबसे बड़ी ऊर्जा मनुष्य ही है...

संक्षिप्त बातचीत का तीसरा लाभ यह है कि जब आप दूसरे बातकर्त्ता से विदा होते हैं, तो मन में बातचीत का माधुर्य अर्थात बतरस लेकर अलग होते हैं। आपका समाज के अन्य प्राणियों के प्रति मधुर भाव बना रहता है। जन-संपर्क बनता है। आप अधिक पार्टियों में बुलाए जाते हैं। आपका व्यवसाय फैलता है और तब अच्छा खाने-पीने के कारण आपका शरीर फैलता है। आप जब किसी का शरीर फैलता देखें तो उससे पूछे बिना ही तत्काल मान लें कि उसका व्यवसाय भी फैल रहा है। इस प्रकार कम बोलना अनेक अर्थों, आयामों तथा पक्षों में लाभदायक है। पतले होना चाहें तो खूब बोलिए। जमकर बोलिए। व्यक्ति को दुबला करने वाले ये हेल्थ-क्लीनिक, 'स्लिमिंग' के नाम पर लोगों से अधिक खुलवाते ही तो हैं। कृष्णा मेनन इतने दुबले थे, क्योंकि वे लंबे भाषण देते थे। संयुक्त राष्ट्र-संघ में उनका लंबा भाषण इस तथ्य का प्रमाण है।

शरदजी से सहमत होने का एक कारण और भी था। व्यंग्यकार से सहमत न होता तो वे मुझे छीलना शुरू कर देते। व्यंग्यकार अधिक बोले न बोले, दूसरे को छीलना अवश्य आरंभ कर देता है। ऐसी बातचीत थोड़ी भी देर चल जाए तो आदमी अनुभव करने लगता है कि वह इतना छील दिया गया है कि उसके कपड़े ढीले हो गए हैं। मैं इतना जोखिम नहीं उठा सकता था। कपड़ों के दो-चार ही तो जोड़े लेकर बंबई गया था। बातचीत की दो-चार बैठकों में सारे कपड़े ढीले हो जाते हैं, तो पहनता क्या? फिर 'चकल्लस' से कुछ कमाने गया था। रेल-भाड़े, घूमने-फिरने और पत्नी-बच्चों के लिए उपहार खरीदने के बाद ऐसा बचा ही क्या था, जो अपने लिए कुछ खरीद पाता।

वैसे भी कपड़ा खरीदना अब खालाजी का घर नहीं है। कपड़ा न तो विलायत से आता है और न उसे अपने देश का जुलाहा बुनता है कि वह सस्ता हो। कपड़ा अपने देश की मशीनें बुनती हैं, इसलिए इतना महंगा है कि अच्छे-खासे खाते-पीते लोग भी नंगे दिखाई पड़ने लगते हैं। हमारे एक मित्र हैं। पुराने वक्तों में जब वे कुंवारे थे तो सिसी कन्या को आकृष्ट करने के चक्कर में अपनी कम आय में भी एक गर्म सूट सिलवा बैठे। किस्मत की मारी एक लड़की जाने उन पर मिटी या उनके सूट पर (परिणाम दोनों का एक ही होना था), सो उनका विवाह हो गया। विवाह होते-होते गर्मियां आ गईं। गर्म सूट अल्मारी में चला गया और वे पत्नी द्वारा उपहार में दिया गया खुला-सा कुर्ता-पायजामा पहनने लगे। जब अगली सर्दियां आईं और उनका गर्म सूट अल्मारी से बाहर आया, तो उन्होंने पाया कि इस बीच से काफी मोटे हो चुके हैं और गर्म

सूट तंग हो चुका है। नया गर्म सूट सिलवाने की बात उठी तो पत्नी ने बताया कि गर्म सूट ही तंग नहीं हो चुका– बाजार की महंगाई से बजट भी इतना तंग हो चुका है कि उसमें नया सूट समा नहीं सकता। अब या तो वे अपने पिछले गर्म सूट को ही फैलाएं या स्वयं ही तंग हो जाएं। अर्थशास्त्र की दृष्टि से सूट को फैलाने से कहीं अधिक लाभदायक स्वयं सिकुड़ जाना था। उन्होंने समझदारी से काम लिया। कुछ भोजन को कम कर राष्ट्र के लिए धन की बचत की और नया सूट न सिलवा कर। गर्मियां आने तक वे काफी सिकुड़ गए थे और पिछली गर्मियों वाला कुर्ता–पायजामा उनके लिए तम्बू का काम दे रहा था। इस बार उन्हें अपने बचाए हुए धन को खाने–पीने में खर्च कर स्वयं को कुर्ते–पायजामे में फिट करना पड़ा। तब से बेचारे हर वर्ष ऋतु बदलने पर प्रकृति के इस सिद्धांत को सिद्ध करने में लगे हुए हैं कि गर्मी से चीजें फैलती हैं और ठंड से सिकुड़ जाती हैं. . .

लगता है मैं फिर बहक गया। मैं लौटकर जोशी से होने वाली अपनी बातचीत पर आऊं. . .जैसे ही मेरा ध्यान इस वैज्ञानिक तथ्य की ओर गया कि वे संपादक हो चुके हैं, मेरा उनसे असहमत होना सर्वथा अवैज्ञानिक है। अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी यह उसके अनुकूल नहीं है। वह इतनी बड़ी लग्जरी एफोर्ड नहीं कर सकता। आखिर उसका लिखा हुआ छपेगा तो संपादक की कृपा से ही। (बाबा) कालिदास का समय तो है नहीं कि तालपत्र का गट्ठर पास में रखा और लिखने बैठ गए। संपादक–प्रकाशक का झंझट ही नहीं।

अब सोचता हूं तो समझ में आता है कि पुराने ऋषि–कथाकार वनों में क्यों रहते थे। बाल्मीकी और व्यास बन में रहते थे– तालवृक्षों के वन में। तालवृक्ष क्या थे, कागज का कारखाना था। जितने पत्ते चाहो, तोड़ो और लिखो। न प्रकाशक के पास पांडुलिपि जाती थी, न वह कह सकता था, 'आपकी रचना पसंद तो बहुत आई है, पर कागज इतना महंगा है कि हम इसे छाप नहीं सकेंगे।' अर्थात आपकी रचना पंसद तो आई है, पर इतनी भी पसंद नहीं आई कि इतना महंगा कागज खरीदकर हम आप जैसे आमदी की पुस्तक छापें, संसद–सदस्यों की छापेंगे, पार्टी–प्रमुखों की छापेंगे। और यदि लेखकों की ही छापनी होंगी तो उन लेखकों की छापेंगे, जो आयकर अधिकारी हैं, खरीद–अधिकारी हैं, पुरस्कार अधिकारी है या धनाढ्य–पत्नियों को छापेंगे। इत्यादि–इत्यादि. . .

इधर यह भी सुनने में आया है कि कागज महंगा–वहंगा नहीं है। ये तो बुद्धिजीवी और राजनीतिज्ञ का विरोध है। बुद्धिजीवी कागज पर लिख–लिखकर जनता को अपने वश में करना चाहता है। कागज ऐसा हथियार है जो बुद्धिजीवी के हाथ में प्रहारक बन जाता है और राजनीतिज्ञ उसका प्रयोग नहीं जानता। इसलिए वह उसे बुद्धिजीवी तक पहुंचने देना नहीं चाहता। इसी संकट से बचने के लिए तब बुद्धिजीवी वन में जा बैठा था। चाहता तो यही था कि राजनीतिज्ञ भी वनवास करे। पर राजनीतिज्ञ उसका षड्यंत्र भांप गया था। परिणाम यह हुआ कि अयोध्या के युवराज रामचंद्र के पश्चात कोई राजनीतिज्ञ वनवास के लिए नहीं गया। राज्य–निष्कासित भी हुआ तो एक राजधानी से दूसरी राजधानी में ही गया। तेहरान से उड़ा तो वाशिंगटन पहुंचा और वाशिंगटन से

एक समय था जब मैं बोल–चाल की भाषा के नाम पर स्तंभ लेखन को खंभा–लेखन कहा करता था। जाने क्यों मेरे मन में ऐसे लेखन के लिए एक बिंब उभरता था कि किसी व्यक्ति को कह दिया गया हो कि यह खंभा उसका है। अब वह इस खंभे पर चढ़ता–उतरता रहे, अर्थात उस खंभे से चिपका रहे। आरंभ में तो मुझे कभी किसी ने स्तंभ–लेखन के लिए कहा ही नहीं, किंतु जब आमंत्रित किया गया तो मेरे मन में कुछ निष्कर्ष उभरे। मैंने पाया कि मैं एक आशंका से पीड़ित रहता था। यदि ठीक समय पर सामग्री तैयार न हुई तो? परिणामतः स्तंभ आरंभ करने से पहले ही मैं तीन–चार रचनाएं लिख लेता था। अपने गोदाम में कुछ रचनाएं तो तैयार रहनी ही चाहिए। यह भी देखा कि वे रचनाएं प्रकाशित हो गईं और मैं खाली का खाली हो गया, किंतु परेशानी का कारण यह नहीं था कि रचना तैयार नहीं थी। परेशानी के अन्य कारण भी थे। मैं भूल गया कि आज मुझे रचना भेजनी है। पत्रिका के कार्यालय से फोन आ गया कि वे प्रतीक्षा में हैं। न वे रुक सकते थे, न मैं उनको रोक सकता था। कह दिया कि घंटे भर में रचना भेज रहा हूं। तब कम्प्यूटर के सामने बैठ कर सोचना आरंभ किया कि क्या लिखना है। उस दबाव में रचना का कोई न कोई रूपाकार बन ही जाता था। किंतु कठिनाई यह थी कि कॉलम की लंबाई–चौड़ाई तय थी। आप उससे अधिक एक पंक्ति भी नहीं लिख सकते। लिखेंगे तो काट दी जाएगी। परिणामतः आपकी रचना लूली–लंगड़ी होकर छपेगी। और यदि किसी कारण रचना छोटी रह गई, तो कार्यालय से फोन आएगा. . .सौ या दो सौ शब्द कम हैं। भेज दीजिए। मेरे लिए लंबी रचना को संक्षिप्त करना यदि संकट का काम रहा है तो छोटी रचना को खींच कर बड़ा करना भी उतना ही कठिन रहा है। मैं संपादक से पुछना चाहता था कि मुझे अपनी इच्छानुसार लिखने क्यों नहीं दिया जाता? किंतु पूछना व्यर्थ था। वहां तो स्थान तय था। लिखिए तो उनके नियमानुसार लिखिए, नहीं तो मत लिखिए।

कभी–कभी विषय को ले कर भी आपत्ति आ जाती थी। मैंने कस्टम वालों पर एक व्यंग्य लिखा था। उसमें अमरीका से लौटते हुए एक भारतीय अपने साथ एकाधिक गोरी लड़कियां ला रहा है। उसका मित्र पूछता है कि एकाधिक लड़किया क्यों? क्या एक काफी नहीं है? वह भारतीय उत्तर देता है, 'कस्टम वालों को भी तो हिस्सा देना पड़ता है।' पत्रिका से फोन आया कि 'यह व्यंग्य आपकी गरिमा के अनुकूल नहीं है।' बहुत तर्क–वितर्क करने के पश्चात भी उन्हें दूसरा व्यंग्य भेजना ही पड़ा।

मैंने अपने संदर्भ में पाया कि स्तंभकार अपने मन के अनुसार लंबी रचनाएं नहीं लिख सकता। वह न लेखन के समय को लेकर स्वतंत्र है, न उसके विषय को लेकर, न उसके आकार को लेकर। वह तो किसी और के द्वारा सौंपे गए काम को करने जैसा मामला है। परिश्रम कर पारिश्रमिक प्राप्त करना. . .एक प्रकार की नौकरी। शायद यही कारण है कि प्रतिदिन अथवा प्रतिसप्ताह अपना नाम, अपनी रचना, अपना चित्र देखने की लालसा होने पर भी मैं स्तंभ–लेखन से कभी प्रसन्न नहीं रहा। उसकी तुलना में मुझे धारावाहिक प्रकाशन अच्छा लगता है। मैंने एक बार एक लंबी रचना पूर्ण कर संपादक को सौंप दी। अब वे उसे धारावाहिक रूप से अंशों में छापते रहें। किसी प्रकार की कोई चिंता नहीं है। सारी सामग्री संपादक के पास है। वे जब चाहेंगे और जैसे चाहेंगे, उसे छाप लेंगे। रचना वहां छपती रहेगी और मैं उसी समय में निश्चिंत होकर अपना लेखन कर्म करता रहूंगा। यह मेरा स्वभाव है। मैं किस्तों पर कुछ खरीदने से अच्छा पूरा दाम चुका कर खरीदने में विश्वास रखता हूं।

–नरेन्द्र कोहली

उड़ा तो काहिरा रुका। वन की दिशा में उसके पग कभी नहीं बढ़े। झक मारकर बेचारे बुद्धिजीवी को ही नगर में लौट आना पड़ा।. . .पर वे सब पुरानी बातें हैं। हम तो पैदा ही हुए हैं संपादकों-प्रकाशकों के काल में। और सम्पादक-प्रकाशक भी कैसे- जो तनिक भी मतभेद नहीं सह सकते।

सहमत होने का एक कारण और भी था। उनकी बात से लगा कि हिंदी पत्रकारिता में नया विहान आ गया है- नया सवेरा। मानो क्रांति हो गई हो। एक युग का अंत हुआ और एक नये युग का आरंभ हुआ। (मैं जानता हूं कि मेरी भाषा पर्याप्त काव्यात्मक और क्रांतिकारी नहीं है, पर आप इसका प्रभाव कुछ-कुछ वैसा ही ग्रहण करें)। लगा, अब तक हिंदी के पुरुष साप्ताहिकों की भरमार थी- धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, रविवार- सभी पुरुष; एक आध तो श्रीमती होने चाहिए। मेरे मन में 'श्रीमती वर्षा' के लिए सहज आकर्षण पैदा हो गया। पुरुषों की नीरस भीड़ में एक स्त्री कस सरस व्यक्तित्व दिखाई पड़े तो कौन आकृष्ट नहीं होगा। और यदि कोई नहीं ही होगा, तो यह उसी का दोष माना जाना चाहिए। उसके तीवन में यदि सरसता, सौंदर्य, कोमलता इत्यादि का महत्व नहीं है तो उस शुष्क मूढ़ को कोई क्या कहे! अपना तो क्षेत्र ही साहित्य का है, जाहं सौंदर्य और कोमलता की भनक पड़ते ही लार टपकने की परंपरा है। तो इस परंपरा को कौन तोड़े और आखिर क्यों तोड़े?

वैसे अपने यहां पर, स्त्री-आकर्षण में भी 'स्यात्वाद' चलता है। वह अच्छी बात है भी और नहीं भी। कुछ लोग आकृष्ट होना ही नहीं चाहते और कुछ से आकृष्ट हुए बिना रहा नहीं जाता। आखिर तो आकर्षण और विकर्षण सहज वृत्तियां हैं। जो दल शासन संभालता है, उसकी ओर आकर्षण सहज ही है; और जब एक की ओर आकर्षण होता तो एकनिष्ठा के आधार पर अन्य के विकर्षण हो ही जाता है। इसमें अपने और पराये का क्या प्रश्न है? पत्नी हो या पार्टी- अपनी हो या परायी- जो आकृष्ट कर ले, कर ले; जो न कर पाए, वह न कर पाए।

कभी-कभी मुझे लगता है कि जिसे मनोवैज्ञानिकों ने सहज वृत्ति कहा है, वस्तुत: वह पाशविक वृत्ति है। पर यह समझ में नहीं आया कि यह सारी सहज वृत्तियां साहित्यकारों को ही इतनी फलती-फूलती क्यों हैं! इन पाशविक वृत्तियों को गौरवान्वित करने का महादायित्व साहित्यकारों के दुर्बल कंधों पर ही क्यों डाला जाता है. . .पर इस बात को इतना खींचने का क्या लाभ? बात तो श्रीमती वर्षा की ओर आकृष्ट होने की थी। इस आकर्षण में यदि मेरी पतनी को आपत्ति नहीं है; और श्रीमती वर्षा का पति भी यदि कोई बाधा खड़ी नहीं कर रहा, तो चलने दो इस आकर्षण को।

पर यह आकर्षण छायावादी तो है नहीं कि इसका कहीं कोई प्रभाव न पड़ता। प्रभाव का पता तो हमें तब चला, जब संपादक ने कहा, 'कालम लिखो।'

कालम को मैं ठीक से समझ नहीं पाया। इसका कारण है मेरा हिंदी प्रेम। अंग्रेजी का शब्द सुनते ही उसका हिंदी-अनुवाद कर देता हूं। एक बार मैंने 'नो स्टोन अन्टर्ण्ड' का हिंदी अनुवाद 'ईंट से ईंट बजा देना' कर डाला था। तब कई ईंटें मेरे सिर पर बजी थीं। सारे संसार में अनुवाद ऐसे ही होते हैं, पर यह मुसीबत मेरे ही सिर क्यों? 'डैड-स्लो' का अनुवाद सब ही 'धीरे-धीरे मरो' करते हैं- उन्हें कोई कुछ नहीं कहता।

दुनिया अपनी बात नहीं छोड़ती और मैं अपनी आन नहीं छोड़ता। मैंने 'कालम' का अनुवाद हिंदी में किया 'स्तम्भ'। तब मित्रों ने झाड़ा, 'क्या संस्कृत बोलते हो। यह नहीं कि चलती-फिरती हिन्दुस्तानी में बताओ। ससुर बोलेंगे, तो बोलेंगे स्तम्भ।'

मैं सरलीकरण के इस नारे के प्रभाव में आ गया। जानता हूं कि जटिल, वक्र और क्लिष्ट बात कहने वाला ही विद्वान माना जाता है। पर आजकल के विद्वानों को जैसे भ्रष्ट होते देखा है, उससे विद्वान बनने की इच्छा और कामना तो दूर की बात- साहस ही नहीं होता। भीरु आदमी हूं, इसलिए सामान्य जन ही बना रहना चाहता हूं। हिंदी को हिंदुस्तानी बनाने के चक्कर में 'स्तम्भ' को बदल दिया और कहा 'खंभा'। तो साहब! 'खंभा' लिखना तो कठिन काम है ही। किसी समय ऊषा प्रियंवदा ने एक उपन्यास लिखा था, 'पचपन खंभे लाल दीवारें'। लाल दीवारें तो क्या यहां तो लाल किला भी था; पर साहित्य में पचपन खंभे पहले नहीं थे। बाद में भी नहीं हुए। और मैं तो एक खंभे के चक्कर को लेकर ही घनचक्कर हो रहा हूं।

आम आदमी का कोई मित्र मिलता है तो पूछता है, क्या हाल है?' आम आदमी कहता है, 'ठीक हूं।' मित्र पूछता है, 'और फिर?' आम आदमी कहता है, 'और सब ठीक है।' मित्र दो-तीन बार 'और फिर?' 'और फिर?' पूछता है और अंत में 'अच्छा सिर!' कहकर हाथ हिलाकर विदा हो जाता है। पर लेखक का मित्र मिलता है तो पूछता है, 'क्या लिख रहे हो?' बस लेखक का मन फुदकने लगता है और जीभ मचलने लगती है। लेखक कभी 'सब ठीक है' कहकर मित्र को नहीं टालता। कहता है, 'उपन्यास लिख रहा हूं।' और उसके पश्चात मित्र पूछे न पूछे, लेखक उसको उपन्यास की कथा सुनाएगा, कथानक की मौलिकता और अभूतपूर्वता की चर्चा करेगा, चरित्रों के विषय में भी बताएगा। लेखक से उसके बच्चों का हाल मत पूछो, पर उसके लेखन के विषय में भरपूर सुनते जाओ। पता नहीं क्या रोग है इस लेखक को। जिस विषय में हजारों पृष्ठ लिख लेगा, उस पर ही बोलता जाएगा। मन क्यों नहीं भरता लेखक का? न मन भरता है, न पेट। ऊबता ही नहीं किसी बात से- न अपनी बातों से, न अपनी मजबूरियों से, न अपनी चालाकियों और धूर्तताओं से।

पर वास्तविक मजा तब आता है, जब लेखक को मित्र के स्थान पर कोई और लेखक मिल जाता है। उनकी बातचीत कुछ ऐसी होती है।

'क्या लिख रहे हो आजकल?'

'उपन्यास लिख रहा हूं।'

'अरे उपन्यास भी कोई लिखने की चीज है, कविता क्यों नहीं लिखते? कभी पूर्वी यूरोप के देशों की कविताएं पढ़ी हैं? नहीं! मैं आजकल अनुवाद कर रहा हूं। उपन्यास कौन पढ़ता है आजकल। सब कविताएं पढ़ते हैं और वे भी पूर्वी यूरोप की कविताएं। उपन्यास लिखकर क्या तुम कभी चेकोस्लोवाकिया या बुल्गारिया या हंगरी जा सकते हो? कभी नहीं! पर उनकी कविताओं का अनुवाद करके जा सकते हो।'

यह उत्तर केवल उपन्यास-लेखक के लिए ही नहीं है। लेखक कुछ भी लिख रहा हो, उसको आगे से ऐसा ही उत्तर मिलता है।

मैं इस प्रकार के उत्तरों से डरकर बहुधा कह देता हूं, 'आजकल कुछ नहीं लिख रहा। आराम कर रहा हूं।'

उत्तर मिलता है, 'बीमार हो क्या? या बूढ़े हो गए हो? बूढ़े लोग आराम करते हैं। आराम ही करना है तो एक आराम-कुरसी खरीद लो। पड़े रहा करो। आराम हो जाया करेगा।'

पता नहीं, यह विशेषीकरण के युग के कारण है या मित्र लेखकों की वाचालता। आपको कोई भी काम अपने ढंग से नहीं करने देंगे। हर बात से मुफतिया सलाह देंगे। यानी पलंग पर पड़े रहकर आराम नहीं करने देंगे, सोफे पर लेटकर आराम नहीं करने देंगे। आराम करना है तो आराम-कुरसी ही खरीदनी पड़ेगी। मुझे यह कोई षड्यंत्र लगता है। लोग जानते हैं कि महंगाई बहुत बढ़ गई है। हर चीज महंगी है। बड़े-बड़ों का दिवाला पिट गया है। लेखक बेचारा क्या खाकर नई आराम-कुरसी खरीदेगा। न आरामकुरसी खरीद पाएगा न आराम कर पाएगा।

अपने विरुद्ध षड्यंत्र करने वालों के लिए इस 'स्तम्भ लेखन' ने मुझे एक नया उत्तर उपलब्ध करा दिया है।

कोई पूछता है, 'क्या कर रहे हो?'

उत्तर देता हूं, 'खंभा लिख रहा हूं।'

अगला उजबक-सा मेरी शक्ल देखता है और बात टाल देता है। बात टालने की सबकी अपनी-अपनी कला है। उस कला का विश्लेषण फिर कभी करूंगा। अभी तो बात उस उत्तर की है। मेरी दृष्टि तो उस उत्तर के बाद मित्र-लेखकों के चेहरों की झेंप को खोजती है और प्रसन्न होती है। लगता है कि मैं पर-पीड़न रति का शिकार हो रहा हूं।

साहित्यकार के साथ 'पराये दुख' का पुराना संबंध है। यशपाल जी की कहानी का नाम 'पराया सुख' है; पर मैं पराये दुख की बात कर रहा हूं। पहले साहित्यकार 'पर-दुख-कातर' हुआ करता था, अब वह 'पर-पीड़न-आतुर' होने लगा है, जैसे मैं हो गया हूं। प्रत्येक व्यंग्यकार हो गया है। जब देखो, किसी न किसी को छोड़ता-नोंचता-खरोंचता रहता है। उसके व्यंग्य की मार से लोग जितना तड़पते हैं, वह उतना ही प्रसन्न होता है। इसी को तो कहते हैं, 'पर पीड़न-आतुर'। पर सामान्य साहित्यकार ऐसा नहीं होता। उसकी ईर्ष्या का पात्र तो दूसरा साहित्यकार ही होता है। इसीलिए वह अन्य लेखकों के सिवाय और किसी को दुखी नहीं देखना चाहता। वह अपनी बिरादरी के बाहर 'पर दुख कातर' होता है और बिरादरी के भीतर 'पर-दुख-आतुर'।

कुछ दिनों तक तो मेरा खेल चला। मैं कहता, 'खंभा लिख रहा हूं', तो मित्र लेखक समझ नहीं पाता था कि मैं क्या कर रहा हूं। बेचारा अहंकारवश पूछ भी नहीं पाता था कि मैं क्या कर रहा हूं। पूछता तो उसका अपना अज्ञान प्रकट न हो जाता! और लेखक का यह धर्म नहीं है। वह दूसरों का अज्ञान जताकर ही प्रसन्न होता है। अपना अज्ञान प्रकट कर वह मामूली आदमी नहीं बनना चाहता। मामूली आदमी उसकी सहानुभूति का पात्र हो सकता है; उसके साहित्यिक आंदोलन का आधार हो सकता है, उसके जीवन का लक्ष्य नहीं। लक्ष्य तो उसका विशिष्ट आदमी ही है। राजनीति का विशिष्ट आदमी हो या आलोचना का विशिष्ट आदमी या व्यापार उद्योग का विशिष्ट आदमी।

पर एक दिन मुझे भी अपना 'सवा किलो' मिल गया। यह 'सेर को सवा सेर' मिलने वाला मुहावरा ही है। मैंने उसे मीट्रिक सिस्टम में बदल दिया है। (यह मुहावरों के आधुनिकीकरण का क्षेत्र है। पोंगापंथी लोग इस पर नाक-भौं न चढ़ाएं।)

तो जब मेरा सवा किलो मुझे मिला और मैंने अपने अज्ञान में कह दिया कि मैं खंभा लिख रहा हूं तो उसने नाक-भौं चिढ़ाने की जगह आंखें चढ़ाईं और उलटकर बोला, 'खंभा लिख नहीं रहे हो, खंभा नोच रहे हो।'

यह बताने की आवश्यकता तो नहीं है न कि खंभा कौन नोचता है?

मित्र के जाने के पश्चात मैंने खंभे के विषय में भी अनेक बातें सोची हैं और खंभा-लेखन के विषय में भी। जितना सोचता जाता हूं, उतना ही जी का जंजाल बढ़ता जाता है।

मुझे लगता है कि जब किसी संपादक को भी कोई लेखक प्रेत समान काम करता दिखाई पड़ता है तो वह उसे वश में कर लेता है। संपादक के लिए लेखक को वश में करने में क्या कठिनाई है। पत्रिका तो है ही वशीकरण मंत्र। जहां संपादक ने लेखक की रचना छापी, उसकी प्रशंसा छापी, उसका इंटरव्यू छापा, उसका चित्र छापा, दो चार मीठी-मीठी बातें कीं, कि लेखक का प्रेत संपादक के वश में हो गया। और तब संपादक अपना दांव चलाता है- 'खंभा लिखो!'

गायक कौए के मुख से गिरे हुए रोटी के टुकड़े को लपकने वाली लोमड़ी के समान लेखक 'खंभा-लेखन' को लपकता है; पर थोड़ा-सा ही सोचने पर वह अपनी स्थिति समझ जाता है। वह तो खंभे से बंध गया है और अपने सारे काम-धंधे छोड़कर प्रेत के समान खंभा-लेखन का उतार-चढ़ाव नाप रहा है। वह विश्राम करनाचाहता है, पर नहीं कर सकता; क्योंकि उसे अगले अंक के लिए सामग्री भेजनी है। वह कुछ और लिखना चाहता है- पर पहले खंभे के लिए लिख पाए, तो कुछ और लिखे। वह देखता है कि उसके लेखन में वैविध्य नहीं रहा, वह आवृत्ति कर रहा है, वह जड़ हो गया है . . .पर क्या करे? खंभे से बंध कर और हो ही क्या सकता है! खंभे पर तो चढ़ा और उतरा ही जा सकता है।

तभी मेरी समझ में आया कि किसी को उसके वास्तविक काम से हटाकर अन्यत्र व्यस्त कर देने के लिए खंभा बड़ी उपयोगी वस्तु है। खंभे का रूप कोई भी हो सकता है। खंभा सम्प्रदाय का भी हो सकता है और भाषा का भी, क्षेत्रीयता का भी हो सकता है और जातीयता का भी। राजनीतिज्ञ बड़ी चतुराई से देश की जनता के लिए नये-नये खंभे गाड़ता रहता है और उन पर जनता चढ़ती-उतरती रहती है। लोग कहते हैं कि 'हमें रोटी दो' और राजनीतिज्ञ धर्म और संप्रदाय का खंभा गाड़ देता है। जनता कहती है, 'हमें न्याय दो' और राजनीतिज्ञ राष्ट्रीयता का खंभा गाड़ देता है। सामान्य जन रोटी और न्याय को भूलकर संप्रदाय के खंभों पर चढ़ने-उतरने लगता है।

जाने इन खंभों से मानव-जाति कब मुक्त होगी!

प्रश्नों में प्रश्न

नरेंद्र कोहली

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में लेखकों का एक नया वर्ग उभरा है, जिसे लोग बहुत मजे में सहज ढंग से 'व्यंग्यकार' कह भी देते हैं और मान भी लेते हैं। यदि मैं कहूं कि हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवीन्द्रनाथ त्यागी, लक्ष्मीकांत वैष्णव, प्रेम जनमेजय, नरेंद्र मौर्य, ज्ञान चतुर्वेदी, मधुसूदन पाटिल और सुरेश कांत तथा ऐसे ही अन्य बहुत सारे लेखक 'व्यंग्यकार' हैं, तो किसी भी आलोचक-समीक्षक अथवा पाठक को कोई आपत्ति नहीं होगी। वे सब सहमति से सिर हिला देंगे। मतब प्रश्न उठेगा कि यह 'व्यंग्यकार' क्या लिखता है? मेरा उत्तर होगा, व्यंग्य। व्यंग्यकार व्यंग्य ही तो लिखेगा। और यहीं से लोग आपत्ति करना शुरू कर देंगे कि 'व्यंग्य' क्या होता है? व्यंग्य कोई विधा तो है नहीं कि हम कह सकें कि वह व्यंग्य लिखता है।

मुझमें एक बुरी आदत है कि मैं लोगों की बात बड़ी सरलता से मान ही नहीं लेता, उस पर विश्वास कर उनके तर्क को उनके भी बढ़ाने लगता हूं। मैं फिर व्यंग्यकारों की रचना को किस विधा के अंतर्गत रखा जाए? आलोचकों की ही बात मान लेता हूं कि हरिशंकर परसाई जो- कुछ लिखते हैं, वह व्यंग्य नहीं, निबंध है। पर तब मेरा मन इसी तर्क को ले उड़ता है कि निबंध लिखने वाला लेखक व्यंग्यकार क्यों कहलाए? यह निबंधकार क्यों नहीं कहलाता? और व्यंग्य को विधा न मानने वाले आचार्यों के ही सामने जब मैंने कहा कि हरिशंकर परसाई निबंधकार हैं, तो वे लोग बिना लिहाज किए मेरे ही सामने मेरी बुद्धि पर सिर धुन-धुन कर रोए। भला परसाई निबंधकार कैसे हो सकते हैं, निबंधकार तो रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी थे।

अब में क्या करूं। सिर ठोककर बैठ गया हूं। विचित्र हैं ये हमारे आचार्य आलोचक समीक्षक प्रवर। व्यंग्यकार की रचना व्यंग्य नहीं है और निबंध लिखने वाला, निबंधकार नहीं है।

इन्हीं तथा इन्हीं के समान कुछ अन्य लेखकों की रचनाओं पर दृष्टि डालता हूं तो माथा ठनक जाता है। ये सारे व्यंग्यकार कर क्या रहे हैं। कोई कहानी जैसी कोई चीज लिख कर कह देता है कि वह व्यंग्य है। दूसरा कमेंट्री लिखता है और प्रचार करता है वह व्यंग्य है। किसी का निबंध ही व्यंग्य हो गया है। किसी को अपनी 'शोध' जैसी शास्त्रीय कृति को भी व्यंग्य कहलवाने की इच्छा हो रही है। ये लोग एब्सर्ड उपन्यास, उपन्यास, नाटक और जाने किस-किस को व्यंग्य कहे जा रहे हैं।

व्यंग्य को यदि केवल निबंध के एक विशिष्ट प्रकार तक ही सीमित कर दिया जाए, तो इन विभिन्न शैलियों में लिखी गई इन्हीं लेखकों की अनेक रचनाएं व्यंग्य नहीं कहला पाएंगी और दूसरी किसी विधा में हमारे आलोचक उनको स्थान नहीं दे पाएंगे। पर दिक्कत यह है कि पाठक को इन सारे शिल्प-शैलियों के बावजूद उन रचनाओं का आस्वाद एक-सा ही लगता है। उस पर प्रभाव एक-सा पड़ता है और लिखते हुए, लेखक के मन में भी एक ही लक्ष्य रहता है- इन सारी रचनाओं की जाति एक ही है।

व्यंग्य के विधात्व को लेकर मेरे मन में कई बार तथ्य उभरा है कि हमारे आलोचकों ने अनेक बार शिल्प या शैली को ही विधा मान लिया है, और उसी से ये भ्रांतियां उभरी हैं। मेरी दृष्टि में शिल्प या शैली तो बाहरी आवरण या आकार मात्र है- उसका संबंध रचना की आत्मा से नहीं है। मैं विधा को बाहरी आवरण, शिल्प या शैली नहीं मान पाता। एक कहानी को पत्र-शैली में लिखा जाए तो उसकी विधा 'कहानी' के स्थान पर 'पत्र' नहीं हो जाएगी। 'पत्र' और 'कहानी' की आत्माएं अलग-अलग हैं। 'डायरी' और 'उपन्यास' एक नहीं हो सकते, चाहे उपन्यासकार अपनी रचना के लिए 'डायरी' का रूप क्यों न स्वीकार कर लें। बंबई के कमला नेहरू उद्यान में एक जूता घर बनाया गया है, पर मैं उसे जूता न मानकर मकान ही मानता हूं, यद्यपि उसका आकार पूरी तरह से जूते जैसा ही है। हमारे आचार्य या आलोचक उसे जूते के समान पहनना चाहेंगे तो उन्हें कठिनाई होगी, पर हां यदि सरकार उन्हें अनुमति दे तो वे उसमें घर के समान रह सकेंगे।

विधा को मैं बाहरी आकार, शिल्प या शैली से कहीं गंभीर तत्व मानता हूं। उसका संबंध रचना की आत्मा और रचनाकार के व्यक्तित्व से बहुत गहरे जुड़ा हुआ है। विधा को लेकर सामग्री की अपनी मांग होती है- इससे मुझे रत्तीभर इंकार नहीं है; किंतु रचनाकार का व्यक्तित्व का अंग बना सकता है। यदि ऐसा न होता तो साहित्य-जगत में इतना वैविध्य कहीं न होता। मुझे सदा यह लगा है कि किसी भी साहित्यकार में अपने समाज को देखने, उनके प्रति निर्णय लेने और गलत का विरोध करने की क्षमता होती है। किंतु क्षोभ का तत्व सारे साहित्यकारों में बराबर नहीं होता। क्षोभ का अतिरेक ही कलात्मक संयम के साथ रचना के रूप में ढलने से 'व्यंग्य' बन जाता है। यह क्षोभ कहानियों, कविताओं, उपन्यासों, नाटकों और निबंधों में अंश के रूप में भी प्रकट होता है; किंतु जिस रचना में 'क्षोभ' एक बड़ी रचना का अंश मात्र न होकर, संपूर्ण रचना ही हो जाता है- वहीं व्यंग्य-विधा का जन्म होता है- शैली चाहे जो भी हो?

किंतु इन तथ्यों की उपेक्षा करने के कारण हिंदी आलोचना जगत में अनेक भ्रांतियां उभरी हैं। श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य उपन्यास 'राग दरबारी' को साहित्य-अकादमी पुरस्कार मिल जाने, उसे महत्वपूर्ण कृति मानने तथा विभिन्न पाठ्यक्रमों में निर्धारित करने के बावजूद हमारे आचार्य लोग उसकी समीक्षा उपन्यास के परंपरागत मानदंडों के आधार पर करते हैं और न उस असाधारण कृति का प्रशंसा कर पाते हैं और न व्यंग्य संबंधी कुछ सही निष्कर्ष निकाल पाते हैं।

नरेन्द्र कोहली

व्यंग्य और मैं

ठीक-ठीक याद करना कठिन है कि मैंने व्यंग्य लिखना कब से आरंभ किया। अपनी आरंभिक रचनाओं को टटोलता हूं तो उनमें कुछ एक निबंध मिल जाते हैं जिनमें अपने आस-पास के कुछ लोगों का उपहास करने का प्रयत्न किया गया था। 'मैं बच्चों से घृणा करता हूं' ऐसा ही एक निबंध था जो मैंने सन् 1957-58 में लिखा था। उसमें उन लोगों का मजाक उड़ाया था, जो अपने बच्चों की अभद्र आदतों को भी घर आए मेहमानों के सामने गौरव मंडित करते हैं। किंतु ऐसी रचनाओं को ठीक-ठीक व्यंग्य नहीं माना जा सकता, यद्यपि उनमें परिहास, विनोद और कहीं-कहीं तिरस्कार भी है। उसी समय लिखी गयी कुछ कहानियों में परिवेश की विसंगतियों का चित्रण भी मिल जाता है। किंतु वे ऐसी कहानियां हैं, जहां गरिमा का आवरण हटाकर किसी पात्र के व्यवहार की विसंगति को चित्रित किया गया है।

मेरे मित्रों का कहना है कि मेरी आरंभिक रचनाओं में भी चाहे वे कहानियां हों अथवा निबंध- व्यंग्य का थोड़ा-बहुत अंश है। किंतु उन रचनाओं में विद्यमान 'वक्रता' को स्वीकार करते हुए भी उन्हें मैं अपनी व्यंग्य-रचनाएं नहीं मान पाता।

आरंभिक व्यंग्य-रचनाओं के रूप में मुझे अपनी कुछ लंबी कविताएं याद आती हैं। (यह संपादकों का मेरे कवि पर उपकार ही था कि सैकड़ों की संख्या तक पहुंचती मेरी कविताओं में से, कोई एक भी कविता किसी संपादक ने कभी प्रकाशित नहीं की। आज मैं उनके प्रति नतमस्तक हूं कि उन्होंने ठीक समय अपना निर्णय दे दिया। अन्यथा उनकी भूल के कारण आज मैं कवि बनकर फजीहत झेल रहा होता।)

ऐसी पहली कविता 'इतना मत रोना मेरी राधे!' थी, जिसमें कृष्ण के विदेश गमन पर गोपियों के असंतुलित रुदन से लेकर, देश की सेवा के नाम पर कच्चे बांध बांधने-बंधवाने वाले ठेकेदारों, इंजीनियरों तथा मंत्रियों इत्यादि के प्रति अपना आक्रोश वक्रतापूर्वक प्रकट किया गया था। यह कविता मैंने भाखड़ा बांध में आ जाने वाली दरार का समाचार पढ़कर, आक्रोश से पीड़ित होकर लिखी थी। अपने अनेक साथियों तथा गुरुओं के बीच एकाधिक बार उस कविता को पढ़कर सुनाया था और प्रशंसा पायी थी!

वह कविता मैं तब तक लोगों को सुनाता रहा, जब तक मेरे विरोधी (गुरु) ने मुझे नीचा दिखाने के लिए, एक गोष्ठी में यह सिद्ध नहीं कर दिया कि वह रचना व्यंग्य तो है, किंतु कविता नहीं है। बात मेरी समझ में आ गयी। मैंने तब भी उनके प्रति कृतज्ञता का अनुभव किया था और आज भी करता हूं कि उन्होंने मुझे अपने व्यक्तित्व के प्रतिकूल विधा की ओर बढ़ने से बचा लिया। मैंने न केवल कवि बनने का हठ छोड़ दिया, वरन उस कविता को भी गद्य में लिख डाला। सुखद आश्चर्य यह था कि उसे पहले ही संपादक ने अपनी पत्रिका में प्रकाशित कर पारिश्रमिक के बीस रुपए भिजवा दिए। मैंने तत्काल अपनी अन्य व्यंग्यात्मक कविताओं में से 'कवित्व' घटा डाला और कविताई का श्राद्ध कर दिया।

बीच में व्यंग्य-लेखन की दृष्टि से एक लंबा अंतराल आ गया। आज सोचता हूं तो पाता हूं कि यह मेरे जीवन का वह समय था, जिसमें व्यक्ति अपनी नयी-नयी उपलब्धियों और छोटे-छोटे सुखों की घटनाओं में भूला रहता है। वह उन अनुभवों की नवीनताओं में खोया रहता है। उस बहाव में वह अपने जीवन तथा परिवेश की विसंगतियों की ओर ध्यान नहीं दे पाता। कम से कम मेरे साथ यही हुआ। पढ़ाई समाप्त हुई। डिग्री पायी और नौकरी आरंभ की। भारतीय किस्म का, मर्यादित-सा प्रेम किया और विवाह कर लिया। संतान का जन्म हुआ और चार महीनों तक चक्करघिन्नी के समान नचाकर वह चल बसी। ये सारी घटनाएं ऐसी थीं, जो अपनी नवीनता और प्रवाह से मुझे स्तंभित कर गयीं- जिनके कारण और बहुत कुछ लिखा गया, किंतु व्यंग्य नहीं लिखा गया।

मेरे व्यक्तित्व में से कभी-कभी, किन्हीं

कारणों से, व्यंग्य का तत्व कुछ ऐसा छन जाता है कि उसकी ओर ध्यान खींचे जाने पर, मुझे स्वयं आश्चर्य होता है। एक पाठक ने मुझसे पूछा था कि 'आतंक' लिखते हुए मैं अपने व्यंग्यकार को कहां सुला आया था? और तब मुझे स्वयं भी आश्चर्य हुआ कि सचमुच ही उस उपन्यास में व्यंग्यकार की परछाईं की धूल भी नहीं है।

किंतु घटनाओं के इस मोड़ तक आते-आते जीवन का रोमांस स्थिर हो चुका था और यथार्थ अपने वास्तविक रूप में सामने खड़ा था। पहली संतान की मृत्यु के पश्चात दूसरी संतान की अस्वस्थता का कष्ट तथा उसकी मृत्यु से जुड़ी हुई जीवन की अनेक विभीषिकाओं का साक्षात्कार हुआ। उसने मन को जो पीड़ा दी, उसकी असह्यता ने मेरे व्यक्तित्व की वक्रता को पुनः मुखरित कर दिया और स्वयं को हलका करने के लिए व्यक्तिगत अनुभवों पर मैंने कटाक्ष किए। अपनी पीड़ा का ही उपहास किया। अपने घावों को छील-छीलकर स्वयं को रुलाया। इसी अवधि में 'अस्पताल' तथा अन्य एब्सर्ड उपन्यास तथा अनेक अन्य व्यंग्य-रचनाएं लिखी गयीं।

उन रचनाओं को पढ़ अथवा सुनकर मेरे अनेक मित्रों ने स्तंभित होकर, बंद मुंह और फटी आंखों से मेरी ओर ताका। मुझे क्या हो गया है, कहीं मैं अपना मानसिक संतुलन तो नहीं खो चुका? कहीं ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति अपनी मृत संतान, उस संतान के दुखी माता-पिता, उसका उपचार करने वाले तथा अपनी असावधानी या नासमझी से उसकी मृत्यु का कारण बनने वाले डॉक्टर-नर्स सभी पर हंसने लगे! कोई किसी की पीड़ा, किसी के रुदन पर भी व्यंग्य करता है क्या?

किंतु मैंने अपना संतुलन खोया नहीं था, लिखकर अपना संतुलन लौटाया था। और तभी मैंने अनुभव किया कि विनोद, परिहास, प्रत्युत्पन्नमतित्व तथा वक्रता इत्यादि गुण लेखक के व्यक्तित्व का अंग अवश्य होते हैं, किंतु कुछ अनुचित, अन्यायपूर्ण अथवा गलत होते देखकर जो आक्रोश जागता है– वह यदि कर्म में परिणत नहीं हो सकता और अपनी असहायता में वक्र होकर जब अपनी तथा दूसरों की पीड़ा पर हंसने लगता है तो वह विकट व्यंग्य होता है। वह पाठक के मन को चुभलाता-सहलाता नहीं, कोड़े लगाता है, अतः सार्थक और सशक्त व्यंग्य कहलाता है।

व्यक्तिगत पीड़ा से उबर आने पर भी व्यक्तित्व की कृति नहीं बदलती। पीड़ित आक्रोश की वक्रता ने जो दृष्टि दी, उसने अपने व्यक्तिगत अनुभवों से बाहर निकल राजनीतिक-सामाजिक विसंगतियों को भी देखा और अपने पीड़ित आक्रोश को प्रकट करने के लिए मैं व्यंग्य लिखता रहा।

'पांच एब्सर्ड उपन्यास' के पश्चात स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त जो दो बड़ी व्यंग्य-रचनाएं 'आश्रितों का विद्रोह' तथा 'शंबूक की हत्या' लिखी, उनके पीछे यही दृष्टि थी। 'आश्रितों का विद्रोह' में शासन द्वारा जनता के साथ किए गए समझौते के प्रति विश्वासघात की पीड़ा केन्द्रीय विचार है। जनता की रक्षा के लिए, जनता के धन से पुलिस का संगठन किया जाता है और फिर उसी पुलिस से जनता का दमन किया जाता है। इससे बड़ी विसंगति और क्या होगी कि जनता अपने दमन के लिए संगठित की गयी पुलिस का व्यय स्वयं अपनी जेब में से दे रही है। यह तथ्य केवल इसी क्षेत्र तक सीमित नहीं है, शासन के प्रत्येक विभाग में यही स्थिति है। अतः 'आश्रितों का विद्रोह' में शासन-तंत्र के अनेक विभागों को इसी दृष्टि से देखा गया।

'शंबूक की हत्या' तक आते-आते सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियां पहले से ही बहुत अधिक विकट हो चुकी थीं। यद्यपि मेरा दृष्टिकोण पहले वाला ही था, किंतु मैं उसी शिल्प को दोहराना नहीं चाहता था, अतः एक पौराणिक पात्र 'शंबूक' के पिता के माध्यम से शासन के सम्मुख यह मत प्रस्तुत किया कि प्रजा के दुखों के लिए प्रत्यक्ष रूप से शासन ही उत्तरदायी है।

पिछले कुछ वर्षों से मेरा स्फुट व्यंग्य-लेखन प्रायः स्थगित है। इन वर्षों में या तो उपन्यास ही लिख पाया हूं, अथवा आवश्यक होने पर व्यक्तिगत निबंध। अपनी सृजन-प्रक्रिया में होते हुए इस परिवर्तन से परिचित तो हूं, किंतु उस पर मेरा वश नहीं है। जीवन के अनुभवों के गहरे और विस्तृत होने के साथ-साथ या तो छोटी रचनाएं भी बहुत कुछ कहने की आवश्यकता की मजबूरी में खिंचकर लंबी होती जाती हैं, या किसी उपन्यास के लेखन में लगे होने के कारण छोटी रचनाओं के विचार स्वयं ही टल जाते

हैं, या मैं ही उन्हें टाल देता हूं। यह तो जानता हूं कि 'कथा' तथा 'व्यंग्य' दोनों तत्व मेरे भीतर ऊधम मचाते रहते हैं, किंतु लौटकर फिर छोटी कहानियों तथा छोटे व्यंग्यों पर आऊंगा, या अब उपन्यास तथा व्यंग्य-उपन्यास ही लिखूंगा– यह कहना कठिन है।

अपनी व्यंग्य-रचनाओं में से 'श्रेष्ठ' का चुनाव कैसे करूं? श्रेष्ठ रचनाएं किन्हें मानूं, जो मुझे प्रिय हैं या जो प्रशंसित हुई हैं? जो लोगों का मनोरंजन करती हैं या जो प्रखर प्रहार करती हैं? जिनमें बात कटु है या जिनका शिल्प नया बन पड़ा है?

मुझे लगता है कि लेखक एक सीमा तक ही अपनी रचनाओं के प्रति तटस्थ हो सकता है। फिर भी उसके लिए अपनी रचनाओं में से कुछ का चुनाव असंभव हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अन्य लोग भी तो अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं हो पाते। इसलिए मेरा ही चुना क्या बुरा है! अतः मैंने बिना किसी से पूछे, अपने आप अपनी रचनाएं छांट डाली हैं। वे रचनाएं श्रेष्ठ हैं या नहीं, इसका निर्णय मैं नहीं कर सकता। मैं तो केवल यह कह रहा हूं कि अपनी रचनाओं में से चुनाव मैंने अपनी इच्छा और पसंद से किया है। 'श्रेष्ठता' के साथ मैंने प्रतिनिधित्व का भी ध्यान रखा है। प्रयत्न किया है कि विषय, शिल्प तथा तकनीक के वैविध्य को भी महत्व दूं।

मैंने पाया है कि सामान्यतः जिन्हें हम 'व्यंग्य' कहते हैं, वे निबंधात्मक-व्यंग्य हैं। किंतु जब अनेक शिल्पों में लिखी गयी व्यंग्य-रचनाओं को सामने रखा जाता है तो निबंधात्मक व्यंग्य संख्या में सबसे अधिक होते हुए भी महत्व में कुछ हलके ही पड़ते हैं, इसलिए मैंने केवल वे निबंधात्मक व्यंग्य लिए हैं, जो किसी न किसी कारण से कुछ अधिक 'कड़वे' हैं। कथात्मक व्यंग्य को सामान्यतः कहानी के रूप में ही स्वीकार कर लिया जाता है। 'हिंदुस्तानी' तथा 'सार्थकता' भी कहानियों के रूप में प्रकाशित रचनाएं हैं, जो मेरे कहानी-संग्रह 'परिणति' में संकलित थीं किंतु विधा की दृष्टि से मैं उन्हें व्यंग्य ही मानता हूं, चाहे उन्हें कहानी के शिल्प में ही क्यों न लिखा गया हो।

अपने पांचों उपन्यासों में से मुझे 'अस्पताल' ही सबसे अधिक प्रिय है, और संयोग से (कुछ अपवादों को छोड़कर– जिन्हें या तो व्यंग्य की समझ नहीं थी, यों बापुरे अपनी ईर्ष्या के मारे सच नहीं बोल सके (आलोचकों और पाठकों ने भी उसी की सबसे अधिक प्रशंसा की है)। तीन फंतासी-व्यंग्य 'अनागत', 'कैनोपी का स्वयंवर' तथा 'कबूतर' भी मुझे बहुत पसंद हैं, यद्यपि हिंदी के समीक्षक और संपादक उन्हें बहुत पसंद नहीं करते। 'अनागत' तो फिर भी 'धर्मयुग' में प्रकाशित हो गयी थी, किंतु 'कैनोपी का स्वयंवर' तथा 'कबूतर' बीसियों सम्मानित पत्रिकाओं से सखेद लौट आयी थीं। यदि मुझे ठीक याद है तो पहले वे संकलनों में प्रकाशित हुईं और बाद में कुछ छोटी पत्रिकाओं ने उन्हें साभार उद्धृत किया। इसका अर्थ यह नहीं है कि फंतासी लोगों की समझ में नहीं आती। मैं आज भी मानता हूं कि उन रचनाओं का पत्रिकाओं में अस्वीकृत होने का कारण उनकी प्रखरता थी।

यह ऐतिहासिक 'आपातस्थिति' से बहुत पहले की बात है, जब पत्रिकाओं पर कोई सेंसर नहीं था, किंतु फिर भी प्रायः व्यावसायिक पत्रिकाओं ने स्वेच्छा से स्वयं पर एक भयंकर सेंसर लागू कर रखा था, जो अनेक कोटियों की प्रखर रचनाओं को अपनी 'स्क्रीनिंग' के कारण पाठकों तक नहीं पहुंचने देती थीं।

अपनी सारी उपलब्धियों के बावजूद हिंदी का आधुनिक (गद्य) व्यंग्य-साहित्य यह स्वीकार करता है कि उसके पास व्यंग्य का भंडार न तो बहुत विशाल है, और न बहुत वैविध्यपूर्ण। किसी व्यंग्यकार की कुछ ही रचनाएं पढ़कर पाठक उससे पुनरावृत्ति की शिकायत करने लगता है। इस पुनरावृत्ति से बचने के लिए ही लेखक को विधाओं तथा तकनीकों के वैविध्य का सहारा लेना पड़ता है।

व्यंग्य-मात्र लिखना मेरी मजबूरी नहीं है। अपनी लेखनाकांक्षा की तृप्ति मैं कहानियों, निबंधों और उपन्यासों के माध्यम से भी कर लेता हूं। व्यंग्य तभी लिखता हूं, जब केवल व्यंग्य लिखने के लिए मेरे पास कुछ नया हो। लिखने को नया हो तो शिल्प भी बन जाता है। यही कारण है कि मैंने व्यंग्य-लेखन के निबंध, कहानी, एब्सर्ड-उपन्यास, फंतासीय उपन्यास तथा नाटक के शिल्प का प्रयोग किया है।

इन विविध प्रयोगों को मैंने शिल्प के रूप में ही ग्रहण किया है– उन्हें मैं भिन्न

विधाएं नहीं मानता। केंद्रीय विधा तो एक ही है– व्यंग्य। कुछ लोगों को व्यंग्य को स्वतंत्र विधा मानने में आपत्ति हो सकती है। अत: व्यंग्य को स्वतंत्र विधा के रूप में मान्यता देने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि 'विधा' अपने-आप में है क्या? साहित्य की विभिन्न विधाओं के भेद पर विचार करते हुए, मुझे सदा यही लगा है कि विधाओं के भेद का मूल कारण, साहित्यकारों के व्यक्तित्व का भेद है। विधा की शर्तें, साहित्यकार के व्यक्तित्व की शर्तें ही हैं।

यदि साहित्यकार के व्यक्तित्व में बिंब प्रधान हो, तो वह कवि होता है; घटना प्रधान हो तो कथाकार, विचार प्रधान हो तो निबंधकार– ठीक उसी प्रकार, साहित्यकार के व्यक्तित्व में यदि आक्रोश की वक्रता प्रधान हो तो वह व्यंग्यकार होता है। यह दूसरी बात है कि आक्रोश सात्विक और ईमानदार न हो तो रचना झूठा प्रचार हो जाती है, ईमानदार और सुजनशील आक्रोश, कलात्मक होकर व्यंग्य की स्वतंत्र विधा को जन्म देता है।

व्यंग्य को स्वतंत्र विधा मानने के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि व्यंग्य आज विभिन्न विधाओं में लिखा जा रहा है– कविता में, कहानी में, निबंध में, उपन्यास में, नाटक में। किंतु ऐसी आपत्ति करने वाले भूल जाते हैं कि कथा-साहित्य भी महाकाव्यों में लिखा गया, नाटकों में लिखा गया, बृहत् उपन्यासों, लघु उपन्यासों, कहानियों तथा लघु कथाओं में लिखा गया। कविता महाकाव्य, खंडकाव्य, काव्य, गीत, नाटक इत्यादि छोटे-बड़े अनेक रूपों में लिखी गयी। नाटक पद्य-रूपक, गीति-काव्य, स्वतंत्र नाटक, एकांकी इत्यादि रूपों में लिखा गया।

इन सारी विधाओं पर विचार करने से, सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि विधा की दृष्टि से साहित्यकार के व्यक्तित्व का मूल तत्व ही निर्णायक तत्व है : जो व्यंग्य के संदर्भ में साहित्यकार का सात्विक, सृजनशील तथा कलात्मक, वक्र आक्रोश है। इतनी बात हो जाने के पश्चात, आगे का वर्ग-विभाजन भी किया जा सकता है कि व्यंग्य की कैसी रचना को (शुद्ध) व्यंग्य माना जाए और किस रचना के साथ अन्य विधाओं का मिश्रण होने के कारण किसी अन्य विशेषण की आवश्यकता होगी।

हिंदी के व्यंग्य-साहित्य को देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से, सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों के कारण, भारतेन्दु-युग के पश्चात व्यंग्य का टूटा हुआ सूत्र न केवल फिर से पकड़ा गया, वरन् नवीनता और निखार के साथ दृढ़ किया गया। 'व्यंग्य संकलन' के नाम से पुस्तकें छपीं, उनमें ऐसे व्यंग्यात्मक निबंध थे, जो न तो निबंध की परंपरागत परिभाषा में आते हैं, न कहानी की। हिंदी के स्वातत्र्योत्तर व्यंग्य साहित्य की रीढ़ ये रचनाएं ही हैं, और इन्हीं रचनाओं ने व्यंग्य को हिंदी साहित्य में स्वतंत्र विधा के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस मूल विधा की परिधि पर व्यंग्य-कथाएं, व्यंग्य-उपन्यास तथा व्यंग्य-नाटक स्थापित हुए।

कविता में भी व्यंग्य लिखे अवश्य गए, किंतु कवि इस विधा की स्वतंत्रता के विषय में इतने गंभीर दिखाई नहीं पड़े, जितने कि गद्य-लेखक। व्यंग्य-कवियों की महत्वाकांक्षा कवि बनने की ही रही; व्यंग्यकारों की, व्यंग्यकार बनने की।

कुछ (अतिरिक्त) शास्त्रीय समीक्षक व्यंग्य को केवल एक 'शब्दशक्ति' के रूप में ही मंजूर करते हैं। मुझे यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि हिंदी साहित्य के रीतिकाल तक, व्यंग्य या तो एक शब्दशक्ति था, या अन्योक्ति, वक्रोक्ति अथवा समासोक्ति जैसा अलंकार। किंतु समय और परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ विधाओं का विकास भी होता है, और नयी विधाओं का निर्माण भी। हम व्यंग्य को आज के संदर्भ में देखें तो पाएंगे कि आज के व्यंग्य-उपन्यासों, व्यंग्य-निबंधों, व्यंग्य-कथाओं तथा व्यंग्य-नाटकों में व्यंग्य के शब्दशक्ति अथवा अलंकार मात्र नहीं हैं। उसका विकास हो चुका है और वह शास्त्रकार से मांग करता है कि वह व्यंग्य-विधा के लक्षणों का निर्माण करे।

किसी विधा को एक ही भाषा के संदर्भ में देखना भी उचित नहीं है। संभव है कि यह कहा जा सके कि अमुक भाषा में व्यंग्य नहीं है। किंतु संसार की किसी भाषा में व्यंग्य (सैटायर) स्वतंत्र विधा ही नहीं है, और वह स्वतंत्र विधा हो ही नहीं सकता, ऐसा कहना मुझे उचित नहीं जंचता।

175 वै

वाणी प्रकाशन द्वारा प्रकाशित

नरेंद्र कोहली का साहित्य

अभ्युदय भाग-1
अभ्युदय भाग-2
अभ्युदय भाग-3
अभ्युदय भाग-4
महासमर-1 (बंधन)
महासमर-2 (अधिकार)
महासमर-3 (कर्म)
महासमर-4 (धर्म)
महासमर-5 (अंतराल)
महासमर-6 (प्रच्छन)
महासमर-7 (प्रत्यक्ष)
महासमर-8 (निर्बंध)
हम सब का घर (बाल उपन्यास)
समग्र कहानियां भाग-1
गणतंत्र का गणित (व्यंग्य)
समग्र व्यंग्य-1 (देश के शुभचिंतक)
समग्र व्यंग्य-2 (त्रहि-त्रहि)
समग्र व्यंग्य-3 (इश्क एक शहर का)
समग्र व्यंग्य-4 (रामलुभाया कहता है)
न भूतो न भविष्यति
हिंदी उपन्यास:सृजन और सिद्धांत (आलोचना)
प्रेमचंद (आलोचना)
जहां है धर्म, वही है जय
बाबा नागार्जुन (संस्मरण)
प्रतिनाद (पत्र संकलन)
किसे जगाऊं? (सांस्कृतिक निबंध)
स्मारामि (संस्मरण)

वाणी प्रकाशन

21-ए दरियागंज, नई दिल्ली-110002

हरीश नवल

लिखते समय जहां मैं रोया, मेरा पाठक रोएगा

उत्तर-पश्चिमी दिल्ली की सबसे पॉश कालोनी 'वैशाली' की 175 नंबर की कोठी के सामने 2 दिसंबर 2009 के दोपहर के तीन बजने में दस मिनट की कसर थी, मैं और श्री बी.डी. बजाज डॉ. नरेंद्र कोहली के द्वार पर घंटी रूपी दस्तक देने को तत्पर खड़े थे। घंटी के वटन पर बढ़ रही ढाई दर्जनी को मैंने रोक लिया और उससे सवाल किया, 'अभी मत दबा, कोहली जीने तीन बजे आने को कहा था, अभी तो दस मिनट हैं- कहीं उनकी नाराजगी भुगतनी-ना पड़े पर वह मानी नहीं और दबा गई। सेविका ने द्वारा खोला, भीतरी आवाज ने कहीं उसे विश्वस्त किया कि आगंतुक अनावश्यक नहीं हैं, दरवाजा खुला और हम दोनों भीतर दाखिल हो गए और बैठक की कुर्सियों पर बिछ गए। जल आदि का आगमन व सेवन हुआ और ठीक तीन बजे आदरणीय नरेंद्र कोहली अपनी विराट छवि और सहज मुस्कान के साथ स्वागतार्थ थामे शब्दों के प्रकट हुए।

श्री बजाज और श्री कोहली उधर बातों में मशगूल हुए और मैं सामने कोने पर छत तक बने शीशे के उस निर्माण को देखता हुआ इतिहास के झरोखे पर जा खड़ा हुआ . . .बड़े चाव से कोहली दम्पति ने यह घर बनवाया था, तब दोनों युवा थे और मैं और प्रेम (वही अपने जनमेजय) नव-युवक उन्हीं की वहज से थे। वैशाली के इस घर में बैठक के समक्ष छत तक एक कैप्सूलनुमा फव्वारा बना था। नीचे पौधे थे, दीवारों पर बेल थी व छत से सुराखदार पाइपों के माध्यम से जल बरसता था। मेरी बेटी अन्विता और प्रेम का बेटा उज्जवल इस नकली बारिश में असली नहाने का लुत्फ उठाने इस घर में आते थे। उनकी किलकारियां कहीं डॉ. कोहली और श्रीमती मधुरिमा कोहली जी को आश्वस्त करतीं थी कि इतना भारी व्यय कर इसका निर्माण निरर्थक नहीं है। बच्चों की उमंग दोनों में उल्लास की सर्जना करती थी। कभी-कभी उसमें पक्षी भी आ जाते थे, नज़ारा और अभिनंदनीय हो उठता था. . .

. . .उज्ज्वल और अन्विता के आह्लाद के स्वरों में उभरते वर्तमान के बजाज जी और कोहली जी के स्वर कानों में बसने लगे, वे-स्यालकोट, जमशेदपुर की यात्रा से लौटकर हिंदी, उर्दू की बातचीत में निमग्न थे। कोहली जी बता रहे थे कि हिंदी-उर्दू व्यंग्य की पत्रिका 'लफ़्ज़' अच्छी पत्रिका के मूल स्वर के खतरे में होने का अंदेशा था।

अभी तक हमारे त्रिकोण पूरे नहीं हुए थे। डॉ. रवि शर्मा के फोनानुसार वे अभी 6 किलोमीटर दूर थे अतः पास की चर्चा होने लगी। मैं बजाज को बता रहा था कि पीछे वाले कमरों की जगह पहले एक सुंदर लॉन था जहां हम लोग चाय पान का विशेष आनंद उठाया करते थे। कोहली जी लॉन को कमरों में परिवर्तित किए जाने की अनिवार्यता के विषय में बजाज जी को बताने लगे थे कि बेटे के विवाह के बाद लगा कि कमरे और चाहिए सो ये कमरे बने, पर तब तक मैं फिर अपने अतीत के उसी झरोखे पर चला गया जो अभी

तक खुला था. . .मैं ठीक बीस वर्ष पूर्व में मसक गया- 6 जनवरी 1990, डॉ. नरेंद्र कोहली का पचासवां जन्मदिन धूमधाम से मनाया गया था, इसी लॉन में वृहत्तर पार्टी हुई थी जिसमें राजधानी के अनेक सिरमौर साहित्यकार, पत्रकार, प्राध्यापक सम्मिलित हुए थे। तब तक यशस्वी डॉ. कोहली अतिलोकप्रिय हो चुके थे- 'दीक्षा' के अनन्तर उनके नव कथाकार का एक भव्य वैभवशाली रूप समक्ष आने लगा था जिसने अध्येताओं और पाठकों को चमत्कृत कर दिया था और मैं जबरन झरोखे से हटा या कहिए कि मुझे कटना पड़ा क्योंकि डॉ. रवि शर्मा का पदार्पण हो चुका था। 'व्यंग्य यात्रा' संदर्भित लक्ष्य सामने के क्षण समक्ष थे. . .पर इस बीच श्रीमती कोहली के सौजन्य से लॉन की वह विगत पार्टी व्यावहारिक होने का सैम्पल पेश कर चुकी थी, बरफी, ढोकला अन्य नमकीन व मीठे ठोस व तरल पदार्थों की आहुतियां हो चुकी थीं।

बात शुरू 'रिटायरमेंट' से। प्रश्न सीधा सा था कि 'रिटायरमेंट' क्या है- एक मनोदशा अथवा बढ़ती उम्र का तकाजा? (पाठकों को बता दें कि डॉ. कोहली दिल्ली विश्वविद्यालय के मोतीलाल नेहरू कॉलेज के प्रवक्ता थे और उन्होंने स्वतंत्र लेखन के उद्देश्य से रिटायरमेंट से बहुत वर्ष पूर्व स्वैच्छिक रिटायरमेंट ले ली थी। अभी वे एक दर्ज वर्ष और सेवा में रह सकते थे)

उनका उत्तर था, 'मैंने नौकरी छोड़ी पर काम नहीं छोड़ा, मैं लिखता रहा इसलिए यह अवकाश प्राप्ति नहीं थी। हां उम्र बढ़ने से ऊर्जा कम तो होती है, इसे मनोदशा कह सकते हैं, पर नौकरी से रिटायर हुए लोगों और लेखकों की मानसिकता में अंतर होता है।' 78 वर्षीय श्री बी.जी. बजाज 'सरस्वती' के समय के लेखकों में हैं, उन्होंने हामी भरते हुए कहा, 'ठीक बात है, पढ़ने-लिखने से मेरा वक्त बहुत अच्छा बीतता है, बाकी आजीविका बच्चों के लिए करनी पड़ती रही है।' कोहली जी ने स्वीकृति के स्वर में अनुमोदित किया, 'इस पीढ़ी में आकर हम बच्चों के लिए ही करते हैं।'

बच्चों से आरंभ हुई बात परिवार, विशेषत: संयुक्त परिवार तक पहुंच गई, श्री बजाज ने प्रश्न रख दिया, 'कोहली जी 'महासमर' में संयुक्त परिवार के विषय में लिखते हुए अपने संयुक्त परिवार का प्रभाव क्या आपके लेखन पर पड़ा?

कोहली जी ने संयत स्वर में कहा, 'हां पड़ा, मेरे पिता के भी पांच बेटे थे। लेखक कभी काल-मुक्त नहीं होता। मन के भावों प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष आदि को अपने पात्रों के माध्यम से निकालता है। परिवार ही क्यों, पूरा राजनैतिक परिदृश्य भी कालमुक्त होता है। प्रधानमंत्री नरसिम्हा का दरबार और धृतराष्ट्र का दरबार-स्वयं विवेचन कर लें उस समय की स्थितियों का।'

बात चलते-चलते इस धारणा पर पहुंच गई कि द्रौपदी की कटूक्ति 'अंधु की संतानें भी अंधी' के कारण महाभारत का युद्ध हुआ। डॉ. कोहली ने इसका प्रबल प्रतिपाद करते हुए कहा, 'यह गलत है, यह आम धारणा प्रचलित हो गई कि ऐसा द्रौपदी ने कहा परंतु ऐसा नहीं था। कामासक्त राजा देवव्रत ने वृद्धावस्था में युवती से विवाह किया, वहीं से आरंभ हुआ। मैंने अपने महाभारत की शुरूआत शांतनु से की है। अधिकार का प्रश्न धृतराष्ट्र से किया गया। बीज शांतनु और वृक्ष धृतराष्ट्र है। मंच राजनैतिक था अधिकार का प्रश्न फिर दुर्योधन के समक्ष था।

डॉ. रवि शर्मा ने महासमर में कूदते हुए महाभारत को पृथक करने का सफल प्रयास किया और उनके बल से बात बलात् वहां पहुंची जो यात्रारंभ में होने को अपेक्षित थी। राजनीति के मंच से कूदकर हम सब व्यंग्य के खुले मंच पर आ गए।

गद्य व्यंग्य की चर्चा शरद जोशी से आरंभ हुई, उनके मंच प्रयोग पर टिप्पणी करते हुए डॉ. नरेंद्र कोहली का अभिमत का 'किसी भी चीज़ को रोचक ढंग से सुनाया जाए, वह लोकप्रिय होता है। वास्तव में यह परफोर्मेंस है। शरद जोशी लिखते दूसरे ढंग से थे और सुनाते किसी और ढंग से थे। सुनाने के लिए वे रचनाओं का सम्पादन करते थे।

मंच पर न जाने के अपने कारण बताते हुए उनका कथन कदाचित बहुत गंभीर था, 'मैं स्वयं से पूछता हूं, मैं मंच पर क्यों नहीं गया? मैं समझता हूं कि सामने वाले. . .को प्रसन्न करने के लिए स्वयं नीचे गिरना पड़ता है। लोकप्रियता के लिए स्तर से गिरना मुझे पसंद नहीं है। यदि बात मंच के कवियो की हो, उनकी आजीविका इसी से चलती है।'

रवि शर्मा के मुख से प्रस्फुटित हुआ, 'व्यंग्य गंभीर विधा है, उसका पाठक या श्रोता भी गंभीर होना चहिए।'

कोहली, 'हां हम हर प्रकार के श्रोता के स्तर पर गिर नहीं सकते। हमें भी भाषण देने जाना पड़ता है- श्रोता के अनुसार बोलना होता है- कॉलेज के स्थान पर स्कूल सा सुनाएंगे तो चलेगा नहीं।'

अब बात व्यंग्य की निकली तो दूर तलक जानी ही थी, इस बार बजाज जी ने झरोखा छुआ, 'कोहली जी आपके व्यंग्य ने बड़ा प्रभावित किया था। धर्मयुग में पढ़ा था, 'सगे से भी ज्यादा और रामलुभाया जो आपका एक पात्र है, ने भी प्रभावित किया। आपकी छोटी रचनाएं बड़ा असर करती रही हैं, अब वे रचनाएं कहां हैं?'

सतर्क कोहली ने उत्तर दिया, 'मैं तो अभी भी व्यंग्य लिख रहा हूं।'

अधिक सतर्क बजाज जी, 'वह आपकी बड़ी किताबों से दब गया।' समर्थन में कोहली जी, 'मेरी बड़ी कृतियों के आगे व्यंग्य दब गया। तब तक रामकथा नहीं लिखी थी, मेरी व्यंग्य कृतियां उभरी हुई थीं। वास्तव में बड़ी रचना के अभाव में 'रस' को पूर्णत: प्रकट नहीं किया जा सकता। बड़ी रचना का प्रभाव अधिक होता है।'

'मैं स्वयं से पूछता हूं, मैं मंच पर क्यों नहीं गया? मैं समझता हूं कि सामने वाले. . .को प्रसन्न करने के लिए स्वयं नीचे गिरना पड़ता है। लोकप्रियता के लिए स्तर से गिरना मुझे पसंद नहीं है। यदि बात मंच के कवियों की हो, उनकी आजीविका इसी से चलती है।'

जब बजाज जी, कोहली जी और रवि भाई 'दीक्षा' चर्चा में व्यस्त होने लगे, मैं झरोखे में अस्त होने लगा।

'दीक्षा' रामकथा का कोहली जी द्वारा लिखा वह प्रथम अंश था, जिसके कारण कोहली जी का कद ऐतिहासिक रूप से बढ़ा। 1975 में 'दीक्षा' प्रकाशित हुई, पर उससे पूर्व हमने उसे कोहली जी के मुख से सुना था। सरोजिनी नगर में एक गोष्ठी में भी कोहली जी

ने 'दीक्षा' का गौतम, अहिल्या और इंद्र प्रसंग सुनाया था, एक वृहत् चर्चा हुई थी, झरोखे में दीख रहा था वह मंजर। डॉ. कन्हैयालाल नंदन थे, प्रेम जनमेजय थे, मैं था ही, दिविक रमेश थे और भी थे। मैंने तब पहली बार कोहली जी की किसी कृति पर समीक्षा करते हुए वक्तव्य दिया था, में अटक रहा था, पटक रहा था पर लड़खड़ाने से बच गया था। यदि है मुझे कोहली जी की 'दीक्षा' का भव्य स्वागत व अभ्यर्थना हुई थी। प्रकाशक श्री श्रीकृष्ण के जिनके पराग प्रकाशन ने धूम मचाई थी, जिसका एक कारण 'दीक्षा' का प्रकाशित होना था. . .हठात् मेरी पलकों के समक्ष कई गोष्ठियां घूम गईं। सबसे प्रभावी दृश्य था 'रचना' संगोष्ठी का। वैशाली में 'रचना' के आयोजन प्राय: कोहली जी के घर में होते थे। वे इस संगोष्ठी के संयोजक थे तथा आचार्य नगेंद्र इसके अध्यक्ष थें यह संगोष्ठी मेरे और प्रेम का दीक्षा स्थल था, जहां हमारे भीतर के समीक्षक जागे थे, जहां विचार तत्व का ध्यान आया था, चिंतन के द्वार खुले थे। डॉ. नगेंद्र हम सबके गुरू थे, उनका गुरू हम भी शीर्ष पर रहा था, उनकी अध्यक्षता में उनके आह्वान पर मैं और प्रेम अक्सर सबसे प्रथम समीक्षक या टिप्पणीकार के रूप में प्रस्तुत होते थे। डॉ. नरेंद्र कोहली के हाथ हमारी पीठ पर होते थे और हम पीठ नहीं दिखाते थे या नहीं दिखा पाते थे। कोहली जी वैशाली से पूर्व जब ग्रेटर कैलाश में रहते थे, वहां भी एक गोष्ठी आयोजन होता था। 'दीक्षा' में लिखने से बहुत पूर्व ही आदरणीय कोहली हमें और हमारे जैसे अनेक को दीक्षित कर चुके थे. . .झरोखे से लौटा, बात पुस्तक की बिक्री पर केंद्रित थी, हिंदी के पाठक पर केंद्रित थी। कोहली जी का कथन था, 'हिंदी में पाठक हैं। पैंतीस साल से मेरी किताबें बिक रहीं हैं। 'तोड़ो कारा तोड़ो' को अन्य प्रकाशक मांगते हैं। दूसरा खण्ड दो साल बाद, तीसरा खण्ड दस साल बाद आया, पांच आए हैं। सब बिक रहे हैं। मेरा पाठक 18 से 80 वर्ष का है। बेटा पढ़कर पिता को देता है। पिता पढ़कर बेटे को देता है। 'महासमर' में आठ खण्ड हैं। 'राजस्थान पत्रिका' तथा कुछ अन्य पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर अंश छप रहे हैं। धारावाहिक छप रहे हैं। मैंने जान लिया था कि 'पाठक की मांग पर लिखेंगे तो पाठक मांगेगा ही नहीं।' हार्ड बाउंड 'वासुदेव' 495 रुपए की थी पर पूरी एक हजार प्रतियां बिक गईं, पेपर बैक की इक्तीस सौ प्रतियां भी बिक गईं। दो पुस्तक मेलों के बीच ही बिक गईं। हिंदी में पाठक हैं।'

आह्लादित स्वर में डॉ. रवि शर्मा ने मुख से निकला, 'सबसे ज्यादा रॉयल्टी हिंदी में कोहली जी को ही मिलती है।'

संभवत: मुख बंद करने के लिए कोहली जी ने दोबारा चाय की पेशकश आरंभ की क्योंकि वे जानते थे कि रवि का अगला सवाल यह होगा कि 'कितनी रॉयल्टी अब तक मिली है?' वो कहते हैं ना कि जहां न पहुंचे कवि वहां पहुंचे रवि। रवि किसी रामलुभाया से कम तो है नहीं।

रामलुभाया को लेकर भी चर्चा चली। खाकसार का कहना था कि हम लेखक के रूप में एक चरित्र बना लेते हैं जो हमें कथा के विकास में सहायता देता है। स्तंभ लेखन में यह उपयोगी होता है क्योंकि एक पात्र एक विशिष्ठ चरित्र में हमारे पास रेडीमेड होता है। इसीलिए हमने जानना चाहा कि रामलुभाया के बारे में उनका क्या कहना है। मुझे लगा था कोहली जी नाराज होंगे। उनकी नाराजगी की चिंता सबको लगी रहती है। परंतु उन्होंने मेरी ही तरफदारी करते हुए कहा, 'स्तम्भकार के रूप में ऐसे पात्र से अतिरिक्त लाभ तो होता ही है। मैंने रामलुभाया बना लिया वह बहुचरित्र है जिससे पाठक भ्रमित होता है। जिस बात का समर्थन किसी एक रचना में वह करता है, किसी दूसरी में उसी का विरोध कर सकता है, यह मुझे ठीक नहीं लगता, मैंने उससे अतिरिक्त लाभ का नहीं सोचा, अब बदल रहा हूं।

रवि के मन का प्रश्न जुबान से निकला जो किसी अन्य संदर्भ में है, 'आपका दखल एक साथ कहानी, उपन्यास, व्यंग्य में है। आप किसमें खुद को सहज पाते हैं?'

कोहली जी का तुरंत जवाब था, 'मैं एक कथाकार हूं। एक तरह की वक्रता जो मेरे स्वभाव में भी है, मेरे लेखन में है। मेरी वक्रता से लोग डरते हैं। व्यंग्य लेखन से अपनी पीड़ा, अपने क्रोध का शमन करता हूं, बदला भी लेता हूं। कथा में बुनता हूं। कहानियां जो अब मुझमें उभरती हैं, वे मेरे उपन्यासों में समाई जाती हैं। बहुत समय से कहानी लिखी नहीं।'

'जब आपसे कोई कहता है कि यह लिखो या ऐसा लिखो, क्या आप ऐसा करते हैं? बजाज जी की जिज्ञासा थी।

कोहली जी द्वारा शमन– 'लेखक जो चुनता है, वही लिखता है। सभी प्रस्ताव देने लगते हैं कि इन पर लिखो, पर मैं वही लिखूंगा जो मुझे लिखना चाहिए। पाठक चूंकि सृजन प्रक्रिया नहीं जानते। अत: मांग करते हैं। एक सम्पादिका ने कहा, 'बाल साहित्य लिखें और बार-बार कहती रहीं, तब मैंने खीझकर कहा, 'यह जो उपन्यास मैं लिख रहा हूं, क्या आप लिखेंगी?'

समाचार के रूप में डॉ. कोहली ने कहा था, 'जब भीतर से चुक जाऊंगा, तब प्रस्ताव मांगूगा और मानूंगा।

व्यंग्य, व्यंग्य की परिभाषा, सीमा, व्यंग्य शास्त्र आदि पर चली हल्की-तीखी चर्चा में खाकसार ने पूछ लिया, 'क्या जरूरी है कि कोई विधा पारिभाषित अवश्य की जाए?'

गुरूवर उवाच : 'पाठक को परिभाषा से मतलब नहीं होता वह वर्गीकरण भी नहीं करता। शास्त्रकार वर्गीकरण करता है क्योंकि वह वैज्ञानिक विश्लेषण करता है। शास्त्र में व्यंजना, लक्षणा और अभिधा आदि की व्याख्या है। काव्यशास्त्र पढ़कर कोई रचना नहीं करता। रचना का भ्रूण लेखक के मन में विकसित होता है। हर युग में व्यंग्य किसी न किसी रूप में रहा। मैं मानता हूं कि आधुनिक युग में व्यंग्य किसी न किसी रूप में रहा। मैं मानता हूं कि आधुनिक युग में व्यंग्य जिसे हम व्यंग्यात्मक निबंध या व्यंग्य निबंध कहते हैं, उसी संदर्भ में उपन्यास भी है, केंद्र में क्या है, वही मुख्य है, आत्मा ही दर्शाती है कि विधा क्या है?

हम तीनों का आग्रह 'क्या व्यंग्यशास्त्र नहीं बनेगा?' उनका विग्रह : 'अभी दो पीढ़ियां और आने दो व्यंग्यशास्त्र बनेगा। 'रागदरबारी' की कथाक्षेपक है। लेखक देखता है कि कथा सूत्र कम महत्वपूर्ण है और क्षेपक अधिक महत्वपूर्ण। वह कमेंट्री है, वही प्रभावित करती है, यह सब व्यंग्यशास्त्र बाद में बाद में बताएगा।

बातचीत में कोहली जी ने कई बार अपनी वक्रता की बात कही। उन्हें घर-बाहर कई बार वक्रता के कारण रोका, टोका भी गया है। कोहली जी कहते हैं कि मेरी वक्रता लोगों को चुभती है, क्या करूं मेरी प्रतिक्रिया वक्र होती है। वक्रता की बात करते-करते इस बार अतीत के झरोखे तक डॉ. कोहली गए और भावावेश में बताने लगे, 'मेरे एक अध्यापक प्रो. चंद्रभूषण सिन्हा घर आए, मेरी पत्नी ने उनसे मेरी वक्रता के विषय में बात की और कहा कि वे मुझे समस्याएं– इस पर वे बोले, 'नरेंद्र कोहली जीवित हैं इसलिए प्रेषित करता है, उसे करने दो, यह जरूरी है।'

एक प्राईवेट बात है पाठक तुम्हें बताऊं कि 'प्रतिक्रिया' की एक प्रतिक्रिया बजाज जी ने भी दी। चाय के समय जो खाद्य पदार्थ बजाज जी ने अपनी प्लेट में रखे थे, वे उन्होंने खाए नहीं, इस पर कोहली जी ने कहा, 'बजाज साहब आपने खाया नहीं?', वे बोले, 'मैंने जूठा नहीं किया, 'कोहली जी ने कहा, 'हम जूठा वापिस थोड़ा ही रखेंगे, आप पहले ही निकाल देते, निकाला क्यों नहीं।' बजाज जी ने कहा, 'चलो अभी तो बैठे हैं, खा सकते हैं।' और हे दोस्त, बजाज जी वे वर्जित पदार्थ चुपचाप खा गए। मैं कोहली जी की ऐसी प्रतिक्रिया को सात्विक मानता हूं। उनके सात्विक क्रोध के समक्ष नत हूं। उनके व्यक्तित्व का यह रूप प्रभावित करता रहा है पर सामीप्य घटाता है।

हां व्यंग्य क प्रभाव के विषय में भी 'व्यंग्य यात्रा' की ओर से एक प्रश्न किया गया था जिस पर उनका मत था, 'आम पाठक सोचता है कि तत्काल प्रभाव हो। साहित्य, अध्यादेश नहीं है कि रातों-रात लागू कर दिया जाए। साहित्य केवल समकालीनता नहीं है, विरासत भी है। खूब लिखा जा रहा है, खूब छप रहा है, पर क्या सारा साहित्य रहेगा? अब तो वामपंथी यशपाल का नाम भी नहीं लेते। वे वामपंथी. . .हम सहम गए कि डॉ. नरेंद्र कोहली कहीं जीवित होने के ताजे प्रमाण न देने लगे। 'सच्चरित्र व्यक्ति जल्दी समझौता नहीं करता' यह एक पुरानी कहावत है पर समीचीन है। सिद्धांतों के साथ जीने वाले के साथ जीना आसान नहीं होता।

तभी बजाज जी ने चर्चा के दौरान पूछ लिया था, 'जो चरित्र में नहीं, वह कृति में कैसे होगा?'

कोहली जी ने शांत चित्त उत्तर दिया था, 'विवेकानंद के कथन के पीछे साधना थी, निष्ठा थी। लिखते समय जहां मैं रोया, मेरा पाठक रोयेगा, मैं नहीं रोया, पाठक भी नहीं रोयेगा, अत: चरित्र का असर तो होता ही है।'

प्रिय पाठक बंधु चर्चा परिचर्चा में बातें तो और भी बहुतेरी छिड़ीं जैसे लेखन की प्रतिबद्धता बनाम पार्टी की प्रतिबद्धता, तिकड़म से पुरस्कार बनाम पुरस्कार की तिकड़म, बाजारवाद, सुधारवाद, भारत-पाक विभाजन, भाषा का रचना प्रक्रिया के साथ संबंध आदि आदि जिनकी सबकी व्याख्या या उल्लेख स्थानाभाव के कारण आवश्यक नहीं लगा, हां दो प्रश्न अनिवार्य लगे। एक तो यह कि 'व्यंग्य यात्रा' का क्या योगदान रहा।

डॉ. कोहली का कथन था, 'मैंने व्यंग्य यात्रा नाम से छपने वाली सारी पत्रिकाएं तो नहीं देखीं, जो आती थीं। हल्की-फुल्की थीं। गंभीर प्रयास नहीं दिखे। 'व्यंग्य यात्रा' ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। सबसे बड़ा काम कि है एक मंच पर छोटे-बड़े, नए-पुराने साहित्यकारों को बिना भेदभाव स्थान दिया। यहां परंपरा का सम्मान भी है तथा नए का स्वागत भी। प्रेम ने अच्छा निर्वाह किया। यदि 'व्यंग्य यात्रा' ने पांच वर्ष और निकाल दिए, इसी स्तर को बनाकर इतिहास में नाम होगा। 'व्यंग्य यात्रा' का योगदान व्यंग्य के लिए महत्वपूर्ण है।

समापन प्रश्न रवि शर्मा की ओर से 'क्या व्यंग्य का भविष्य उज्ज्वल है क्योंकि विकृतियां, विडम्बनाएं आदि बहुत अधिक हैं?

डॉ. कोहली, 'प्रसन्न होकर नहीं कह सकते यह दुखद होगा पर सच्चाई है कि 'होगा' सुधार हो न हो, अभिव्यक्त तो होगा।'

सज्जनो चर्चा आशावादी सूत्र पर समाप्त हुई। साधुवाद।

15 सी, हिंदू कॉलेज निवास
दिल्ली-110007

नरेंद्र कोहली से महावीर अग्रवाल की बातचीत

मैं व्यंग्य को एक विधा ही मानता आया हूं

महावीर अग्रवाल– विसंगतियों और विद्रूपताओं को उद्‌घाटित करने में क्या व्यंग्य लेखन सबसे अधिक समर्थ है?

नरेंद्र कोहली– इस प्रश्न को सुनकर मेरे मन में एक प्रतिप्रश्न उत्पन्न हो रहा है कि यदि विद्रूपताओं और विसंगतियों को असंगतियों को उद्‌घाटित ही नहीं किया जाएगा तो वह व्यंग्य लेखन कैसे होगा। इसको इस तरह से कह सकता हूं कि व्यंग्यकार एक व्यंग्य में विसंगतियों और विद्रूपताओं को अपने ढंग से उद्‌घाटित करता रहता है इसलिए वह व्यंग्य है। उसका कर्म वही है जो सृष्टि प्रकृति और शिल्प का अंतर सामान्य लेखन और व्यंग्य लेखन में होता है। व्यंग्यकार की दृष्टि विसंगतियों को विद्रूपताओं को रेखांकित करती है। वो उनको देखती है और उनका स्पष्टीकरण करने या उनको सुलझाने के लिए समाधान देने के स्थान पर वह वक्रतापूर्वक इनको एक दूसरे के सामने रखकर ही उसमें से एक प्रखर विरोध उत्पन्न करती है। इस तरह से जब तक इसमें प्रखरता नहीं आएगी, जब तक उसमें वक्रता नहीं आएगी जब तक उसमें आघात, प्रतिघात करने का प्रयत्न नहीं होगा, जब तक आक्रामक ढंग से बात नहीं कही जाएगी तब तक वो व्यंग्य नहीं होगा। इसलिए विषय वस्तु के साथ-साथ उसका प्रस्तुतिकरण भी भिन्न विधि से होता है और यह विधि जो है वो व्यंग्यकार के अपने व्यक्तित्व से ही जन्म लेती है।

महावीर अग्रवाल– हास्य और व्यंग्य में आप क्या अंतर मानते हैं? क्या व्यंग्य के लिए हास्य को होना आपकी दृष्टि में जरूरी है?

नरेंद्र कोहली– हास्य और व्यंग्य में मैं अंतर मानूं वह अंतर तो है ही अन्यथा हास्य हास्य कैसे होता और व्यंग्य व्यंग्य कैसे होता। ये दो शब्द अलग ही क्यों होते। निश्चित रूप से हास्य या निर्दोष हास्य जो है वह किसी को चोट पहुंचाने के लिए नहीं वरन् मनोरंजन करने के लिए है। जबकि व्यंग्य एक प्रकार से आघात करने के लिए होता है। यदि हास्य के बाद मन सुख का अनुभव करता है तो व्यंग्य के पश्चात संवेदनशील मन शोक का अनुभव करता है। ये एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं ऐसा मैं नहीं मानता लेकिन प्रायः ये एक साथ पाए जाते हैं ऐसा कहिए कि हास्य से शायद उसकी पठनीयता कुछ बढ़ जाती है अन्यथा हो सकता है कि व्यक्ति कुछ सुस्त हो जाता हो मैं उसको एक हास्य को एक व्यंग्य का एक स्वाभाविक साथी जरूर मान सकता हूं किंतु ये उसके लिए अनिवार्य हो यह में नहीं मानता।

महावीर अग्रवाल– व्यंग्य को अभी तक एक पृथक विधा के रूप में नहीं माना जाता बल्कि रचना में अंतर्भूत 'स्पिरिट' माना जाता है। आपका इस संबंध में क्या विचार है?

नरेंद्र कोहली– मैं व्यंग्य को एक विधा ही मानता आया हूं। ये ना माने जाने के पीछे जो तर्क दिए जाते हैं वे तर्क कविता और कथा साहित्य और नाटक किसी के विरुद्ध भी दिए जा सकते हैं। कविता, महाकाव्य, खण्डकाव्य, उपन्यास और गीत हैं, गजल है, दोहा है, कविता है, नाटक है इत्यादि बहुत सारी चीजें हैं फिर भी उसको उपन्यास माना जाता है। नाटक में है, काव्य में है, गद्य में है, पद्य में है। छोटा है, बड़ा है, कॉमेडी है, दो अंकों का है, पूर्णकालिक है फिर भी वो नाटक है तो व्यंग्य के लिए यह कहना कि वो विभिन्न शैलियों में लिखा जाता है तो इस विधा की एक विशेष शैली होती है। इस दृष्टि से हिंदी में व्यंग्य का जो विकास हुआ है, आधुनिक युग में उसका जो विकास हुआ है तो उसकी केंद्रीय विधा निबंध व्यंग्यात्मक निबंध व्यंग्य ही रही है। व्यंग्य कथाएं भी लिखी गई लेकिन केंद्र में व्यंग्य निबंध ही रहा है बाकी उसकी परिधि के भीतर या परिधि के बाहर रहा है।

महावीर अग्रवाल– व्यंग्य के छोटे कैन्वास में सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक स्थितियों की अभिव्यक्ति कहां तक संभव है? क्या आपको इन स्थितियों को स्पष्ट करने में विधागत परेशानी का सामना करना पड़ता है?

नरेंद्र कोहली– व्यंग्य का कैन्वास छोटा है या बड़ा इस विषय में मैं विवाद नहीं करना चाहता किंतु यह सत्य है कि यदि आप आदर्श समाज का चित्रण का चित्रण करना चाहें या एक स्वाभाविक सहज समाज का चित्रण करना चाहें जिसमें विसंगतियां नहीं हैं, विद्रूपताएं नहीं हैं, विकृतियां नहीं हैं तो व्यंग्य विधा उसके लिए नहीं है। जिस समाज की प्रथा मन में क्षोभ उत्पन्न नहीं करती कुछ और उत्पन्न करती है वो व्यंग्य के लिए उपयुक्त नहीं है। इसलिए यह तो निश्चित ही है कि व्यंग्य की परिधि जो है वह कुछ एक विशेष स्थितियों को चित्रित करने के लिए ही है। प्रश्न यह है कि मेरे लिए विधागत परेशानी हो सकती है अन्यथा सामग्री जिस विधा के अनुकूल है उसको उसी विधा में रची जाएगी। व्यंग्य के लिए वही विषय लिए जाएंगे जो व्यंग्य के अनुकूल हैं इसएि विधागत परेशानी का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मैंने कहानियां, व्यंग्य, नाटक, सामाजिक उपन्यास इत्यादि विधाओं में लिखा है तो जो विषय व्यंग्य के अनुकूल हैं इसलिए विधागत परेशानी का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मैंने कहानियां, व्यंग्य, नाटक, सामाजिक उपन्यास इत्यादि विधाओं में लिखा है तो जो विषय व्यंग्य के अनूकूल था जो मुझे क्षुब्ध कर रहा था जो मेरे भीतर की वक्रीयता को जगा रहा था, मुझे आक्रामक बना रहा था, उसको मैंने व्यंग्य में लिखा अन्यथा दूसरे तरह के विषयों को दूसरी विधा में लिया। तो हमें विषय, व्यक्तित्व, विषय अपने व्यक्तित्व और विधा इन तीनों का अध्ययन करके ही चुनाव करना पड़ता है या वह विषय लेखक के व्यक्तित्व के अनुकूल अपने आप ही विधा का चुनाव कर लेता है।

महावीर अग्रवाल– साहित्य की अन्य विधाओं से व्यंग्य की भाषा को आप किस तरह अलग करते हैं और व्यंग्य के लिए कैसी भाषा को जरूरी मानते हैं?

नरेंद्र कोहली– सामान्यतः तो मुझे लगता है कि इस तरह से बातचीत

करते हुए प्रेम की बात करते हुए भाषा कुछ और होती है जब हम किसी को डांटते हैं, धमकाते हैं तो भाषा कुछ और होती है और गालियां देने पर उतर आएं तो भाषा कुछ और होती है। ठीक ऐसे ही भाषा या ऐसी शब्दावली चुनी जाएगी जिसकी ध्वनि बहुत दूर तक जाती है और वहां जो कुछ कहा जा रहा है कविता के अतिरिक्त भी संकेत करता है इसलिए उसमें अलंकारों का प्रयोग जो करते हैं नहीं होता वह भी व्यंग्य में होता है। और आप ये पाएंगे कि उपमाओं, विभावनाओं, स्वरूपों के साथ-साथ अन्योक्ति, वक्रोक्ति इत्यादि का और अनेक अलंकारों का प्रयोग भी कहने में होता है जो सामान्यत: कथा साहित्य में नहीं होता।

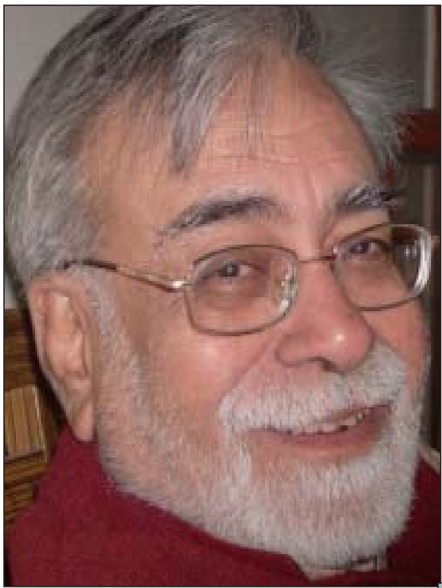

महावीर अग्रवाल– आपकी पहली व्यंग्य रचना कब और किस पत्रिका में छपी? उसका विषय क्या था?

नरेंद्र कोहली– मेरी पहली रचना 'इतना मत रोना' सरिता मार्च 1963 के अंक में छपी थी। इसमें गोपियों कृष्ण से विरह के समय गोपियों के मिलन के आधार पर आधुनिक प्रेमिका के द्वारा रोने और प्रेम के विषय में चर्चा है और यह कहा गया है कि यदि तुम इस लगी रोने तो लोग चंदा करे तुम्हारी आंखों के खारे पानी से नमक निकालकर बचेंगे इसलिए तुम इतना मत रोना।

महावीर अग्रवाल– क्या आपने ऐसी भी रचना लिखी है जिसमें, जिसमें व्यंग्य न हो, लेकिन प्रकारांतर से वह समाज की स्थितियों को सामने रखने वाली हो? यदि हां, तो उस लेखन का आपके सामने क्या कारण रहा है?

नरेंद्र कोहली– मेरा विचार है कि व्यंग्य और मेरे व्यक्तित्व में आरंभ से ही रहा है। इसलिए जो कहानियां भी मैंने लिखी उन कहानियों में भी व्यंग्य का पुट मिल जाता है। ऐसा नहीं है कि जानबूझकर के मैंने व्यंग्य ना लिखकर कहानियां लिखी हों। मेरे द्वारा बाद में ऐसी रचनाएं लिखी गईं जो अपने आप में व्यंग्य विधा में ना होकर अन्य विधा में थी। रामकथा पर आधारित उपन्यास 'अभ्युद्य' (1400 पृ.) 25 वर्ष से लगातार बिक रहा है। 'महासमर' उपन्यास के अभी तक सात खण्ड आ चुके हैं और प्रत्येक खण्ड लगभग 400 पृष्ठों का है। मेरे सभी उपन्यासों को व्यापक स्वीकृति मिली है। आप जानते हैं।

महावीर अग्रवाल– क्या व्यंग्य लेखन के कारण आपको व्यक्तिगत जीवन में कभी संघर्ष का सामना करना पड़ा? कोई अविस्मरणीय घटना?

नरेंद्र कोहली– जहां तक मैं याद करता हूं कि व्यंग्य लेखन के कारण ही नहीं बाकी भी सारे लेखन के कारण यानि जो कुछ भी मैंने लिखा उसमें व्यक्तिगत जीवन में कोई ऐसा प्रबल संघर्ष नहीं हुआ। कभी-कभार किसी ने शिकायत कर दी कि आपने ऐसा क्यों लिखा वैसा क्यों लिखा या कभी कोई रुष्ठ हो गया या कोई दूसरी विचारधारा वाले लोग अपने आपको मानते हैं, उन्होंने अपने आपसे अलग कर दिया या मुझको अलग कर दिया। ये कोई ऐसे संघर्ष नहीं हैं। यदि मैं ना भी लिखता तो भी जीवन में हर व्यक्ति के लिए ऐसा होता है कि उसके साथ कुछ लोग मैत्रीपूर्ण व्यवहार करते हैं। संघर्ष होता है तो वह केवल लिखने के कारण नहीं होता। वो अपने बोलने के कारण भी होता है, अपने स्वभाव के कारण भी होता है लेखन के कारण भी कुछ ऐसा हुआ। मेरा ऐसा कोई दावा नहीं है कि मेरी किसी रचना से सरकार तिलमिला गई या समाज तिलमिला गया या उठाके मुझे जेल में डाल दिया या मेरा बहिष्कार किया गया ऐसी कोई घटना मेरे साथ नहीं हुई है।

महावीर अग्रवाल– आप व्यंग्य क्यों लिखते हैं?

नरेंद्र कोहली– मुझे लगता है कि इसका उत्तर यह होना चाहिए कि आप लिखते ही क्यों हैं? मैं मानता हूं कि लिखना हो या कोई भी इस तरह की ललित कला हो या कोई दूसरी गतिविधि हो, कोई फुटबाल क्यों खेलता है, कोई क्रिकेट क्यों खेलता है, कोई बांसुरी क्यों बजाता है, कोई मूर्ति क्यों बनाता है ऐसे ही लेखन में एक जन्मजात स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है लिखने की और उसके पश्चात उसके अपने व्यक्तित्व के अनुकूल वो विधा चुनना है जिस व्यक्तित्व में चिंतन होता है वह निबंध लिखता है जिसमें घटना और चरित्र का आकर्षण होता है वो कथा साहित्य लिखता है जिसमें संगीत होता है, छंद होता है, बिंब होते हैं रंग होते हैं वैसे ही जिसमें वक्रता होती है प्रखरता होती है जिसमें कहीं तार्किक क्षमता होती है वह व्यंग्य भी लिखता है तो अब जो मेरे अपने व्यक्तित्व की परिधि में जो सामग्री इस प्रकार की आई जिस पर व्यंग्य ही लिखा जाना था वो व्यंग्य बन गया। वस्तुत: मैं तो यह भी कहता हूं कोई लिखता नहीं है बस उसका समाज में रहते हुए आपके भीतर जा करके आपके मन मस्तिष्क पर कौन-सी घटना क्या प्रभाव डालेगी और उससे जिस तरह के आपको पता नहीं होता कि उसके गर्भ में किस तरह का बच्चा जन्म ले चुका है और वह कैसा होगा उसी तरह से लेखक को पता नहीं होता कि इसके भीतर जो रचना बन चुकी है वो क्या है और कैसी है जब वो कागज में उतरती है सृजन के बाद जब बाहर उसकी अभिव्यक्ति होती है तभी पता चलता है कि वो क्या है, क्यों है, कैसी है और उसके बनाने में और उसके सृजन में अपनी इच्छा पर काम करती हो ऐसा मुझे नहीं लगता अन्यथा कोई भी लेखक हल्की रचना क्यों लिखता।

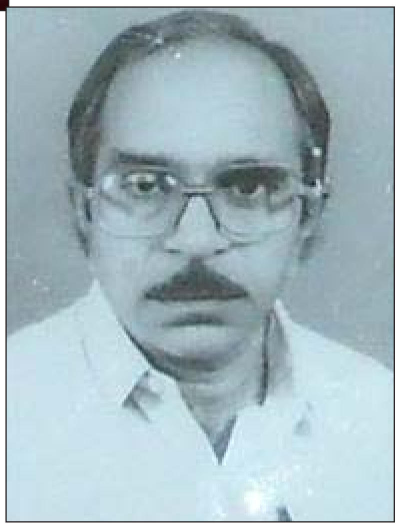

महावीर अग्रवाल– आप जिस राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिलब्ध व्यंग्यकार से अधिक प्रभावित हैं? उनकी किसी एक रचना का सार बताइए, जिसमें जनमानस को प्रभावित करने की अद्भुत क्षमता हो या जिससे आपकी

दिशा निर्मित हुई हो।

नरेंद्र कोहली– मैं यह मानता हूं कि जिस समय लेखन की ओर बढ़ रहा था उस समय मैंने सबसे अधिक हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवींद्रनाथ त्यागी और श्रीलाल शुक्ल को पढ़ा। इस दृष्टि में इन सबका ही कहीं ना कहीं योगदान मेरे निर्माण मेरे निर्माण में है किंतु यदि एक रचना का नाम लेने को आप कहेंगे तो कोई छोटी एक रचना इतना प्रभावित नहीं करती बड़ी रचना ही काम करती है। इसलिए ऐसी स्थिति में केवल 'राग दरबारी' नाम लूंगा। विदेशी व्यंग्यकार मैंने बहुत नहीं पढ़े हैं।

महावीर अग्रवाल– क्या व्यंग्य के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता का होना आप जरूरी मानते हैं? यदि हां तो क्यों? यदि ना तो क्यों?

नरेंद्र कोहली– वस्तुतः मैं व्यंग्यकार के लिए ही नहीं किसी भी लेखक के लिए किसी भी मनुष्य के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता को जरूरी मानता हूं। सच्चा इंसान होगा तो भी उसकी वैचारिक प्रतिबद्धता होगी सच्चा लेखक होगा तो भी उसकी प्रतिबद्धता होगी पर ये प्रतिबद्धता जो है किसी विचारधारा के प्रति ना होकर सत्य के प्रति होना चाहिए। इसलिए कई बार यह भी देखा जा सकता है कि अपनी आस्थाओं, मान्यताओं को बदल करके लेखक किसी ओर दिशा में चल पड़ता है, उसका विकास है और यदि वह लोभ और लालच के कारण किसी ओर झुकता है तो यह उसका ह्रास है। यदि आपका अर्थ वैचारिक प्रतिबद्धता से किसी पार्टी, किसी राजनीतिक दल किसी विशेष साम्प्रदायिक विचारधारा से है तो मैं यह मानता हूं कि लेखक उन सबसे ऊपर उठ करके सत्य और मानवता के प्रति होनी चाहिए। इसलिए छोटी-मोटी चीजों के प्रति प्रतिबद्धता नहीं होती वह एक प्रकार का मोह होता है जो हमारे अज्ञान के कारण होता है।

महावीर अग्रवाल– रचनाकार से आप बताइए कि लेखक का क्या कुछ भी निजी नहीं रह जाता?

नरेंद्र कोहली– मेरा प्रश्न आपसे यह है कि क्या किसी नागरिक का सामाजिक दायित्व नहीं होता है क्या उसे सामाजिक बोध नहीं होना चाहिए। लेखक अपेक्षाकृत कुछ प्रबुद्ध जीव होता है है इसलिए हमारी उससे उपेक्षाएं ज्यादा होती हैं। पर मैं यह भी मानता हूं कला केवल कला जो होती है वो वासना मात्र होती है। और रचनाकार के पास क्योंकि एक प्रतिभा है। सृजन से कई बार ऐसा होता है कि वो उन बातों को लेकर के आंदोलन खड़ा कर लेता है जिनसे समाज का हित नहीं होता और बाद में समाज उस रचना को त्याग देता है ये सामयिक नारे होते हैं जो कभी-कभी चल जाते हैं और फैशनेबल के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। व्यंग्यकार की हैसियत से मैं ऐसा कुछ भी नहीं मानता जो साहित्यकार की हैसियत से नहीं करना चाहिए और व्यंग्यकार की हैसियत से करना चाहिए। व्यंग्यकार साहित्यकार से अलग कुछ नहीं वो साहित्य की एक विधा है इसलिए जो दायित्व साहित्यकार का है और सामाजिक दायित्व के बिना तो कोई प्रबुद्ध व्यक्ति हो ही नहीं सकता इसलिए यह कैसे कहा जाए कि उसका कोई सामाजिक बोध नहीं होता। प्रश्न का दूसरा टुकड़ा यह है कि लेखक का कुछ भी निजी नहीं रहता। यह तो लेखक ही नहीं किसी व्यक्ति के लिए भी कहा जा सकता है। क्या परिवार में व्यक्ति रहता है तो परिवार के लिए सब कुछ करता है समाज में रहता है तो समाज के लिए सब कुछ करता है देश का है तो देश के लिए सब कुछ करता है अपना निजी कुछ भी नहीं रह जाता क्या? निजी का अर्थ क्या है अगर मैं परिवार में हूं तो मैं समझता हूं वही है जो सार्वजनिक रूप से नहीं होना चाहिए, बल्कि बिल्कुल एकांत में कि जो मैं आपसे क्या कहूं कि नहाना और शौच की जो प्रक्रिया होती है वो सार्वजनिक नहीं होनी चाहिए लेकिन मेरासमय, मेरा श्रम, मेरा चिंतन, मेरा धन इत्यादि मेरी जो भी गतिविधि है वो अगर परिवार से, समाज से, देश से, कटकर निजी है तो वो समाज विरोधी है। निजी वो इस अर्थ में है कि उस समय समाज का काम करने के लिए देश का, समाज का हित करने के लिए मुझे सोचने के लिए एकांत चाहिए, मनन के लिए एकांत चाहिए या लेखन के लिए निजी चाहिए तो निजी उतना ही है जब तक कि मैं सार्वजनिक करना नहीं चाहता अन्यथा मैं समझता हूं कि मनुष्य को इसकी हजारों पीढ़ियों के बाद उसका जन्म होता है उसके माता-पिता के द्वारा, समाज के द्वारा उसको सारा खान-पान, पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, बुद्धि चितंन सब कुछ उपलब्ध कराया जाता है तो मैं उससे बहुत सहमत नहीं हो पाता।

महावीर अग्रवाल– व्यंग्यकार के अंदर व्यक्ति और समाज के हितों के बीच द्वंद्व क्या किसी सार्थक लेखन की भूमिका बनाता है?

नरेंद्र कोहली– व्यक्ति और समाज के हितों का जो द्वंद्व आपने कहा है मुझे लगता है ऐसा कोई द्वंद्व तो हो नहीं सकता। यदि व्यक्ति का हित होता है समाज की कीमत पर, समाज का हित होता है व्यक्ति की कीमत पर तो वो गलत है। वस्तुतः समाज और व्यक्ति मैं इस तरह का सब सामंजस्य होना चाहिए कि एक का हित ही सब का हित है। जो व्यक्ति का हित है वही समाज का हित है जो समाज का हित है वही व्यक्ति का हित है। क्योंकि खण्ड चिंतन में जब भी हम वर्ग बांटकर एक खण्ड या वर्ग की बात करते हैं व्यापक हित का विरोध करते हैं। जैसे किसी संस्था में हमारे कॉलेज में कहा जाए कि अध्यापकों का हित हो या क्लर्कों का हित हो बाकी लोगों का हित उसमें ना हो तो मुझे लगता है कि पूरी संस्था के लिए वो अहितकर होता है इसलिए जब भी कभी इस तरह की बात सोची जाए ये सोचा जाता है कि संस्था का हित किसमें हैं। जिसमें संस्था का हित है उसी के उसके अंगों का भी हित हो सकता है। ये जो हम जिस तरह की बात हित की बात सोचते हैं तो ऐसा लगता है कि जैसे शरीर है किसी भी अंग का हित तभी हो सकता है जब सम्पूर्ण अंक का सम्पूर्ण शरीर का हित होगा हमको उसको ध्यान में रखना चाहिए।

महावीर अग्रवाल– व्यंग्य लेखन में वस्तु और शिल्प में आप किसे प्रमुखता देते हैं और क्यों?

नरेंद्र कोहली– मुझे लगता है कि कोई व्यंग्य रचना अपनी कथ्य अपनी वस्तु के कारण महत्वपूर्ण हो जाती है। कई बार ऐसा होता है कि वस्तु को वैसा का वैसा उठाकर सीधी भाषा में कह दिया जाए तो भी बहुत अच्छा व्यंग्य बन जाता है और कई बार यह होता है कि वस्तु में उतनी जान हो या ना हो शिल्प भी उसका अच्छी और श्रेष्ठ रचना बना देती है। तो ये किसी एक रचना को देखकर बताया जा सकता है कि उसमें वस्तु महत्वपूर्ण है तो कहना ही क्या।

महावीर अग्रवाल– व्यंग्य में बिंब, प्रतीक और मिथकों का उपयोग किस तरह हो?

नरेंद्र कोहली– ये प्रश्न तो पूरे प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम की उपेक्षा करता है। व्यंग्य में प्रतीक कहां है, बिम्ब कहां है, इतना जरूर कहना चाहता हूं कि जो प्रसिद्ध मिथक है या जो मिथक अर्थ में पौराणिक कथाएं हैं, पौराणिक चरित्र हैं तो उनके विषय में कहते हुए बहुत सावधानी बरतनी चाहिए क्योंकि ऐसा ना हो कि हम अपने आदर्शों का अपमान करके किसी

का मनोरंजन कर रहे हों और इस तरह से समाज की व्यापक क्षति कर रहे हों।

महावीर अग्रवाल– आप अपनी रचना प्रक्रिया के बारे में कुछ बताइए। आप विषयवस्तु का चुनाव किस आधार पर करते हैं?

नरेंद्र कोहली– रचना-प्रक्रिया के विषय में अलग से मैंने अपना निबंध भेजा है इसलिए उसके सार में नहीं जाऊंगा और दूसरी बात जो विषय वस्तु के चुनाव की है मुझे लगता है कि मैं विषय वस्तु का चुनाव करता ही नहीं हूं। विषय वस्तु अपने आप में मेरा चुनाव करती है। जो वस्तु आपके भीतर बीज रूप मं आए एक सृजन कर जाए। जब वो रचना बन जाती है तो आपको पता चलता है कि लिखना हो गया। अब मुझे इसको लिखना है। ऐसा नहीं होता कि हम सुबह निकलते हैं कि मैं विषय वस्तु ढूंढकर लाऊंगा और जो लोग इस तरह का चुनाव करते हैं कि पहले इसके अपने पूर्वाग्रहों के अनुसार विषय खोजकर लाते हैं जैसे कहा जाए कि कहानी का नायक इस विशेष प्रकार का होना चाहिए जो लोग ऐसा कहते हैं वो लोग सृजन नहीं करते हैं और प्रचार करते हैं अन्यथा विषय वस्तु अपने आप लेखक खोजती है सृजन हो जाता है और जब अभिव्यक्ति का समय आता है तब लेखक को पता चलता है कि इस विषय पर लिख रहा हूं।

महावीर अग्रवाल– वर्तमान में क्या व्यंग्य लेखन से सामाजिक आर्थिक बदलाव संभव है? यदि हां तो वो किस तरह समाज को बदलाव की दिशा में प्रेरित करता है?

नरेंद्र कोहली– देखिए सारा का सारा साहित्य सामाजिक परिर्वतन के लिए ही होता है और ये सामाजिक परिवर्तन जो होता है ये उसके विकास या उसकी उत्कृष्टता या उसकी उदारता का गुण होता है। साहित्य में और राजनीतिक विधान में अंतर यही है कि राजनीतिक विधान या कानून जो है वो जिस समाज से लागू होता है उस समय से लोगों को इस पर चलना पड़ता है अन्यथा हमको दण्डित किया जा सकता है, आदर्श सामने रखता है और ये समाज किस समय उसको स्वीकार करेगा इसकी भविष्यवाणी मैं नहीं कर सकता। आज भी हजारों वर्ष पुरानी रचनाओं में हम संस्कार ग्रहण करते हैं और हो सकता है हजारों वर्ष बाद भी हम उसको ग्रहण करें। बीच में फिर पतन होता है जो समाज जिस समय सात्विकता की ओर, अच्छे विचारों की ओर, उदारता की ओर, पवित्रता की ओर बढ़ता है वह अपने साहित्य से संस्कार ग्रहण करने लगता है और उसके अनुसार बदलने लगता है। ऐसा नहीं कि जिस समय साहित्य लिखा जाए उसी समय समाज ग्रहण करे या बिल्कुल आवश्यक नहीं है। ये समाज को ग्रहणशीलता और उसकी मानसिकता पर निर्भर करता है।

महावीर अग्रवाल– व्यंग्य के विकास और सार्थक फैलाव में रेडियो, दूरदर्शन तो कम रेडियो और रंगमंच में इसका विकास हुआ है। व्यंग्य का सबसे ज्यादा विचार और प्रचार जो है वो दैनिक समाचार पत्रों में और साप्ताहिकों में अपनी कॉलम से किया है। दूरदर्शन में तो कम आता है, रेडियो पर वार्ता या साहित्य के इस तरह के कार्यक्रमों में कभी कभार आता है और मंच से पढ़ा जाता हो तो मुझे उसकी सूचना नहीं है। हां उसने व्यंग्य को पीछे करने में काफी योगदान दिया है।

महावीर अग्रवाल– समकालीन आलोचक व्यंग्य लेखन पर क्या विचार रखते हैं? आप उनकी रचनाओं से किस हद तक सहमत हैं?

नरेंद्र कोहली– वस्तुत: तो मैं आलोचकों के वक्तव्यों को या इनके निबंधों को या उनके निर्णयों को बहुत ज्यादा महत्व देता ही नहीं ना उसको मैं पढ़ने का प्रयत्न करता हूं कारण यह है कि जो प्रत्येक रचना मुझे लिखनी है, मैं लिखता हूं उस पर आलोचक उसका दोष निकालता है तो मैं उसको सुधार नहीं सकता और वो मेरी प्रशंसा करता है तो भी मुझे फर्क नहीं पड़ता। दूसरी बात यह भी है कि आलोचक की बुद्धि पर भरोसा करने से कहीं अच्छा अपने विवेक पर भरोसा करना समझता हूं। तीसरी चीज यह है कि जिस प्रकार की हमारी आलोचना आज है तो हमारा जो सामान्य आलोचक है वो व्यंग्य पर लिखता नहीं व्यंग्य को वो अलग विधा में रूप में लेकर के लिखता नहीं। कुछ व्यंग्यकार व्यंग्य के आलोचक मानकर पैदा हुए हैं वे लोग लिख रहे हैं। वो उसको प्रयत्न कर रहे हैं। शास्त्र बनाया जाए पर मैं वस्तुत: आलोचना को उसी सीमा तक पढ़ता है जितना कि कभी अध्यापक की नौकरी करने के लिए आवश्यक हो। मेरी रूचि उसमें नहीं है और ना ही मै उंसमें ये समझता हूं कि आलोचनाओं को पढ़कर के कोई अच्छा लेखक बन सकता है।

महावीर अग्रवाल– व्यंग्य के विकास में हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल और रवींद्रनाथ त्यागी की भूमिका पर अपने विचार बताइए।

नरेंद्र कोहली– मैंने आपसे पहले भी कहा है कि ये लेखक आधुनिक हिंदी, गद्य, व्यंग्य साहित्य के विकास में या उसकी प्रतिष्ठा में सहायक हुए हैं या इन्होंने ही आधुनिक हिंदी व्यंग्य का निर्माण किया है। आवश्यक यह है कि यह ना कहा जाए कि इन लोगों ने निर्माण किया है। और बढ़ाया है इत्यादि ना कहकर समय आ गया है कि जब हम लिखेंगे कि ये विशेषताएं अलग-अलग क्या क्या हैं परसाई की अपनी विशेषता उनको शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल इत्यादि से अलग कर दिया हो। शरद जोशी की ऐसी विशेषता क्या है कि श्रीलाल शुक्ल की विशेषताएं, रवीन्द्रनाथ त्यागी की, क्योंकि किसी में व्यंग्य की प्रखरता है, किसी में हास्य विनोद है, भाषा का अंतर है, मुहावरा का अंतर है उनकी विधि का अंतर है। हम उन सबका विचार ना करके केवल यह मान लेते हैं कि पहली पीढ़ी ये है और न इन चारों ने मिलकर के बहुत काम किया है। तो ठीक है मैं, मेरी पीढ़ी के लोग, मेरी बाद की पीढ़ी के लोग इनके कृतज्ञ हैं क्योंकि हम लोगों ने इनसे व्यंग्य लेखन के संस्कार ग्रहण किए।

महावीर अग्रवाल– हिंदी व्यंग्य के भविष्य पर अपने विचार बताइए?

नरेंद्र कोहली– मुझे लगता है कि ऐसे प्रश्न का उत्तर तो अस्पष्ट है। ये भी नहीं पूछना चाहिए। भविष्य के बारे में कौन क्या बता सकता है। और जो काल है वो उतार और चढ़ाव दोनों देखता है। इसी समय एक अच्छा कवि जैसे तुलसीदास के बाद कोई दूसरा तुलसीदास नहीं हुआ लेकिन नाटक साहित्य समाप्त नहीं हुआ। कहते हैं कि प्रेमचंद के बाद दूसरा प्रेमचंद नहीं हुआ। इसके लिए हिंदी को दोषी माना जाता है। लेकिन शेक्सपीयर के बाद दूसरा शेक्सपीयर भी नहीं हुआ, टाल्स्टॉय के बाद दूसरा टाल्स्टॉय भी नहीं हुआ। इसका अर्थ यह नहीं होता कि साहित्य की विभिन्न विधाओं का कोई भविष्य नहीं है। कब किस समय किस विधा में किस भाषा में कौन-सा लेखन पैदा हुआ ये तो भगवान ही जानते हैं हम इस विषय में किसी भी तरह की भविष्यवाणी करने की क्षमता नहीं रखते। वैसे भविष्य से निराश होना पाप है कृतघ्नता है। धन्यवाद।

साभार– 'सापेक्ष'

ए-24, आदर्श नगर
दुर्ग, छत्तीसगढ़

प्रेम जनमेजय और राजेश कुमार की बातचीत

मैं केवल व्यंग्य नहीं लिखता– नरेंद्र कोहली

आपकी रुचि व्यंग्य की ओर कब हुई! कहानी एवं उपन्यास लिखते-लिखते व्यंग्य लिखना आपकी रुचि के कारण संभव हुआ अथवा तत्कालीन परिस्थितियां ही कुछ ऐसी थीं?

जहां तक व्यंग्य-लेखन की शुरुआत का प्रश्न है, मुझे याद आता है कि मैंने एक परिहासपूर्ण निबंध लिखा था। वह प्रकाशित नहीं हुआ। उसकी समस्या बच्चों और अभिभावकों को लेकर थी। परंतु सही रूप से व्यंग्य की शुरुआत तब हुई, जब मैंने अपनी कुछ कविताओं को गद्य का रूप दिया। मेरी एक कविता थी 'इतना मत रोना मेरी राधे'। उसी तरह एक और कविता थी दुष्यंत और शकुंतला को लेकर ये दोनों कविताएं कभी नहीं छपीं। इनको जब मैंने गद्य का रूप दिया. . . मेरे विचार से वह मेरी पहली व्यंग्य-रचना थी। 'गजब ढहाया है वाक्यों ने' पहले स्कूली पत्रिका में और फिर रामजस कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) की पत्रिका में प्रकाशित हुई। इसे और 'सरिता' में प्रकाशित 'इतना मत रोना मेरी राधे' को मेरे व्यंग्य-लेखन की शुरुआत माना जा सकता है। इन रचनाओं में व्यंग्य के तत्व तो थे ही। परंतु जैसे-जैसे जिंदगी की समझ ज्यादा आई, परिस्थितियां विसंगतिपूर्ण होती गईं, वैसे-वैसे व्यंग्य ज्यादा प्रखर और तीखा होता गया और उसकी तरफ रुचि भी बढ़ती गई। व्यक्तिगत जीवन की परिस्थितियां भी कुछ ऐसी हुईं कि व्यंग्य मुखर हो उठा।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि व्यक्तिगत परिस्थितियों ने आपको प्रेरित किया, देश की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों ने नहीं?

क्यों नहीं, निश्चित रूप से किया। व्यंग्य की तरफ आने के लिए सोचूं तो राजनीतिक व्यंग्य जो है, वह निश्चित ही राजनीतिक परिस्थितियों के कारण आएगा और जो सामाजिक व्यंग्य है वह आसपास के जीवन से, सामाजिक विसंगतियों से होगा। एब्सर्ड उपन्यासों में 'अस्पताल' है, वह व्यक्तिगत इस अर्थ में है कि अस्पताल नामक जो संस्था है, उससे मेरा व्यक्तिगत रूप में साक्षात्कार हुआ। परंतु है तो वह भी समाज की सार्वजनिक संस्था। उस संस्थान की पीड़ा मैंने व्यक्तिगत रूप से भोगी। अब कॉलेज की विसंगतियों को भुगतना कोई मेरा व्यक्तिगत मामला तो नहीं है। परंतु विसंगतियों को देखकर 'दि कॉलेज' लिखा गया।

जब आपने व्यंग्य लिखना आरंभ किया, निश्चित ही उस समय बाकी लोग भी लिख रहे होंगे, कुछ स्थापित भी हो गए होंगे। उस समय व्यंग्य की स्थिति क्या थी?

जैसा मुझे याद है, हमने राधाकृष्ण को बहुत कम पढ़ा था। हरिशंकर परसाई ही ज्यादा चर्चित थे। यदि मैं यह कहूं कि मेरी पीढ़ी ने हरिशंकर परसाई से व्यंग्य का संस्कार ग्रहण किया, तो गलत नहीं होगा। ठीक है कि उनके साथ और लोग भी लिख रहे थे परंतु पहला नाम हरिशंकर परसाई का ही आता था। प्रखरता भी उन्हीं के व्यंग्य में ज्यादा थी। बाकी शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी मुझसे तो सीनियर हैं ही। श्रीलाल शुक्ल का महत्व 'राग दरबारी' के कारण हुआ, परंतु स्फुट व्यंग्य के रूप में जो सबसे ज्यादा लिख भी रहे थे और जिनका सबसे अधिक असर मेरे साथियों ने ग्रहण भी किया, वह हरिशंकर परसाई ही थे।

आपने परसाई जी के प्रभाव की बात कही, यह प्रभाव किस रूप में ग्रहण किया गया?

मेरे विचार से साहित्यकार जो भी ग्रहण करता है, वह बात तो अपनी कहता है, शिल्प का अनुकरण करता है। संस्कार ग्रहण की जो बात है, वह इस रूप में कि व्यंग्य किस ढंग से किया जा सकता है, क्योंकि विचार तो अपने ही होंगे। जब राजनीतिक दलगत बात हो, तो इस दृष्टि से परसाई अलग नजर आते हैं, नहीं तो सभी व्यंग्यकार वैचारिक दृष्टि से इस रूप में एक हैं कि वे गलत का विरोध करते हैं।

विचारधारा की चर्चा चली है तो आपकी विचारधारा की बात कर लें। व्यंग्य का काम है– विसंगति-चित्रण करके अपने माध्यम से प्रहार करना। ऐसे में क्या मजदूर-जीवन की विसंगतियों का चित्रण और उन प्रहार होना चाहिए?

अगर वर्ग को छोड़ दें तो एक अलग उदाहरण दूं। एक विसंगति बच्चे के व्यवहार में भी होती है और बड़े के व्यवहार में भी। परंतु हम बच्चे को लक्ष्य नहीं बनाएंगे। उसी प्रकार, ऐसा नहीं है कि वर्ग-विशेष की विसंगतियों का प्रहार किया जाए, परंतु जो दलित और जो शोषित वर्ग है, सर्वहारा है, उनकी विसंगतियों के प्रति करुणा अधिक होती है, क्योंकि वे समर्थ नहीं हैं। ऐसे में कटाक्ष

करने के पहले हम सोचेंगे कि क्या वह दोषी है? यह देखेंगे कि मूल कारण कहां है?

'पांच एब्सर्ड उपन्यास' में एब्सर्ड-प्रयोग है, 'आश्रितों का विद्रोह' में प्रायोगिक फंतासी है और इसी तरह 'शंबूक की हत्या' प्रायोगिक व्यंग्य-नाटक है। आपसे पूर्व या आपके समकालीनों ने ऐसे प्रयोग नहीं किए हैं। ये प्रयोग कथा की मांग पर हुए या मात्र प्रयोग के लिए?

निश्चित रूप से यह कथा की कमजोरी थी। क्योंकि एब्सर्ड उपन्यासों में सबसे पहले 'दि कॉलेज' लिखा गया। तब मैंने नई-नई प्राध्यापकीय नौकरी ग्रहण की थी और मैं कॉलेज के वातावरण को देखकर भन्नाया हुआ था। विसंगतियों को देखकर लगता था, सिर फट जाएगा। व्यवस्था के विरुद्ध गंदी गालियां मन ने निकाली थीं, जिन्हें हू-ब-हू साहित्य नहीं स्वीकारता। मैंने कई तरह से इस कथा को लिखने की कोशिश की और कई पृष्ठ लिखकर फाड़े, परंतु संतुष्ट नहीं हुआ। अब भीतर क्या सृजन-क्रिया चलती है, उसे पकड़ना बहुत मुश्किल है। किस तरह से यह एब्सर्ड शिल्प उभरकर सामने आया और जब यह शिल्प मुझे मिल गया, तो उसमें एक के बाद एक 'पांच एब्सर्ड उपन्यास' अपने कथ्य की प्रबलता के कारण सामने आए। यह उन दिनों की परिस्थितियों और सोच का परिणाम ही है कि ये पांचों एब्सर्ड उपन्यास एक साथ लिखे गए। छठा नहीं लिखा गया। अब इसे मन:स्थिति ही कहा जाएगा। वह नया शिल्प था। अब आज मैं सोचकर बैठ जाऊं कि मुझे एब्सर्ड-उपन्यास लिखना है, तो भई, अनुकरण चाहे अपना हो, वह होगा अनुकरण ही।

क्या 'पांच एब्सर्ड उपन्यास' जैसी परिस्थितियां समाज में अब नहीं हैं, या वह एब्सर्डिटी नहीं है? क्या अब उन्हें आप नहीं लिख सकते?

यह तो नहीं कहूंगा कि नहीं लिख सकता। परंतु कब क्या चीज प्रेरित करती है, कह नहीं सकता। अब दो-तीन विशाल उपन्यासों में लगा हूं। हो सकता है, इस बीच ऐसा हो। अब देखिए 'साथ सहा गया दु:ख', 'आतंक' और 'दीक्षा' लिखने के बीच में 'शंबूक की हत्या' जैसा नाटक लिखा गया। उसके बाद फिर 'रामकथा' आगे चली और यह तो कथा की विवशता है।

हिंदी में व्यंग्य की आलोचना और उसके आलोचकों से क्या आप संतुष्ट हैं? क्या हिंदी में व्यंग्य के आलोचक हैं?

व्यंग्येतर साहित्य के जो आलोचक हैं, वे व्यंग्य के साथ न्याय नहीं करते। उसका कारण यह है कि उनका तादात्म्य व्यंग्य के साथ नहीं होता। वे लोग व्यंग्य पढ़ते कम हैं। व्यंग्य के आलोचक अभी बन रहे हैं। वे व्यंग्य की आलोचना के प्रतिमान बनाने में लगे हैं। मेरे सामने सबसे बढ़िया उदाहरण 'राग दरबारी' का है जिसे सभी एक उपलब्धि मानते हैं। लेकिन जो हमारे परंपरागत आलोचक हैं, उन्हें समझ ही नहीं आता कि इसमें ऐसा क्या है। वे उसे उपन्यास के परंपरागत सिद्धांतों पर कसने का प्रत्यन करते हैं। अंतत: वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उपन्यास की दृष्टि से यह बहुत घटिया है। जो व्यंग्य के नए आलोचक हैं, वे प्रयत्न कर रहे हैं। उनके प्रयत्न की ईमानदारी पर संदेह नहीं किया जा सकता है।

वे क्या तत्व हैं जो व्यंग्य को विधा के रूप में स्थापित कर सकते हैं? या कहूं कि विधा की क्या विशिष्टताएं होती हैं और क्या वे विशिष्टताएं व्यंग्य में हैं?

जब यह प्रश्न उठता है कि कोई भी विधा उसके अनुकूल बनती है और कई बार एक ही लेखक अनेक विधाओं में होता है, वहां लेखक के व्यक्तित्व के साथ उसकी रचना-सामग्री जुड़ जाती है। यदि अधिक सैद्धांतिक न हो तो कहूंगा कि बिंब जिसके मन में उठता है, वह कविता लिखता है, दृश्य उभरता है तो नाटक लिखता है, विचार उठता है तो निबंध लिखता है। इसी तरह से जिस व्यक्तित्व के कारण व्यंग्य विधा बनती है, वह है आक्रोश जिसे नागार्जुन ने क्षोभ कहा है। न्यायसंगत आक्रोश को जब कलात्मक रूप में अभिव्यक्त किया जाता है, तो वह व्यंग्य बनता है। हमारा आलोचक संस्कृत में व्यंग्य के ध्वनि एवं आलंकारिक रूप से आगे जाने को तैयार ही नहीं है।

अब थोड़ा आपकी रचना-प्रक्रिया के बारे में बातचीत करें। आपने 'रामकथा' के रूप में पौराणिक लेखन किया है; जबकि व्यंग्य नितांत सामाजिक समस्याओं को लेकर चलता है। ऐसे में पौराणिक उपन्यास और व्यंग्य लिखते समय आपने अपनी रचना-प्रक्रिया को किस रूप में मिलाया है? आप व्यंग्य-रचना का सृजन कैसे करते हैं?

व्यंग्य की रचना-प्रक्रिया भिन्न है। किसी घटना के कारण आपके मन में आक्रोश उठता है। इस कारण उस वस्तु के विरुद्ध कटाक्ष पर कटाक्ष उभरते हैं, उनकी कड़ी ही व्यंग्य के रूप में आ जाती है। इसी तरह कहानी और उपन्यास की रचना-प्रक्रिया भिन्न होती है। अब यह रोचक सूचना हो सकती है कि 'शंबूक की हत्या' मैंने उपन्यास के रूप में लिखा। उसे टाइप करवाकर मैंने प्रकाशक को भी दे दिया परंतु मैं स्वयं संतुष्ट नहीं था, प्रकाशक ने भी कहा कि बात कुछ जम नहीं रही है। उसी समय मैंने कहा कि इसमें संवाद बहुत हैं, क्यों न इसे नाटक के रूप में लिखा जाए। इसी तरह से राज्यवर्द्धन को लेकर मैंने उपन्यास लिखा। परंतु फिर लगा कि इसमें घटनात्मकता इतनी अधिक है कि उपन्यास का रूप नहीं ले पा रहा, तो मैंने नाटक लिखा। परंतु नाटक के ढांचे में सही नहीं लगा, तो फिर उपन्यास लिखा। ऐसा भी होता है।

मतलब कि कथा विवश कर देती है शिल्प के लिए।

बिलकुल। लेखक विवश हो जाता है। राज्यवर्द्धन को लेकर लिखे उपन्यास 'प्रतिदान' के बारे में अभी तक बिलकुल निश्चित नहीं हूं कि उसका नाटक बनाना सही था या उसे उपन्यास बनाना।

आज के जीवन में जबकि व्यक्ति बहुत व्यस्त हो गया है, लेखक के लिए इस बात की संभावना बहुत कम रह गई है कि वह हर उस चीज को अनुभव करे, जिसे कि वह लिख रहा है या हर उस चरित्र को, जिसका कि पुनर्प्रस्तुतीकरण वह कर रहा है और बहुत हद तक उसे दूसरों से प्राप्त सूचनाओं या अखबारों और इस तरह के स्रोतों पर निर्भर रहना पड़ता है, तो ऐसी हालत में क्या लेखन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है यानी क्या लेखक आजकल ज्यादा किताबी और सैद्धांतिक लिखने लगा है?

आपके प्रश्न का जो रूप है उसमें पहली बात यह है कि आज का ही व्यक्ति या आज का ही लेखन इतना व्यस्त हो गया है कि सारे अनुभवों से नहीं गुजर सकता, यह बात साहित्य के लिए बहुत नई नहीं है। क्योंकि कोई भी युग ऐसा नहीं रहा, जिसमें साहित्यकार ने केवल अपना जिया ही लिखा हो। जो अनुभव की प्रामाणिकता का व्यक्तिगत अनुभव है, उससे भी जब तक तटस्थता स्थापित नहीं होती, लेखक उसे लिख नहीं सकता। उसी तरह जैसे अपने अनुभव को पराया करने की प्रक्रिया है, वैसे ही दूसरों के अनुभव को अपना किया जाता है। लेखक यदि अपने ही अनुभव पर आश्रित रहे, तो वह एक-आध कृति से अधिक कुछ नहीं दे पाता। लेकिन मैं यह नहीं कर रहा कि अपना अनुभव जो है, वह नहीं आता। अपने अनुभव से भी थोड़ा-सा तटस्थ होना पड़ता है, क्योंकि जब तक वह अनुभव अपना रहता है, तब तक वह कृति नहीं बन सकता। इसका अनुभव मुझे 'रामकथा' के साथ ज्यादा नहीं हुआ, लेकिन 'साथ सहा गया दुख' की घटना जब बिलकुल ताजी थी और उसको मैंने लिखा, तो वह 25-30 पृष्ठों की एक लघु कहानी बनी और ऐसा लगा कि जैसे कोई डायरी लिखी गई हो। उसको दूसरी बार जब मैंने लिखा, तो मैं उससे तटस्थ हो चुका था और उसमें कल्पना से उसका विस्तार हुआ और तीसरी बार लिखने के बाद वह इस उपन्यास रूप को ग्रहण कर पाया। इस तरह जो पहला ड्राफ्ट था, वह एक तरह से मेरा आत्मानुभव था और इसके बाद की तटस्थता ने उसे रचना बनाया।

इसी के साथ मैं एक सवाल पूछ लूं कि आपने 'अस्पताल' के बारे में आत्मकथ्य लिखा और उधर अरस्तु के विरेचन-सिद्धांत की बात की। क्या लेखक लिखते समय वाकई इस विरेचन की प्रक्रिया से गुजरता है? लिखने के बाद लेखक का आक्रोश, विशेष तौर से व्यंग्य के संबंध में अगर कहूं तो खत्म हो जाता है या वह लेखक में बरकरार रहता है?

ऐसा है कि केवल व्यंग्य ही नहीं, किसी भी रचना से पहले क्रिएटिव टेंशन पैदा होती है और कई बार बिलकुल यह लगता है कि हम अपनी इस छटपटाहट से मुक्ति पाने के लिए इसे कागज पर उतार रहे हैं और यह भी बिलकुल सही है कि लिख देने के बाद आदमी संतुलन प्राप्त करता है।

संतुलन तो प्राप्त करता है, लेकिन जैसे व्यंग्य स्थिति में आक्रोश है और वह आक्रोश लेखक पाठक के मन तक ले जाना चाहता है, तो क्या लेखक लिखने के बाद उससे मुक्त हो जाता है?

एक तो संतुलित आक्रोश है, जो सेंटीमेंट या स्थायी आक्रोश के रूप में लेखक के मन में है और दूसरा जो है, वह इतना ज्यादा सतह के ऊपर आ गया होता है कि वह आपको संतुलित नहीं होने देता, वह आपको व्याकुल किए हुए है। वह व्याकुलता समाप्त हो जाती है। लेकिन मन में से न्याय-अन्याय या आक्रोश की भावना समाप्त हो जाए, ऐसा तो संभव नहीं है। संतुलन के रूप में तो वह रहेगी ही।

जिस संतुलन की बात आप कर रहे हैं, रचना में यह भी आता है या सतह का आक्रोश ही रचना में आता है?

जो उफनकर ऊपर आ गया और सृजन मांग रहा है, वह निश्चित रूप से निकल आता है, जैसे एक उदाहरण मैं दूं कि हमारे यहां ऐसा है कि किसी के घर में मृत्यु हो जाए, तो उससे बार-बार लोग पूछते हैं कि क्या हुआ और वह बार-बार बताता है, तो इस तरह से कहकर वह अपना विरेचन तो करता ही है। उसी तरह से लिख लेने के बाद लेखक. . .। यानी मैंने कई बार यह अनुभव किया कि लिख लेने के बाद मुझे मुक्ति मिली। लेकिन यहां लेखन के रूप में जो मेरी टेंशन थी, वह तो समाप्त हो गई पर व्यक्ति के रूप में समाज में जी रहा हूं, तो उस समाज की विसंगतियों के प्रति आक्रोश तो व्यक्ति के मन में रहेगा ही। ऐसा तो नहीं है कि अगर मैंने रचना कर दी तो न्याय-अन्याय की भावना ही समाप्त हो जाए।

मैं इस बात को व्यंग्य के साथ इसलिए जोड़ रहा हूं कि जो व्यंग्येतर विधाएं हैं, उनमें तो लिखा और विरेचन हो गया, परंतु व्यंग्य में विसंगति और आक्रोश होने के कारण आक्रोश को पाठकों तक वितरित करने की प्रक्रिया में यदि व्यंग्यकार का आक्रोश विरेचित हो जाए, तो यह गलत बात है।

मैं यह कह रहा हूं कि इस आक्रोश या क्षोभ में जहां लेखक असंतुलित हो रहा है, उसे चैन नहीं आ रहा है, वह कागज पर उतारने के बाद कम से कम मानसिक संतुलन तो पा ही लेता है। विचार के धरातल पर विसंगति न्याय-अन्याय की बात तो उसमें रहती ही है। ऐसा नहीं है कि वह भी खत्म हो जाती है। लेकिन निश्चित रूप से, जो छटपटाहट है, वह निकल जाती है, लेखक उससे मुक्ति पा लेता है।

अभी आपने रचना के उद्देश्य की बात की कि वह लेखक को संतुलन की स्थिति में लाती है या व्यंग्यकार अपने आक्रोश को पाठकों तक वितरित करता है तो लेखक की रचना समाज पर क्या प्रभाव डालेगी या लोगों को आकर्षित करेगी या इसे पढ़कर पाठक को उद्वेलन होगा, यह सब देखना भी क्या लेखक का उद्देश्य नहीं है?

संप्रेषण तो पहली चीज है। अपने पाठक के पास हम अपने मन की बात पहुंचाना चाहते हैं। इसलिए हम लिखते हैं। वैसे तो यह होता है कि आदमी बातचीत करके विचारों को बांट लेता है, बातचीत से भी विरेचन हो ही जाता है, लेकिन कागज पर उतारते समय यह होता है कि वह कृति अज्ञात देशकाल, अपने आसपास ही नहीं, बल्कि पता नहीं भविष्य में किस-किस तक वह बात पहुंचेगी। इसी रूप में कलाकृति सामान्य व्यवहार की बातचीत से भिन्न है। जैसे हम वाल्मीकि को आज पढ़ते हैं, होमर को पढ़ते हैं, शेक्सपियर, कालिदास को पढ़ते हैं– ये तो हमें जानते भी नहीं थे। इसलिए संप्रेषण कहां तक होगा, इसका कोई पता नहीं होता। इस रूप में केवल यही नहीं है कि कहकर जैसे अपने-आपको शांत कर लिया या मन का बोझ हलका कर लिया। लेखक का लक्ष्य मन का बोझ हलका करना नहीं है, यह मैंने कहा भी नहीं। मैं यह कह रहा हूं कि लक्ष्य तो संप्रेषण है, लेकिन मन को बोझ भी हलका हो जाता है। जैसे, हमारे संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रयोजन की बात कही गई है, ये कोई मूल प्रयोजन थोड़े ही हैं। कुछ आकांक्षित प्रयोजन हैं, कुछ अनाकांक्षित प्रयोजन हैं। आप न भी चाहेंगे, तो भी आपको यश

मिलेगा, अगर रचना अच्छी है, तो! जरूरी नहीं कि आप यश के लिए लिख रहे हैं, लेकिन आपको यश मिलेगा और यश मिलेगा तो आपको अच्छा भी लगेगा। लेकिन यदि एक आदमी यह सोचकर बैठे कि मैं यश-प्राप्ति के लिए लिख रहा हूं, तो निश्चित रूप से वह अच्छी रचना नहीं होगी।

मेरा सवाल कुछ इस तरह से था कि क्या रचना समाज में जाकर कुछ प्रभाव डालती है और उसका पीछा करना क्या लेखक का दायित्व है?

मेरा खयाल है कि लिखते समय लेखक यह बात नहीं सोचता है। वहां तो केवल एक चीज है, जिसको हम काव्यशास्त्रीय भाषा में तादात्म्य कहेंगे या साधारणीकरण कहेंगे। तो जो उसके मन में है, उस बात को वह पाठक के मन में उतार देना चाहता है। अगर बाद में कभी अपनी रचना से मुक्त होकर चिंतक या सामाजिक व्यक्ति के रूप में उसको लगता है, या शायद लेखक को नहीं लगेगा कि उसका दुष्प्रभाव हो रहा है– दूसरे लोग रखते हैं। इसलिए आलोचक या सामान्य पाठक या चिंतक ये हमेशा कहते आए हैं कि प्रवृत्ति गलत है और यह ठीक है। मुझे लगता है कि जो प्रवृत्तियां गलत हैं, उनका लेखक भी उनके त्रुटिपूर्ण होने का अनुभव नहीं कर पाता होगा। तभी तो वह लिखता होगा। शायद लेखक पीछा नहीं करता कि रचना का क्या प्रभाव हो रहा है। जो उसके मन में होता है, प्रभाव भी वही हो, साधारणीकरण का मतलब ही यही है।

आपने पहले काफी व्यंग्य-रचनाएं लिखीं और काफी तेजी से लिखीं। पर अब गति कुछ कम हो गई है, इसका कोई कारण है?

असल में मैं यह समझता हूं कि सृजन-प्रक्रिया काफी रहस्यवादी है। भीतर से कब क्या उभरकर आता है। मैं या कोई भी लेखक अपनी इच्छा से कहे कि मैं यही लिखूंगा, तो मेरा खयाल है कि यह संभव नहीं है। यह बड़ी जटिल किस्म की चीज है। इसे मैं यात्रा के रूप में लेता हूं कि जैसे आगे बढ़ते गए, सृजन-प्रक्रिया और विकसित होती रही, बड़ी रचनाओं की ओर ध्यान जाता रहा। यह भी बहुत सही है कि इस बीच में व्यंग्य की कोई बात आ गई, तो लिख ली। लेकिन जब लंबी बात आती है, तो मुझे लगता है कि जीवन का अनुभव जब ज्यादा होता है और उस तरफ लेखक बहुत ज्यादा सोचता है, वह स्थिति किसी समय महाकाव्य में होती थी और आजकल उपन्यास में होती है। मैं उपन्यास की श्रेष्ठता की बात नहीं कर रहा, लेकिन मैं अपनी सृजन-प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए कह रहा हूं कि मन में कोई बात उठी और उपन्यास में मैं लगा हुआ हूं। एक लंबा-सा उपन्यास लिख रहा हूं, बीच में कोई छोटी-सी चीज उभरी लहर की तरह, तो होता यह है कि या तो वह उपन्यास की तीव्रता के सामने बह जाती है या उपन्यास की तीव्रता उसे धकियाकर बाहर कर देती है या यह कि वह भी उपन्यास में ही कहीं समा जाती है। इस तरह व्यंग्य की छोटी रचनाओं के साथ नही हुआ है क्योंकि जो व्यंग्य की सबसे बड़ी रचना है वह 'आश्रितों का विद्रोह' और मेरा ख्याल है कि व्यंग्य की जो टेंशन है, उसमें लंबे समय तक अपने को बनाए रखना लेखक के लिए भी और पाठक के लिए भी संभव नहीं है।

अगर हम अपने व्यंग्यकारों को देखें जैसे शरद जोशी, रवींद्रनाथ त्यागी आदि, ये व्यंग्य ही लिख रहे हैं, लेकिन आपने व्यंग्य के अलावा भी अन्य विधाओं में लिखा है, इसका कारण क्या व्यक्तित्व का अंतर ही है? बाकी लोग लिख रहे हैं, इसका यह अर्थ तो नहीं हो सकता कि व्यंग्य के आलंबन समाप्त हो गए, जैसे 'रामकथा' में आपने पौराणिक कथानक के माध्यम से आधुनिक स्थितियों पर आक्रोश व्यक्त किया है। तो आक्रोश तो यहां है, लेकिन माध्यम बदल गया है, तो कैसे व्यंग्य लिखते-लिखते आपने अपना माध्यम बदल लिया?

मैं असल में इसे अगर मोटे तौर पर कहूं तो मुझे लगता है कि व्यक्तित्व से ही इसका संबंध है। एक बार जब मुझसे शरद जोशी ने यह कहा कि भाई तुमने व्यंग्य लिखना क्यों बंद कर दिया है, पहली बात यह है कि मैं यह नहीं मानता कि मैंने बंद कर दिया, अभी भी लिखता ही हूं, हां, 'केवल व्यंग्य' नहीं लिखता। मैंने उनसे भी यही कहा था कि मेरी ऐसी कोई मजबूरी नहीं है कि मैं केवल व्यंग्यात्मक निबंध ही लिखूं। मुझे बात कहने के लिए जो शिल्प आवश्यक लगेगा, मैं उसमें लिखूंगा। कहानी की जरूरत हो, व्यंग्य की हो, नाटक की हो, उपन्यास की हो, पौराणिक हो, समकालीन हो, कुछ भी हो, मेरे मन में ऐसा कोई पूर्वाग्रह नहीं है कि मैं केवल यही लिखूंगा और न मैं यह सोचता हूं कि यह कोई महानता है मेरी, मुझे तो लगता है कि यह तो क्षमता का विकास है कि हम विभिन्न विधाओं में लिखें।

अब रवींद्रनाथ ठाकुर ने अगर हर विधा में लिखा, और बहुत अच्छा लिखा, तो यह उनकी अक्षमता तो नहीं, वे केवल एक ही चीज क्यों लिखते रहे? तो जिन लेखकों ने, जैसे हरिशंकर परसाई और शरद जोशी ने केवल व्यंग्य ही लिखे, हालांकि अब तो शरद जोशी ने नाटक भी लिखे हैं और नाटक की तरफ अब भी उनका काफी ध्यान है और इसकी चर्चा भी है तो उनसे भी पूछा जा सकता है कि साहब, आपने निबंध छोड़कर नाटक क्यों लिखे? तो मेरे कहने का मतलब है कि क्योंकि हम लिख सकते हैं, और अपना विकास कर सकते हैं, तो क्यों न करें? इसमें कोई कमी या अक्षमता वाली बात नहीं है। अक्षमता अगर हो सकती है तो दूसरी तरह की होगी, जैसे मैं कविता नहीं लिख सकता तो मैं मानता हूं कि मैं अक्षम हूं, वह मेरे व्यक्तित्व की सीमा है कि मुझमें काव्यत्व नहीं है और मैं

काव्य नहीं लिखता, बाकी जो मैं लिख सकता हूं, वह मैं लिखता हूं। लेकिन यह भी सही है कि मेरे साथ वह सामाजिक मजबूरी भी नहीं रही कि मुझे जैसे नियमित रूप में कॉलम लिखना हो या उस तरह की छोटी रचनाएं देनी ही हों, पत्रिकाओं में। जब लंबा प्रोजेक्ट आदमी लेकर चलता है, कोई बड़ा उपन्यास आप लिखने में लगे हैं, तो पत्रिकाओं के लिए लिखना बंद हो जाता है, और मेरे लिए यह कभी बाधा के रूप में नहीं आई।

अगर मैं फ्रीलांस लेखक होता, तो यह हो सकता था कि मेरे साथ भी यह होता कि मुझे महीने में चार पत्रिकाओं में चार आर्टिकल देने ही होते, या हो सकता है कि मुझे अभ्यास हो जाता। अगर हम यह कहें कि हरिशंकर परसाई का लंबी रचनाएं लिखने का अभ्यास नहीं बना, तो मेरे साथ यह है कि मेरा धारावाहिक कॉलम लिखने का अभ्यास नहीं बना। मैं अपने-आपको इन चीजों में बांध नहीं सकता। यह अनुशासन मैंने नहीं सीखा, जो उन्होंने सीखा। उनका अपना ढंग है, मेरा अपना ढंग है। न मैं यह कहना चाहता हूं कि वह श्रेष्ठ हैं, इस चीज को लेकर, और न मैं यह कहना चाहता हूं कि मैं श्रेष्ठ हूं।

यह जो आपने कॉलम लिखने की बात उठाई, तो मेरा ध्यान व्यंग्य-पत्रकारिता की ओर गया। व्यंग्य-पत्रकारिता-लेखन में होता क्या है कि जो रचना आपने लिखी है, वह केवल कुछ ही समय के लिए है, रचना बहुत कुछ संदर्भों में बंध जाती है और बाद में आकर रचना, संदर्भ के अभाव में निर्जीव हो जाती है, शायद इसीलिए व्यंग्य पर लोगों का आरोप है कि यह बहुत तात्कालिक है, तो इस बारे में आपका क्या ख्याल है?

क्योंकि उसके साथ पत्रकारिता शब्द जुड़ गया है, तो यह रचना की कोटि तक तो आएगी ही नहीं। यह मैं नहीं कह रहा हूं कि जिसके साथ पत्रकारिता शब्द नहीं जुड़ा है, वह रचना की कोटि में आएगा ही, लेकिन मैं यह मानता हूं कि कॉलम-राइटिंग किसी नोटिस के दौरान जल्दी लिखी गई रचना है। कॉलम-राइटिंग के लिए लेखक को उतना समय और प्रेरणा नहीं मिलती कि वह सचमुच उसकी रचना-प्रक्रिया को पूरा करके तब उसे लिखे, क्योंकि वह समय के साथ बहुत ज्यादा बंधा हुआ है, आर्टिकल तो पत्रिका को देना ही है। ऐसे लेखन में हलकापन आ ही जाता है। जो लेखक लिखते हैं, वे भी इस बात को महसूस करते हैं।

तत्कालीन संबंधों से जुड़ने की बात से व्यंग्य और राजनीति के संबंधों की बात जुड़ी हुई है। ऐसा देखा गया है कि व्यंग्य तभी ज्यादा शार्प होता है, जब वह राजनीति से जुड़ता है या राजनीति इतनी व्यापक है कि आज सभी चीजों को उसने अंगीभूत कर लिया है।

हां, यह है न कि जितनी भी विसंगतियां हैं, उनका मूल हमको लगता है कि राजनीति है। घूम-फिरकर बात जब आती है कि समाज में ऐसा क्यों हो रहा है, तो राजनीति ही नजर आती है। तो फिर मूल पर प्रहार करना होता है, जहां राजनीति ही है। इसमें अंतर सिर्फ इतना है कि राजनीतिक लेखन अलग चीज है और पार्टी लेखन अलग। यह मैं इसलिए कह रहा हूं कि हमारे देश में जितनी पार्टियां हैं, उन पार्टियों के अपने-अपने अखबार निकलते हैं, और उन सारे अखबारों में काफी समय से, जिसमें राजनीतिक व्यंग्य छपते हैं, कुछ अखबारों में ये साप्ताहिक कॉलम हैं और उर्दू वगैरह में 'प्रताप' आदि कुछ ऐसे भी अखबार थे, जिनमें रोज व्यंग्य का कॉलम छपता था। 'प्याज के छिलके' वगैरह फिक्र तौंसवी लिखते रहे हैं तो वह जो हैं, वह निश्चित रूप से अपनी पार्टी की ओर से विरोधी दलों पर प्रहारक लेखन है। तो वह साहित्य में उतने महत्व का तो नहीं हो सकता। पार्टी-लेखन से अलग होकर किसी लेखक ने लिखा तो वह साहित्यिक कृति बनी। अब जैसे हरिशंकर परसाई ही स्वतंत्र रूप से भी व्यंग्य लिखते हैं और पार्टी-अखबार के लिए भी, तो उन दोनों रचनाओं में अंतर मिल जाएगा।

राजनीति से ही जुड़ा हुआ सवाल है कि क्या व्यंग्य-लेखक को वामपंथी होना चाहिए?

एक उदार दृष्टि से तो हर लेखक को वामपंथी ही होना चाहिए, क्योंकि जो वर्तमान में है, उससे वह संतुष्ट होना नहीं चाहता और वह समाज को आगे बढ़ाना चाहता है।

वामपंथ से मेरा मतलब आप मार्क्सवाद से ले सकते हैं।

हां, तो साम्यवाद क्योंकि वर्तमान व्यवस्था को तोड़कर उससे आगे की स्थिति लाना चाहता है, इसलिए वह वामपंथ हो जाता है यानी वर्तमान से असंतुष्ट-पुरातन की तरफ नहीं लौटना, आगे की तरफ बढ़ना, वामपंथ यही हो जाता है। लेकिन दूसरी चीज यह है कि जब पूर्वाग्रहयुक्त दृष्टिकोण होता है कि हमको अपने पक्ष की रक्षा करनी ही है, अच्छा हो या बुरा। जब इस दृष्टि से लिखा जाएगा, तो वह प्रचारात्मक लेखन ही होगा। और अगर आप सचमुच लेखक की तरह यानी राग-द्वेष से मुक्त होकर न्याय-अन्याय की बात सोचने वाले लेखक की तरह लिख रहे हैं, अपने पक्ष और पराए पक्ष की बात न सोचकर जब हम साधारणीकरण की बात सोचते हैं, तो वह अपनी सीमाओं से भी मुक्त हो जाता है। वह लेखन ही श्रेष्ठ होता है। क्योंकि मैं साम्यवादी हो गया, इसलिए मैं अच्छा लिख रहा हूं। बहुत सारे घटिया लेखक हैं, जो साम्यवाद की बात यदि बहुत पुरानी शताब्दी में 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' कहूं या जिस समय हमारे यहां मार्क्सवाद भी यही कहता है, तो वह मानवतावाद का पर्याय हो जाता है। जनवादी का अर्थ ही है कि अधिक जनों के लिए हो वह।

सवाल बहुत मोटा-सा है, लेकिन अभी भी यह लोगों के दिमाग में साफ नहीं हो पाया है। व्यंग्य, हास्य-व्यंग्य की शब्दावली को लोग एक-दूसरे में गड़मड़ करते हैं। आपके ख्याल में इन शब्दों में कहां तक सहयोग, विरोध या अजनबीयत है?

सहयात्री तो हैं ही, क्योंकि व्यंग्य जो है, वह एक टेंशन का पर्याय है। और उस टेंशन को आदमी का दिमाग बहुत दूर तक वहन नहीं कर पाता, इसलिए मुझे लगता है कि हास्य उसके साथ आकर उसे बर्दाश्त के काबिल बनाता है। इसलिए हम हास्य को व्यंग्य से निकाल तो नहीं सकते, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि हम शुद्ध हास्य रचनाओं को शुद्ध व्यंग्य रचनाओं से अलग-अलग न करें।

दूसरी चीज है विनोद की रचनाएं, जो केवल मनोरंजन के लिए होती हैं। अंग्रेजी में इन्हें ह्यूमर कहते हैं। लेकिन उन हास्य रचनाओं का विरोध हम जरूर करेंगे, जिनको आमतौर पर हम फूहड़ कहते हैं। अगर परिष्कृत कोटि का हास्य, व्यंग्य के साथ चलता है, तो वह एक संतुलन बनाए रखता है। लेकिन जिस हास्य के पीछे कोई चिंतन-दृष्टि नहीं है, उसे निश्चित रूप से व्यंग्य से निकाल देना चाहिए।

व्यंग्य को सिर्फ एक शैली तक ही लोगों ने रखने का षड्यंत्र किया है कि यह शब्दावली और चुटीले वाक्य का चमत्कार मात्र है। आपको क्या लगता है कि क्या वास्तव में व्यंग्य के कुछ उपकरण हैं, वह क्या उन्हीं तक सीमित हैं?

मुझे लगता है कि किसी भी विधा के लिए यह कहना कि वह इस तरह की शब्दावली लेकर चलती है, जरा कठिन काम है। ऐसा नहीं कहना चाहिए। लेकिन जब हम विधाओं का विश्लेषण करते हैं, तो हम यह जरूर पाते हैं कि उनमें सचमुच ऐसे कुछ उपकरण आ गए हैं, जिनका बार-बार उपयोग हो रहा है। इधर जो मेरी नजर में व्यंग्य संबंधी आलोचना या शोध जो भी गुजरा है, उसमें यह सब सोचने का प्रयास किया गया, तो लगा कि हां, जैसे सचमुच यह बात है। जैसे- व्यंग्य में फैंटेसी का प्रयोग किया गया, अतिशयोक्ति का प्रयोग किया गया, समासोक्ति का प्रयोग किया गया, अन्योक्ति का प्रयोग किया गया, व्यंजनों का प्रयोग किया गया, बहुत बड़े और छोटे की अटपटी तुलना की गई। बहुत गंभीर विषय को लेकर बहुत साधारण विषय के साथ जोड़ दिया गया और उससे कंट्रास्ट पैदा किया गया, तो इस तरह की युक्तियां तो होती ही हैं। जिस तरह से काव्य का अपना अलंकारशास्त्र है, उस तरह से व्यंग्य का भी अपना एक अलंकारशास्त्र बनेगा ही बनेगा– इसमें तो कोई संदेह नहीं है। और भाषा में चुटीली होने की बात कही जाती है, लेकिन मुझे लगता है कि पूछा जाए, अपने-आप में चुटीली भाषा क्या होती है, तो यह तय करना बड़ी दिक्कत का काम हो जाएगा। एक शब्द जो एक प्रसंग में गंभीर है, वह दूसरी जगह बड़ा चुटीला हो सकता है। यह तो इस बात पर निर्भर करता है कि उस शब्द का या उस काव्य-खंड का या उस वाक्य का लेखक ने किस संदर्भ में किस ढंग से प्रयोग किया है। हमारे परंपरागत काव्यशास्त्र में यह है कि ओज के गुणों के लिए ये ध्वनियां होंगी और मधुर के लिए ये होंगी, प्रसाद के लिए ये होंगी, उस तरह से व्यंग्य के लिए कौन से शब्द और वाक्य होंगे, यह अलग करना मेरे लिए तो बड़ा कठिन है।

कई बार परिस्थितियों की विकरालता बहुत ज्यादा होती है, तो लेखक एक तरह से सपाटबयानी करता है। अपनी तरह से रचनात्मकता लाने का प्रयास वह नहीं करता। कहना चाहिए कि वह अभिधा में लिखता है। तो क्या वह भी व्यंग्य की कोटि में आ जाता है?

आधुनिक व्यंग्य तथाकथित प्राचीन व्यंग्य से इसी रूप में भिन्न है। यह बात, मेरा ख्याल है कि मैंने कहीं लिखी या कही भी है कि हमारा जो आधुनिक व्यंग्य है, वह कटाक्ष है और कटाक्ष बिलकुल अभिधा में! यह स्थितियों की ही विसंगतियां हैं कि आप उन स्थितियों को सीधा-सीधा लिख दें– अभिधा में, तो भी वह कटाक्ष हो जाता है, क्योंकि वहां गलत हो रहा है। इसलिए संस्कृत-काव्यशास्त्र के लोग जहां व्यंग्य को व्यंजना से ही जोड़ते हैं, वहां हम बताते हैं कि नहीं साहब, यहां व्यंजना में नहीं, यहां तो अभिधा में भी हो रहा है। लेखक कटाक्ष, सीधा प्रहार कर रहा है। इस रूप में जैसे काव्य के अलंकारशास्त्र में स्वभावोक्ति है कि कृष्ण जो कुछ कर रहे हैं, उसे सूरदास ने सीधा-सीधा लिख दिया, तो भी वह इतना सुंदर हो गया कि काव्य हो गया। इसी तरह से व्यंग्य के क्षेत्र में मुझे लगता है कि विसंगतियां जहां इतनी ज्यादा हों परिस्थितियों की कि केवल आप उनका सीधा-सीधा वर्णन कर दें, तो भी वह व्यंग्य हो जाता है।

अपने बाद आने वाली व्यंग्यकारों की पीढ़ी की रचनाएं तो आपकी नजरों से गुजरती ही होंगी। वह पीढ़ी आपकी पीढ़ी से किन स्तरों पर भिन्न हो जाती है और आपके खयाल में यह नई पीढ़ी किन-किन लोगों से बनती है?

असल में व्यंग्य हो या कोई भी विधा हो, यह जो माना गया कि पीढ़ी के बदल जाने से उसमें कोई नई चीज आ जाए, इस बात से मैं अभी तक सहमत नहीं हो पाया। इसे इस रूप में देखा जाए कि हम कहते हैं भक्तिकाल 250-300 वर्ष चल गया और रीतिकाल 200-250 वर्ष चल गया इत्यादि। मैं यह नहीं कह रहा कि आज की पीढ़ियां भी दो-दो सौ, ढाई-ढाई सौ साल चलें, लेकिन इस उदाहरण से मैं केवल यह कहना चाहता हूं कि केवल पीढ़ियां गिन देते हैं। यह कहना कि तीन पीढ़ियों के बदल जाने से व्यंग्य का शिल्प बदल गया होगा, ऐसा मुझे नहीं लगता। मुझे लगता है कि अभी तो उन्हीं चीजों को लेकर अलग-अलग दृष्टिकोण से अलग-अलग व्यक्तियों से लिखने का प्रयास किया जा रहा है। अभी एक प्रवृत्ति बना लें, तभी तो प्रवृत्ति बदलने की बात आएगी न! ये छोटे-छोटे आंदोलन चाहे वे कहानी में हों या कविता में, हां जो पांच-दस-पंद्रह वर्षों के होते हैं, उनमें मेरी आस्था नहीं है। यही अकसर आभास हुआ है कि हम तो लिखते रहे और इधर आंदोलन होते रहे, कहीं अलग तो कुछ हुआ नहीं। व्यंग्य की पीढ़ियों को अलग-अलग करने में कम-से-कम मैं तो असमर्थ हूं। और नई पीढ़ी ने आकर यह बदल दिया या वह उलटकर धर दिया हो, ऐसा भी मुझे नहीं लगता। या तो मैं देखने में अक्षम हूं या अभी यह इतना स्पष्ट नहीं है। इसके स्थान पर हम यह कहें कि नए लिखने वालों में उत्साह कितना है और कितना वे लिख रहे हैं, मैं उनसे आशावान हूं कि नहीं हूं, तो मैं तो उन लोगों में हूं, बिना इसका विचार किए कि मेरी इस उक्ति का क्या अर्थ निकाला जाएगा, मैं नई मानवता से हमेशा आश्वस्त हूं। मैं उन लोगों में बिलकुल नहीं हूं, जो यह मानते हैं कि संभावनाएं समाप्त हो गईं कि आगे तो अब कुछ होगा ही नहीं, जो कुछ होना था, सब अतीत में हो गया। क्योंकि अगर ऐसा ही होता, तो फिर हमारी भी कोई जरूरत नहीं थी। और मैं जल्दी में भी नहीं हूं कि हर 15-20 वर्षों में एक असाधारण प्रतिभा की प्रतीक्षा करूं। जैसे आरोप लगाया गया कि स्वतंत्रता के बाद के तीस वर्षों में भी हिंदी साहित्य ने एक प्रेमचंद पैदा नहीं किया, तो हर तीस वर्ष में प्रेमचंद पैदा नहीं होता। फिर भी, नई पीढ़ी के जो लोग लिख रहे हैं. . .

(किताबघर द्वारा प्रकाशित 'मेरे साक्षात्कार' से साभार)

यज्ञ शर्मा

नरेंद्र कोहली के प्रेम प्रसंग

नरेन्द्र कोहली बड़े प्रेमी लेखक हैं। उनके व्यंग्यों में प्रेम अच्छी-खासी मात्र में मिलता है। मेरे ख़याल से हिंदी के व्यंग्यकारों में नरेन्द्र कोहली ने सबसे ज़्यादा प्रेम किया है। लोदी गार्डन के पेड़ों और झाड़ियों के पीछे बैठे प्रेमी जोड़ों की तरह उनकी अनेक रचनाओं के कोनें-कूचों में प्रेमी जीव मिल ही जाते हैं। अनेक बार नरेन्द्र कोहली स्वयं अपनी रचना का पात्र बन कर बार-बार प्रेम करते हैं अंर बार-बार असफल होने पर भी साबुत बचे रहते हैं। नरेन्द्र कोहली के प्रेम में बड़ी ताकत है, वह उन्हें आगे और प्रेम करने के लिए बचा कर रखता है।

नरेन्द्र कोहली के प्रेम में भावुकता का अतिरेक नहीं है। कोई चिपकू भावना नहीं है। नरेन्द्र कोहली का प्रेम एक व्यवहार है। जीवन का सामान्य व्यवहार, जैसे कि खाना, पीना, सोना और नौकरी खोजना। आइए, मैं आपको उनके प्रेम की एक बानगी दिखाता हूं। रचना है हिडंबा का घर – 'मेरे दिल को प्रेम लगने की पुरानी बीमारी है। मुझे अंग्रेज़ी में सोचना अधिक उपयुक्त लगता है। मेरा दिल दिन में दो-चार बार तो किसी के साथ प्रेम में गिर ही पड़ता है।' जी हां, दिन में दो-चार बार। आज के ज़माने में इससे ज़्यादा सामान्य कोई और कितना हो सकता है! गिरने के बाद नरेन्द्र कोहली तुरंत उठकर धूल झाड़ते हैं और फिर किसी और के प्रेम में गिर पड़ते हैं। वैसे नरेन्द्र कोहली बेवफ़ा नहीं हैं। अपने दिल में लगे अपनी हर प्रेमिका तीर को वे संभाल कर रखते हैं- 'मैंने ये तीर भी पिछले तीरों के साथ उसी डिब्बे में रख दिए। कुल मिला कर अब मेरे पास कामदेव के दो सौ पैंतीस तीर हो चुके हैं।' ज़ी हां, नरेन्द्र कोहली की एक ही रचना में दो सौ पैंतीस तीर जमा हो गये! इतना प्रेम तो प्रेम कहानियां लिखने वाले भी नहीं करते। वैसे, इस गिनती से दो बातें सपामंच से बाहर की तरफ कूचकर जाहिर हैं। एक- नरेन्द्र कोहली गिन-गिन कर प्रेम करते हैं। दूसरी बात- ये दो सौ पैंतीस तीर नरेन्द्र कोहली ने खाये ज़रूर हैं, लेकिन ज़रूरी नहीं कि उन लड़कियों ने चलाये ही हों। जवानी में ऐसे मौके अनेक बार आते हैं जब लड़की तीर नहीं चलाती, लड़का खुद ही घायल हो जाता है। कुछ दिन तो लड़का कोशिश करता है कि किसी तरह वह लड़की उस पर तीर चला दे। फिर देखता है कि उस लड़की की उस पर तीर चलाने की कोई इच्छा नहीं है तो वह किसी और लड़की से तीर चलवाने की कोशिश में लग जाता है। दो सौ पैंतीस तीर ऐसे ही नहीं जमा हो जाते। और फिर, नरेन्द्र कोहली के साथ भी वही हुआ जो ऐसे लड़कों के साथ होता है- उनके गले वह लड़की पड़ जाती है जिसे वे अपने गले में डालना नहीं चाहते। हिडंबा का घर में नरेन्द्र कोहली संयोगिता से शादी करना चाहते हैं, लेकिन कर नहीं सकते। क्योंकि शादी के बाद संयोगिता के साथ रहने लायक घर नहीं है उनके पास। वहीं कमला (जिसे नरेन्द्र कोहली हिडंबा कहते हैं) सरकारी नौकरी करती है और उसके पास सरकारी क्वार्टर है। जी हां, दहेज के अनेक रूप होते हैं। और, कई बार प्रेम भी दहेज देख कर किया जाता है।

नरेन्द्र कोहली ने कई तरह के प्रेम किये। एक प्रेम तो ऐसा किया जिसमें उनका खून सूख गया। उन्हें ब्लड बैंक में काम करने वाली एक अप्सरा मिल गयी 'ब्लड बैंक की अप्सरा'। इस रचना में नरेन्द्र कोहली की मुठभेड़ विकासशील प्रेम से होती है। वे पहल करते, उससे पहले ब्लड बैंक की अप्सरा ने पहल कर दी –

– 'मैं तुमसे प्रेम करना चाहती हूं।'

– 'तुम मुझसे क्यों प्रेम करना चाहती हो?'

– 'मैं तुमसे ही नहीं, तुम जैसे बहुत सारे लोगों से प्रेम करना चाहती हूं।'

– 'क्यों?'

– 'क्योंकि मैं ब्लड बैंक में काम करती हूं।'

अब नरेन्द्र कोहली अपने बचाव का रास्ता खोजने की कोशिश करते हैं। किसी गले पड़ू प्रेमिका से बचने का सबसे अच्छा उपाय यह होता है, उसे यह बता दिया जाए कि प्रेमी शादीशुदा है। जैसे ही नरेन्द्र कोहली ने ब्लड बैंक की अप्सरा को बताया कि वे शादीशुदा हैं तो अप्सरा और भी ज़्यादा उत्साह से भर जाती है, 'पत्नी! तुम्हारी पत्नी भी है? तुम विवाहित हो?. . . तब तो और भी अच्छा है।' . . .प्रेम का रिश्ता दिल से होता है और दिल का ख़ून से। ब्लड बैंक की अप्सरा उसी रिश्ते को देख रही थी। और नरेन्द्र कोहली में उसे दो दिलों का ख़ून नज़र आ रहा था। नरेन्द्र कोहली उससे प्रेम करना तो चाहते थे, लेकिन जब उन्होंने ब्लड बैंक की गाड़ी, ख़ून निकालने की सुई और बोतलें देखीं तो उनका ख़ून सूख गया।

वह प्रेम ही क्या जिसमें कोई त्रासदी न हो। नरेन्द्र कोहली तरह-तरह की त्रासदियां झेलने के आदी हैं। अपने एक ही संग्रह 'देश के शुभचिंतक' में उन्होंने सोलह शीर्षकों में त्रासदियां झेली हैं, जिनमें एक त्रासदी प्रेम की भी है 'त्रासदियां प्रेम की'। यह त्रासदी झेलने का मुख्य कारण यह है कि इस प्रेम प्रसंग में नरेन्द्र कोहली अपनी आदत के विपरीत कुछ भावुक हो गये- कहां तो वह मेरी बात भी नहीं सुनती थी और कहां उस दिन बोली- 'मैं तैयार हूं। जहां तुम्हारा मन चाहे ले चलो।' तब नरेन्द्र कोहली के मन में मां का चेहरा उभर आया- 'कब से मां कह रही है, बेटा, वह कौन-सा दिन होगा जब तू एक चांद-सी बहू मुझे ला देगा।' मेरे मन ने कहा, 'यही अवसर है नरेन्द्र कोहली। दोनों

शेष पृष्ठ-70 पर. . .

सी. भास्कर राव

समकालीन हिंदी व्यंग्य के पुरोधा

आधुनिक और समकालीन हिंदी व्यंग्य के इतिहास में व्यंग्यकार नरेंद्र कोहली का एक विशेष स्थान और महत्व है। आधुनिक व्यंग्य की धारा हमें भारतेंदु युग से ही मिलती है, लेकिन समकालीन व्यंग्य साहित्य को एक गंभीर और महत्वपूर्ण विधा के रूप में स्थापित करने वाले रचनाकारों की अगली पंक्ति में नरेंद्र कोहली दिखलाई पड़ते हैं। आज हिंदी व्यंग्य का जो चहुमुखी विकास दिखता है, उसका श्रेय विशेषकर उन रचनाकारों को जाता है, जिन्होंने व्यंग्य को उस समय उसकी दशा सुधारने और उसे दिशा देने का प्रयास किया, जब हिंदी व्यंग्य का न कोई सुदृढ़ आधार था और न ही कोइ स्पष्ट स्वरूप। नरेंद्र कोहली एक प्रकार से समकालीन हिंदी व्यंग्य के संस्थापकों में एक हैं। आज का यह व्यंग्य साहित्य, साहित्यिक दृष्टि से जब लगभग अपनी शैशव-अवस्था में था, तब उसे परिष्कृत और परिमार्जित करने, परिपक्त तथा प्रौढ़ बनाने में नरेंद्र कोहली का योगदान विशेष रूप से स्मरणीय है। जब कहानी, उपन्यास, नाटक और निबंध जैसी गंभीर विधाओं को ही साहित्य की शीर्ष विधाएं माना जाता था और व्यंग्य समाचार पत्रों तक सीमित था, तब उसे साहित्य की अन्य विधाओं के समानांतर स्थापित करने में हिंदी के जिन व्यंग्यकारों की सबसे अहं भूमिका रही, उनमें नरेंद्र कोहली का नाम प्रथम पंक्ति में आता है। हिंदी व्यंग्य का इतिहास उनके उल्लेख के बिना पूरा नहीं होता है।

जो लोग नरेंद्र कोहली को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं, उन्हें यह मानने में कोई संकोच नहीं होगा कि व्यंग्य उनके व्यक्तित्व का एक अभिन्न अंग है। वे केवल लेखन के स्तर पर ही व्यंग्यकार नहीं है, अपनी बोलचाल में भी उनके व्यंग्य काफी रोचक और मारक होते हैं। वे यदि व्यंग्य सायास लिखते तो बहुत संभव था कि एक समय के बाद उनके व्यंग्य के रंग फीके पड़ जाते। चूंकि व्यंग्य उनके व्यक्तित्व से जुड़े होते हैं, इसलिए उनके व्यंग्यों में सहजता मिलती है और साथ ही स्तरीयता भी। कई बार ऐसा होता है कि मित्रमंडली में या परिवार के सदस्यों के बीच वे व्यंग्य ही ऐसी चुटकियां लेते हैं कि वे किसी साहित्यिक रचना के वाक्यों से कम धारधार नहीं होती हैं। जब कोई रचनाकार अपने व्यक्तित्व के साथ रच-बस कर, घुल-मिलकर कोई रचना लिखता है तो वह एक अनायास अभिव्यक्ति बनती है। उसमें स्वाभाविक के साथ प्रवाहमयता भी आती है। नरेंद्र कोहली की बोली के व्यंग्य में और उनके लिखे व्यंग्य में कोई अमूलचूल अंतर नहीं होता है। यह उनकी व्यंग्य रचनाओं को बड़ी सहजता से संप्रेषणीय बना देता है। नरेंद्र कोहली आज हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में शीर्ष पर दिखलाई पड़ते हैं। उन्होंने रामकथा, महाभारत और विवेकानंद पर हिंदी में मौलिक उपन्यास लिखकर अपनी उपन्यास कला की महारत प्रमाणित कर दी है। आज ये उपन्यास श्रृंखलाएं, हिंदी में सबसे लोकप्रिय हैं। वे अपने लेखन के लगभग आरंभ में से ही उपन्यास लिखते रहे हैं, लेकिन पहले एक कथाकार और व्यंग्यकार के रूप में अधिक ख्याति थी। हिंदी के सबसे चर्चित कथाकारों में एक माने जाते थे। हिंदी की सभी महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से उनकी कहानियां प्रकाशित होती थीं और सराही भी जाती थीं। कहानी के समानांतर जब वे व्यंग्य लिखने लगे तो उसमें वे निखरते गए। उनका कथाकार जरा पिछड़ता गया और व्यंग्यकार मुखर होता रहा। कथा लेखक के रूप में उनकी अपनी एक पहचान तो थी ही, लेकिन वे व्यंग्यकार के रूप में अधिक प्रसिद्ध होते गए। जब वे अन्य व्यंग्यकारों के साथ मिलकर हिंदी व्यंग्य को एक साहित्यिक प्रतिष्ठा दिलाने की मुहिम में जुटे, तब वे हिंदी व्यंग्य-आंदोलन के एक पुरोधा बनते गए और व्यंग्य उनके लेखन में इतना प्रबल होता गया कि उस समय यही प्रतीत हो रहा था कि नरेंद्रजी हिंदी में कल, आज और कल एक सिद्धहस्त व्यंग्यकार के रूप में ही सर्वाधिक जाने-माने जाएंगे, लेकिन जब उन्होंने अपनी उपन्यास श्रृंखलाएं एक के बाद एक दूसरी लिखनी आरंभ की तो स्वाभाविक रूप से उनके व्यंग्यकार के विस्तार में किंचित कमी आई। यह उनके लेखन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। उनका कथाकार, व्यंग्यकार की तेजी के सामने कुछ मंद पड़ा और उपन्यासकार की चमक के सामने उनका व्यंग्यकार कुछ फीका पड़ा। इससे हिंदी व्यंग्य के संसार में किसी भी तरह उनका मूल्य और महत्व कम नहीं होता है, इसलिए कि उनका योगदान इस क्षेत्र में ऐतिहासिक है। वे समकालीन हिंदी व्यंग्य के शानदार भवन की एक जानदार और वजनदार नींव की ईंट हैं।

उनके लेखकीय व्यक्तित्व में कथाकार सबसे प्रबल है। व्यंग्यकार ने कथा को कई बार अपनी रचनाओं का आधार बनाया है, इसलिए व्यंग्य में कथा का आनंद भी है और व्यंग्य की आक्रामकता भी। उनका 'पांच एबसर्ड' उपन्यास, इसका सबसे जीवंत प्रमाण है। उसमें कथा-व्यंग्य भी है और उपन्यास-व्यंग्य भी। व्यंग्य को सीधे एक लेख के रूप में न लिखकर, जब उन्होंने उसे कथारूप में प्रस्तुत किया तो हिंदी व्यंग्य को एक नया आयाम मिला। हिंदी व्यंग्य-जगत में वे शायद अकेले व्यंग्यकार हैं, जिन्होंने हिंदी व्यंग्य को एक बड़ा ही लोकप्रिय चरित्र दिया- रामलुभाया। इस तरह का व्यंग्य चरित्र विधान हिंदी में अन्यत्र नहीं मिला है। उनका रामलुभाया एक जीता-जागता व्यक्ति बन गया। जिस तरह देश के कई जाने-माने कार्टूनिस्ट के अपने पात्र विशेष होते हैं, जो एक तरह से उनके प्रतिनिधि बन

जाते हैं, उसी तरह रामलुभाया व्यंग्यकार नरेंद्र कोहली का एक प्रतिनिधि है। कोई एक चरित्र जब लेखक के व्यक्तित्व के आयाम विशेष का परिचायक बन जाता है, तो वह अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है। फिर वह चरित्र केवल व्यंग्य के पृष्ठों का एक पात्र मात्र न रहकर हाडमांस का मनुष्य-सा बन जाता है तो यह उपलब्धि और भी बड़ी हो जाती है।

एक रोचक बात यह है कि नरेंद्र कोहली के कथा साहित्य और व्यंग्य साहित्य में कई जगह अच्छा तालमेल दिख जाता है, जिससे कथा का विस्तार होता है और उनके व्यंग्य में निखार आता है। इन दोनों विधाओं ने एक दूसरे को अपनाया भी है ओर एक दूसरे का विकास भी किया है, लेकिन उनके उपन्यासकार और व्यंग्यकार में ऐसा कोई सीधा तालमेल नहीं दिखता है। उसकी एक बड़ी और स्पष्ट वजह तो यह है कि उन्होंने उपन्यास इतने गंभीर विषयों पर लिखे कि उनमें व्यंग्य की संभावना नहीं के बराबर ही मिलती है। यह नरेंद्रजी की कुशलता है कि उन्होंने उपन्यासों की गंभीरता को व्यंग्य के तेवर से बचाकर रखा है। उनके उपन्यासों में व्यंग्य नहीं है, यह अनुभव होता है, लेकिन कोई चाहे तो उनकी उपन्यास-श्रृंखलाओं में व्यंग्य की भी तलाश कर सकता है, जो अपने आप में रोचक भी होगा और शोधपरक भी। उनमें प्रत्यक्ष व्यंग्य न भी हो परोक्ष व्यंग्य को होना ही है, क्योंकि व्यंग्य उनके रचनाकार व्यक्तित्व का उतना ही प्रबल प्रखर हिस्सा है, जितना कथाकार और उपन्यासकार है। सामान्य रूप से उनके उपन्यासों को व्यंग्यहीन माना जा सकता है। विशेषकर उन उपन्यासों को, जिन्होंने उन्हें लोकप्रियता के शिखर पर पहुंचाया। उनके अन्य उपन्यासों में, कहानियों की भांति व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति को नकारा नहीं जा सकता है। जिस तरह सामान्य रूप से उनके लोकप्रिय उपन्यास-श्रृंखलाएं, व्यंग्यहीन हैं, उसी तरह उनके व्यंग्य भी उपन्यासहीन हैं, पर वे कथाहीन नहीं हैं। उपन्यासहीन हैं, यह मानने में कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होती है। उनकी कुछ बड़ी और कथात्मक व्यंग्य रचनाओं में उपन्यास की शैली अवश्य मिलती है, पर कोई व्यंग्य उपन्यास उन्होंने नहीं लिखा है, जो आद्योपांत व्यंग्य ही हो। यह कोई विरोधाभास या अंतर्विरोध है, ऐसी बात नहीं है। कदाचित उन्होंने व्यंग्य शैली से अपने उपन्यासों को अलग रखा है और दूसरी ओर व्यंग्य को कभी उपन्यासमूलक विस्तार देने की बात नहीं सोची। इसके पीछे लेखक के अपने कारण या तर्क हो सकते हैं, लेकिन वे यदि व्यंग्य उपन्यास लिखते तो वे भी कम लोकप्रिय नहीं होते, यह तो माना ही जा सकता है। उन्होंने अपने व्यंग्य लेखन को जिस तरह कथात्मक आधार दिया, उस तरह उसे उपन्यास का विस्तार क्यों नहीं दिया, यह एक प्रश्न शेष रह जाता है।

मैं व्यक्तिगत रूप से हिंदी के चार व्यंग्यकारों को हिंदी व्यंग्य के चार स्तंभ मानता हूं- हरिशंकर परसाई, श्रीलाल शुक्ल, शरद जोशी और नरेंद्र कोहली। ये हिंदी व्यंग्य के पुरोधा भी हैं और समकालीन हिंदी व्यंग्य के प्रवर्तक भी। इन्होंने हिंदी व्यंग्य के मशाल को जिस तरह थामे रखा, वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसकी ही रोशनी में व्यंग्य ने अब तक अपनी विकास यात्रा तक की है। मुझे ये चारों व्यंग्यकार एक दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं। इन चारों के व्यंग्य साहित्य को मिलाकर देखा जाए तो वह विश्व के किसी भी व्यंग्य साहित्य से कमतर नहीं जान पड़ता है। हरिशंकर परसाई में मारक क्षमता अधिक थी। एक कडुवाहट की क्षमता। धार उनमें सबसे अधिक जान पड़ती है। श्रीलाल शुक्ल में कलाकारिता अधिक है। वे अकेले हिंदी व्यंग्य के क्राफ्ट्समैन लगते हैं। वे व्यंग्य न केवल लिखते हैं, बल्कि उसे बुनते हैं। उनमें एक अलग तरह का आकर्षण और सौंदर्य मिलता है। व्यंग्य उनके व्यक्तित्व का एक हिस्सा नहीं जाना पड़ता है, पर वे उसमें जान डालने में माहिर हैं। इसके ठीक विपरीत शरदजोशी आपादमस्तक व्यंग्यकार लगते हैं। जैसे व्यंग्य उनके लेखन का ही एक आधार न होकर उनके जीने की एक शैली हो। शायद यही कारण है कि वे सर्वाधिक लोकप्रिय भी माने जाते रहे। व्यंग्य में जो खिलंदडापन होता है, उसका विकास उन्होंने अद्‌भुत रूप में किया है। 'प्रतिदिन' कालम में उनका व्यंग्य लेखन लाजवाब रहा है। नरेंद्र कोहली शेष तीनों से भिन्न हैं। उनमें हरिशंकर परसाई से मारकता कम हो सकती है, श्रीलाल शुक्ल से बुनावट कम और शरदजोशी से खिलंदडापन भी कम, लेकिन उनके व्यंग्य अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत, परिमार्जित, प्रबुद्ध और अभिजात्यपूर्ण लगते हैं। व्यंग्य के आधारभूत रूप स्वरूप की रक्षा उनमें अधिक मिलती है। यह अत्यंत समसामयिक भले ही कम है, लेकिन मानवीय अधिक हैं, क्योंकि उनमें ऐसे विषयों को प्रस्तुत किया गया है, जो मानव के साथ शाश्वत सत्य के रूप में जुड़े होते हैं, भले ही वे रोजमर्रा की घटनाओं पर आधारित क्यों न हों। एक तो व्यंग्य उनके व्यक्तित्व से जुड़े होने के कारण और दूसरे उसमें एक मानवीय आधार के कारण भी, उनके व्यंग्य क्लासिक तत्वों से भरे-पूरे जान पड़ते हैं। व्यंग्य में भी क्लासिक चेतना को बनाए रखना, नरेंद्र कोहली की अपनी मौलिकता है। यह नहीं है कि अन्य व्यंग्यकारों ने श्रेष्ठ व्यंग्य नहीं लिखे, लेकिन जिनके व्यंग्य लेखन को अपनी समग्रता में, व्यंग्य की गरिमा और मर्यादा के आधार पर एक क्लासिक स्पर्श के साथ देखा जा सकता है, वैसे व्यंग्य लेखन का दृष्टांत नरेंद्र कोहली में अपेक्षाकृत अधिक मिलता है। व्यंग्य के नारों, झंडों, वादों और आंदोलनों की परिवर्तनशीलता के बीच भी जो व्यंग्य टिके रहने में समर्थ और सार्थक हैं, वैसे व्यंग्य नरेंद्र कोहली के व्यंग्यकार की छवि को कभी धूमिल नहीं होने देते हैं। यही कारण है कि एक उपन्यासकार के रूप में हिंदी संसार में अति लोकप्रिय होने के बाद भी, व्यंग्यकार कोहली की ख्याति कम नहीं हुई। उनके व्यंग्य संग्रह जगाने का अपराध, एक और लाल तिकोन, आधुनिक लड़की की पीड़ा, त्रासदियां आदि में उनके व्यंग्य की क्लासिकता का अनुभव होता है।

जब से व्यंग्य हास्य बनता गया है और व्यंग्य के स्थान पर हास्य की प्रधानता होती गई, तब से अच्छी, परिपक्व, सुरुचिपूर्ण, संस्कारजनित व्यंग्य सहजता से मिलते नहीं हैं, बल्कि उन्हें खोजना पड़ता है। अखबारों ने व्यंग्य को हास्य बनाने में काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जो व्यंग्य पहले गंभीर लेखन के अंग थे, वे कालांतर में कालम बनते गए। व्यंग्य को हास्य में बदलते तो शायद फिर भी झेला जा सकता है, पर जब हास्य के नाम पर फूहड़ता और अश्लीलता परोसी जाने लगी, तो ये रचनाएं भी कुल

मिलाकर टी.वी. के लाफ्टर शो की पंक्ति में आ गईं। कालम लिखने के बावजूद व्यंग्य की स्तरीयता को जिस तरह पहले के व्यंग्यकारों ने बचाकर रखा, बाद के रचनाकार नहीं बचा पाए। नतीजा यह हुआ कि व्यंग्य बाजारु बनता गया, बिकता गया। आज व्यंग्य सबसे चालू और चलताऊ विधा है। हर कोई लिख रहा है। धड़ल्ले से लिख-छप रहा है। इन्हें व्यंग्य कहते भी शर्म आती है। हिंदी में उपन्यासों के बाद सबसे अधिक प्रकाशित होने और बिकने वाली किताबें व्यंग्य की मानी जाती हैं। यदि देखा जाए तो आज व्यंग्य, हास्य के रूप में हिंदी में सबसे लोकप्रिय हैं, ऐसी स्थिति में जब हम अपने महत्वपूर्ण व्यंग्यकारों के साहित्य को देखते हैं, तो वे हमें और भी मूल्यवान लगते हैं। नरेंद्र कोहली ने व्यंग्य कालम नहीं लिखकर अपने व्यंग्य संसार को व्यंग्य ही रहने दिया है, उन्हें हास्य बनने से बचाया है, यह एक ऋण है, उनका हिंदी व्यंग्य साहित्य के प्रति। उन्होंने सैकड़ों की संख्या में व्यंग्य रचनाएं लिखी हैं, लेकिन शायद एक भी ऐसी नहीं है, जिसमें व्यंग्य पर हास्य को थोपा गया हो। उसे चटपटा और चालू किस्म का बनाया गया हो। दरअसल उन्होंने व्यंग्य लिखने को गंभीरता से और प्रतिबद्धता के साथ स्वीकार किया, इसलिए आज भी व्यंग्यकारों की भीड़ में वे अलग दिखते हैं और उनकी व्यंग्य रचनाएं, अलग अनुभव प्रदान करती हैं। व्यंग्य का मूल स्वरूप और संरचना उनके व्यंग्य साहित्य में सबसे अधिक सुरक्षित और संरक्षित जान पड़ती है। उनकी परेशानियां, आश्रितों का विद्रोह, पांच एबसर्ड उपन्यास और शंभूक की हत्या इसके प्रमाण हैं। शंभूक की हत्या, हिंदी के व्यंग्य प्रधान नाटकों में एक विशेष स्थान रखता है। यह बात दूसरी है कि इस परंपरा में उन्होंने शायद अन्य कोई नाटक नहीं लिखा।

नरेंद्र आज गंभीर उपन्यास-श्रृंखला लेखन में आकंठ डूबे हुए हैं, पर इच्छा होती है कि जिस तरह उन्होंने रामकथा, महाभारत और विवेकानंद पर उपन्यास श्रृंखलाएं लिखीं, उसी तरह कभी भविष्य में वे एक व्यंग्य उपन्यास श्रृंखला भी लिखें ताकि वह भी हिंदी के पाठकों को एक अनोखा अनुभव, आयाम और आस्वाद प्रदान कर सके। हिंदी व्यंग्य के क्षेत्र में उनका अवदान इतना है कि शायद हिंदी में केवल व्यंग्य लेखन से जुड़े हुए लेखकों पर भी वह भारी पड़ सकता है, जबकि वे व्यंग्येतर गद्य विधाओं में निरंतर लिखते रहे। उनका साहित्य चाहे जिस किसी गद्य-विधा में हो, वह विपुल है, वैविध्यपूर्ण है और विशिष्ट है। यह उनके व्यंग्य साहित्य के संबंध में भी उतना ही चरितार्थ है।

एयरबेस कॉलोनी, कदमा
जमशेदपुर-831005 (झारखंड)

. . . पृष्ठ-67 का शेष

की इच्छा पूरी कर दे। इसकी इच्छा है इसे कहीं ले चल और मां की इच्छा है कि उसे बहू ला दे।' स्थिति कुछ-कुछ फिल्मी है न! लेकिन नरेन्द्र कोहली फिल्मी प्रेम नहीं कर सकते। क्योंकि उनकी प्रेमिका उन्हें चिपचिपा, भावुक, फिल्मी प्रेम करने ही नहीं देगी। जैसे ही नरेन्द्र कोहली ने कहा, 'जी तो चाहता है तुम्हें अपनी मां के पास ले चलूं।' प्रेमिका ने फिल्म काट दी, 'मुझे अपने लिए रिज़र्व कर लेना चाहते हो?' वह मुस्कराई। और उस लड़की ने मुस्करा कर नरेन्द्र कोहली को फिल्मी स्थिति से उबार लिया। वह बोली, 'इस कार्यक्रम को कुछ दिनों के लिए अभी स्थगित ही रखो।' नरेन्द्र कोहली आगे लिखते हैं, 'मैं एक सहृदय प्रेमी की तरह उसकी बात मान गया और वह चली गई। गई तो ऐसी गई कि भगवती चरण वर्मा के उपन्यास का नाम हो गई अर्थात- वह फिर नहीं आई।' यहां यह बात स्पष्ट हो जाती है कि नरेन्द्र कोहली की नज़रों में प्रेम करने का अर्थ यह बिलकुल नहीं है कि अगर लड़की आपसे प्रेम करना चाहती है तो वह आपसे जुड़ी हर चीज़ से प्रेम करेगी। और, अगर पुरुष यह ज़िद करे कि मुझे मेरे संपूर्ण रूप में स्वीकारो तो इस बात की पूरी संभावना है कि प्रेमिका उसे छोड़ कर चली जाएगी।

उर्दू किस्म की मोहब्बत में एक शब्द बहुत चलता है- रक़ीब! रक़ीब का शाब्दिक अर्थ कुछ भी होता हो, उसका व्यावहारिक अर्थ यह होता है कि प्रेमिका के पास एक विकल्प मौजूद है। क्या आप अंदाज़ा लगा सकते हैं कि आपका रक़ीब कौन हो सकता है? क्या आपने कभी यह सोचा है कि अगर प्रेमिका के मन यह प्रश्न खड़ा हो जाए कि दोनों में से वह किसको चुने- प्रेमी को या शहर को, तो वह क्या तय करेगी? अगर, आप सोच रहे हैं यह कैसा प्रश्न है, तो आपकी जानकारी के लिए बता दूं कि नरेन्द्र कोहली ऐसी स्थिति झेल चुके हैं। इश्क एक शहर का में- (शहर छोड़ने से पहले) नरेन्द्र कोहली के पास समय कम था। बस इतना कि या तो पिक्चर देख सकता था या अपनी प्रेमिका से मिल सकता था। सोचा पिक्चर तो घर जा कर भी देख सकता हूं। प्रेमिका से मिलना ज़्यादा ज़रूरी है। पता नहीं कितनी देर का वियोग है। '. . .मैंने सोचा जाते-जाते तुमसे ज़रा शादी की बात करता जाऊं।'

– 'शादी?' उसने आश्चर्य से मेरी ओर देखा।

– 'हां। मैं तुमसे शादी करना चाहता हूं न।' मैं बोला।

– 'पर मैं तो नहीं करना चाहती न!' उसने कहा।

– 'तुम मुझसे प्रेम नहीं करती क्या?'

– 'करती हूं।'

– 'तो क्या शादी नहीं करोगी?'

– 'शादी भी कर लेती अगर तुम दिल्ली में रहते तो, पर तुम तो अपने शहर जा रहे हो।'

तो साहब नरेन्द्र कोहली की प्रेमिकाएं ऐसी ही हैं। वे शहर के लिए प्रेमी छोड़ सकती हैं। प्रेमी चाहे तो दुनिया छोड़कर चला जाए, पर प्रेमिका अपना शहर नहीं छोड़ेगी। वास्तव में अपने प्रेम प्रसंगों के ज़रिये नरेन्द्र कोहली हमें यह बता रहे हैं कि यह रोमियो-जूलियट का ज़माना नहीं है। आज प्रेमी अगर मजनू नहीं है तो प्रेमिका भी लैला नहीं है।

बी-10, जमुना दर्शन, बांगड़ नगर
गोरेगांव (पश्चिम) मुंबई 400090

सुभाष चंदर

नरेंद्र कोहली के व्यंग्य पर कुछ नोट्स

हिंदी व्यंग्य का इतिहास लिखने के दौरान दसियों हजार रचनाओं को पढ़ने का सौभाग्य मिला। भारतेन्दु, बालमुकुंद गुप्त से लेकर परसाई से होते हुए आलोक पुराणिक तक सैकड़ों व्यंग्यकारों के लेखन से परिचय हुआ। उनके कथ्य और शिल्प को जानने का अवसर मिला। बहुत कुछ अच्छा लगा तो कहीं किसी चीज़ ने मन को कचोटा भी। एक शिकायत जो व्यंग्य का पाठक बनते समय दिमाग में उभरी थी, वो समय के साथ-साथ और शिद्दत से मज़बूत होती गयी। मैं बहुत ईमानदारी के साथ और कुछ दोस्तों की नाराजगी मोल लेते हुए भी कहना चाहूंगा कि हिंदी व्यंग्य में विविधता की बहुत कमी है। शिल्प के स्तर पर भी और कथ्य के स्तर पर भी। एक बंधी-बंधाई परंपरा में, एक बने-बनाये प्रोफार्मा में व्यंग्य लिखना काफी आसान होता है। ज्यादा मगजपच्ची भी नहीं करनी पड़ती। इस 'आसानी' का व्यंग्यकारों के एक बड़े वर्ग ने काफी लाभ उठाया है। यही कारण है कि हिंदी व्यंग्य के एक बड़े हिस्से से बासीपन की बू आती है। इसी के आगे, यह भी सच है कि जिन रचनाकारों ने इस परम्परावादी मानसिकता को बदलने की कोशिश की व्यंग्य के सरोकारों और उसकी पठनीयता को बरकरार रखते हुए, शिल्प और कथ्य के स्तर पर नए प्रयोग किए बकौल ज्ञान चतुर्वेदी इन क्षेत्रों में नई जमीन तोड़ी। वे व्यंग्यकार भीड़ से अलग अपनी पहचान बनाने में समर्थ हुए। तथाकथित कालजयी व्यंग्य का एक बड़ा हिस्सा भी इन प्रयोगों के माध्यम से ही आया।

अब बात नरेंद्र कोहली के व्यंग्य की। मुझे यह कहने में कतई गुरेज नहीं है कि कथ्य और शिल्प दोनों ही स्तरों पर जितना वैविध्य कोहली जी के यहां मिलता है, उतना अन्यत्र कम ही मिलता है। बमुश्किल पांच-सात व्यंग्यकार ही ऐसे हैं जिन्होंने व्यंग्य की जमीन पर वैविध्य की ऐसी शानदार खेती की है। वरना तो कथ्य स्तर पर वही राजनीति, उससे कुछ बचा तो प्रशासनिक और शैक्षिक विसंगतियां, साहित्यिक-सांस्कृतिक विद्रूपों पर थोड़ी बहुत निशानेबाज़ी और बस हो गया व्यंग्य लेखन।

नरेंद्र कोहली ने जीवन के हर क्षेत्र की विसंगतियों को अपने व्यंग्य का केन्द्र बनाया है। राजनीति तो उनके व्यंग्य का प्रतिपाद्य है ही, साहित्यिक खेमेबाजी, सांस्कृतिक अवमूल्यन, भारतीय समाज की यथा स्थितिवादी प्रवृत्ति, प्रशासनिक तंत्र का खोखलापन, धार्मिक अंधविश्वास सभी पर उनकी कलम चली है और बहुत धारदार ढंग से चली है। विशेषकर भारतीय समाज में व्याप्त मूल्यहीनता और असंवेदनशीलता पर तो उन्होंने तेज़ाबी लेखन किया है। गंभीर प्रवृत्ति की मारक रचनाएं उनके खाते में सैंकड़ों की संख्या में हैं। उनके व्यंग्यकार की सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह विसंगति के चुनाव में बेहद सतर्कता से काम लेता है (कम ही बार ऐसा हुआ है जब उन्होंने विसंगति चयन में शिथिलता बरती है, ऐसी असावधानी कई बार उनके व्यंग्य स्तम्भों में अवश्य देखने में आई है। विसंगति के सही चुनाव के बाद वह उनके मर्म तक पहुंचते हैं ओर फिर भाषिक शक्तियों के प्रयोग द्वारा उन पर करारी चोट करते हैं। ऐसी चोट कि पाठक पढ़े और अंदर तक तिलमिला जाए। यही शुद्ध व्यंग्य की पहचान भी है और व्यंग्य लेखन का प्रयोजन भी।

अब बात नरेंद्र कोहली के समग्र व्यंग्य पर। कोहली जी ने कहानी, निबंध, उपन्यास और नाटक चारों ही विधाओं का व्यंग्य के माध्यम के रूप में सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। इन सभी में उन्होंने शिल्प के स्तर पर अभिनव प्रयोग किए हैं। बल्कि यह कहना भी गलत नहीं होगा कि वे उन बिरले रचनाकारों में से नहीं हैं जिनकी 90 प्रतिशत से भी अधिक रचनाओं में शिल्प का दोहराव नहीं है। कथय और शिल्प के स्तर का यही नयापन नरेंद्र कोहली को नरेंद्र कोहली बनाता है। कुछ अपवाद छोड़ दिए जाएं तो नरेंद्र कोहली का व्यंग्य बैठे-ठाले या सिर्फ लिखने के लिए लिखा गया व्यंग्य नहीं है, वह शोषण के प्रतिकार के रूप में उपजा आक्रोश है जो व्यंग्य के रूप में अभिव्यक्त होता है। युगबोधक दृष्टि, सूक्ष्म विश्लेषण और तीव्र मारकता उसे विशिष्ट बनाती है।

कोहली जी के समग्र व्यंग्य पर बात करने के लिए मैं क्रमिक रूप से उनके व्यंग्य नाटक, व्यंग्य कथा, व्यंग्य उपन्यास और व्यंग्य निबंध पर बात करना चाहूंगा। पहले बात व्यंग्य नाटक की। 'शम्बूक की हत्या' (1974) उनकी कलम से निकली महत्वपूर्ण व्यंग्य कृति है जिसमें उन्होंने पौराणिक कथा सूत्रों को आधुनिक रूप देते हुए अव्यवस्था की शल्य चिकित्सा करने की कोशिश की है। 'शम्बूक की हत्या' के मूल में प्रशासनिक विसंगतियों पर प्रमुख रूप से चोट की गयी है लेकिन साथ ही राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक विद्रूपों की भी पड़ताल की गयी है। रामायण के 'राम-शम्बूक प्रसंग' से प्रतीकात्मक रूप में उठाई गयी इस नाट्य कृति में एक ब्राह्मण अपने पुत्र की हत्या से विचलित होकर उसे न्याय दिलाने निकलता है। देश की राजधानी दिल्ली में वह भ्रष्टाचार, अमानवीयता, पूंजी व्यवस्था की कुरूपता आदि इतने विद्रूपों से दो-चार होता है कि न्याय पाने की आस ही छोड़ बैठता है। पाठकीय नाटक की दृष्टि से यह बेहद महत्वपूर्ण कृति है। इसमें फैंटेसी का अद्‌भुत प्रयोग, मानवीकरण, प्रतीकात्मकता और शब्द शक्तियों विशेषकर वक्रोक्ति और कटूक्ति का संयोजन विशेष रूप से द्रष्टव्य

है। अपने सरोकारों की गंभीरता और तीव्र प्रहारात्मकता के कारण यह रचना व्यंग्य नाटकों के क्षेत्र में मील का पत्थर है।

नरेंद्र कोहली के व्यंग्य कथा साहित्य की बात करें तो मैं कहना चाहूंगा कि व्यंग्य कथा के क्षेत्र को समृद्ध करने में उनका बहुत बड़ा योगदान है। परसाई जी के बाद कदाचित सर्वाधिक व्यंग्य कथाएं उन्हीं के पास हैं। कबूतर, कैनोपी का स्वयंवर, अमरीकन जांघिया, अनागत, ब्लड बैंक की अप्सरा जैसी सैंकड़ों श्रेष्ठ व्यंग्य कथाओं से उनका खजाना भरा हुआ है। उनकी व्यंग्य कथाओं की सबसे बड़ी विशेषता है उनका कथ्य। कथ्य का जितना वैविध्य उनकी व्यंग्य कथाओं में मिलता है, ऐसा कम ही देखने में आता है। उनकी अधिकांश व्यंग्य कथाएं गंभीर सरोकारों को साथ लेकर चलती है। अमरीकन जांघिया यहां भारतीयों के हीनताबोध पर प्रहार करती है तो कबूतर सांस्कृतिक शून्यता पर। कैनोपी का स्वयंवर, अनागत सामाजिक विद्रूपों की शल्य चिकित्सा करती है। सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक, मानवीय सभी क्षेत्रों के विद्रूपों की वह कहीं बहुत गहरे में जाकर पड़ताल करते हैं और शब्द-शक्तियों के सधे हुए प्रयोगों द्वारा उन पर शर-संधान करते हैं। उनकी व्यंग्य कथाओं के शिल्प की बात करें तो इसमें कहीं-कहीं ही पुनरावृति दिखाई देती है, अन्यथा हर बार कथ्य के अनुरूप नया शिल्प संयोजन है। यही उनके व्यंग्य कथाकार को अलग पहचान देता है। प्रसंगवक्रता पर उनकी जबर्दस्त पकड़ है, पर प्रभाव को बढ़ाने के लिए वह उसी पर आश्रित नहीं रहते। अपितु वाग्वैदग्ध्य, वक्रोक्ति और कटूक्ति जैसी भाषिक शक्तियों के अभिनव प्रयोग द्वारा रचना की गुणवत्ता में वृद्धि करते हैं। हास्य उनकी रचनाओं में कम ही मिलता है। हास्य रहित व्यंग्य कथा की सफलता को देखने के लिए नरेंद्र कोहली की व्यंग्य कथाओं से रू-ब-रू हुआ जा सकता है।

औपन्यासिक ढांचे में कोहली जी की दो कृतियां हैं 'आश्रितों का विद्रोह' और 'पांच एब्सर्ड उपन्यास' 1973 में प्रकाशित 'आश्रितों का विद्रोह' ने राग दरबारी के बाद के व्यंग्य उपन्यासों के खालीपन को भरने की सार्थक कोशिश की। शिल्प के स्तर पर यह कृति बहुत प्रभावी नहीं है लेकिन अपनी जनोन्मुखता, युगबोधक दृष्टि और तीव्र प्रहार क्षमता के कारण विशेष उल्लेखनीय है।

'पांच एब्सर्ड उपन्यास' उनकी अद्‌भुत औपन्यासिक कृति है। कथ्य के स्तर पर और शिल्प के स्तर पर भी। विशेष रूप से इसकी 'अस्पताल' नामक रचना तो अद्‌भुत है। मेरी दृष्टि में यह गंभीर व्यंग्य हास्यरहित व्यंग्य की सर्वश्रेष्ठ कृति है। श्रीलाल शुक्ल जिस प्रकार 'राग दरबारी' के लिए जाने जाते हैं, उसी प्रकार यह कृति पाठकों को नरेंद्र कोहली को कभी भूलने नहीं देगी। अस्पतालों में फैली अकर्मण्यता और संवेदनहीनता पर यह कृति बेहद तीखा प्रहार करती है, इतना तीखा कि इस रचना को पढ़ने के बाद पाठक लंबे समय तक तिलमिलाता रहता है। इस रचना को पढ़ने के बाद कई घंटों तक कुछ और पढ़ पाना संभव नहीं हो पाता। शिल्प के स्तर पर भी यह कृति अद्वितीय है। वक्रोक्ति, शुष्क हास्य और कटूक्ति का अभिनव प्रयोग इस रचना को अति महत्वपूर्ण बनाता है। इस कृति के शेष चार एब्सर्ड उपन्यासों में 'कॉलेज' अपनी शिल्पगत नवीनता के कारण कहीं अधिक प्रभावित करती है।

और अंत में बात नरेंद्र कोहली के व्यंग्य-निबंधों की। सच कहूं तो कोहली जी के व्यंग्य-नाटक, व्यंग्य-कथाओं और व्यंग्य-उपन्यासों की तुलना में उनका यह पक्ष बहुत अधिक प्रभावित नहीं करता। कथ्य और शिल्प के स्तर पर उन्होंने इस रचनाकर्म में भी विशिष्ट प्रयोग किए हैं। विषय भी अपेक्षाकृत गैर परम्परागत और नवीन है। उनका फलक विस्तृत है। वक्रोक्ति, वाग्दैग्ध्य, और किंचित हास्य की भी छटा बिखेरते हैं, पर कहीं-कहीं पाण्डेय बेचैन शर्मा 'उग्र' की भांति उनका 'सात्विक आक्रोश' उबल पड़ता है जिससे कई बार सपाटबयानी की स्थिति भी आ जाती है। सच तो यह है (मेरी स्मरण शक्ति खराब भी हो सकती है इस समय उनके किसी व्यंग्य निबंध का शीर्षक भी याद नहीं आ रहा। वास्तविकता यह है कि इसे आप एक पाठक की हठधर्मी समझ लें या कुछ और मैं व्यक्तिगत रूप से कोहली जी के व्यंग्य-कथाकार, व्यंग्य-उपन्यासकार रूप का ही प्रशंसक हूं।

अब चलते-चलते एक बात और. . . नरेंद्र कोहली हमारे समय के बहुत बड़े रचनाकार हैं, बल्कि परसाई युग की 'चौकड़ी' को पंचकड़ी में बदलने की क्षमता रखने वाले। वैसे भी जब हम 'राग दरबारी' के कारण श्रीलाल जी को इस चौकड़ी में रखते हैं तो 'अस्पताल' जैसी विश्व साहित्य की दुर्लभ कृति के बाद नरेंद्र कोहली को दूर रखना कितना न्यायसंगत है। अगर उन्होंने रामकथा, कृष्णकथा, विवेकानंद कथा आदि का सर्वश्रेष्ठ लेखक बनने की 'गलती' कर ही दी है तो क्या हम उन्हें उनका यथोचित सम्मान नहीं देंगे. . .बस इतना ही। शेष फिर

जी-186 ए, एच.आई.जी., प्रताप विहार
गाजियाबाद-201009 (उ.प्र.)

हिन्दी के सुप्रतिष्ठित कवि दिविक रमेश के काव्य-नाटक खण्ड खण्ड अग्नि का गुजराती अनुवाद। 'अग्नि, सर्वत्र अग्नि' हाल ही में गुजरात साहित्य अकादमी के आर्थिक सहयोग से श्री अशोकपुरी गोस्वामी ने प्रकाशित किया है। साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित साहित्यकार अशोकपुरी गोस्वामी ही कृति के अनुवादक हैं।

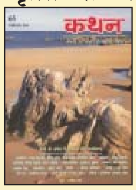

कथन

(साहित्य संस्कृति की त्रैमासिक पत्रिका)

जनवरी-मार्च 2010 अंक

रमेश उपाध्याय, जाबिर हुसैन, ज्ञानेंद्र पति, जवरीमल्ल पारख, प्रज्ञा आदि की रचनाएं

संपादक : संज्ञा उपाध्याय

संपर्क-

107 साक्षर अपार्टमेंट, ए-3 पश्चिम विहार, नई दिल्ली- 110063

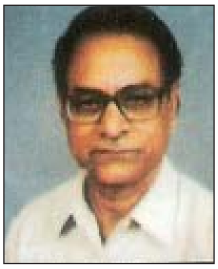

मनोहर पुरी

नरेंद्र कोहली का रामलुभाया

राम लुभाया के माध्यम से नरेन्द्र कोहली अतीत में क्या क्या कह गए सब जानते हैं और भविष्य में उनके द्वारा क्या क्या कहा जाना अभी शेष है इसकी उनके पाठकों को व्यग्रता से प्रतीक्षा है। नरेन्द्र कोहली जैसे युगप्रर्वतक व्यंग्यकार के पास विषयों का तो कोई अभाव हो ही नहीं सकता। समाज की एक एक गतिविधि पर उनकी पैनी नजर सदैव गड़ी रहती है। उनकी लेखनी सदैव कुछ लिखना चाहती है और शायद जब उनके मन की छटपटाहट इतनी अधिक हो जाती है कि लिखना कठिन लगने लगता है तब राम लुभाया उनकी जिव्हा बन कर सामने आ जाता है। लिखते तो तब भी नरेन्द्र कोहली ही हैं परन्तु तब वह वही लिखते हैं जो राम लुभाया कहता है। अब वह शुद्ध और सात्विक साहित्यकार नहीं रह जाते बल्कि व्यंग्यकार हो जाते हैं। आम आदमी के संत्रास के प्रवक्ता बन जाते हैं। नरेन्द्र कोहली के पास जो अनुभव का भंडार है, समस्यायों पर उनकी जो पकड़ है और समाज को आइना दिखाने का उनका साहस उन्हें व्यंग्य के अखाड़े में उतर कर जौहर दिखाने के लिए बाध्य करता रहता है।

वास्तव में नरेन्द्र कोहली का साहित्य में पदार्पण उस समय हुआ जब देश में अराजकता का वातावरण बनने लगा था। 6 जनवरी 1940 को सियालकोट में जन्में नरेन्द्र कोहली छठे दशक में पूरी परिपक्वक्ता के साथ लिखने लगे थे। पाकिस्तान से विस्थापित हो कर आए समाज की त्रासदी को वह अनुभव करने लगे थे। उन त्रासदियों से उपजे व्यंग्यों को पाठकों ने सराहना और समझना प्रारम्भ कर दिया था। सत्तर के दशक तक जमे हुए साहित्यकारों ने भी उनके लिए स्थान छोड़ना शुरू कर दिया था। अब तक लोगों का समाज को तोड़ने वाली राजनीति से मोह भंग होने लगा था। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय कांग्रेसी नेताओं ने जो सुनहरे भविष्य के सपने आम लोगों के सामने परोसे थे वे बिखरने लगे थे। सुनहरे सपने सुनहरा जाल बनते दिखाई देने लगे थे। युवा वर्ग गरीबी और बेरोजगारी के दल दल में फंसा छटपटाने लगा था। नेताओं के आदर्श यथार्थवादी धरातल से टकरा कर चूर चूर हो गए थे। उनकी बातें और आश्वासन मुल्लमे बन कर रह गए थे। चारों ओर स्वार्थों की आपा-धापी मची थी। हर तथाकथित नेता अपना अपना घर भरने में जुटा था। भाई भतीजावाद का बोलबाला था। भय भूख और भ्रष्टाचार- साहस, ईमानदारी और कुछ कर गुजरने की क्षमता पर हावी होने लगा था। हर कोई जो हाथ लगे उसे झपट लेने में जुटा था। जो नेता कभी आम जनता के आदर्श थे वे भी इस लूट में शामिल हो गए थे, अल्ला को प्यारे हो गए थे अथवा मुंह छिपा कर किसी अंधेरे कोने में छिप गए थे। किसी में जनता का सामना करने का साहस नहीं था। साहस करने की बात वहीं करते थे जो अभी तक जनता को बरगलाने में किसी न किसी प्रकार से सफल होते जा रहे थे। कोटा परमिट और इंसपैक्टर राज के कारण लोगों का जीना दूभर होता जा रहा था। कभी गरीबी हटाने के नाम पर तो कभी हर हाथ को काम देने के नाम पर किसी तरह से समय को धक्का देने का काम किया जा रहा था। चुनी हुई सरकारें भी किसी प्रकार से अपना कार्यकाल पूरा करने की जुगत बिठाती लग रहीं थीं। स्वतंत्र भारत की नैया के खेवनहारों के पास कोई दूरदृष्टि नहीं थी। वे हवा में ही चप्पू चला रहे थे। देश का भविष्य डगमगा रहा था। उनके पास किसी प्रकार की आर्थिक और शिक्षा प्रणाली नहीं थी। जो कुछ था अंग्रेजों की जूठन थी। उसी जूठन पर देश को पालने पोसने का प्रयास हो रहा था। जो लोग स्वतंत्रता को भारत के भूतकाल के साथ जोड़ कर देखना चाहते थे, अपने गौरवशाली अतीत के मजबूत धरातल पर जो लोग वर्तमान की मजबूत नींव रखना चाहते थे, उन्हें एक सिरे से नकारा जा रहा था। उन्हें प्रतिक्रियावादी अथवा साम्प्रदायिक कह कर दुत्कारा जा रहा था। प्रगतिशीतला के नाम पर उन शास्त्रों को सामने लाने का प्रयास किया जा रहा था जो बोथरे हो चुके थे। जिन सिद्धांतों को उनकी विफलता के कारण पूरा विश्व नकारने लगा था उन्हें नए-नए नामों से भारत में स्थापित करने के प्रयास किए जा रहे थे। ऐसे वातावरण में जब नरेन्द्र कोहली की लेखनीसमाज की शल्य क्रिया करने में सिद्धहस्त होने लगी तो उन पर राष्ट्रवादी और साम्प्रदायिकता के लेबल चिपकाने का प्रयास किया जाने लगा।

आखिर यह सब त्रसदियां राम लुभाया कब तक चुपचाप देखता रहता। कब तक नरेन्द्र कोहली उसकी बातों को अनदेखा कर सकते थे। अंततः राम लुभाया ने वह सब कहा जो इस देश का आम इंसान कहना चाहता था। जुबान बन गया राम लुभाया एक आम भारतीय की। उसने हर उस पीड़ा का कातर वाणी में वर्णन किया जिसे वह दिन रात भोग रहा था। आखिर नरेन्द्र कोहली को राम लुभाया की आवश्यकता क्यों पड़ी इसी तर्ज पर कहूं तो प्रेम जनमेजय का राधेलाल क्यों सामने आया और मेरे मन में कनछेदी ने क्यों जन्म लिया। इसका मुख्य कारण यह है कि समाज की बहुआयामी समस्यायों, प्रवृत्तियों और विसंगतियों को सामने लाने के लिए तरह तरह के पात्रों की आवश्यकता होती है। साहित्यकारों को हर बार ऐसे पात्रों का सृजन करना होता है जो तत्कालीन समस्यायों और परिस्थितियों को प्रस्तुत करने में सहायक हो सकें। वह पात्र अपनी एक छवि बना कर उनमें कैद हो जाता है। वह आम आदमी भी नहीं होता। इसी अभाव को पूरा करने के लिए काल्पनिक पात्र अस्तित्व में आते हैं। वे

पात्र एक ऐसे आम आदमी की छवि प्रस्तुत करते हैं जो चारों ओर से घिरा उन अनगिन समस्यायों का समाधान ढूंढ रहा होता है जो वास्तव में उसके द्वारा उत्पन्न की गई नहीं होती। उस पर थोप दी जाती हैं। कभी रीति रिवाजों के नाम पर तो कभी नियम कानूनों के नाम पर उस का किसी न किसी प्रकार से शोषण किया जाता है। यह शोषण हमेशा आर्थिक ही हो यह आवश्यक नहीं है। इसी शोषण का सामना करने के लिए नरेन्द्र कोहली ने राम लुभाया की संरचना की होगी।

नरेन्द्र कोहली मात्र एक साहित्यकार ही नहीं हैं। यदि वह अध्यापक न होते और उन्होंने बतीस वर्ष अध्यापन की अपेक्षा पत्रकारिता को दिए होते तो मैं यह दावे के साथ कह सकता हूं कि देश में उन सरीखा श्रेष्ठ पत्रकार विरला ही होता। यहां मेरा यह आशय कदापि नहीं है कि वह अच्छे अध्यापक नहीं रहे होंगे अथवा वह श्रेष्ठ साहित्यकार नहीं हैं। यह सब कहने का मैं कोई आधिकरिक पात्र भी नहीं हूं परन्तु पत्रकार होने के नाते उनके द्वारा रचित व्यंग्यों में जो प्रखर पत्रकार की दृष्टि है उसे मैं सहज ही समझ सकता हूं। देश में ऐसे बहुत कम पत्रकार हुए हैं जिनके पास समाज के सरोकारों को समझने और उनके समाधानों के सहज संकेत देने का गुण रहा है। नरेन्द्र कोहली इस दृष्टि से अग्रणी श्रेणी के पत्रकार कहे जाने चाहिएं जिन्होंने समाज के हर अंधेरे पक्ष की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है। पत्रकारिता भले ही किसी समय एक मिशन रहा हो पर आज पूरी तरह से व्यवसाय बन गया है। उसके अनेक कारण हो सकते हैं। पर आज भी पत्रकार का मुख्य उद्देश्य समाज का ध्यान उन बातों की ओर खींचना है जो उसे घुन की तरह चाट रही हों। उस घुन को सामूल नष्ट करना पत्रकार का काम नहीं है। यह काम नरेन्द्र कोहली ने बखूबी किया है। उन्होंने हर बात को बहुत सहज ढंग से उस व्यक्ति तक पहुंचाने का प्रयास किया है जो उससे प्रभावित है। समाज की विद्रूपताओं की ओर न केवल ध्यान आकृष्ट किया है। उसके समाधान की ओर भी संकेत किया है। यद्यपि पत्रकारिता में इसकी आवश्यकता मैं नहीं मानता पर नरेन्द्र कोहली तो पत्रकार ही नहीं साहित्यकार भी हैं। साहित्यकार का दायित्व है कि वह समाज का दिशा निर्देष करे। अपने साहित्य में उन्होंने वह सब किया है जो उनसे अपेक्षित है परन्तु अपने व्यंग्यों में वह पत्रकारों से कुछ आगे ही दिखाई देते हैं। उन्होंने वह सब समस्याएं अपने व्यंग्यों में उठाई हैं जिनसे हमें रोज ही दो चार होना पड़ता है। इसका एक कारण उनका सहज स्वभाव और ईमानदारी से स्पष्टवादी होना भी है। अपने दिन प्रति दिन के जीवन में भी वह किसी से कोई दुराव छिपाव नहीं करते और जो बात कहनी है साफ-साफ सामने कह देते हैं। साहित्यिक राजनीति से भी उन्हें परहेज है जो भले ही कुछ लोगों को नागवार गुजरता होगा।

जैसे पत्रकारिता में हमें प्रायः राजनीति हावी दिखाई देती है वैसे ही नरेन्द्र कोहली के व्यंग्यों में राजनीतिक घटनाओं की मात्र कुछ अधिक ही है। इसका कारण मेरे विचार में यह हो सकता है कि मानवीय जीवन को पत्रकारिता सर्वाधिक प्रभावित करती है। यह एक ऐसी अनिवार्य बुराई है जिससे चाह कर भी बचा नहीं जा सकता। आम बात को कहते कहते किसी राजनीतिक मुद्दे पर चुटीला व्यंग्य कर जाना नरेन्द्र कोहली की विशेषता है। स्थानीय राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर उन्होंने बहुत चुटीले व्यंग्य किए हैं। भले ही राजनीति और राजनेता मुख्य रूप से उनके निशाने पर रहे हों उन्होंने भ्रष्ट नौकरशाही को भी आड़े हाथों लिया है। छठे-सातवें दशक के अंतिम दौर में जब नवनिर्माण की धाराएं कुंठित हो कर छीजने लगीं थीं और सरकारी कर्मचारियों का भ्रष्टाचार एवं नैतिक पतन निर्लज्ज रूप से सार्वजनिक होने लगा था तब त्रसित प्रजा के आक्रोश की अभिव्यक्ति नरेन्द्र कोहली के व्यंग्यों में प्रचुर मात्र में दिखाई देती है। इस वातावरण के कारण युवा वर्ग में जो कुंठाएं और हीन भावनाएं गहरे तक पैठ रहीं थीं उन्हें भी उनकी लेखनी ने बहुत ही कुशल चित्रकार की भांति उकेरा है।

नरेन्द्र कोहली के व्यंग्य आकार में बहुत बड़े नहीं हैं। विशेष रूप से 'राम लुभाया कहता है' नामक व्यंग्य संग्रह में तो वे नावक के तीर की भान्ति देखने में छोटे लगते हैं परंतु घाव बहुत गंभीर करते हैं। नावक की लकड़ी के भांति इन व्यंग्यों की पृष्ठभूमि बहुत कठोर है और वह उसी के तीर की भांति सीधे मर्म पर चोट करती है। कई बार ऐसा लगता है कि वह अपनी बात बहुत ही सहजता से कर रहे हैं, बात किसी घर परिवार की सी लगती है परंतु वह व्यंग्य किसी राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विसंगति पर होता है।

नरेन्द्र कोहली द्वारा समाज में व्याप्त विसंगतियों पर किए गए प्रहारों का एक मात्र लक्ष्य निर्माण करना ही रहा है। यह व्यंग्य भले ही उन्होंने किसी लेख अथवा कथा में किए हों अथवा आपसी बातचीत या फिर भाषण करते समय। उनकी आम बोलचाल की भाषा अथवा उनके द्वारा किसी सेमीनार में दिए जाने वाले सारगर्भित वक्तव्य में भी उनका व्यंग्यकार हमेशा सजग रहता है। वह कब किस पर व्यंग्यबाण चला देगें इसे कोई पहले से जान नहीं पाता। एक प्रकार से व्यंग्य उनके जीवन का सहज भाव है। परस्पर बातचीत करते हुए किस प्रकार से लोग आप को विश्वास में लेकर ठग लेते हैं और आपको उफ तक नहीं करने देते। राम लुभाया के 'प्रेमालाप' के वशीभूत होकर उसके बेटे हो एक विवाह समारोह के संदर्भ में अग्रिम राशि देते हैं और बदले में उन्हें कुछ नहीं मिलता। इस पर चुटकी लेते हुए वह लिखते हैं, 'जिस बच्चे को हमने गोद में खेलाया हो। जिसके माता पिता हमें अपने परिवार का सदस्य मानते हों, वह बच्चा मुझसे इस प्रकार के व्यापार की जादूगरी करेगा। पर मैंने उससे सामान लिया नहीं और उसने मेरे रुपए लौटाए नहीं। पर कमाल तो राम लुभाया का था कि एक दिन भी उसकी आंखें नीची नहीं हुईं। राम लुभाया पर मेरे कहने का कोई प्रभाव नहीं हुआ जैसे पाकिस्तान पर भारत के कहने का नहीं होता।' पाकिस्तान की मोटी खाल पर इससे सटीक व्यंग्य मिलना दूभर है।

एक सशक्त और समृद्ध भाषा होते हुए भी हिन्दी की हमारे समाज में जो शोचनीय स्थिति है और हिन्दी के लेखकों को जिस बेचारगी से देखा जाता है उसके विषय में राम लुभाया ने अनेक स्थानों पर उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। आप कितने भी बड़े हिन्दी के लेखक बन जाओ समाज में आपकी औकात कुछ भी नहीं है। इस सन्दर्भ में 'प्रेमिका' शीर्षक वाले व्यंग्य की बानगी देखिए।

राम लुभाया का उसकी एक पूर्व प्रेमिका ने अपने पति से परिचय करवाते हुए कहा, 'कालेज में तो तुम बड़े वो हिंदी वाले से थे,अब भी वैसे ही बु॒) हो क्या?''

'' हिंदी वाला तो अब भी हूं।'' बहुत साहस कर मैंने कहा,'' बु॒) नहीं हूं।''

'' मूर्ख हो।''वह हंस कर अपने पति से बोली,'' डॉर्लिंग ! इन कॉलेज ही यूज्ड टू राइट इन हिंदी। अब भी लिखते हो या कोई ढंग का काम मिल गया है।' उसने पूछा।

'तुम क्या करती हो?' मैंने पूछने का दुस्साहस किया।

'शापिंग करती हूं।' वह बोली, 'और थोड़ा समय मिल गया तो कार्ड्स खेलती हूं। लाइफ इज़ ए बिग फन! तुम किस क्लब के मेम्बर हो। आज तक कहीं दिखाई ही नहीं दिए।'

'फूल्स क्लब का' मैंने कहा और चल पड़ा। यह कहने का भी साहस नहीं हुआ कि कभी अपने पति को लेकर मेरे घर आना। जो उन्होंने नहीं लिखा कि आखिर किस मुंह से उन्हें कोई हिन्दी का लेखक उन्हें अपने घर बुलाता और कौन हिन्दी के लेखक के घर पर आता। आखिर समाज में उनकी औकात होती ही कितनी है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने समय बाद भी हमारे देश के लोगों को किस प्रकार गोरी चमड़ी से प्रेम है और किस प्रकार भारतीय आज भी गोरी चमड़ी के सामने अपने आप को हीन मान कर उसकी की सर्वोच्चता स्वीकार करते हैं इस बारे में उन्होंने अपने 'प्याज' नामक व्यंग्य में लिखा है- 'जब महान सिद्धांतों और उच्च लक्ष्यों के स्थान पर मात्र छोटे-छोटे सुख अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं तो ऐसा ही होता है। राजा को एक गोरी मेम की प्रसन्नता अपने देश से अधिक महत्वपूर्ण लगने लगे तो देश के लिए वह शुभ घड़ी नहीं होती।'

साम्प्रदायिकता की बू से हमारा शासक वर्ग कितने पूर्वाग्रहों से ग्रसित है इसके उदाहरण भी इस पुस्तक मे स्थान-स्थान पर दिखाई दे जाते हैं। इस विषय में 'रेल और राधा' का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें रेल में बजने वाला फिल्मी गाना 'राधा न नाचे' देश में साम्प्रदायिकता का जहर फैलाने वाला नारा दिखाई देने लगता है और मंत्री जी से लेकर रेलवे बोर्ड के महाप्रबंधक को अपनी कुर्सी हिलती दिखाई देने लगती है।

रेल मंत्री ने महाप्रबंधक को बुला भेजा। उनके आते ही बोले- 'तुम्हें नौकरी करनी है या नहीं?' मंत्री ने डांटा।

'सरकार किस बात से रुष्ट हैं?'

'सरकार गए भाड़ में।'. . . 'सैक्यूलर राज्य में तुम्हारी सांप्रदायिकता नहीं चलेगी?'

'पर सरकार हुआ क्या?' महाप्रबंधक समझ गया कि आज मंत्री जी फिर से सैक्यूलरवाद के नशे में हैं।

'सरकार के बच्चे।शताब्दी गाड़ी में 'राधा न नाचे' गाना बजाते हो।'

'सरकार यह तो फिल्मी गाना है।' महाप्रबंधक ने कहा, 'आपके कहने पर ही बजाते हैं, नहीं तो हम भजन बजाया करते थे।'

'फिल्मी गाना है।' मंत्री आपे से बाहर हो रहे थे, 'हम बोल रहे हैं कि सांप्रदायिक गाना है और इस पर भी ससुर कहता है कि फिल्मी गाना है।'

'इसमें सांप्रदायिक क्या है सरकार?' महाप्रबंधक ने साहस करके पूछा।

'राधा नहीं है इसमें?' मंत्री गरजे।

'तो।'

'आज राधा बजा रहा है। कल राधा के पीछे कृष्ण चला आवेगा, तो गाना सांप्रदायिक हो जाएगा कि नहीं।' मंत्री बोले, 'इतनी मुश्किल से तो हम अपनी रेल से राधा कृष्ण को निकाले हैं और ई ससुर फिल्मी गाने के माध्यम से फिर से उनको एंट्री दे रहा है।'

नरेंद्र कोहली ने अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से जीवन के अलग-अलग रंगों पर अपनी लेखनी चलाई है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्यायों पर बेबाकी से लिखा है। साहित्य, साहित्यकार, भाषा, रीति रिवाजों और अनेक प्रकार की कुरीतियों की शल्य-क्रिया करके समाज के अनेक मुखौटों को उतार कर बेनकाब किया है। उनकी दृष्टि स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर समान रूप से लगी रहती है और वह किसी भी प्रकार की चूक को सामने लाने में नहीं झिझकते। सरकारी प्रतिनिधि मण्डलों, सलाहकार समितियों और साहित्यकारों के सम्मेलनों में होने वाली जोड़-तोड़ और राजनीति पर उन्होंने बहुत ही सटीक व्यंग्य किए हैं। विश्वविद्यालय में पनपने वाले भ्रष्टाचार और वहां परह होने वाले भाई भतीजावाद पर भी उन्होंने साधिकार लेखनी चलाई है।

नरेन्द्र कोहली व्यंग्य के क्षेत्र में आज सबसे अधिक प्रतिष्ठित हस्ताक्षर हैं। वह लिख रहे हैं और जमकर लिख रहे हैं। उनका 'राम लुभाया' भारत का आम आदमी है जिसकी पीड़ा को आवाज देने का वह निरन्तर सफल प्रयास कर रहे हैं। वह ऐसा निरन्तर करते रहें यही मेरी शुभकामनाएं हैं। मुझे इस बात पर गर्व है कि मैंने नरेन्द्र कोहली को देखा, उनको पढ़ा और उनके युग में रहा।

82 साक्षर अपार्टमेंट्स, ए-3 पश्चिम विहार
नई दिल्ली -110063

जिन्दा लोग
साहित्य, संस्कृति
एवं
सामाजिक चेतना का राष्ट्रीय पाक्षिक
संपादक
संजना तिवारी
सलाहकार संपादक
राधेश्याम तिवारी
संपर्क
एफ-119/1, फेस-2 अंकुर एंक्लेव
करावल नगर, दिल्ली-110094

युद्धरत आम आदमी
(जन साहित्य का दस्तवेजी त्रैमासिकी)
संपादक
रमणिका गुप्ता
संपर्क
ए-221 डिफेंस कोलोनी ग्राउंड फ्लोर
नई दिल्ली-24

जवाहर चौधरी

नरेंद्र कोहली के पांच एब्सर्ड उपन्यास

श्री नरेन्द्र कोहली हिन्दी व्यंग्य के असामान्य और अनिवार्य हस्ताक्षर हैं। अपनी पूरी तीव्रता और तीखे तेवरों के साथ सामने आने वाले उनके व्यंग्य परसाई की व्यंग्य परंपरा को आगे बढ़ाते हैं। लेकिन परसाई से अलग वे किसी दूसरी विचारधारा के पक्ष में खड़े भी दिखाई देते हैं। किन्तु कोहली अपने अधिकांश लेखन में तटस्थ हैं और जहां भी ऐसा है वे वृहद मानवीय मूल्यों के लिये संघर्ष करते प्रकट होते हैं।

श्री नरेन्द्र कोहली का जन्म 1940 में स्यालकोट में हुआ जो अब पाकिस्तान में है। विभाजन के बाद उनका परिवार जमशेदपुर, बिहार में आ बसा। भारत के विभिन्न स्थानों में उनकी शिक्षा हुई जो एम. ए. के बाद पी-एच.डी. तब पहुंची। वे लगभग 35 वर्षों तक अध्यापन करते रहे। उपन्यास, कहानी, नाटक, व्यंग्य, निबंध, बाल साहित्य, शोध, समीक्षा आदि पर उनकी पचहत्तर से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। भारत में मसिजीवी या स्वतंत्र लेखन पर जीवन यापन करने वाले लोगों की संख्या बहुत कम है। किन्तु लंबे समय तक श्री कोहली देश में सर्वाधिक रायल्टी प्राप्त करने वाले सम्मानित लेखक बने और दूसरे लेखकों के लिये उदाहरण भी।

उनकी रचनाओं में 'पांच एब्सर्ड उपन्यास' का अपना महत्वपूर्ण स्थान है जिसमें नरेन्द्र कोहली का व्यंग्यकार आक्रोश और पीड़ा के साथ पूरी तीव्रता लेकर सामने आता है। 'द कालेज', 'अस्पताल', 'द लाझ', 'शपाफा देने वाले' और 'मुहल्ला', इन पांचों रचनाओं में कोहली विसंगतियों से खीझते-लड़ते दिखाई देते हैं।

'द कालेज' महाविद्यालयीन विसंगतियों का दस्तावेज है। यहां विद्यार्थियों की भाषा, भूषा, सोच, विचार, आदतों, हालातों की विसंगतियां चौंकाते हुए सामने आती हैं। उस समय यह जानना और भी पीड़ादायक होता है कि लेखक दिल्ली के संदर्भ में अपनी बात कह रहा है। दृष्य देखें- 'लड़कियों ने चुस्त कमीजें और सलवारें पहन रखीं हैं या फिर साड़ियां हैं, जिसे शरीर को बहुत आकर्षक रुप से प्रस्तुत कर रही हैं । शकलों पर मनहूसियत है और सिरों पर ऊंचे-उंचे बाल। हाथें में बड़े-बड़े पर्स हैं और उन पर्सों के भीतर की बात इस उपन्यास का लेखक नहीं जानता है या उस विषय में लिखना नहीं चाहता।' दूसरा दृश्य है- '. . .लड़की को नाराजी की कोई चिंता नहीं है। वैसे भी अब इस कालेज में उसके तीन महीने शेष हैं। इतने समय तो वह बिना प्रेम के भी जीवित रह सकती है। एम.ए. में जा कर वह किसी और से प्रेम कर लेगी। एक ही दुकान से प्रेम करने वाला बोर हो जाता है।' द कालेज

स्टाफरूम वह जगह है जहां प्राध्यापक बेहूदा संवादों में रत हैं। प्राध्यापिकाएं प्रायः स्वेटर बुनने में व्यस्त हैं। प्रोफेसरों के बीच भारी राजनीति है। प्राचार्य के खिलाफ छात्रों का उपयोग धड़ल्ले से होता है। उन्हें भड़का कर स्ट्राइक करवाई जा रही है, कक्षाओं का नुकसान हो रहा है किन्तु इस ओर देखना किसी की जिम्मेदारी नहीं है, - 'अच्छा, ए, सुनो, प्रो जमूरिया उसे कंधों से पकड़ कर एक ओर ले जाते हैं। - 'प्रिंसीपल तो बहुत नाराज है तुम लोगों से। तुम लोग स्ट्राइक क्यों नहीं कर देते? निकाल बाहर करो इसे। क्या फायदा ऐसे प्रिंसीपल का!'

'हमें तो पता नहीं था सर! हम कल ही स्ट्राइक कर देंगे।' लड़का गुस्से में कहता है।

'हां कर दो।' प्रो. जमूरिया के होठों पर किरणें थिरकने लगती हैं। 'पापा कैसे हैं तुम्हारे?'

'ठीक हैं सर।' लड़का कहता है, 'आपको याद कर रहे थे।'

'अच्छा, उनसे कहो कि व्हिस्की की दो-एक बोतल का इंतजाम कर दें। आर्मी वालों के लिये क्या मुश्किल है।'

लेकिन षड्यंत्रों के चलते स्ट्राइक करवाने का आरोप प्रो. वर्मा पर लगता है और -'स्ट्राइक करवाने के अपराध में प्रो. वर्मा को कालेज से निकाल दिया गया।. . . प्रो. जमूरिया को स्ट्राइक के विषय में प्रिंसीपल की सहायता करने के लिये हेड आफ द डिपार्टमेंट बना दिया गया।. . .प्रो. वर्मा ने नौकरी के अभाव में कालेज के सामने पान-सिगरेट की दुकान खोल ली , साथ ही फिल्मी गानों की पुस्तिकाएं -टीका समेत-भसी रख ली।. . .कालेज फिर उसी ढर्रे पर चलने लगा।'

इस तरह उच्चशिक्षा परिसर में पतन की बानगियां पूरी रचना में देखने को मिलती हैं जो पाठक को चिंतित ही नहीं आक्रोशित करने के लिये पर्याप्त होती हैं।

इसी तरह 'अस्पताल' इस श्रृंखला की महत्वपूर्ण रचना है। इसमें व्यंग्य के साथ करुणा एक अंतरधारा की तरह बहती है। अस्पताल सरकारी है और मेडिकल कालेज का हिस्सा है। जैसा कि प्रायः

सरकारी अस्पतालों में देखा जाता है बदहाली का साम्राज्य है। कर्मचारी बाकायदे 'सरकारी' हैं और उनके तेवर भी वैसे ही संवेदनहीन हैं। लगता है वे नौकरी नहीं हुकूमत करने बैठे हैं। मसलन – 'वे गेट के भीतर घुसने लगते हैं, . . .रेल्वे क्रासिंग के फाटक के समान चौकीदार की टांग आगे आ जाती है– 'कहां जाना है?'

'चिल्ड्रन वार्ड।' साहब कहता है, 'बच्चे बीमार हैं।'

'पेशेंट को जाने से हम नहीं रोकते . . .पर तुमको जाना हो तो पास दिखाओ।'

'अजीब आदमी हो! साहबिन कहती है। 'बच्चे बीमार हैं, उनको अस्पताल में भर्ती करना है। पास एडमिट करने से पहले कहां से बनेगा!!'

'. . .इन बच्चों को एडमिट करना है।' बच्चों का बाप कहता है।

'दूसरे बच्चे के मां-बाप कहां हैं?' क्लर्क बच्चों की मां से पूछता है। वह बच्चों के बाप को देखना भी नहीं चाहता है।

'दूसरा बच्चा भी हमारा ही है।' बच्चों का बाप कहता है।

'मजाक मत करिये।. . .यह भी कोई होलसेल वाली एजेन्सी की बात है!'

'बच्चे जुड़वा हैं।' बच्चों का बाप लज्जित हो जाता है।

ट्रीटमेंट रुम में बच्चे पड़े हैं। कुछ की हालत गंभीर है। तभी अफरा तफरी होने लगती है। मिनिस्टर का दौरा होने वाला है। 'बच्चों का बाप लौट कर देखता है कि अस्पताल के गेट के सामने काफी भीड़ लगी है। वह लोगों की ओर देखता है और भीतर जाने लगता है। 'क्या है! कहां जा रहे हो?' चौकीदार रास्ते में टांग अड़ा देता है।

'भीतर जाना है। . . .मेरे बच्चे ट्रीटमेंट रुम में पड़े हैं।'

'अभी ठहरो' चौकीदार झपाक से उसे हटा देता है। 'बाकी लोग भी तो खड़े हैं। सबके बच्चे ट्रीटमेंट रुम में पड़े हैं। पड़े रहेंगे, उन्हें कोई उठा के नहीं ले जाएगा।'

'बात क्या है?'

'मिनिस्टर आ रहे हैं।'

कुछ समय बाद बाप अंदर पहुंचता है , – 'आप कहां गायब हो गए थे? झगडालू पत्नी के सामने डाक्टर बच्चों के

बाप को डांटता है।

'अस्पताल में कोई मंत्री आने वाले थे, इसलिये रास्ता बंद था।'

'और सैर करो. . .तुम्हारा एक बच्चा मर गया है।'

वार्ड में मरीज नर्सों की मरजी पर पड़े हैं। नर्स को पुकारने में या उन्हें कुछ कहने में एक किस्म का डर अंदर से उठता है और जुबान पथराने लगती है। वार्ड में एक खामोश आतंक पसरा रहता है।

'चार बजे इसे दवाई देना है।'

'नर्स आएगी क्या?' बच्चे का बाप पूछता है।

'पता नहीं।. . .इसे दूध कब देंगे वे लोग?'

'नर्स आएगी तो पूछेंगे।'

साढ़े चार बजे बच्चे का बाप नर्स को जगाता है, – 'सिस्टर, बच्चे को दवाई दे दो।'

'तुम ही दे दो ना।'

'कौन सी दूं?'

'अलमारी खेल कर जो शीशी पसंद आए वह ले जाओ।' नर्स कहती है।

शाम सात बजे. . . 'सिस्टर तुमने बच्चे के दूध के बारे में पूछा?' बच्चे की मां पूछती है।

'हां, . . .डॉक्टर बोला दूध दे दो।'

'तो दो फिर।'

'दूध छह बजे खत्म हो जाता है।'

'तो अब क्या होगा?'

'कल सुबह दूध मिल जाएगा।'

'कल तक तो बच्चा मर जाएगा!'

'तो क्या हुआ? दूध हम तब भी देंगे।' नर्स मुस्कराती है।

कहीं कहीं नरेन्द्र कोहली बहुत संवेदनहीन प्रतीत होते हैं, खासकर उनकी भाषा। आक्रोश से भरी यह निर्मम भाषा पाठक पचा नहीं पाता है। जैसे– 'मैं बाथरुम जाऊं?' रातभर का जागा हुआ बच्चे का बाप उंधती हुई बच्चे की मां से कहता है। उसने दोनों हाथ से पेट पकड़ रखा है।

'हो आओ।' बच्चे की मां कहती है। 'पीछे से बच्चा मर जाए तो क्या करुं?'

'चुपचाप सो जाना।. . .रातभर की जागी हुई हो। पर मुझे बाथरुम में बता जाना ताकि मैं निश्चिंत हो कर बैठ सकूं। जल्दी में मेरा पेट साफ नहीं होता।'

बच्चे का बाप हुक्का पीकर, पी. एम. के जाने के बाद अस्पताल आता है। बच्चे की मां रोते रोते उससे लिपट जाती है।

'नो रोमांस प्लीज।' डॉक्टर कहता है।

'क्या हुआ!' बच्चे का बाप पूछता है।

'आपका झंझट खत्म हुआ।' नर्स कहती है। 'आपका दूसरा बच्चा भी मर गया। कांग्रेचुलेशन।'

'थैंक्यू।' बच्चे का बाप कहता है। 'भगवान इसी तरह सबके बच्चों को मारे। बहुत दिनों से मैं ठीक से सोया नहीं था, अब सोउंगा।'

इसी तरह 'द लाइफ ' में एक अफसर खन्ना साहब का अच्छा खासा घर है। नौकरों की दिक्कत है, जैसी कि आजकल हर घर में होती है। इसलिए उन्हें बहुत सावधानी और धैर्य से 'वापरा' जाता है।

'मिसेस खन्ना चाय का प्याला हाथ में लिये नौकर के सिरहाने खड़ी उसे जगा रही हैं। – 'चल उठ बेटे, उठ जा। दूध लेने जाना है।

नौकर आंख खोलता है। उसका हाथ आकाश की ओर उठता है और मुख से रिषी वाणी प्रस्फुटित होती है, 'चाय'।

श्रीमती खन्ना बड़े भक्तिभाव से उसके उठे हुए हाथ पर चाय का कप रख देती हैं। नौकर चाय की चुस्की लेता है।

'डोल और पैसे दे जाइये।' नौकर आदेश देता है।

'बहुत अच्छा।' मिसेस खन्ना का सिर आज्ञा-पालन में झुक जाता है।

नौकर के जाने के बाद. . .

'मोया, मर जाना! रुड़ जाना, कंजर दी औलाद, सूर दा बच्चा!' मिसेस खन्ना दांत पीस पीस कर गालियां दे रही हैं।

'बस! बस कर भगवान!' खन्ना साहब सांत्वना देते हैं।

'देखो भला, कैसे हुकम चलाता है!'

'तो निकाल दे न साले को।'

'चुप।' . . .खबरदार जो फिर ऐसी बात कही। उसे निकाल दिया तो काम करने तुम्हारी मां आएगी शमशाान से उठकर।'

'तो!?'

'तो क्या! हुकम बजाते चलो उसके।'

देर शाम को टेलीफोन की घंटी बजती है-

'हेलो। 'मिसेस खन्ना रिसीवर उठातीं हैं।

'माताजी मैं बोल रहा हूं, आपका नौकर।' आवाज आती है।

'हां, बेटे।'

'मैं रात का शो देखने जा रहा हूं। रात को साढ़े बारह बजे तक लौटूंगा।. . .मेरी

चारपाई बाहर निकाल कर उस पर बिस्तर कर देना।. . .खाना भी थाली से ढककर वहीं रख देना और तकलीफ माफ करना।'

'नहीं तकलीफ की कोई बात नहीं है पुत्तर. . .पर तुम आ जाना।'

'अच्छा जी।'

मिसेस खन्ना रिसीवर रख रसोई में जा कर आटा गूंथती हैं – 'सूर दा बच्चा! औतरी दा पुत्तर!'

बहुत सफाई और पूरे प्रभाव से कोहली बड़े घरों की 'छोटी' बातें सामने रखते हैं कि एक ब्लास्ट सा होता है और बडप्पन की सारी इमारत भरभरा जाती है ।

'तुमने सुना कमला!' कृष्णा बोली- 'मिसेस थापर ने अपने पति को घर से निकाल दिया!'

'ओ नो डार्लिंग।. . .डोन्ट टेल मी देट। आज सबेरे ही मिस्टर थापर इनसे मिलने घर पर आए थे।'

'हाउ सिली!. . .मिस्टर थापर इज आल राइट! वे मिसेस थापर के हजबैंड नहीं, फाइनेन्सर हैं । मैं तो उनके हजबैंड की बात कर रही हूं, . . .दैट ब्लडी खानसामा!'

'खानसामा!'

'हां! मिसेस थापर के सारे बच्चे उसी से हैं!'

'नो नो!'

'येस येस, माई डियर।'

सरकारी दफ्तरों के हाल और अफसरों के लापरवाही भरे रवैये कश्मीर से कन्याकुमारी तक एक ही हैं। अगर आपको जीवन में पांच-दस बार भी किसी सरकारी दफ्तर में जा पड़ने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ हो तो निश्चित ही उनमें से ज्यादातर मामले न भुलाए जा सकने वाले दुर्स्वप्न होंगे। टेंपरेरी आदमी थोड़ा बहुत काम करता है और तमीज से बात भी। किन्तु जैसे ही वह स्थाई होता है समझो उसका राजतिलक हो जाता है। अब तमीज से बात करना आपका काम है और रहा काम का सवाल तो उसके मूड और आपके भाग्य पर है। उदाहरण देखें- 'सर उस केस का कोई प्रेसिडेंट नहीं है।'

'क्यों नहीं है?'

'सर पहले कभी कोई बांध टूटा नहीं।'

'क्यों नहीं टूटा?'

'क्योंकि कोई बांध बनाया ही नहीं गया।'

'तो ऐसा करो. . .जिसने बांध टूटने की न्यूज भेजी है उसे एक लेटर लिखो और उसमें यह प्रोटेस्ट करो कि बिना प्रेसिडेन्ट वाला केस हमें क्यों भेजा गया।'

इसी तरह 'शफा देने वाले' उपन्यास में दवा विक्रेताओं, डॉक्टरों, कंपाउंडरों पर नजर डाली गई है। गुलाटी नाम का शख्स डाक्टर से धंधे की बात करता है– 'धंधे की बात करो डाक्टर!. . .रोटी तुम्हें भी चाहिये और मुझे भी। रोगी तुम्हारे पास आएंगे और दवा तुम्हें देनी है। दोगे वही जो बाजार में मिलेती है। तो फिर हमारी कंपनी की ही दो। रोगी को अपने भाग्य से बचना है और हमारे भाग्य से मरना है, न तुम्हारी डॉक्टरी से कुछ होगा न मेरी दवाई से।'

'डॉक्टर तो तुम ही हो. . .पर तुम हो सिर्फ एमबीबीएस. . .डॉक्टरी की सबसे छोटी डिग्री। और हमारी लैब में केमेस्ट्री के डीएससी बैठे रिसर्च कर रहे हैं। रिसर्च हम करते हैं, बीमारियां हम खोजते हैं, दवाएं हम बनाते हैं। किस रोगी को कौन–सी दवा देना यह तुम्हें हम बताते हैं और तुम लोग इस यतीमखाने से मुफ्त का वेतन पाते हो। समझे।' गुलाटी डॉक्टर को आइना दिखा देता है।

उपन्यास 'मोहल्ले' में बदलते/गिरते सामाजिक मूल्यों की पड़ताल है। पति–पत्नी के रिश्तों में आई गिरावट, उदारता, उपेक्षा आदि को जिस भाषा में व्यक्त किया गया है वो व्यंग्य से अधिाक लेखक के क्रोध को सामने लाती है–

'सुअर की बच्ची! कुतिया कहीं की! आगे से जबान चलाती है!' शर्मा मिसेस शर्मा के गाल को थप्पड़ से सहला देते हैं। 'फिर बकवास की तो चमड़ी उधेड़कर बाटा को दे आऊंगा। जूते बना कर एक्सपोर्ट कर दी जाएगी, कमीनी कहीं की। क्या समझ कर अकड़ती है मेरे सामने! औरत न हो पांच सौ पौंड हवा भरा टायर हो!'

'तुम अपने बाप के हो तो आज मुझे मार डालो।' मिसेस शर्मा तड़फकर उठ बैठतीं हैं और शहीदों के समान छाती तान देती हैं। 'मेरे बाप ने तुम्हें यह बनाया और तुम उस हरामजादी के पीछे मुझे पीटते हो। कुत्ते तुम हो, जिसकी किसी भी जवान लड़की को देख कर खराब वाशर वाले नल के समान लार चूने लगती है।'

दूसरा दृश्य है–

'कौन शर्मा की वाइफ?' किराएदार की पत्नी अपना अज्ञान दिखा देती है।

'तो नहीं मिली अभी आपसे!. . .अरे

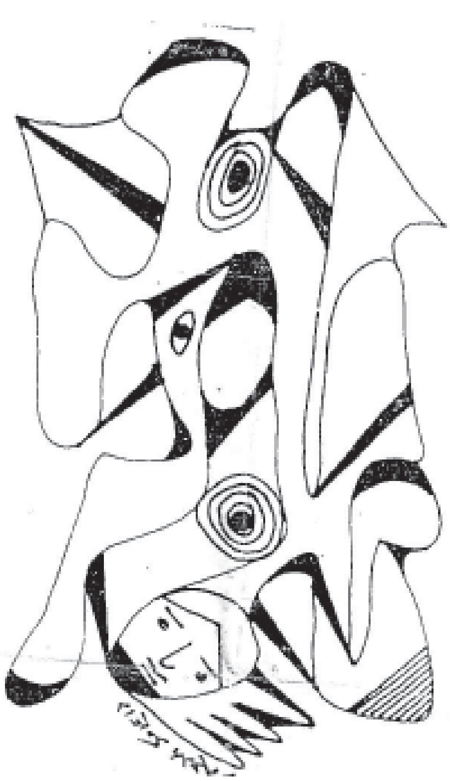

यही हमारे पडौस वाली। कुतिया है एकदम। गली गली मारी फिरती है। अभी नहीं मिली आपसे? मिलेगी तो बहुत कुछ कहेगी आपसे मेरे बारे में। कुत्तों की तरह भौंकती रहती है, तभी तो शर्माजी इतना पीटते हैं उसे। पर वो कहां मानती है। अब आप ही बताओ, आपने कुछ देखा मुझमें ऐसा–वैसा!'

'कैसा?' वह बेचारी हैरान होकर पूछती है।

'देखो तो हरामजादी मुझे यूं ही बदनाम करती फिरती है। कहती है कि इनके दोस्त मेरे पास आते हैं।'

'किनके दोस्त?'

'अरे इनके, गुड्डी के डैडी के।'

इन्ही दोस्त को एक अन्य दृश्य में देखिये–

खन्ना साहब मिसेस खन्ना को अपने गेट पर से दिखाते हैं, – 'देखो बत्ती बुझा रखी है और भीतर साले ऐश कर रहे हैं। वह साला यहीं है गुड्डी का अंकल। उसका स्कूटर बाहर खड़ा है। मुहल्ले में बदमाशी बढ़ रहीं है।'

इस तरह नरेन्द्र कोहली अपने पांच एब्सर्ड उपन्यासों में लगभग सभी तेवरों के साथ मौजूद दिखाई देते हैं। विकृति को सामने लाना लेखक का काम है। लेकिन जब बात व्यंग्य की है तो भाषा, शैली और वक्रता का ध्यान आना स्वाभाविक है। किसी विसंगति का केवल बयान करना अखबार की रिपोर्टिंग है, जैसा कि बहुत से लेखक कर रहे हैं। व्यंग्य अपनी अभिव्यक्ति में टेढ़ापन रखता है जो अनिवार्य है। लेकिन ये टेढापन उतना ही होता है जितना कि चुभन के लिये जरुरी हो। यदि भाषा में क्रोध या आक्रोश आ जाता है तो व्यंग्य वहां पिछड़ने लगता है। व्यंग्य कुपित होने या भाषायी तांडव करने की इजाजत नहीं देता है। सधी हुई और विषय के अनुरुप भाषा व्यंग्य की ताकत होती है। इसका मतलब यह नहीं कि विसंगति या विद्रूपता के प्रति लेखक में कोई गुस्सा नहीं होना चाहिये। आक्रोश की अनुभूति व्यंग्य के लिये आवश्यक शक्ति पैदा करती है। यदि तडफ़ नहीं होगी तो व्यंग्य नहीं बनेगा। मांग पर या जबरन लिखा हुआ व्यंग्य कहा भले ही जाए पर वह व्यंग्य नहीं होता है। आजकल बहुत–सा लेखन इसी श्रेणी का सामने आ रहा है जो बेअसर होता है और विधा को भी कलंकित करता है। व्यंग्य की आत्मा को मोक्ष तब मिलता है जब उसकी परिणति वैचारिकता में होती है। नरेन्द्र कोहली के उक्त उपन्यास पाठक को अनेक कोणों से चिंतन–मनन करने का अवसर प्रदान करते हैं।

16, कौ

एस.ए. मंजूनाथ

हिन्दी व्यंग्य साहित्य में नरेंद्र कोहली

आधुनिक हिन्दी में व्यंग्य एक सशक्त धारा के रूप में प्रवाहित होता आ रहा है। न केवल गद्य में अपितु कविता में भी व्यंग्य लिखे जा रहे हैं। गद्य के क्षेत्र में तो एक समय था कि व्यंग्य कथाप्रवाह में यत्र-तत्र झलका था। मगर हरिशंकर परसाई ने अपने दो उपन्यासों- 'राणी नागफणी' और 'तट की खोज' में और श्रीलाल शुक्ल ने 'राग दरबारी' में व्यंग्य को ही उपन्यास का प्रधान स्वर बनाया। परसाई और श्रीलाल शुक्ल ने अपने समय की समस्त विद्रूपताओं को अपने उपन्यासों में व्यंग्य के माध्यम से हूबहू चित्रित किया है। इनके उपरांत कई व्यंग्य प्रधान उपन्यास हिन्दी में प्रकाशित होकर इस विधा को समृद्ध करने लगे। हिन्दी कहानी और निबंध के क्षेत्रों को व्यंग्य ने नया मोड़ दिया है। सो भी स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में ढेर सारे व्यंग्य निबंध निकले, व्यंग्य कहानियाँ निकलीं और इन दोनों क्षेत्रों को समृद्ध करनेवाले लेखकों में से प्रमुख हस्ताक्षर हैं- हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवींद्रनाथ त्यागी। इन तीनों की पंक्ति में जोड़ा जानेवाला नाम है नरेंद्र कोहली जिन्होंने स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी व्यंग्य धारा को अपनी अप्रतिम सृजन प्रतिभा से समृद्ध किया है। न केवल संख्या की दृष्टि से मगर गुणवत्ता की दृष्टि से भी नरेंद्र कोहली का व्यंग्य लेखन महत्वपूर्ण है। पाँच-छः सौ से भी अधिक व्यंग्य तथा उपन्यास और नाटक लिखकर हिन्दी व्यंग्य विधा को सफलता के शिखर पर ले जानेवाले नरेंद्र कोहली व्यंग्य के अनन्य हस्ताक्षर हैं। व्यंग्य को एक विधा के रूप में प्रतिष्ठापित करने में इनका बड़ा योगदान है। इनके व्यंग्यों को पढ़ना अपने में एक अनुभव है।

इनकी व्यंग्य रचनाएँ स्वातंत्र्योत्तर भारत के सही दस्तावेज़ हैं। यहाँ जय-जयकार नहीं अपितु समाज के कलंक को रेखांकित करने का प्रयास है। इनके व्यंग्य कटु नहीं, आक्रामक नहीं अपितु मानवीय संवेदना से युक्त हैं। मनुष्य और समाज को सही दिशा दिखानेवाले हैं। इनके व्यंग्यों में नकारात्मकता नहीं अपितु सकारात्मकता है। इनके व्यंग्य परिवर्तनकामी हैं। यही कारण है- समकालीन व्यंग्यकारो में इनके अस्तित्व की अपनी पहचान है। आजकल हिन्दी में सैकड़ों व्यंग्य लेखक व्यंग्य लिख रहे हैं। व्यंग्य संग्रह और व्यंग्य प्रधान पत्रिकाएँ भी नियमित रूप से प्रकाशित हो रही हैं। व्यंग्य पर कई आलोचनात्मक ग्रंथ और शोधग्रंथ भी प्रकाशित हो रहे हैं। यहाँ नरेंद्र कोहली चर्चित हैं। नरेंद्र कोहली का प्रभाव आज के व्यंग्यकारों पर पड़ा है जिसे नज़र-अंदाज़ नहीं किया जा सकता। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी व्यंग्य को गति देने में और उसे गतिशील रखने में इनका बड़ा ही योगदान है।

नरेंद्र कोहली का व्यंग्य क्षेत्र बड़ा विशाल है। सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र याने निम्न वर्ग, मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग के संत्रासों, शिक्षा क्षेत्र के दोषों, नारी जीवन की पीड़ाओं, धार्मिक क्षेत्र की पूजा-पाठों, सरकारी कार्यालयों की रिश्वतखोरी, नाइंसाफ़ी, शोषण और राजनीतिक क्षेत्र की तमाम हलचलों के जीवंत वयान हैं नरेंद्र कोहली के व्यंग्य। पूरे युग को अपने व्यंग्यों में मूर्तमान करने का जैसा प्रयास नरेंद्र कोहली ने किया है ऐसा विरले ही कर पाए हैं।

नरेंद्र कोहली के व्यंग्य प्रधान गद्य को पढ़ना अपने भीतर आज़ादी के बाद के मोहभंग को, उस खोए हुए समय को पुनः प्राप्त करना है। कहना न होगा कि कोहली की पूरी रचना संपदा की अंतर्वस्तु में सामान्य मानव की यातना बसी हुई है- अन्य के दुख से दुखी होने का भाव अर्थात करुणा का लोक-भाव। नरेंद्र कोहली के व्यंग्य में व्यापक सामाजिकता का अर्थ है जीवन की अखंडता का सातत्य। नरेंद्र कोहली व्यंग्य के हृदय में पैठकर समाज की विषमताओं को अभिव्यक्त करते हैं। सच बात तो यह है कि व्यंग्य विषमताओं, विसंगतियों के आधार पर केंद्रित होता है। कबीर हिन्दी के सबसे बड़े व्यंग्यकार हैं कि उन्होंने सामाजिक विषमताओं को उजागर किया है। कोहली में भी कबीर की यही चेतना जीवंत हुई है।

नरेंद्र कोहली ने स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन की प्रवृत्तियों-प्रतिक्रियाओं, प्रभावों, विकृतियों, विसंगतियों को बहुत बारीकी से अपने रचनाक्रम में स्थान दिया है। सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों-विषमताओं को लेकर कोहली का व्यंग्य लेखन बहुत ही लोकप्रिय हुआ है। नरेंद्र कोहली ने वस्तु एवं घटनाओं को चुनने, आँकने के साथ-साथ पात्रों का चरित्र-चित्रण और मनोविश्लेषण करने में भी अपनी क्षमता प्रमाणित की है। अपने संवेदनशील एवं तर्कसंगत विचारों के अनुसार चिरपरिचित घटनाओं के बीच से जीवन की समस्याओं को उजागर किया है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट होती है कि आधुनिक काल में विभिन्न विधाओं का आरंभ और विकास हुआ है। इनमें स्वातंत्र्योत्तर काल के अनेक वैशिष्ट्यों में व्यंग्य विधा के रूप में उदय होना महत्वपूर्ण विषय है। व्यंग्य अपनी व्यंजनापूर्ण वक्र शैली के कारण सभी विधाओं का सिरमौर बना हुआ है। व्यंग्य स्वतंत्रता के बाद की सभी विधाओं का प्राण-स्वर माना गया है। आज हिन्दी में व्यंग्य एक सशक्त एवं मौलिक विधा है और हिन्दी साहित्य में यह विधा अपनी चरमसीमा पर है।

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में सभ्य-शिक्षित-ईमानदार असभ्य-गुंडों के सामने गंदी राजनीति के कारण बड़े संकट में है। अन्याय, भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज़ उठाने की पढ़े-लिखे आदमी की शक्ति क्षीण होती जा रही है। 'आतंक' में अधिक शक्तिशाली तथा जीवंत घटनाओं के माध्यम से आज के महानगरों में विद्यमान लगभग इन्हीं मुद्दों की ओर नरेंद्र कोहली ने संकेत किया है।

'अस्पताल' के पात्रों की भी यही स्थिति है। इसमें कोहली ने अस्पतालीय परिवेश में छाई अव्यवस्था को उजागर किया है। इस रचना में जब डॉक्टर, पिता को एक बच्चे की मृत्यु की सूचना देता है तो पिता पूछता है, 'एक मर गया।' बच्चों का बाप हँसता है, 'आधी इन्कमटैक्स कंसेशन ग़ोल, दूसरा कब मार रहे हो, डॉक्टर ?' सतही दृष्टि से यह बात असंबद्ध और बेतुकेपन की तरह लगती है। मगर सही रूप से समझने से पता चलता है कि अस्पताल की अव्यवस्था से पीड़ित आदमी का तमाचा है। पिता की हँसी में पीड़ा से उत्पन्न आक्रोश एवं असहायकता की स्थिति में

एब्सर्ड होकर व्यक्त होता है।

नरेंद्र कोहली की सृजनात्मक प्रतिभा के कई आयाम हैं। जिस प्रकार उन्होंने विभिन्न विधाओं में लिखा है, उसी प्रकार विभिन्न स्रोतों को आधार मानकर रचनाएँ की हैं- यथा रामायण, महाभारत, स्वामी विवेकानंद, प्रेमचंद आदि। उन्होंने अपनी सृजनात्मक प्रतिभासंपन्न रचनाओं के द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है। नरेंद्र कोहली बड़े अध्ययनशील व्यक्ति हैं। उन्होंने महाभारत, रामायण जैसे पौराणिक महाकाव्यों का गहन अध्ययन किया है। उन्होंने महाभारत की पौराणिक कथावस्तु को आधुनिक युग की समस्याओं से जोड़कर 'महासमर' को आठ भागों में उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया। इसी पौराणिक पुनर्लेखन के क्रम में नरेंद्र कोहली का एक और उपन्यास है 'अभिज्ञान' जिसमें कृष्ण-सुदामा कथा के एक अंश को नया अर्थ देने का प्रयास किया है।

व्यंग्य क्षेत्र में नरेंद्र कोहली के महत्व पर अपना विचार व्यक्त करते हुए भास्कर राव लिखते हैं- "हिन्दी व्यंग्य के क्षेत्र में भी नरेंद्र कोहली श्रेष्ठ व्यंग्यकारों की प्रथम पंक्ति में ही आते हैं। वे उन व्यंग्यकारों में माने जाते हैं, जिन्होंने हिन्दी व्यंग्य को तराशा है, उसे निखार दिया है, उसे एक स्वतंत्र विधा के रूप में स्थापित किया है। हिन्दी व्यंग्य को पूर्ण प्रतिष्ठा दिलाने में जिन व्यंग्यकारों ने उल्लेखनीय तथा ऐतिहासिक योगदान दिया है, उनमें निर्विवाद रूप में नरेंद्र कोहली भी निश्चय ही एक हैं।"[1]

नरेंद्र कोहली के व्यंग्य साहित्य की महत्ता के संबंध में डॉ.सुरेशकांत लिखते हैं- "अपने चारों ओर के यथार्थ को कोहली सहज एवं सरल लोक शैली में व्यक्त करते हुए जन-भाषा की संभावनाओं को कुशल अभिव्यक्ति देते हैं। राजनीति-संचालित व्यवस्था की पोल खोलते हुए अवाम के संत्रास को वाणी प्रदान करते हैं। राजनीति, धर्म, संस्कृति और सनातन भारतीय दर्शन को आज़ादी के तथाकथित ठेकेदारों ने किस सीमा तक विकृत किया है, इसका सही रूप कोहली के व्यंग्य में देखा जा सकता है। उनका व्यंग्य मानवता के अटूट आस्था का परिचायक है।"[2]

कोहली के संबंध में डॉ.बालेंदुशेखर तिवारी लिखते हैं- "नरेंद्र कोहली का व्यंग्य साहित्य इस देश की विभिन्न विसंगतियों पर तीखा प्रहार करने में अग्रणी है और इसी कारण व्यावहारिक सच के एकदम निकट है। आज के वातावरण की स्वस्थ भर्त्सना उन्होंने की है। स्वस्थ मानसिकता को कौशलतापूर्वक लगाया है।"[3]

उपरोक्त अवतरणों से यह स्पष्ट है कि नरेंद्र कोहली समकालीन हिन्दी व्यंग्य साहित्यकारों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। नरेंद्र कोहली के व्यंग्य बाण सही निशाने पर लगनेवाले हैं। उन्होंने व्यंग्य के द्वारा आदमी की विकृतियों से साक्षात्कार करने का सफल प्रयास किया है। नरेंद्र कोहली का व्यंग्य कई गद्य विधाओं के माध्यम से समर्थ रूप से प्रस्फुटित हुआ है। कोहली ने युग की विडंबनाओं को तीखेपन के साथ व्यक्त किया है जो व्यंग्य में होना आवश्यक है। व्यंग्य, व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के टेढ़ेपन और विषमताओं को प्रस्तुत करने का एक अचूक माध्यम है और यह पूरी शक्ति के साथ कोहली जी के चिंतन और लेखन में विद्यमान है।

नरेंद्र कोहली के रचना-संसार के संबंध में कहा जाए, तो वे किसी भी विषय को लिपिबद्ध करने से पहले उस विषय पर गंभीर रूप से चिंतन-मंथन करते हैं। नरेंद्र कोहली अपने व्यंग्य लेखन की प्रक्रिया के संबंध में लिखते हैं- "व्यंग्य तभी लिखता हूँ, जब केवल व्यंग्य लिखने के लिए मेरे पास कुछ नया हो। लिखने को नया हो तो शिल्प भी नया बन जाता है।"[5]

हास्य एवं व्यंग्य का मूलाधार विसंगत वस्तु है। विकृति या विसंगति मात्र का यथार्थ चित्रण हास्य एवं व्यंग्य का बाना धारण नहीं कर सकता। जहाँ व्यंग्येतर रचनाकार विसंगत वस्तुओं का वर्णन करके रुक जाता है, वहाँ उसी बिंदु में व्यंग्यकार का कला कौशल सापेक्ष रचनात्मक प्रक्रिया का श्रीगणेश होता है जहाँ अन्य विधाओं के अंतर्गत कथ्य की प्रधानता सन्निहित है, वहीं इसके विपरीत हास्य-व्यंग्य में कथन या शैली भंगिमा जन्य प्रक्रिया का शीर्ष स्थान होता है।

समकालीन हिन्दी हास्य-व्यंग्य साहित्य के अंतर्गत उसके विविधोन्मुखी विकास की कलात्मक क्षमता को अनायास ही दृष्टिगत किया जा सकता है। स्वतंत्रता-पूर्व अन्य विधाओं की उंगलियों को पकड़कर चलनेवाला हिन्दी का व्यंग्य आज अब अपनी ज़मीन पर स्वतंत्रतया विचरण करता हुआ परिलक्षित होता है। इतना ही नहीं, आज वह अपने गत्यात्मक शैल्पिक विधान के क्षेत्र में अन्य विधाओं पर हावी होते हुए या उन्हें विशिष्ट रूप से आत्मसात करते हुए उनसे भी कहीं आगे निकल गया है। अन्य विधाओं का अपना एक स्वतंत्र एवं निश्चित रचनात्मक तंत्र होता है। व्यंग्य का रूप तंत्र उन सबसे नितांत अलग और अनूठा है। अब वह एक शैली मात्र न रहकर एक स्वतंत्र एवं संश्लिष्ट साहित्य की विधा के रूप में अपनी स्थापनाओं को पत्थर की लीक सा अंकित करता हुआ विकसित हो गया है।

व्यंग्य में अब स्वतंत्र विधा के निर्माणकारी तत्व सक्षम रूप में सन्निहित हैं। इसी कारण से अन्य विधाओं की तुलना में व्यंग्य की नस्ल सब से अलग क़िस्म की ज्ञात होती है। इसमें अन्य विधाओं का अनूठा सामंजस्य है, साथ में वह अपने वैशिष्ट्य के कारण अन्य विधाओं के साथ तालमेल नहीं जमा सकता। इसलिए हिन्दी के व्यंग्य निबंध, व्यंग्य नाटक, व्यंग्य कहानी या उपन्यास लिखनेवालों और अन्य साहित्यकारों की भांति निबंधकार या कहानीकार न कहकर उन्हें व्यंग्यकार के रूप से जाना जाता है।

व्यंग्य का सीधा संबंध प्रायः बहुसंख्यक सामान्य वर्ग से है। अतः व्यंग्यकार को उक्त वर्ग की रोचकता एवं बौद्धिक क्षमता का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। उसकी रचना रीत कलात्मक होते हुए भी आस्वाद के धरातल पर सहज संवेद्य एवं बोधगम्य होना आवश्यक है। व्यंग्य समाज में व्याप्त हर प्रकार के दोषों को, राजनीति अथवा शासन में मौजूद विसंगतियों को, व्यक्ति अथवा व्यक्तित्व में पाई जानेवाली बुराइयों को अपने तीक्ष्ण शब्द कौशल से बेधता है। व्यक्ति, समुदाय, संस्था अथवा समाज की दुर्बलताओं तथा दोषों पर प्रकाश डालते हुए उस पर सदैव सोद्देश्य से आक्षेप तथा प्रहार करने का काम व्यंग्य समर्थ रूप से करता है। व्यंग्य समाज की विद्रूपताओं से उत्पन्न उपलब्धि है, जो उन विद्रूपताओं की आलोचना कर उनका पर्दाफाश करता है। व्यंग्य जन-जीवन की आवश्यकताओं को समेटकर अनुभूत स्थितियों के आधार पर साहित्य सृजन करता है।

नरेंद्र कोहली ने अपने समाज में जो विद्रूप देखे उन पर व्यंग्य लिखे। इन व्यंग्यों के मूल में विद्रूपों में सुंदरता लाने की कामना है। नरेंद्र कोहली के व्यक्तित्व और कृतित्व पर बड़े-बड़े साहित्यिक महारथियों ने प्रभावित किया। इस पर कोहली लिखते हैं- "जिन लेखकों ने मुझे प्रभावित किया या जो मुझे प्रिय रहे, उनमें एक प्रेमचंद हैं, हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं, अमृतलाल नागर हैं और विरोधी विचाराधारा के होते हुए भी यशपाल मुझे प्रिय हैं। फणीश्वरनाथ रेणु मुझे अपनी कला के कारण प्रिय हैं। ऐसे ही कुछ और कारणों से कुछ और लेखक भी हो सकते हैं, लेकिन वे इतने नहीं हैं।"[6]

व्यंग्य में सोच समझकर विचार करने की क्षमता होती है। व्यंग्य आलोचना करना,

उपहास करना तथा मानवीय करुणा को उभारने जैसे तीन काम एक साथ करता है। व्यंग्य वास्तविकता या सत्यता को समझाकर लोगों को उसके लिए लड़ने की प्रेरणा देता है। आदमी के जन्मजात अंतरंग स्वभावों की दुर्बलताओं की तह से व्यंग्य पनपता है। समाज की बहुत सी विसंगतियाँ जैसे बेकारी, अन्याय, रूढ़िवादिता, कालाबाज़ारी, जमाख़ोरी, चोरी आदि अव्यवस्थाएँ व्यंग्य उत्पन्न होने के लिए पूरक होती हैं।

समाज एवं जनता के बीच में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करनेवाले इस व्यंग्य के बारे में भारतीय और पाश्चात्य साहित्यकार एवं समालोचकों ने अपनी-अपनी मान्यताओं को प्रस्तुत किया है। हास्य और व्यंग्य परस्पर को पूरक माना जा सकता है। पाश्चात्य विद्वानों ने समाज में व्याप्त विसंगतियों और विकृतियों से व्यंग्य का आविर्भाव माना है। यही व्यंग्य अक्सर आदमी को सावधान करता रहता है। मनुष्य के किसी एक व्यवहार पर आक्रमण करना ही व्यंग्य का एकमात्र उद्देश्य नहीं बल्कि समाज के आचरणों में सुधार लाना भी इसका बहुत मुख्य कार्य होता है।

व्यंग्य और हास्य एक सिक्के के दो पहलू हैं। हास्य का उद्देश्य विनोद है। सुननेवाले के हृदय में हँसी उत्पन्न करना इसका उद्देश्य है। हास्य सुनकर श्रोता भूल जाता है, जबकि व्यंग्य ऐसा नहीं है। हास्य हँसाता है तो व्यंग्य सोचने को विवश करता है। हास्य में वह गंभीरता नहीं है जो कि व्यंग्य में होती है। व्यंग्य में विचार होता है जिसे हास्य के द्वारा प्रकट करने पर भी वहाँ पर गंभीरता ही रहती है। हास्य और व्यंग्य में अंतर है। विकृतियों पर मनोरंजनात्मक रूप से मख़ौल उड़ाने की क्षमता हास्य में होती है। व्यंग्य विकृतियों पर प्रहार करता है और वह गहरा होता है।

व्यंग्य स्वतंत्र विधा है। व्यंग्य साहित्यिक विधा के रूप से जीवन के मूल्यों को मुखरित करता है और मानव मूल्यों के सभी आयामों तक उसकी गति है। प्रस्तुत शोधप्रबंध में व्यंग्य के मानवीय मूल्यों की पक्षधरता की विशिष्टताओं पर बल देकर हमारे सामाजिक जीवन को अधिक स्वस्थ, अधिक सुंदर, अधिक भव्य और अधिक उदात्त बताने का प्रयास किया गया है। व्यंग्य भ्रष्ट, अमानवीय, कलुषित परंपराओं, रीतियों और दिशाहीन धारणाओं पर सशक्त प्रहार करता है। सामाजिक दृष्टि से अमान्य आचार-विचार धार्मिक मूल्यों के ह्रास के कारण धर्म सम्मत मान्यता प्राप्त कर पाने की वजह से सामाजिक अत्याचार बढ़ रहे हैं। इस हालात पर व्यंग्य सशक्त प्रहार कर सकता है।

व्यंग्यकार को विसंगतियों पर प्रहार करते समय बहुत सतर्कता बरतनी पड़ती है। क्योंकि उस संदर्भ में व्यंग्यकार को अपने निजी विचारों को पाठकों पर थोपने के ख़तरे का सामना करना पड़ता है। इसलिए व्यंग्यकार को अक्सर सतर्क रहकर व्यंग्य लिखने की अनिवार्यता होती है। व्यंग्यकार जब व्यंग्य के माध्यम से सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में व्याप्त विघटनकारी मूल्यों पर प्रहार करता है तब समाज इस प्रहार से संपूर्ण रूप से प्रभावित होता है। व्यंग्यकार समाज में स्थित वास्तविक परिस्थिति का सीधा-सादा एवं सरल चित्रण अपने व्यंग्य के माध्यम से प्रस्तुत करते हुए समाज के प्रति अपना दायित्व सफलता पूर्वक निभाता है।

कबीरदास को हिन्दी में व्यंग्य विधा का प्रवर्तक माना जाता है। कबीर ने तत्कालीन समाज में व्याप्त विसंगतियों का तीव्र खंडन किया। आधुनिक हिन्दी साहित्य में व्यंग्य एक सशक्त विधा के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुका है। भारतेंदु हरिश्चंद्र युग के लगभग सभी जाने-माने साहित्यकारों ने व्यंग्य को अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया। भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट ने सरकार के खुशामदी, पुरानी लकीर के फ़क़ीर संपादक, महाजन, अंग्रेज आदि समाज के सभी वर्गों को अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुंद गुप्त, पूर्णसिंह, चंद्रधरशर्मा गुलेरी आदि द्विवेदी युगीन व्यंग्यकारों ने तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विषमताओं का चित्रण अपनी व्यंग्य रचनाओं द्वारा किया है।

हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवींद्रनाथ त्यागी, लतीफ़ घोंघी, श्रीलाल शुक्ल, बालेंदुशेखर तिवारी, शंकर पुणतांबेकर आदि साठोत्तर युग के व्यंग्यकारों ने अपने समय और समाज की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, शैक्षिक, साहित्यिक क्षेत्र की विसंगतियों से समाज को अवगत कराने की अपने दायित्व को बहुत अच्छी तरह निभाया। स्वतंत्र विधा के रूप में साठोत्तर युग में व्यंग्य का आविर्भाव हुआ है। इस काल में लेखन, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध तथा पत्रकारिता के क्षेत्र में भी व्यंग्य विधा को प्रभावशाली मंच मिला। देश के अंदर अनेक राजनीतिक, प्रशासनिक, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र की विसंगतियों ने व्यंग्य लिखने को बाध्य किया। इन्हीं विसंगतियों से व्यंग्य साहित्य को प्रेरणा मिली।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में नरेंद्र कोहली प्रसिद्ध व्यंग्यकार हैं। उन्होंने हिन्दी में कविता क्षेत्र को छोड़कर अन्य तमाम विधाओं में अपनी रचनाएँ लिखीं हैं। अपनी विशिष्ट विचारधारा के कारण ज़्यादातर विवादों के घेरे में रहे। उन्होंने ज़िंदगी की भावनाओं, विचारों और समानता को बहुत जीवंतता से शब्दबद्ध किया है। आधुनिक युग में व्यंग्य की विषयवस्तु आम पाठकों के मन में दबी हुई पीड़ा, कसक एवं कुंठाएँ ही तो हैं। नरेंद्र कोहली ने सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, शैक्षिक, आर्थिक, धार्मिक, विकृति और विद्रूपताओं को बहुत ही सफलतापूर्वक अपने व्यंग्य में चित्रित किया है और उनका खंडन भी किया है। इन्होंने अपनी व्यंग्य रचनाओं में हास्य को बहुत ही कम महत्व दिया और कहीं हँसी हो तो भी वह प्रहारात्मक हँसी ही है। नरेंद्र कोहली ने अपने व्यंग्य निबंध, व्यंग्य नाटक, व्यंग्य उपन्यास और एब्सर्ड उपन्यासों में राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, शैक्षिक, पुलिस व्यवस्था, न्याय पालिका, प्रशासन तंत्र आदि क्षेत्रों की विसंगतियों पर व्यंग्य किया है।

नरेंद्र कोहली ने व्यवस्था एवं कानून द्वारा दूर करने में असमर्थ राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक विसंगतियों और त्रुटियों को व्यंग्य प्रहार की सुधारवादी दृष्टि से उजागर करते हुए मानवतावादी तथा प्रगतिशील मूल्यों की रक्षा करने का प्रयत्न किया है। व्यंग्य रचनाओं में राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, साहित्यिक, तथा शैक्षिक मूल्यों की विघटनकारी विद्रूपताएँ इनकी व्यंग्य रचनाओं की पृष्ठभूमि में हैं।

नरेंद्र कोहली के चार समग्र व्यंग्य संकलन प्रकाशित हुए हैं। 'देश के शुभचिंतक', 'इश्क एक शहर का', 'रामलुभाया कहता है' और 'त्राहि-त्राहि'। इन संकलनों में लेखक कोहली का उद्देश्य गुदगुदाने का न होकर, पीड़ित मन के आक्रोश को व्यक्त करने का है। नरेंद्र कोहली का पहला और मौलिक अवदान यह है कि उन्होंने व्यंग्य-चरित्र रामलुभाय की सृष्टि की है। हिन्दी में व्यंग्य जितना लोकप्रिय है, उतना ही प्रसिद्ध है उनका यह चरित्र। नरेंद्र कोहली की हर एक व्यंग्य रचना का केंद्र बिंदु यह चरित्र है।

नरेंद्र कोहली ने व्यंग्य नाटक, व्यंग्य

उपन्यास, एब्सर्ड उपन्यास, निबंध आदि लिखे हैं। कोहली की आरंभिक रचनाएँ उनके निजी परिवेश एवं वैयक्तिक अनुभूतियों का दस्तावेज़ हैं, जबकि बाद की रचनाएँ व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ राष्ट्रीय जीवन के अनेकानेक विसंगत उपादानों से उद्भूत हुई हैं। कोहली की कलम राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक, पुलिस, न्याय आदि क्षेत्रों की विसंगतियों पर व्यंग्यात्मक प्रहार करती है। उनके व्यंग्य संकलन तथा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाएँ इस बात के साक्षी हैं कि उन्होंने अपनी विशिष्ट शैली द्वारा हिन्दी व्यंग्य विधा को रोचक, प्रौढ़ और उदात्त बनाया है।

औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से नरेंद्र कोहली की दो पुस्तकें हैं- 'आश्रितों का विद्रोह' उपन्यास तथा 'पाँच एब्सर्ड उपन्यास'। 'आश्रितों का विद्रोह' के मूल में उस विद्रोह की कथा है जो आश्रित जनता के हृदय में सत्ता के विरुद्ध उभरता है। यह विद्रोह परिवहन-व्यवस्था के विरुद्ध कॉलेज के छात्रों के माध्यम से, दुग्ध-व्यवस्था के विरुद्ध चेतन के माध्यम से, राशनिंग व्यवस्था के विरुद्ध मिस्टर कालिया के माध्यम से उभरता है। जनतंत्र की आड़ में शासक वर्ग जिस प्रकार अपनी कमज़ोरियों को छिपा लेता है, लेखकीय दृष्टि सूक्ष्मता से उसका विश्लेषण करती है। जिस निर्लज्जता एवं भ्रष्ट साधनों से नेता एवं पूँजीवादी वर्ग जनता के धन का दुरुपयोग करता है, दलित वर्ग को पीसकर उनकी ग़रीबी का कारण उन्हीं पर थोप देता है। इस व्यवस्था पर नरेंद्र कोहली ने व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण से प्रहार किया है। सोद्देश्य होने में ही व्यंग्य की सार्थकता है और इस परिप्रेक्ष से कोहली का व्यंग्य उपन्यास 'आश्रितों का विद्रोह' बहुत ही महत्वपूर्ण उपन्यास साबित हुआ है। उन्नीस अध्याय के इस उपन्यास के पूरे चार अध्यायों में विस्तृत उक्त संक्षिप्त घटना की व्यंग्य-बुनावट बहुत पैनी, विदग्ध कसी, मार्मिक है।

शिल्प और कथ्य की दृष्टि से हिन्दी-व्यंग्य-साहित्य में 'पाँच एब्सर्ड उपन्यास' नवीन प्रयोग है। कोहली इस प्रकार का प्रयोग करने में अकेले हैं और उन्होंने प्रयोग के लिए रचनाओं का निर्माण नहीं किया है अपितु स्थितियों के बेतुकेपन ने उनको विवश किया है। अस्पताल रोगियों की सेवा-सुश्रूषा का माध्यम होते हैं लेकिन आज अस्पताल का यह आदर्श हमारे सामने बरक़रार नहीं है। वर्तमान परिस्थिति में अस्पताल की व्यवस्था अपने आदर्श के अनुसार पीड़ित मनुष्य की सहायता करने के अलावा उसे और अधिक पीड़ा पहुँचाती है। 'अस्पताल' शीर्षक इस एब्सर्ड उपन्यास में कोहली ने अस्पतालीय परिवेश में छाई अव्यवस्था को उजागर किया है।

एक सफल व्यंग्यकार अपनी भाषा के द्वारा ही संप्रेषण की नई-नई मंज़िल की ओर अग्रसर हो सकता है। व्यंग्यकार साधारण भाषा की अपेक्षा व्यंग्य-सृजन में अधिक ग्रहण-शक्ति, पैनापन तथा अधिक अर्थध्वनित करनेवाली भाषा को कारगर बनाने की कोशिश करता है। इस कार्य को नरेंद्र कोहली ने अपनी व्यंग्य रचनाओं के द्वारा सफलतापूर्वक निभाया है। नरेंद्र कोहली ने अपनी भाषा में हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, फ़ारसी, पंजाबी, अरबी, अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग के साथ देशज, बोलियाँ और रोज़मर्रा की भाषा के व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग भी किया है। इस कारण उनकी भाषा सामान्य पाठकों तक सुविधा तथा सरलता एवं तरलता प्रदान करती है।

नरेंद्र कोहली ने इन रचनाओं में व्यंग्य के उपकरणों के रूप में कथात्मक शैली, फुटनोट शैली, विवरणात्मक शैली, वर्णनात्मक शैली, निबंधात्मक शैली, संवाद शैली, पत्रात्मक शैली, तुलनात्मक शैली, उदाहरण शैली, चित्रात्मक शैली, नाट्य शैली, आत्मकथा शैली, मिथक शैली, आदि का सफल प्रयोग किया है। कोहली ने शब्दों का प्रयोग सटीक, आवश्यकतानुसार किया है और उनकी भाषा स्पष्ट एवं प्रहारक बन पड़ी है। व्यंग्य में शिल्प के विभिन्न रूपों की प्रस्तुति नरेंद्र कोहली की व्यंग्य-रचनाओं के महत्व को रेखांकित करती है।

कोई भी रचनाकार अपनी बात कहने के लिए विषयवस्तु को अनेक रूपों में बुनता है और ढालता है, रचना की इसी बुनावट को 'शिल्प' का नाम दिया जाता है। नरेंद्र कोहली ने भी इस प्रक्रिया के लिए कभी स्वच्छंदता को अपनाया है, कभी वर्णनात्मकता, विवरणात्मकता, नाटकीयता, निबंधात्मकता आदि शिल्पगत विशिष्टताओं को अपनाया है। नरेंद्र कोहली ने भिन्न-भिन्न साहित्य-रूपों में अपने विचारों, अनुभवों, दृष्टियों को रूपायित किया है। उन्होंने अपने व्यंग्य साहित्य में शिल्प-वैविध्य को अधिक महत्व दिया है और वे कहीं-कहीं सायास शिल्प को रचनाओं में भर दिया है। इनके व्यंग्य में करुणा का स्वर विद्यमान है। 'त्रासदियाँ', 'परेशानियाँ', संग्रह के आत्म कथ्यपरक व्यंग्य इसी कोटि के हैं। इन्होंने निबंध एवं कथा शैली के साथ ही नाट्य (शंबूक की हत्या) उपन्यास (आश्रितों का विद्रोह, पाँच एब्सर्ड उपन्यास) फंतासी तथा मिथक, प्रतीक, लोककथायात्रा, तर्क-वक्रोक्ति एवं द्विअर्थपरक भाषा-शैली का प्रयोग किया है।

साहित्य सामाजिक प्रक्रियाओं और सामान्य तौर से जनजीवन को प्रभावित करता है। साहित्य को समाज में संस्कार को प्रसारित करनेवाला ट्रांसमिशन टावर मानते हुए नरेंद्र कोहली ने कहा है- "साहित्य एक ऐसा ट्रांसमिशन टावर है, जो अपने आदेश या अपने संस्कार देता रहता है, फैलाता रहता है, प्रसारित करता रहता है। जिसके पास रिसीविंग सैट है, वह उसको पकड़ेगा, उसकी वेवलेंथ पर कौन है, वह उसको पकड़ेगा और फिर यह भी महत्वपूर्ण है कि वह कितना प्रभावित होता है। कालप्रवाह में इस तरह का समय आता है, जब पूरा का पूरा समाज उसको पकड़ने लगता है और यह ज़रूरी नहीं है कि वह समाज रचना का समकालीन हो। आज अगर हम वाल्मीकि से प्रभावित होते हैं, व्यास से प्रभावित होते हैं, संस्कार लेते हैं, तो हज़ारों वर्षों के बाद ले रहे हैं। साहित्य एक स्थाई पूँजी है, एक शाश्वत सत्ता है, जो समाज को प्रभावित करती है।"

नरेंद्र कोहली विसंगतियों पर सार्थक आक्रमण करनेवाले व्यंग्यकारों में अग्रणी हैं। नरेंद्र कोहली मानते हैं कि व्यंग्य पीड़ितों के आक्रोश को व्यक्त करनेवाला अस्त्र है। कोहली ने अपनी व्यंग्य रचनाओं के द्वारा पाठकों को गुदगुदाने का कार्य किया नहीं बल्कि आक्रोश को जगाने का कार्य सफलतापूर्वक करते हुए समाज में परिवर्तन लाने का सार्थक प्रयास किया है। उन्होंने व्यक्ति के अंतर और बाह्य जगत की तमाम समस्याओं का आकलन किया है जो उनके अनुभव, अध्ययन और अनुशीलन का परिणाम है। नरेंद्र कोहली ने जन और समाज को व्यापक रूप से समझने और जीवन के उदात्त मूल्यों की तलाश के उद्देश्य से समकालीन अतीत से वर्तमान तक की लंबी दूरी तय की है। समता और न्याय के सिद्धांत पर आधारित समाज की स्थापना के उद्देश्य से अपनी समाज सापेक्ष दृष्टि के आधार पर साधारण जनता को निश्चित दिशा दिखाने का इनका प्रयास सार्थक है। उपरोक्त कारणों से कह सकते हैं कि आधुनिक हिन्दी व्यंग्यकारों में इनका शीर्ष स्थान है।

लेक्चरर, सेंट फिलोमना कालेज, पुटुर
डी.के. कर्नाटक-574202

अजय अनुरागी

मानवीय मुल्यों के प्रति आस्था जगाने वाला व्यंग्यकार

व्यंग्यकार न केवल विद्रूप एवं विकष्टतियों का विध्वंस ही करता है बल्कि मानवीय मूल्यों का सृजन भी करता है। नरेन्द्र कोहली ने अपने व्यंग्यों में विद्रूप एवं विकृतियों को उभारने के साथ-साथ जीवनगत आदर्शों एवं श्रेष्ठताओं को भी प्रकट किया है। उनकी कथात्मक शैली पाठक को बाँधे रखने में सहायक होने के साथ ही व्यंग्य की मारक क्षमता को भी बढ़ाने में समर्थ है। कथा के ताने-बाने में बुना गया व्यंग्य संवादों के द्वारा छन-छनकर बाहर झाँकता रहता है एवं सोपान दर सोपान पाठक को तिलमिलाता चलता है।

नरेन्द्र कोहली की व्यंग्य शैली भी कई-कई रंग बदलती है तथा शत्रुरूपी विसंगतियों पर कई-कई तरह से आघात करती चलती है। उन्होंने व्यंग्यों में सबसे ज्यादा उस वर्ग की खबर ली है जो सबसे अधिक ज्ञानी, विद्वान है और बुद्धि का प्रयोग करके प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है-बुद्धिजीवी। यह बुद्धिजीवी ही सबसे अधिक पतनशील हुआ है। जो जितना बड़ा बुद्धिजीवी है वह उतना बड़ा ही खोखला है। ढोंग और पाखण्ड बुद्धिजीवी के भीतर प्रवेश कर चुके हैं। वह तटस्थ रहकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगा है। यदि बुद्धिजीवी दायित्वहीन होकर मूक व बधिर बन जाता है तो जन सामान्य की गलती क्या है, अगर वह निष्क्रिय रहता है? समस्याओं की सही एवं व्यवस्थित प्रस्तुति बुद्धिजीवी ही कर सकता है, वह समाधान हेतु सुझाव भी दे सकता है। किन्तु बुद्धिजीवी यथार्थ को छोड़कर कोरी कल्पनाओं में डूबा रहे तथा परेशानियों को अनदेखा करके भावुक बना रहे तो समाज का क्या होगा? कोहली ऐसे बुद्धिजीवी पर कटाक्ष करते हैं- 'बुद्धिजीवी सदा ही देशकाल से परे रहता है। जो अपनी वास्तविक समस्या की बात करे वह ठहरा बोर और आप-जाँघों, नितम्बों और गालों की बात करने वाले बुद्धिजीवी।' (हिन्दुस्तानी)

जब हम अपनी तुलना अमेरिकन या अन्य पश्चिमी देशों के विकसित नागरिकों से करते हैं तो पाते हैं कि हम पिछड़े हुए हैं। इसके पीछे कई कारण हैं। नरेन्द्र कोहली अपने व्यंग्य में ठोस कारण ढूँढते हैं। वे लिखते हैं- 'हम नपुंसक हैं।' वे कर्मशील हैं हम कामचोर हैं। यही कर्मशीलता उन्हें विकसित बनाए हुए हैं। हम अपने आत्मसम्मान को भी बेचकर नौकरी इसलिए करते रहते हैं कि इतने रुपये कामचोरी के अन्य कोई न दे सकेगा। लात मारकर बाहर खदेड़ देगा। लेखक के श्ष्टाब्दों में कहा जाए तो- 'वे डटकर काम करते हैं, जी खोलकर ऐश करते हैं, सहमत न होने पर रिजाइन करते हैं- नपुंसक नहीं हैं वे हमारे जैसे।' (हिन्दुस्तानी)

नरेन्द्र कोहली प्रमाण सहित अपना तर्क देते हैं जिसे मानना मजबूरी हो जाता है। इस तरह उनके व्यंग्य की सार्थकता स्वत: स्पष्ट होती चलती है। अमरीकियों की स्पष्टवादिता और हमारी लाग लपेट नीति में जमीन-आसमान का अन्तर है। नीलिमा लेखक के बहाने भारतीयों पर कटाक्ष करती है- 'तुम्हारा देश तो हिजड़ा है हिजड़ा। पौरुज़ है ही नहीं।' (हिन्दुस्तानी) यह व्यंग्य का पैनापन है जो भीतर तक छील देता है।

इससे भी बड़ी विवशता सांस्कष्टतिक संबंधों के आधार पर दिखायी देती है जिसकी तरफ लेखक ने इशारा किया है- 'उन्होंने हमारी संस्कृति को मिटाने का भरपूर प्रयत्न किया है। अब हम अपने सांस्कृतिक संबंध कैसे तोड़ सकते हैं। हमारी सरकार महान है। हम आदर्शवादी हैं। हम मानवता. . .।' (हिन्दुस्तानी) ऐसी महानता, ऐसा आदर्शवाद, ऐसी मानवता किस काम की?

कोहली विराट अनुभूति के व्यंग्यकार हैं। वे एक बच्चे से बात शुरू करके अकबर, औरंगजेब, तानसेन, बीरबल तक पहुँच जाते हैं। एक मामूली बच्चे के रोने को संस्कृति से जोड़ देते हैं। बच्चे का रोना पूरे देश का रोना जान पड़ता है जब वे कहते हैं- 'वह इतना रोया कि मुझे शक हो गया कि उसके भीतर किसी बहुत ही सबल राष्ट्रीय आत्मा का निवास है (क्योंकि इतना अधिक तो देश की दुर्दशा पर रोने वाले भी बहुत मुश्किल से ही रोएँगे। मैं रातभर सोचता रहा कि बच्चा यदि इस अभ्यास को बनाए रखेगा तो उसे पर-राष्ट्र मंत्रालय में एक अच्छी नौकरी मिल सकती है। वे लोग उसे संयुक्त राष्ट्र में अपने देश का पक्ष लेकर रोने की नौकरी दे सकते हैं।' (संस्कृति से बिछड़ने का रोग)

व्यंग्य में कल्पना शक्ति के विस्तार की बात करें तो नरेन्द्र कोहली के व्यंग्यों में कल्पना के विविध रूपों में यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है। वे इण्डिया गेट के सामने महारानी विक्टोरिया की मूर्ति पर कबूतरों की बीट देखते हैं तो 'कबूतर' नामक रचना लिख डालते हैं। भारत दौरे पर आए इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री एटली जब विक्टोरिया के ऊपर टनों बीट देखते हैं तो दुर्दशा पर घबरा कर कह उठते हैं- ''जिस देश के कबूतर तक इतने राजद्रोही और साहसी हों, वहाँ अन्य कोई देश शासन नहीं कर सकता।'' इस रचना में कोहली ने मूर्ति के माध्यम से गाँधी एवं गाँधीवाद के नाम पर हो रही राजनीति को उजागर किया है- 'महात्मा गाँधी मूर्ति में बसते थे और मूर्ति चल नहीं सकती थी, इसलिए गाँधीजी जड़ हो गये। गाँधीवाद चल निकला। वह चलता-चलता नगर निगम में घुसा, विधानसभाओं में घुसा और जाकर लोकसभा में भी बैठ गया।' महात्मा गाँधी के तीन बंदरों के द्वारा भी लेखक ने व्यंग्य बाण छोड़े हैं- 'तीनों बंदर हर मंत्री की आत्मा में समा गए हैं। देश में बंदर वृष्टि फैली हुई है- छीनो और खा जाओ।'

आज पंचशील के सिद्धांत नूतन रूप में दिखायी दे रहे हैं। पहले सिद्धांत सत्य को छल-कपट, स्वार्थ युक्त जीवन में निहित माना है। अहिंसा के नये रूप में किसी अपराधी को दंड नहीं देना प्रमुख हो गया है। धन और यौन के ब्रह्म का पालन करने वाले ब्रह्मचर्य का निर्वाह कर रहे हैं। चोर-दुष्टों के अलावा भूखी-नंगी जनता अपरिग्रह का प्रतीक है। चोरी की जगह डाके पड़ने लगे हैं यही अस्तेय है। इस तरह कोहली पुराने सिद्धान्तों को विसंगतियों के साथ नवीकृत करके व्यंग्य की सामग्री बना देते हैं।

नरेन्द्र कोहली घर-परिवार से व्यंग्य के विषय चुनते हैं और दैनिक घटनाओं को राष्ट्रीय या सांस्कृतिक संकट से जोड़ देते हैं। ऐसा ही एक प्रसंग पत्नी के बाल कटाने को लेकर है। पत्नी के बाल कटाने का अर्थ भारतीय संस्कृति पर कैंची चलाने के समान समझा गया। बाल कटवाने से भारतीय संस्कृति पर आघात कैसे हुआ, यह बात लेखक की समझ में नहीं आ पाती है तथा वह रूढ़िग्रस्त समाज पर कटाक्ष कर देता है। यहाँ देशी एवं विदेशी संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन एक कैंची के माध्यम से स्पष्ट होता है। वे कहते हैं- 'कैंची कपड़े को नहीं काट रही, संस्कृति को काट रही है और संस्कृति कटने पर जेब का संकट आता है।' (संकट और संस्कृति)

अंग्रेजी का विरोध लेखक सीधे-सीधे नहीं करता है बल्कि उसका विरोध व्यंग्य के माध्यम से अंग्रेजी के पैरोकारों से है। वह अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा उच्च शिक्षा दिये जाने पर भी कटाक्ष करता है। एक जगह वह स्वयं पर भी तंज कसता है- 'मैं अंग्रेजी को धन्यवाद देता हूँ कि उसने मेरी सुख-सुविधा के लिए एक नौकर भेजा। और वह लड़का अंग्रेजी का आभारी है कि उसके कारण वह 'हम जैसे' बड़े लोगों के सम्पर्क में आया, नहीं तो गाँव-गँवई में पड़ा रहता और ज्यादा से ज्यादा पढ़ा-लिखा किसान बन पाता। सारी पढ़ाई मातृभाषा में होती तो किसी को घरेलू कामकाज के लिए कोई नौकर भी नहीं मिलता। (एक और लाल तिकोन)

अंग्रेजी में पढ़ाई होने का मतलब है धनी और बड़े लोगों के बच्चों का पढ़ना तथा मातष्टभाज़ा में पढ़ाई का मतलब है गरीब एवं जनसामान्य के बेटे-बेटियों का भी पढ़ जाना तथा अव्वल आना। इसे कैसे बरदाश्त किया जा सकता है?

इसे रोटी और भाज़ा के संबंध में भी समझा जा सकता है- 'मेरा विचार है कि ये नेता लोग भी रोटी और भाषा का संबंध जानते हैं। वे जानते हैं कि जनता की रोटी जनता की भाषा से जुड़ी हुई है। जनता की भाषा आयी तो जनता को तो अपनी रोटी मिल जाएगी, पर नेताओं की अपनी रोटी छिन जाएगी- क्योंकि वे स्वयं अंग्रेजी की रोटी खा रहे हैं।' (अकाल मृत्यु)

नरेन्द्र कोहली 'बाढ़ का नियंत्रण' लिख रहे हों या 'कथा अग्निकांड की', इन त्रासदियों पर सरकारी सहायता में जो कमियाँ रह जाती हैं उन पर प्रकाश डालते हैं। जब वे राजधानी के 'बस स्टॉप पर' होते हैं तो बस में आने-जाने वालों की समस्याओं पर बारीकी से विचार करते हैं। 'दिल्ली में बसें बहुत थोड़ी हैं। साले आदमियों की पैदावार तो रोक नहीं पाते, बसों की फैमिली प्लानिंग कर रखी है।' (बस स्टॉप पर) इन बसों में बैठने की समस्या भी बड़ी समस्या है। यहां भी अव्यवस्था होती है- 'सारी अव्यवस्था का कारण लोगों का पंक्ति विरोध है। जिस देश में लोगों को क्यू सेंस नहीं होगी, वह खाक उन्नति करेगा। लोग चाँद पर जा रहे हैं और हम अभी तक क्यू नहीं बना पाए।'' (बस स्टॉप पर)

आपसी संबंधों का निर्माण करने के पीछे कौन से कारण होते हैं, उन्हें नरेन्द्र कोहली 'रिश्तों से बढ़कर' व्यंग्य में स्पष्ट करते हैं। हरेक रिश्ता स्वार्थ से प्रेरित है। जो लोग बाप को आदर सत्कार नहीं देते वे अगर अन्य किसी को बाप से बढ़कर मान रहे हैं तो अवश्य कोई स्वाथ है। अनेक अनुभवों से लेखक कुछ निष्कर्ष भी निकालता है- 'समझने लगा हूँ 'बेटे से बढ़कर' का तात्पर्य होता है- बेटे के अधिकारों से वंचित वह व्यक्ति जिसे बेटे के सारे कर्तव्यों को निभाना होगा 'बढकर' एक अर्थशास्त्रीय फार्मूला है, जिसे रिश्ते के साथ यह जोड़ दिया जाता है, उसे उस रिश्ते के समस्त आर्थिक अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है।' (रिश्तों से बढ़कर)

गरीबी के कारणों की खोज करते हुए लेखक को लगता है कि अंग्रेजी न पढ़ना ही गरीबी का मूल कारण है। 'धनी वे ही लोग हैं जो अंग्रेजी पढ़ते हैं, अंग्रेजों की तरह सोचते हैं, अंग्रेजों की तरह रहते हैं।' (खोज गरीबी के कारणों की) इसमें भी अर्थशास्त्र का सिद्धान्त लागू होता है- 'अर्थशास्त्र का मूल सिद्धान्त है कि धन 'वस्तु' बेचकर नहीं, अपनी आत्मा और अपना देश बेचकर कमाया जाता है। देशभक्त इन दोनों में से कुछ भी नहीं बेच सकता।' (खोज गरीबी के कारणों की)

लेखक परिश्रम करके पैसा कमाने वालों व दैनिक मजदूरी करने वालों तथा दूसरी ओर पूँजीपतियों के अंतर को उभारता है। वे निर्धन क्यों रह जाते हैं इसके पीछे व्यंग्य का प्रहार देखिए- 'वे आलसी और कामचोर हैं, इसलिए बाजार में जा बैठते हैं। परिश्रमी होते तो कोई इंडस्ट्री खोलते, बिजनेस करते, एक्सपोर्ट-इंपोर्ट का लाइसेंस लेते, शराब के ठेके लिए प्रयत्न करते, स्मगलिंग का धंधा करते। पैसा क्या सड़क के किनारे बैठने से मिल जाता है?' (खोज गरीबी के कारणों की)

विदेश वस्तुओं के प्रति प्रेम का भाव हमारी रग-रग में समाया हुआ है। 'अमरीकन जांघिया' एक ऐसी ही रचना है जिसमें दिखावे के लिए एक व्यक्ति केवल जाँघिया पहनकर ही सड़क पर आ जाता है। वह चाहता है कि लोग जाँघिया देखकर कोई प्रश्न करें। तब वह उसे अमेरिका से आयात किया हुआ बताकर गर्व कर सके। लेखक ने व्यंग्य के द्वारा देशी और विदेश मानसिकता को उजागर किया है। 'वह आदमी अपने अमरीकन जाँघिए की प्रशंसा में अपने आप को नंगा करता जा रहा था।' (अमरीकन जाँघिया) वह व्यक्ति जैसे-जैसे अमरीकन जाँघिए की विशेषताएं बताता जाता है वैसे-वैसे भारतीय संस्कृति, भारतीय चरित्रों को निम्न और हेय सिद्ध करता चलता है। यह भी भूल जाता है कि वह भी भारतीय है और वह भी इस निम्नता एवं हेयता का प्रतीक है।

किरायेदार और मकान मालिक के अंत: संबंधों पर भी बारीकी से नरेन्द्र कोहली ने अपनी कलम चलायी है। उनके अनेक व्यंग्य इस संबंध की रोचकता से सराबोर हैं। साथ ही किरायेदार होने की पीड़ा को भी व्यक्त करते हैं। मकान खरीदने एवं बनाने की प्रक्रिया भी कुछ व्यंग्यों में झलकती है। वे जिन-जिन स्थितियों-परिस्थितियों से जीवन

में गुजरते हैं उन-उन पर व्यंग्य करते चलते हैं।

नरेन्द्र कोहली की एक व्यक्तिगत पीड़ा भी है, जिसे जायज कहा जा सकता है, वह है साहित्यिक मूल्यांकन की। कोहली के लेखन का साहित्यिक मूल्यांकन नहीं हो पाया है। न उन पर कोई बातचीत को ही तैयार है। यह साहित्य का दुखद पहलू है। 'धक्का' व्यंग्य में वे अपनी दाढ़ी को लेकर इस विषय पर कटाक्ष करते हैं- 'मेरे लेखन को अनदेखा करने की नौटंकी बहुत होली, अब कुछ चर्चा भी हो जाए। पर दाढ़ी के साथ एकदम ऐसा नहीं हुआ। दाढ़ी किसी को दिखायी नहीं पड़ी। सबके अपने आप ही दिखायी देने लगी, जैसे उगता सूरज सबको दीख जाता है। उगते सूरज और बढ़ती दाढ़ी में पता नहीं कोई समानता है या नहीं- पर चर्चा दोनों की होती है। किसी आलोचक को नहीं लगा कि दाढ़ी की चर्चा से नरेन्द्र कोहली स्थापित हो जाएगा। पुस्तक की चर्चा में यह खतरा उन्हें सोने नहीं देता था। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि दाढ़ी बड़ी गुटनिरपेक्ष चीज है। साहित्यिक गुटबाजी यहाँ घुटने टेक देती है।'

दाढ़ी के बहाने कोहली ने आत्मालाप किया है। उन्हें इस बात का मलाल है कि परिश्रमपूर्वक किये गये लेखन पर किसी ने कोई टिप्पणी नहीं कि किन्तु दाढ़ी के विषय में सब पूछते हैं। यहां कोहली साहित्यकारों, आलोचकों पर प्रहार करते हैं।

नरेन्द्र कोहली ने रामलुभाया पात्र के माध्यम से व्यंग्य कालम में समाज के अनेक पहलुओं पर विचार किया है। यहां कथा के रूप में व्यंग्य का सृजन हुआ है। मूल्य विघटन एवं जीवन में नैतिक गिरावट को कोहली निरन्तर अपने व्यंग्यों में उभारते रहे हैं। शैली उनकी कथात्मक रही है। इसलिए कथा को इच्छानुसार बढ़ाने-घटाने के लिए वे स्वतंत्र हैं। पत्नी की चालीस वर्ष उम्र हो जाने पर तथा भारतीय लोकतंत्र के चालीस साल पूरे हो जाने में कोहली को काफी समानताएँ नजर आती हैं। चालीस पार करते-करते स्त्रियों की निकट दृष्टि में दोष आ जाता है। उन्हें सजीला जवान पति आलसी, बुढऊ दिखायी देने लगता है। इधर जनतंत्र को- 'यह तो दिखायी दे रहा है कि फिलिस्तीन और यूगोस्लाविया में क्या होना चाहिए, किन्तु पंजाब, असम, कश्मीर में क्या होना चाहिए-यह दिखने की तो उम्र ही नहीं रही। वह श्रीलंका में एलटीटी से तो लड़ सकता है, किंतु अपने देश के आतंकवादी उसकी दृष्टि में स्पष्ट नहीं हैं। उसके पास संसार की प्रत्येक समस्या का समाधान है किन्तु अपने देश की न गरीबी सँभलती है न समस्या।' (दूर दृष्टि)

साहित्यिक पुरस्कारों एवं पुरस्कारों की चयन समितियों पर भी कोहली ने व्यंग्य करते हुए 'कुछ हत्यारों की चर्चा' की है। कोहली को पुरस्कार मिला तो साहित्य के एक डॉक्टर साहब ने फोन पर सलाह दी कि पुरस्कार को अस्वीकार कर दो। इसका कारण भी वे बताते हैं- 'क्योंकि पुरस्कार स्वीकार करने वाले से, पुरस्कार का तिरस्कार करने वाला महान होता है।. . .तुम्हें महान बनने का अवसर मिल रहा है उसे व्यर्थ मत गँवाओ। महान बन जाओ।'

इस बारे में डॉक्टर साहब स्पष्ट करते हैं कि पुरस्कार देने वाला हत्यारा है। जबकि हकीकत यह है कि देश में पुरस्कार देने वाली सारी समितियों पर डॉक्टर साहब का कब्जा था। वे सरकारों के प्रतिनिधि के रूप में स्वयं पुरस्कार लेते रहे हैं और अपने आश्रितों को बाँटते रहे हैं। सरकारें कोई सी भी हों हत्याएँ तो होती ही हैं। इस सरकार को हत्यारा बताने का कारण इतना ही है कि इस बार डॉक्टर साहब को पुरस्कार समिति का अध्यक्ष नहीं बनाया। साहित्य में हो रही राजनीति पर नरेन्द्र कोहली ने अपने व्यंग्यों में कटाक्ष किया है। ये व्यंग्य कलमकारों की गिरावट पर भी चिंता व्यक्त करते हैं।

कश्मीर समस्या पर कोहली ने व्यंग्य लिखकर अनेक कमियों एवं राजनीतिक कमजोरियों की तरु इशारा किया है। साम्प्रदायिकता पर भी उन्होंने व्यंग्यों में दंगाइयों पर निशाना साधा है। धर्म और दंगाइयों पर व्यंग्य करते हुए कोहली करते हैं- 'धर्म ने तो सदा मानवता को आश्रम दिया है। इन दंगाइयों को आश्रय देने वाली तो हमारी सरकार है।' (आश्रय दाता)

'सरकार और रोजगार' के द्वारा कोहली ने पाँच स्थितियाँ प्रदर्शित की हैं जो युवाओं के रोजगार हेतु किये जा रहे सरकारी प्रयासों पर चोट करती हैं। कोहली बेरोजगार युवकों के वर्तमान और भविष्य के प्रति चिंतित हैं।

व्यंग्य तरंग
(स्मृतिशेष विशेषांक)
प्रमुख हास्य व्यंग्यकारों के जीवनवृत्त,
हास्य व्यंग्य रचनाएं आदि
संपादक-
कृष्णकांत एकलव्य
संपर्क
२०९ प्रेम निकुंज रुहट्टा जौनपुर-०२

ऐसी चिंता उनके प्रत्येक व्यंग्य में दिखायी पड़ती है।

कोहली के व्यंग्यों में जीवन के प्रति आस्था एवं मूल्यों की स्थापना हेतु प्रयास दिखलायी पड़ता है। उसका व्यंग्य तभी शुरू हो जाता है जब जीवनगत मूल्यहीनता एवं अनास्था बोध की स्थितियाँ पैदा हो जाती हैं। वे जीवन के विनाश की कीमत पर समाज का विकास नहीं चाहते हैं। भौतिक युग की चकाचौंध से बचते हुए व्यक्ति श्रम और ईमानदारी के साथ कैसे जीवन बिता सकता है एवं बचा सकता है, ऐसी चिंता उनके व्यंग्यों में बराबर बनी रहती है। आत्मवृत्ति एवं आत्मविज्ञप्ति प्रत्येक मनुष्य पर हावी होती जा रही है, इसे रोकना समाज हित में अत्यन्त आवश्यक है। उपभोक्ता में बदलते व्यक्ति का गिरता चरित्र कोहली को निरन्तर चुभता रहा है और वे इन विडम्बनाओं पर व्यंग्य लेखन के द्वारा ही अपनी सामाजिकता का निर्वाह करते हैं।

नरेन्द्र कोहली की व्यंग्य शैली कथात्मक है जिसमें पात्र एवं पात्र चरित्रों के माध्यम से वे विसंगतियों को उभारते चलते हैं। उनका उद्देश्य केवल स्थितियों-परिस्थितियों का चित्रण करना ही नहीं है बल्कि समाज में सुरूप और सुकृति की स्थापना करना भी है। पश्चिमीकरण की हवा में बहे बिना अपनी संस्कृति को बचाए रखने की छटपटाहट भी नरेन्द्र कोहली में देखी जा सकती है।

कोहली का व्यंग्य संसार विविधता से समृद्ध है तथा व्यंग्य विधा को विविधता से समृद्ध करने की सामर्थ्य रखता है।

160, विजयसिंह पथिक नगर
झोटवाड़ा, जयपुर-302012

सतीश पांडेय

नरेंद्र कोहली की रचना-प्रक्रिया

रचनाकार के भीतर एक ऐसी प्रतिभा विद्यमान है, जो उसे अन्य सामान्य मनुष्यों से भिन्न एवं विशिष्ट बनाती है। रचनाकार का यह प्रातिभ गुण सुप्त होता है। उसे जगाने के लिए तीव्र जिज्ञासा की आवश्यकता होती है। जीवन के विभिन्न पक्षों की अनुभूति कल्पना की सहायता से इस जिज्ञासा को समृद्ध करके परिपक्व बनाती है। सामान्य मनुष्य की संवेदनाएं जिन सांसारिक घटनाओं के प्रभाव से अछूती रह जाती हैं, उन्हीं प्रभावों को ग्रहण करने की सामर्थ्य रनाकार में होती है। इन्हीं अनुभूतियों को ग्रहण करते हुए एक ऐसा क्षण होता है। सर्जन के इन्हीं क्षणों में रचनाकार के जीवनानुभव, स्मृति, विचार, ज्ञान, शब्द अखंड रूप में साकार होते हैं। इस प्रक्रिया के दौरान कार्यरत समस्त उपादानों की अनिवार्य उपस्थिति में बावजूद यह सच है कि दो रचनाकारों की रचना-प्रक्रिया में समानता पाया जाना असंभव है।

इसीलिए किसी भी रचनाकार की रचना-प्रक्रिया को समझने के लिए उसके आत्मकथन, वक्तव्य, जीवन की स्थितियां, आचरण, सिद्धांत-निरूपण एवं रचनाकारों की भूमिकाएं सहायक होती हैं। नरेंद्र कोहली ने अपनी रचना-प्रक्रिया के संबंध में अपने आत्मकथ्यों, निबंधों, विविध भूमिकाओं, साक्षात्कारों तथा 'नेपथ्य' में बहुत कुछ स्वयं ही स्पष्ट किया है। उनकी रचना-प्रक्रिया को विश्लेषित करने के लिए यहां उन्हीं सबको आधार बनाया गया है।

रचना-प्रक्रिया को रचनाकार के मन में घटित होने वाली एक रहस्यमय प्रक्रिया कहा गया है। नरेंद्र कोहली ने भी इसे एक रहस्यमय प्रक्रिया ही माना है। उनका विचार है कि सृजन-प्रक्रिया एक बड़ी ही जटिल किस्म की चीज है। कोई भी लेखक अपनी इच्छा से कहे कि मैं यही लिखूंगा या ऐसा ही लिखूंगा तो यह संभव नहीं है। भीतर से कब क्या उभरकर आता है इसके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। रचनाकार अपने परिवेश से प्राप्त अनुभवों को अपनी दृष्टि एवं मानसिकता के आधार पर उचित शिल्प के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार रचनाकार की अनुभूति का विशेष महत्व होता है। नरेंद्र कोहली की अनुभूति की इस महत्ता को स्वीकार करते हैं परंतु वे यह मानते हैं कि रचनाकार को व्यक्तिगत अनुभवों से थोड़ा सा तटस्थ भी रहना पड़ता है, 'जो अनुभव की प्रामाणिकता का व्यक्तिगत अनुभव है, उससे भी जब तक तटस्थता स्थापित नहीं होती, लेखक उसे लिख नहीं सकता। इसी तरह जैसे अपने अनुभव को पराया करने की प्रक्रिया है, वेस ही दूसरों के अनुभव को अपना किया जाता है। लेखक यदि अपने ही अनुभव पर आश्रित रहे तो वह एक-आध कृति से अधकि कुछ नहीं दे पाता लेकिन यह नहीं कि अपना अनुभव जो है, वह नहीं आता। अपने अनुभव से भी थोड़ा सा तटस्थ होना पड़ता है क्योंकि जब तक वह अनुभव अपना रहता है, वह कृति नहीं बन सकता।

किसी भी रचना से पहले 'क्रियेटिव-टेंशन' के पैदा होने की बात स्वीकार की जाती है। नरेंद्र कोहली ने इस तथ्य को अपने संदर्भ में विस्तार से स्पष्ट किया है। ऐसी स्थिति अनेक बार आती है, जब किसी से बात कर, किसी घटना को देखकर, सुनकर, पढ़कर या उसमें से गुजरकर इनके अंतर्मन में एक ही रूप में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। यह प्रतिक्रिया अत्यंत ही तीखी होती है, 'कुत्ता! साला क्या समझता है अपने आप को! रत्ती भर बुद्धि नहीं! दुनिया से गिरा हुआ चरित्र और क्या-क्या बघार गया। फिर इनको लगता है कि गालियां दे लेने से कुछ नहीं होगा। याद आते ही, चाहे गालियों के माध्यम से ही हो, ये फुंकने लगते हैं। इनके अंदर एक अजीब तरह का वाष्प उमड़ने लगता है जो बाहर निकलने के लिए पागलों के समान टक्करें मार रहा होता है। ये सोचते हैं कि 'यह वाष्प है या जंगली भैंसा! पेट की आतों में अपनी सींग फंसाये हुए उन्हें खींच रहा है। मेरी कनपटियों पर भीतर से ठोकरें दे रहा है. . .यह जंगली भैंसा नहीं है . . .है यह वाष्प ही, जंगली भैंसे के समान शक्तिशाली, नहीं तो इसमें यह निहित ताप नहीं होता।

वास्तव में यह वाष्प और कुछ नहीं बल्कि वह अनुभूति होती है जो अभिव्यक्त होने के लिए छटपटाहट पैदा करती है। नरेंद्र कोहली इसे स्पष्ट करते हुए आगे लिखते हैं कि 'यह ताप मुझे तपाता रहा है तथा इसमें और भी बहुत कुछ तपता रहा है. . .कुछ शब्द, कुछ बिंब, कुछ चरित्र, कुछ घटनाएं। वाष्प जैसे कोई आकार ले रहा है। वाष्प मूर्त हो गया है. . .और मूर्ति मेरे भीतर स्फीत होने लगती है। वह जैसे मेरी भुजाओं में भुजाएं डालकर, मेरी टांगों में टांगें डालकर, बढ़ने लगती है। उसका शरीर बढ़ता जाता है किंतु मेरा शरीर तो नहीं बढ़ रहा है। यह कैसा कसाव है। इस मूर्ति का जोर तो मेरी शिराओं और धमनियो को तोड़कर रख देगा।. . .मैं कलम लेकर बैठ जाता हूं। लिखे बिना काम नहीं चलेगा. . .मुझे इस तनाव से मुकत होना ही पड़ेगा।

स्पष्ट है कि रचनाकार के अंदर अनुभूतियां इकट्ठी होकर तपती रहती हैं। एक निश्चित समय पर वे एकत्र अनुभूतियां इकट्ठी होकर तपती रहती हैं। एक निश्चित समय पर वे एकत्र अनुभूतियां आकर ग्रहण करने लगती हैं। ऐसे में रचनाकार एक अजीब सी छटपटाहट अनुभव करता है। अपनी अनुभूतियों को बिना अभिव्यक्त किए वह चैन से रह ही नहीं सकता। उसे एक अजीब तरह की पीड़ा का अनभुव होता है। प्रसव-पीड़ा की भांति जब तक अनुभूतियां अभिव्यक्त नहीं हो जाती, मन का तनव दूर ही नहीं होता।

रचनाकार की प्रेरणा का स्रोत समाज ही होता है। प्रत्येक समाज में विसंगतियां,

अन्याय, भ्रष्टाचार तथा इसी प्रकार की दूसरी अस्वस्थ प्रवृत्तियों एवं सामाजिक न्यूनताओं की खोज-बीन करता है तथा उनके समाधान के लिए समाज को एक दिशा देने का प्रयास करता है। यह उसका लेखकीय दायित्व बन जाता है। नरेंद्र कोहली के साहित्य का अवलोकन करने से एक बात सामान्य रूप से स्पष्ट होती है कि इनकी मूल लेखकीय दृष्टि व्यंग्यात्मक रही है। इनका सम्पूर्ण रचना-संसार शिल्पगत विविधताओं से युक्त है परंतु चाहे वह निबंध हो, कहानी हो, उपन्यास हो या नाटक हो, इनका व्यंग्यकार हर जगह दृष्टिगत होता है। इस तथ्य को ये स्वयं भी स्वीकार करते हैं, 'व्यंग्य की प्रवृत्ति तो मुझमें आरंभ से ही रही होगी, जो आरंभिक कविताओं, निबंधों तथा कहानियों में झलकती है; किंतु उसका विकास व्यक्तिगत जीवन तथा राष्ट्रीय जीवन के अनेक उपादानों का ऋणी है। व्यक्तिगत जीवन की पीड़ा तथा राष्ट्रीय जीवन की तर्कशून्य, विद्रूपपूर्ण स्थितियां कुछ इस प्रकार चुभीं कि मन का क्षोभ और आक्रोश व्यंग्य बनकर ही प्रकट हुआ।

निश्चित रूप से इनकी इस व्यंग्यात्मक दृष्टि के विकास के मूल में व्यक्तिगत, राष्ट्रीय एवं सामाजिक जीवन के विभिन्न उपादान ही रहे हैं। सामाजिक विद्रूपताओं और असंगतियों को देखकर इनके मन में एक अजीब तरह का आक्रोश घर कर जाता है। इसी आक्रोश की पीड़ा व्यंग्य के रूप में प्रकट होने लगती है। इसीलिए अपनी व्यंग्य रचनाओं की रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में ये लिखते हैं कि 'पीड़ित आक्रोश की वक्रता ने जो दृष्टि दी, उसने अपने व्यक्तिगत अनुभव से बाहर निकल राजनीतिक-सामाजिक असंगतियों को भी देखा और अपनी पीड़ित आक्रोश को प्रकट करने के लिए मैं व्यंग्य रचनाएं लिखता रहा।

वास्तव में व्यंग्य की रचना-प्रक्रिया अन्य साहित्य विधाओं की रचना-प्रक्रिया से भिन्न होती है। किसी घटना के कारण मन में आक्रोश उठता है। इस कारण उस वस्तु के विरुद्ध कटाक्ष पर कटाक्ष उभरते हैं। उनकी कड़ी ही व्यंग्य के रूप में आ जाती है। इस प्रकार व्यंग्य के मूल में कोई न कोई घटना या विद्रूपता होती है, जिस पर व्यंग्यकार कटाक्ष करता है। नरेंद्र कोहली का समस्त व्यंग्य-साहित्य इन्हीं विद्रूपताओं और विसंगतियों के विरुद्ध उत्पन्न कटाक्ष है। इस सत्य को स्वयं नरेंद्र कोहली ने भी अनेक स्थानों पर स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ 'पांच एब्सर्ड उपन्यास' की रचना-प्रेरणा के संबंध में इनका 'आत्मकथ्य' देखा जा सकता है। ये लिखते हैं कि एक 'अस्पताल' ही क्या, ये पांचों रचनाएं उसी पीड़ित मन:स्थिति में लिखी गई थीं। संदर्भ चाहे अलग थे, किंतु परिस्थितियों की एक्सर्डिटी सब जगह समान थी। अत: उन्हें एक ही विधा में अभिव्यक्त होना पड़ा।

'अस्पताल' नामक रचना के 'पीड़ित मन: स्थिति' में लिखे जाने की बात कही गई है। वास्तव में यह पीड़ित मन-स्थिति क्या है? लेखक के अपने जीवन की एक दुर्घटना ही तो है। लेखक 24 दिसंबर 1967 की सर्दियों की एक रात के दृश्य का उल्लेख करता है, जब उसने और उसकी पत्नी ने 'आल इंडिया इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल सांइसेज' के 'चिल्ड्रेन्स वार्ड' में अपने बड़े लड़के को मृत्यु के विरुद्ध संघर्ष करते हुए देखा उसकी जुड़वा बहन मृत घोषित हो चुकी थी। इस दुर्घटना से गुजरते हुए लेखक को एक के बाद एक ऐसे झकझोरने वाले अनुभव प्राप्त हुए जिनके विषय में सोचने का अवकाश लड़के की हालत में सुधार होने पर मिला और तब लेखक को अस्पताल के वे विभिन्न दृश्य पिशाचों के समान नोचने लगे। उसकी नसें चटखने लगीं और सिर भन्नाने लगा। तब उसने पिशाचों से मुक्ति पाने के लिए 'अस्पताल' की रचना की। 'नेपथ्य' में भी लेखक ने लिखा है कि 'अस्पताल की रचना बड़ी ही पीड़ित मन:स्थिति में हुई है। अब सोचता हूं तो लगता है कि जब तक सह सकता था सहा, पर जब सह न का तो मैं व्यंग्य करने पर उतर आया। पीड़ा ने ही मुझे अपने से कुछ बड़ा कर दिया था और ऐसी आंख दी थी, जिसने उस सारे वातावरण को एक कार्टून की दृष्टि से देखा था और ऐसी आंख दी थी, जिसने उस सारे वातावरण को एक कार्टून की दृष्टि से देखा था और यह सब शायद इसीलिए हुआ था ताकि मैं अपना मानसिक संतुलन स्थिर रखकर जी सकूं।

'अस्पताल' ही नहीं 'दि कॉलेज' की रचना-प्रक्रिया के मूल में भी लेखक की अपनी जिंदगी के अनुभव ही रहे हैं। पेशे से अध्यापक होने के कारण शैक्षिक संस्थानों की विविध समस्याओं, परिस्थितियों एवं विसंगतियों को लेखक अपने दैनिक जीवन में झेलता रहा। 'अस्पताल' की रचना से उसे 'एब्सर्ड-शिल्प' मिल ही गया था। परिणाम स्वरूप कॉलेज के वातावरण की एब्सर्डिटी 'दि कॉलेज' नामक रचना में अभिव्यक्त हो गई। लेखक खुद भी स्वीकार करता है कि उसने नई-नई प्राध्यापकीय नौकरी ग्रहण की थी और कॉलेज के वातावरण को देखकर भन्नाया हुआ था। विसंगतियों को देखकर लगता था कि सर फट जाएगा। व्यवस्था के विरुद्ध मन में गंदी गालियां निकाली थीं, जिसे साहित्य हू-ब-हू स्वीकार नहीं करता। उसने इस एब्सर्डिटी को कथा-रूप देने के लिए बहुत कोशिश की। कई पृष्ठ लिखकर फाड़ा परंतु संतुष्टि नहीं मिली। वह संतुष्ट तब हुआ जब एब्सर्ड उपन्यास के रूप में मन की यह तीखी प्रतिक्रिया अभिव्यक्त हुई। इसी तरह अन्य एब्सर्ड उपन्यासों में भी समाज की किसी न किसी एब्सर्डिटी को ही अभिव्यक्ति मिली है।

रचना प्रक्रिया भी एक यात्रा की भांति होती है। रचनाकार जैसे-जैसे लेखन कार्य में आगे बढ़ता जाता है, उसकी रचना-प्रक्रिया भी वैसे-वैसे ही विकसित होती जाती है। धीरे-धीरे बड़ी रचनाओं की तरफ ध्यान जाता है। रचना-प्रक्रिया में बदलाव आने लगता है। नरेंद्र कोहली ने भी अपनी रचना-प्रक्रिया को एक यात्रा ही माना है। इन्होंने लिखना शुरू किया था। कहानियों और व्यंग्य-निबंधों के रूप में। उन आरंभिक कहानियों को लिखने का 'मसाला' इन्हें अपने परिवार में ही मिल जाता था। 'उजड़े दयार में' तथा 'दो हाथ' ऐसी ही कहानियां हैं, जिनमें इन्होंने अपने बड़े भाई के संबंध में प्राप्त अनुभव को व्यक्त किया है। धीरे-धीरे इनकी दृष्टि व्यक्तिगत-पारिवारिक माहौल से हटकर सामाजिक असंगतियों से प्रेरणा प्राप्त करके 'अस्पताल' जैसी रचना लिखी तो सामाजिक और राजनीतिक विद्रूपताओं ने 'आश्रितों का विद्रोह' 'आतंक' तथा 'शंबूक की हत्या' लिखने की प्रेरणा दी। इसी का विकास राम-कथा के उपन्यासों के रूप में हुआ और नरेंद्र कोहली, जो

आरंभ में छोटी–छोटी व्यंग्य रचनाएं लिखते थे, बड़ी रचनाओं की तरफ आकृष्ट हुए। वे खुद ही स्वीकार करते हैं कि 'जीवन का अनुभव जब ज्यादा होता है और उस तरफ लेखक बहुत जदा सोचता है, वह स्थिति कभी महाकाव्य में होती थी और आजकल उपन्यास में होती है।

इस प्रकार जीवन के अनुभव जैसे–जैसे गहराते गए ये स्फुट व्यंग्य रचनाओं से बड़ी व्यंग्य रचनाओं और उपन्यासों की तरफ आगे बढ़ते गए। 'आश्रितों का विद्रोह' इनका एक ऐसा ही व्यंग्य उपन्यास है, जिसका निर्माण पहले एक लंबी कहानी के रूप में हुआ था, बाद में उसको वर्तमान रूप मिला। इसकी रचना भी भिन्न मन:स्थिति में हुई थी। इसकी रचना–प्रक्रिया के संबंध में लेखक का विचार है कि एक दिन वह कॉलेज से बस द्वारा घर लौट रहा था। बस लेडी श्रीराम कॉलेज तक ही थी। वहां उतर कर वह सोचने लगा कि अगली बस का इंतजार करें या न करें। उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि यदि वह पैदल चलने का कष्ट करे तो बस की प्रतीक्षा की यातना से बच सकता है और वह पैदल चल पड़ा। विचार–क्रम आगे बढ़ा। बसों की व्यवस्था ठीक नहीं है; राशन में चीजें नहीं मिलतीं। प्रत्येक स्थान पर पंक्ति में खड़ा होना पड़ता है. . .इत्यादि इत्यादि। इसलिए इसका विरोध होना चाहिए। विरोध में कष्ट सहना पड़ता है, इसी कारण लोग विरोध नहीं करते। लोगों की इस दुर्बलता को सरकार जानती है। इसीलिए वह चिंता नहीं करती. . .। यहीं 'आश्रितों का विद्रोह' आरंभ हो गया। रचनाकार ने अपनी कल्पनाशीलता में उस समाज का निर्माण किया, जो इस सारी व्यवस्था का विरोध करता है और तब यह भी महसूस किया कि यदि कभी सत्ता का विरोध हुआ तो उसका दमन कब और कैसे होगा। इन्हीं अनुभूतियों का चित्रण आश्रितों का विद्रोह है। इस उपन्यास में लेखक ने अपनी कल्पना–शक्ति से भविष्य के समाज और शासन का रूप चित्रित किया है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि नरेंद्र कोहली का रचना–संसार पूर्णरूपेश उनके व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्रीय–अंतर्राष्ट्रीय परिवेश में घटनेवाली घटनाओं और विसंगतियों से प्रेरित है, जिनमें उनकी व्यंग्यात्मकता अधिक प्रभावकारी ढंग से उभरी है। घटनाओं से प्रेरित होकर जहां कोहली की रचना–प्रक्रिया का आरंभ हुआ है, वहीं अपनी कल्पना से इन रचनाओं में इनका पूरा अनुभव–जगत और इस तरह इनका समग्र व्यक्तित्व झलकता है। वैसे तो प्रत्येक रचनाकार की रचनाओं के संबंध में स्वीकारा भी है। आरंभ में ये कविताएं भी लिखते थे, किंतु बड़ी ही ईमानदारी से इन्होंने यह स्वीकार कर लिया कि कविता इनकी विधा नहीं है क्योंकि इनके व्यक्तित्व में कविता के तत्व भी नहीं थे। अत: कवि बनने का प्रयत्न इन्होंने छोड़ दिया।

इनकी आरंभिक कहानियों में पारिवारिक असंगतियों पर कटाक्ष झलकता है। कटाक्ष का यह क्षेत्र बाद की रचनाओं मे और विस्तार पाता है और लेखक समाज की प्रत्येक विसंगति पर प्रहार करता है। वस्तुत: व्यंग्य–रचनाकार अपने काम से काम रखनेवाला या आवश्यकतानुसार समझौता करनेवाला व्यक्ति कभी नहीं हो सकता। व्यंग्यकार तो चिड़चिड़ा व्यक्ति ही होता है। वह वहां भी चिड़–चिड़ा सकता है, जहां उसे कुछ भी लेना–देना न हो। कहना न होगा कि नरेंद्र कोहली के व्यक्तित्व की सर्वप्रथम विशेषता यही हे कि वे जहां भी कोई असंगति या अत्याचार होते देखते हैं, उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप इनका मन विद्रोह कर उठता है।

वस्तुत: रचना–प्रक्रिया अनवरत चलनेवाली एक यात्रा है। कुछ घटनाएं रचनाकार के मानस को आंदोलित कर उसे लेखन–कर्म के लिए प्रेरित अवश्य करती हैं किंतु इसका अर्थ नहीं है कि रचनाकार मात्र उसी घटना से प्रेरित होकर संपूर्ण रचना पूरी कर लेता है। किसी भी कृति की रचना–यात्रा के दौरान और अनेक छोटी–बड़ी घटनाएं रचनाकार के मन को प्रभावित करती रहती हैं और वह इन घटनाओं को उस कृति में अपनी दृष्टि के अनुरूप समाहित करता चलता है। नरेंद्र कोहली की रचनाओं में भी यह विशेषता परिलक्षित होती है। उन्होंने रामकथा की प्रेरणा बंगला देश के युद्ध से ग्रहण की किंतु उनका मन समकालीन परिवेशगत घटनाओं के प्रति भी सचेत था। इसलिए प्रसिद्ध 'गीता चोपड़ा हत्याकांड' को इन्होंने सागरिका के अपहरण की घटना के रूप में चित्रित कर रावण और उसके परिवार के लोगों का नैतिक पतन दिखाया और इस तरह शासक वर्ग और उसके संबंधियों को अन्याय अत्याचार से सीधे जुड़ा हुआ दर्शाया। वस्तुत: रामकथा में अनेक ऐसी घटनाएं वर्णित हैं, जिनका रामायण काल में कहीं अस्तित्व ही नहीं था। अत: यह स्पष्ट है कि रचना प्रक्रिया के दौरान मूल घटना के अतिरिक्त इतर घटनाएं भी उचित संदर्भ में अभिव्यक्त होती रहती हैं।

अंतत: एक बात शिल के संदर्भ में भी। नरेंद्र कोहली ने अपनी रचना–प्रक्रिया के संदर्भ में यह स्पष्ट किया है कि 'मेरा मन कुछ घटनाओं को दृश्यों और नाटकीय परिणति के रूप में ही ग्रहण करता है। लाख चाहने पर भी उन घटनाओं को किसी और विधा में ढालना कठिन होता है। ठीक वैसे ही संवाद के रूप में जन्मी स्थितियां भी नाटक की मांग करती हैं। रामकथा संबंधी उपन्यास लिखते हुए अनेक प्रसंग अत्यंत नाटकीय हो गये हैं। पर वे उपन्यास का अंग बनकर ही आए हैं क्योंकि वे एक वृहद रचना के अंशमात्र थे। यदि उन्हें अपने आप में स्वतंत्र रचना के रूप में लिखने का प्रयत्न करता तो अवश्य ही उन्हें नाटक का रूप देना पड़ता। यहां प्रकारांतर से कोहली ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इनकी रचनाओं में प्रयुक्त शिल्प उन रचनाओं की विषय–वस्तु के आधार पर ही निर्धारित हुआ है। सायास शिल्प के निर्माण में रचनाकार कभी भी सफल नहीं हुआ। वस्तुत: शिल्प रचना–प्रक्रिया का एक प्रमुख पक्ष है। रचना का कथ्य स्वयं ही अपने लिए शिल्प की मांग करता है। इस मांग के अनुरूप शिल्प में उसकी अभिव्यक्ति ही उसे प्राणवान बनाती है। नरेंद्र कोहली की रचनाएं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं इनकी रचनाओं में प्राप्त शिल्पगत विविधता मात्र प्रयोग के लिए नहीं वरन अलग–अलग ढंग से सामाजिक–राजनीतिक विसंगतियों पर कटाक्ष करने के प्रयत्न में सहज ही उत्पन्न है।

समग्रत: कहा जा सकता है कि नरेंद्र कोहली के रचनाकार मन पर देश और समाज में घटने वाली हर घटना अपना गहरा प्रभाव डालती रही है। राडार की तरह इनका मन छोटी–सी घटना से भी झनझना उठता है। इन घटनाओं से प्राप्त अनुभूतियां इनके

शेष पृष्ठ–94 पर. . .

सुरेश कांत

प्रयोगधर्मी व्यंग्यकार

कोहली ने व्यंग्य के लिए सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग किया है। उनका शिल्पगत वैविध्य तो देखते ही बनता है। कोहली इस शिल्प-वैविध्य को व्यंग्य के लिए आवश्यक समझते हैं और उसके प्रति सजग नजर आते हैं। इसका कारण बताते हुए वे लिखते हैं, 'किसी व्यंग्यकार की कुछ रचनाएं पढ़कर पाठक उससे पुनरावृत्ति की शिकायत करने लगता है। इस पुनरावृत्ति से बचने के लिए ही लेखक को विधाओं तथा तकनीकों के वैविध्य का सहारा लेना पड़ता है। अपनी इस सोच के चलते कोहली ने व्यंग्य लिखने के लिए निबंध, कहानी, एब्सर्ड उपन्यास, फंतासीय उपन्यास तथा नाटक की विधाओं का सहारा लिया है तो वार्तालाप-शैली, साक्षात्कार शैली, स्वप्न शैली, पत्र शैली आदि विभिन्न शैलियों के अलावा एक ही रचना में समन्वित शैली का प्रयोग भी किया है।

कोहली की विशिष्टतम व्यंग्य-कृति 'पांच एब्सर्ड उपन्यास' में सबसे पहले इसके नाम में प्रयुक्त 'एब्सर्ड' शब्द पर ध्यान जाता है और फिर इसमें संकलित उपन्यासों के रूप-आकार पर, क्योंकि कोई भी उपन्यास बीस पृष्ठों जितना बड़ा भी नहीं है। लेकिन पचास बड़ा पृष्ठों की संख्या से नहीं, गठन और चित्रण की समग्रता से बनता है। बहरहाल, गैर-परंपरागत नाम और रूपाकार देख 'आत्मकथ्य' पढ़ने की लालसा स्वत: जाग्रत हो जाती है। 'आत्मकथ्य' के लेखक ने प्रमुखतया दो बातें उठाई हैं- एक तो शीर्षक संबंधी स्पष्टीकरण अर्थात आवश्यकता से अधिक पाश्चात्य साहित्य के ज्ञानी बंधुओं की इस आपत्ति कि इन उपन्यासों के लिए 'एब्सर्ड' शब्द का प्रयोग अनुचित है। दूसरी बात इस विधा को हिंदी-साहित्य की सर्वथा नई विधा मनवाने का उनका दावा भी। स्थितियों की एब्सर्डिटी यानी अनर्गलता अथवा बेतुकेपन से प्रकाश में आई और उसे प्रकाश में भी लाने वाली इन कृतियों में व्यंग्य का अनूठा तुक इन्हें वैशिष्ट्य प्रदान करता है और विधा तो यह ऐसी है कि स्वयं कोहली इन पांच कृतियों के अलावा कोई अन्य कृति इस विधा में जब तक नहीं लिख पाए हैं। इस दृष्टि से यदि कोहली को उपन्यास और व्यंग्य, दोनों ही क्षेत्रों में विकास की एक और कड़ी प्रस्तुत करने का श्रेय दिया जाए तो अनुचित न होगा।

'आत्मकथ्य' में ही लेखक ने संकलन की पहली रचना 'अस्पताल' की मूल प्रेरणा का जिक्र किया है। उनके अनुसार 'अस्पताल' की रचना कारण है- असह्य मन:स्थिति, जो व्यंग्य का रूप धारण कर अनिवार्य रूप से इस शिल्प में अभिव्यक्त होकर 'अस्पताल' रचना बनी। ओर फिर अस्पताल ही क्यों, पुस्तक में संकलित पांचों रचनाएं ('द कॉलेज, 'अस्पताल', 'द लाइफ', 'शफा होने वाले' और 'मुहल्ला') उसी पीड़ित मन:स्थिति में लिखी गई हैं। ये पांचों उपन्यास वर्णनात्मक शैली में लिखे गये हैं, यद्यपि 'अस्पताल' नामक रचना में लेखक आत्मपरक अधिक हुआ है- शायद इसका कारण आत्मकथ्य भी हो सकता है। यही एक बात है, जो लेखक के इस कथन में संदेह पैदा करती है कि इन सभी की रचना एक ही मन:स्थिति में हुई है। यह कहना शायद अधिक उपयुक्त होगा कि 'अस्पताल' की रचना से प्राप्त 'शिल्प' ने लेखक के लिए ऐसे अन्य अनभिव्यक्ति विषयों को अभिव्यक्ति करना सुगम बना दिया।

इन सभी उपन्यासों को एक-साथ पढ़ने से जो एक सामान्य बात उभकर आती है, वह है- समाज के विभिन्न क्षेत्रों में, बल्कि सभी क्षेत्रों में बढ़ती हुई अनुत्तदायित्व की भावना। इन सभी उपन्यासों को एक साथ रखकर पढ़ने की सार्थकता भी शायद इसी रूप में है, क्योंकि लेखक ने सभी क्षेत्रों में छिपी 'गुड्डमगड्डता' के मूल में कारण-रूप से छिपी इसी भावना को ढूंढ निकाला है और हर उपन्यास इस बात का साक्षी है। लेखक की सूक्ष्म दृष्टि समाज के प्रत्येक प्रमुख क्षेत्र के सतही 'हो-हल्ले' में घुसती चली गई है और उसने पूरी ईमानदारी के साथ न केवल बड़े अफसर, प्रोफेसर, चपरासियों, क्लर्कों और यहां तक कि घर पर रहने वाली औरतों में जहर की तरह फैली हुई कर्तव्यों के प्रति उदासीनता एवं व्यवहार मेमं अशिष्टता को पूरी तरह उसके सही रूप में प्रस्तुत नहीं किया है, अपितु उसे स्वयं भी जीकर देखा है। तभी तो तड़पकर वह करारे व्यंग्य करने पर भी मजबूर हुआ है, 'बच्चा एक बार खूं करता है और दवा सारी की सारी उलट देता है- क्रिमिनल। गरीब देश के च्चे को क्या अधि कार है कि वह दवा नष्ट करे, जो दूसरे देशों से भीख के रूप में उसके देश को दी गई हो। इस प्रकार का व्यंग्याधार ही वस्तुत: इन रचनाओं का प्राण भी है। अत: जहां-जहां लेखक व्यंग्य से उतरकर 'वर्णनकर्ता' रह गया है, वहीं-वहीं रचनाओं के अंश कमजोर पड़ गए हैं। वास्तव में 'एब्सर्ड' आर्ट में शिल्प की दृष्टि से बाह्य 'सुव्यवस्था' खटकती है, इसलिए सपाट वर्णन भी दोष बन जाता है। इसमें एक पूरे परिवेश को उसकी 'अस्तव्यस्तता' में ही उभारना होता है। यद्यपि उसकी नींव व्यंग्य के मजबूत आधार पर टिकी रहती है और वही सर्जक का मौलिक पक्ष होता है। जहां तक लेखक द्वारा अप्रस्तुत-विधान का आश्रय लेने की बात है, वह भी किसी हद तक सत्य है। लेकिन ऊलजलूल बातों के लिए ऊलजलूल अप्रस्तुत-विधान का अतिशय भी उसकी गरिमा का ह्रास ही करता है। यह दोष कहीं-कहीं इन रचनाओं में झलकता है जो कथ्य को बोझिल बनाकर पचाने में बाधक सिद्ध होता है। यानी ऐसी रचनाओं में सपाटता और ऊलजलूल अप्रस्तुत-विधान की अतिशयता, दोनों ही से लेखक का बचना अपेक्षित होता है। नरेंद्र कोहली दूसरे दोष के

मोह से अधिक ग्रसित प्रतीत होते हैं, तथापि उनका कुल प्रभाव प्रवाह में बहुत अधिक नहीं खलता।

'द कॉलेज' में लेखक ने विद्यार्थियों के पहनावे से लेकर विचारों के धरातल तक पर उनकी अपरिपक्वता का सफल चित्रण किया है। किस प्रकार प्राध्यापकों के हाथों वे स्वार्थ-सिद्धि का साधन बनते हैं, किस प्रकार प्रेम के सही रूप को न समझे बिना वे विशेष रूप से छात्र-हास्यास्पद बनते हैं और किस प्रकार वे कर्तव्यों से विमुख हो नाना अनपेक्षित कार्य कर डालते हैं। शिक्षा क्षेत्र के इस परिवेश का ऐसा जीवंत चित्रण साहित्य में बहुत कम मिलता है। सबसे जोरदार चित्रण है कॉलेज के प्राध्यापक-वर्ग का और उमसें भी उस वर्ग का जिसके लिए सही विशलेषण 'स्नॉब' ही है। इस प्रसंग को पढ़ते ही विद्यार्थियों के अध्ययन-स्तर के गिरने का कारण समझ में आ जाता है। और यही चीज नजर आती है 'अस्पताल' के परिवेश में, जहां के नियम ऐसे हैं जिन्हें बनाने वाला जरूर कोई दैत्य रहा होगा, जिसे तड़पती, छटपटाती, विवश आत्माओं को देख बेरहमी से अटूट अट्टहास करने में ही मजा आता है। ऊदबिलाव की तरह बैठे चौकीदार के चेहरे पर यही तो नजर आता है। मरते हुए बच्चों के मां-बाप अंदर इसलिए नहीं जा सकते क्योंकि उनके पास 'पास' नहीं है और 'पास' अंदर से ही उपलब्ध हो सकता है। और फिर अंदर जाने के बाद की समस्याएं, एप्रोच-भागदौड़, डॉक्टरों-नर्सों की लापरवाही, यहां तक कि इंसान के लिए 'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना।' सचमुच इस रचना में कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से लेखक की सफलता चरम बिंदु पर है। इसका एक-एक वाक्य ऊपर से बहुत सरल दिखते हुए भी कहीं गहरे में जाकर इतनी गहरी चुप्पी साध देता है कि अगले ही क्षण तूफान की संभावना हो जाती है। यही कारण है कि बच्चों का बाप, डॉक्टर के यह बताने पर कि उसका एक बच्चा मर गया है, खूब हंसता है, 'एक मर गया!. . .दूसरा कब मार रहे हो डॉक्टर?

आगे अफसरों की 'द लाइफ' देखने को मिलती है, जहां खन्ना साहब और उनकी पत्नी चूंकि खुद काम नहीं कर सकते अतः नौकर पर निर्भर हैं- बनाम नौकर से परेशान हैं- लेकिन नौकर को 'चन्न उठ बेटे। उठ जा।' की आरती गाकर उससे दूध ले आने की प्रार्थना करते हैं। उसके हर आदेश का पालन करते हैं। उसके लिए बिस्तर बिछाते हैं और जाने क्या-क्या, भले ही पीठ-पीछे मिसेज खन्ना उसे गालियों से सुशोभित करती हों। लेकिन कौन परवा करता है। नौकर उस समय 'आया' से रोमांस की घड़ियां मांग रहा होता है। वह उसे इतना प्यार करता है कि मालिक का दूध उसे पिलाता है; यही नहीं, दूध-वाले से पानी मिला दूध देने पर भी इसीलिए झगड़ा करता है; उसे आइसक्रीम खिलाता है; सैर कराता है और प्रेमिका कंडक्टर के खुले मजाक पर खुल कर खिलखिलाती है। आधुनिक मुग्धा! उधर खन्ना साहब दफ्तर से परेशान हैं। डिप्टी सेक्रेटरी एक अजीब-सा केस ले आया है, यद्यपि उसके पास भी वह एक लंबी यात्रा करने के बाद आया था। खन्ना साहब को कु छभी न आता-जाता हो, पर इसका मतलब यह तो नहीं है कि उनके जूनियर्स उनके समक्ष अजीब-अजीब समस्याएं रखें। वे खुद सुलझाएं, चाहे बेतुकेपन से ही क्यों न सुलझाएं। यह एक ऐसी स्थिति है, जो समाज के लिए अत्यंत घातक है। लेकिन ऐसी लापरवाही को जैसी लापरवाही से इस देश में देखा जाता है, वैसा शायद ही कहीं देखा जाता हो।

अगले उपन्यास 'शफा वाले' में डॉक्टरों, कंपाउंडरों, दवा बनाने व बेचने वालों आदि की धांधलेबाजियों का सफल चित्रण किया गया है। पैसे का मोह किस कदर हमें हमारे नैतिक मूल्यों से गिराता जा रहा है, इसका पर्दाफाश इन उपन्यास में हुआ है। एम.बी.बी.एस. डॉक्टर एक बी.एस.सी. पास नवयुवक से इसलिए प्रेम एवं विवाह करना चाहती है क्योंकि उसका वेतन 'डॉक्टर' के वेतन से कहीं ज्यादा है।

पृष्ठ-संख्या की दृष्टि से सबसे बड़ा होते हुए भी 'मुहल्ला' (अस्पताल के बाद) एक बार फिर पाठक को पूरी तरह रमाने में सफल हैं। इसमें एक टिपिकल मुहल्ले (जिनकी संख्या इस देश में काफी है। की टिपिकल पत्नियों का मनोविज्ञान प्रस्तुत किया गया है। हमेशा दूसरों के चरित्रों की फिक्र में रहने वाली ऐसी औरतों के बीच एक बेचारा सीधा-सादा दंपती किराएदार के रूप में फंस जाता है। खुद एक-दूसरे की मदद करना तो दूर, यदि कोई पुरुष किसी महिला के पास, मदद करने के लिहाज से खड़ा भी नजर आ जाए तो इसका 'कामसूत्र' पढ़ते ही बनता है। भद्दे मजाकों के सिवाय इस मुहल्ले में जैसे और कुछ भी नहीं है। संदेह करने में तो शायद औरंगजेब भी इनसे मात खा जाता।

कुछ मिलाकर ये उपन्यास पाठक को निश्चित रूप से प्रभावित करते हैं। ये एक ओर जहां शिल्प की दृष्टि से हिंदी उपन्यास जगत को विधा-विकास के रूप में सर्वथा नया वैभव देते हैं, वहीं ऐसे जटिल (ऊपर से सरल लगने वाले) विषयों की गहराइयों से सबको अवगत कराने में भी सफल हैं।

सोद्देश्य होने में ही व्यंग्य की सार्थकता है और इस दृष्टि से नरेंद्र कोहली का व्यंग्य-उपन्यास 'आश्रितों का विद्रोह' बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें कथाकार विचार-क्रांति से जुड़ी उस विधायक और सांकेतिक कल्पना को प्रस्तुत करता है, जो आगे चलकर गंभीर सामाजिक-राजनीतिक क्रांति का रूप लेकर निरंतर गिरते मनोबल की नारकीय स्थिति से जनता का उद्धार करा सकती है। व्यवस्था के नाम पर यहां अव्यस्था का साम्राज्य है और जनता अपने को विवश तथा जड़ महसूस करती स्वराज्य के 'मीठे' फलों को भोगती चली जाती है। सेवकगण संघ बनाकर शक्ति-प्रदर्शन कर रहे हैं। जब चाहे रेल बंद, डाक बंद, बस बंद। और चलें भी तो अपनी मनमानी चाले से। जिन अस्त्रों का प्रयोग कर जनता के सेवक उसकी छाती पर मूंग दल रहे हैं, क्या उन्हीं का प्रयोग उनके विरुद्ध कर जनता उनके कान नहीं ऐंठ सकती?

कथाकार नरेंद्र कोहली ने दिल्ली जैसी, महान देश की एक महान राजधानी के नागरिकों की स्वाधीनता की चेतना को पहली बार कथा माध्यम से जगाया है और 'बहिष्कार' का अस्त्र देकर कतिपय मनमानियों की जोरदार खबर ली है। किसी कम्युनिस्ट, भाजपाई या कांग्रेसी आदि की नहीं, सबसे भिन्न यह व्यंग्यकार की योजना है। इसकी आग सर्वथा भिन्न है। बाहर से नहीं, इसकी लपट भीतर से उठती है। उपन्यास पढ़कर लगता है कि अब समय आ गया है कि साहित्यकार का 'तेज' इस रूप में अभिव्यक्त हो। जिस देश के समस्त राजनीतिज्ञ खोखले,

नपुंसक और अवसरवादी सिद्ध होकर जनतंत्र को ले डूबने जैसी स्थिति में दृष्टिगोचर होते हैं, उस देश में साहित्यकार ही कुछ सोचे। जाहिर है कि इस मंजी हुई घाघ राजनीतिज्ञों की जमात के मुकाबले चुनाव के मैदान में उतरकर साहित्यकार कुछ नहीं कर सकता। उनके विरुद्ध आक्रोश, क्षोभ और गालियों की जलती शब्दावलियों की बाण-वर्षा करके भी वह उनका बाल बांका नहीं कर सकता। कविता में तो जैसे-जैसे भारत का साहित्यकार अपनी अग्नि-जिव्हा से छटपटा-छटपटाकर विशिष्ट लपेटें झाड़ता जा रहा है, वैसे-वैसे लगता है, सत्ताधारियों की कुर्सियां और पुख्ता होती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में निरीहनिष्क्रिय पड़ी जनता की ओर साहित्यकारों का ध्यान जाना चाहिए। उनके बेबस हाथों में कोई कारगर अस्त्र थमाना है। कभी गांधीजी ने बहिष्कार का हथियार उन्हें अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध दिया था और स्वराज्य के बाद मनमानी, और भ्रष्टाचार में उसे भी मात कर देने वाली 'व्यवस्था' के विरुद्ध भी उसी हथियार को प्रतीकात्मक रूप से कोहली ने सामने रखा है। इस डाक, बस, डेयरी और राशनिंग के बहिष्कार को भले ही तर्क द्वारा आत्मसात नहीं किया जा सकता, पर उसकी अनुभूति में एक विधायक ऊर्जा अवश्य है, जिसका भीतर से विस्फोट अप्रत्याशित प्रभाव सामने ला सकता है। क्रांतिकारी परिवर्तनों में साहित्यकार की ऐसी रचनात्मक भूमिकाएं ही अपेक्षित हुआ करती हैं।

उपन्यास की कहानी एक सामान्य दृश्य से शुरू होती है। राजधानी के बस-स्टॉप पर जनता, जिसमें कॉलेज के लड़के-लड़कियां भी हैं, बस की लंबी प्रतीक्षा में घंटों से प्रतीक्षाबद्ध खड़े हैं और कोई सूरत नजर नहीं आती। हंसी-हंसी में कुछ लड़के-लड़कियां पैदल चल देते हैं और कॉलेज तक पहुंचते-पहुंचते यह विधिवत 'बस-बहिष्कार' का जुलूस बन जाता है और प्रबल आंदोलन के रूप में कॉलेज से फैलकर विश्वविद्यालय और संपूर्ण महानगर में फैल जाता है। उन्नीस अध्याय के इस उपन्यास के पूरे चार अध्यायों में विस्तृत उक्त संक्षिप्त घटना की व्यंग्य-बुनावट बहुत पैनी, विदग्ध, कसी, ताजी, मार्मिक, कवित्वमय, धारदार, गंभीर और सहज है। बसें खाली-खाली दौड़ने लगी हैं और स्वावलंबी होकर जनता राहत महसूस करती है। बस-बहिष्कार की चिनगारी राशन-व्यवस्था-बहिष्कार और डाक-व्यवस्था-बहिष्कार की आग भड़का देती है। संसद में सनसनी फैल जाती है। बस के कंडक्टर-ड्राइवर बैठे झख मार रहे हैं और अपनी मनमानी पर पछता रहे हैं। सबको अब अपनी नौकरी की चिंता है। डाकखाने वाले घर-घर पोस्टकार्ड-लिफाफे पहुंचाने लगे हैं। देश के प्रधानमंत्री का आसन डोल जाता है। यदि सचमुच देश स्वावलंबी हो गया तो 'सरकार' का क्या होगा? और चटपट शिक्षा-मंत्री प्राइमरी-कक्षा के पाठ्यक्रम में इसी नीति को चालू करा देता है कि 'आत्मनिर्भरता सामाजिक दृष्टि से पिछड़ेपन का चिन्ह है। . . .सभ्य वे लोग हैं, जो सरकारी सेवाओं पर आश्रित रहते हैं, क्योंकि सरकारी सेवाएं केवल सभ्य देशों में ही उपलब्ध होती है। दुर्भाग्य से यह सरकारी प्रयोग सफल हो जाता है और कुछ दिनों बाद यथास्थिति हो जाती है।

इसी कृति के संदर्भ में नरेंद्र कोहली के व्यंग्य-शिल्प का निखार सरलता से रेखांकित किया जा सकता है। सर्वप्रथम दृष्टि इस तथ्य पर जा टिकती है कि कथाकार ने इस व्यंग्य कृति में एक दृष्टांत-पात्र के रूप में हास्य योजना की है। उपन्यास में आठवें अध्याय में रामलुभाया नामक एक स्वतंत्र पात्र आया है, जिसके माध्यम से बीच-बीच में वे चुटकुलों की भांति प्रासंगिक स्वतंत्र हास्य-कथा-योजना करते गए हैं। इससे उपन्यास पढ़ने में भारी नहीं पड़ता, यद्यपि व्यंग्य में हल्कापन जरूर आ जाता है। शिल्प संबंधी जो दूसरी विशेषता दिखाई पड़ती है, वह है सघन स्वतंत्र व्यंग्य योजना। मुख्य कथा से कुछ हटकर व्यंग्य-निबंध का सा स्वाद उत्पन्न करता कथाकार कुछ मनोरंजक विषय-विस्तार करता है। कृति में अतिरिक्त रोचकता उत्पन्न करने वाले ये प्रयोग हैं- प्रिंसिपल का थर्मामीटर, पेट्रोनाइज की राजनीति, सापेक्ष दर्शन, बोर होना, कालीदास का विरही पथ, हंसने की कला, धरना-विज्ञान आदि।

इसी क्रम में वर्गीकरण-शिल्प का प्रयोग थर्मामीटर, शासक की आलोचना, विरहियों की मांगे, छात्रों का घोषणा-पत्र और हास्य के संदर्भ में उपस्थित कर उत्कृष्ट व्यंग्य-कला का परिचय रचनाकार ने दिया है।

कोष्ठक-प्रयोग भी यत्र-तत्र हुआ है, जिससे दुहरे व्यंग्य-प्रभाव की निष्पत्ति होती दिखाई पड़ती है। जैसे 'महात्मा गांधी ने देश के लोगों से ईमानदारी, त्याग और राष्ट्र प्रेम की मांग की थी। (कितना गलत काम किया था) और फलस्वरूप ईमानदारी, त्याग और राष्ट्र प्रेम देश के बाजारों से गायब हो गया। ऐसा कोष्ठक-प्रयोग पूरी पुस्तक में स्थान-स्थान पर है। मगर उत्कृष्ठ व्यंग्य-कला-कसौटी रूपवादी शिल्प की सफलता में है। कथाकार ने कृति में वैज्ञानिक अथवा तकनीकी विषय संबंधी अप्रस्तुतों की योजना भी की है। इससे मौलिकता और ताजगी का आना तब संभव होता है, जब कथाकार पूरी क्षमता से संगति का निर्वाह कर ले जाता है। मोटरकार-संचालन, मोटर-बस का परिवेश, गैस-गुब्बारा और दफ्तर कार्य से जुड़े उपमाओं में कोहली की इस सफलता का आस्वादन किया जा सकता है। आलंकारिकता से पृथक जहां संक्षिप्त किंतु स्पष्ट रेखांकन-प्रवृत्ति है, वहां कोहली कम से कम शब्दों का प्रयोग करते हैं, जैसे 'रेवा चुप रही। वह हर बात पर अपने देश की जनता के समान चुप रहती है : वह भारत-माता है। रंभा मुसकराई-भर : वह एक्सप्रेशनिस्ट है। इस प्रकार के रेखांकन चेतन, तरुण और कालिया नामक पात्रों के संदर्भ में भी दृष्टिगोचर होते हैं।

स्थिति सूचक मौलिक और विदग्ध आरंभ जैसे 'दूसरे दिन शहरभर की घड़ियां दोपहर के ढाई बजा रही थीं। घड़ियों में गुटबंदी की बड़ी गंदी आदत है।' भी कृति में कम नहीं हैं और इनका शिल्प-सौंदर्य सर्वथा पृथक है। जहां तक एक निर्वाह का प्रश्न है- उपमा, रूपक और सांगरूपक का निर्वाह भली-भांति हुआ है, यथा 'चेतन अपने दफ्तर से ऐसी हालत में लौटा, जैसे रस निकालने की मशीन में पेरे जाने के बाद गन्ना बाहर निकलता है। उसने चाय पी, जैसे कुप्पी से टंकी में पेट्रोल डाला हो; और टाइपराइटर लेकर संतों की सहज समाधि में चला गया, उसकी उंगलियां की-बोर्ड की माला के मनके फेरती जा रही थीं। जिन बिंबों का सृजन कथाकार ने किया है, वे बहुत स्पष्ट हैं। 'एक वृहदाकार डिक्शनरी

जैसी महिला' और 'जंगली सूअर के समान सिर झुकाए भागती बस' जैसे प्रयोगों में नूतनता झलकती है और प्रतीकात्मकता, विध ायकता, तटस्थता, समग्र प्रभाव, समसामयिक सत्स्यात्मकता और संयम कोहली के व्यंग्य-विधान में प्रभावक तत्व के रूप में विद्यमान दृष्टिगोचर होते हैं। कुल मिलाकर 'आश्रितों का विद्रोह' एक श्रेष्ठ व्यंग्य कृति बन पड़ी है।

'शंबूक की हत्या' नरेंद्र कोहली का प्रयोगधर्मी व्यंग्य-नाटक है, जिसे पढ़कर, दामोदर अग्रवाल को लगा कि जैसे किसी ने उठाकर सूखी रेतीली जमीन पर फेंक दिया हो, जहां न पानी हो और न हवा, न फूल, न पक्षी, और न सेक्स तथा सौंदर्य के वे सारे आकर्षण जो लेखक को अक्सर मोहित और पाठक को सम्मोहित करते हैं। चारों ओर बस रेत, केवल रेत ही रेत दिखाई दे- ऐसी जमीन! और रेत भी ऐसी नहीं कि एक क्षण में ही अंगार बनकर पूरा कर पूरा एकबारगी ही जला डाले और दम टूट जाए. . . बल्कि ऐसी कि फफोले पड़ें और मुसाफिर हाय-हाय करता हुआ आगे बढ़े। सच तसे यह है कि जो भी इस नाटक को पढ़ेगा या देखेगा, उसे ऐसा ही लगेगा। आज के परिप्रेक्ष्य में यह नाटक इतना तीखा है कि तथाकथित रंगकर्मियों के बस में नहीं कि इसे मंचित कर पाएं। यों नाटक का मंचन संभव है और निर्देशकों व कलाकारों को छूट भी खूब है कि इसे पूरे तौर पर मंचित कर सकें, पर समस्या ही है कि इसे करते समय जो तमाचे उनके दिलो-दिमाग पर पड़ेंगे, उन्हें झेलने-सहने के आदि वे नहीं। यह डर भी उन्हें खा सकता है कि नाटक में न सौंदर्य-बोध है, न सेट आदि की कलात्मकता। 'बिन नारी सब सून' भी उन्हें आंदोलित कर सकता है। पर यदि व्यंग्य-नाटकों का जरा-सा भी लेखा-जोखा किया जाए, तो एक पूर्णांकी के रूप में 'शंबूक की हत्या' एक ऐसी रचना है, जिसे खेलकर रंगकर्मी पूर्ण सुख की प्राप्ति कर सकता है बशर्ते व्यंग्य के नाम पर नाटक में फूहड़ हास्यजन्य मनोरंजन की तलाश न की जाए। अन्यथा नाटक में वह सब कुछ है जिसे देख दर्शक हंस सकता है, एक खिसियाई हंसी; क्योंकि इस हत्या में उसका भी पूरा हाथ है. . .एक लाश है भविष्य की, जिसे वह भी ढो रहा है, चाहे अनचाहे में ही. . .और इसी नियति को नरेंद्र कोहली ने नाटक में उजागर किया है।

आज देश की जो सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षिक परिस्थितियां हैं, उनमं हम स्वयं को विकराल दानवी भेड़ियों से घिरा पाते हैं। 'हम कर भी क्या सकते हैं!' और 'छोड़ो, हमें क्या!' की भावनाओं से ओतप्रोत हम; फिर भी छोटी-छोटी सुख-सुविधाओं, मान-सम्मान, धन-संपत्ति और हल्के-फुल्के मनोरंजन के नशे में सब कुछ भुला या ता बीयर पीने बैठ जाएंगे या बीवी-बच्चों को साथ लेकर किसी मित्र-संबंध ी के यहां जा बैठेंगे। कारण कि घूमने-फिरने में भी अब इतना जोखिम है कि जरूरी नहीं, जेसे जाएं वैसे ही लौट आएं। पता नहीं कहा, किसके जुलूस मार्ग रोक दे- अब आप कोई नेता या नेतापुत्र या राष्ट्रपति तो हैं नहीं जो आपको मार्ग खुला ही मिले। फिर कितनी ही शोभा-यात्राएं, ज्ञानी-ध्यानियों के जुलूस, बेरोजगारों के मजमे, मजदूरों का आक्रोश, दहेज और कीमतों से जुड़े रंग-बिरंगे जलसे आपका मार्ग अवरुद्ध कर सकते हैं। क्या यह विडंबना नहीं कि जब सड़क पर एक ओर से दहेज-विरोधी जूलूस आ रहा हो तो उसी समय दूसरी ओर से हजारों रुपये से साजो-सामान, बैंड-बाजे और चमचमाती रोशनी के साए में किसी देशवासी के किसी कुलदीपक की बारात निकल रही हो! बताइए फिर, ऐसे में आप कहा तो जाएंगे और कैसे तो जाएंगे?

नरेंद्र कोहली ने आज की ऐसी अनेक ज्वलंत समस्याओं को, जिनमें हम घिसटते-घुटते सांसे ले रहे हैं, इस नाटक के माध्यम से बहुत बेबाकी से उठाया है। हर ईमानदारी भारतीय की परेशानियां इसमें समाहित हैं कि कैसे हमारे जीवन को घुन लगता जा रहा है और कैसे कुछ तत्व अपने स्वार्थों की पूर्त हेतु पूरे के पूरे माहौल को गंदला कर रहे हैं। नाटक में व्यंग्यकार ने जहां राजनीतिज्ञों पर खूब करारी चोट की है, वहीं समाज के विभिन्न आधारभूत अंगों जैसे पुलिस, कर्मचारी, अफसर व अन्य प्रकार के सेवा-कार्यों में लगे लोगों को भी अपना निशाना बनाया है, जो कि अपना निशाना बनया है, जो कि अपना उल्लू साधने के उद्देश्य से सत्ताधारी नेताओं और अफसरशाही को खुश रखने के लिए जनसामान्य को एक नई, ऊलजलूल परिभाषा देकर जीवन में सत्यं-शिवं-सुंदरम् को ऐसे आयाम दे रहे हैं कि संस्कृति की महानता पात्र शब्दों में प्रयोग करने की चीज रह गई है।

संस्कारविहीन, निर्लज्ज व बेईमान नेताओं ने देश को ऐसी दिशा में धकेल दिया है, जहां काला धन, भ्रष्टाचार, जमाखोरी, रखैलें, जुआ व शराब, गुंडागर्दी, पिस्तौल-चाकू व्यक्ति के लिए श्लाध्य वस्तुएं बनती जा रही हैं। धनार्जन जीवन के लिए आवश्यक है, पर इस तरह नहीं कि वह नकली दवाएं बनाकर या उद्योग-धंधों द्वारा गैर जरूरी वस्तुओं का निर्माण कर या गरीब-मजदूर यौवन को रोटी-कपड़े क लालच में चकले पर बिठाकर या जहरीली शराब या कभी भी गिर सकने वाले मकान या पुल बनाकर या ट्रस्टों, स्कूल-कॉलेजों अथवा महामारी, सूखा अतिवृष्टि आदि के चंदे के नाम पर या विकृतियां फैलाने वाली फिल्में बनाकर और वैसी पुस्तक-पत्रिकाएं छापकर या सेवा-कार्यों में उत्कोच स्वीकार कर या जरूरी चीजें गोदामों में छिपाकर बाजार में उनका कृत्रिम अभाव उत्पन्न कर और फिर उन्हें ब्लैक में बेचकर किया जाए। यह समाज के साथ, देश के साथ तथा पूरी मानवता के साथ बलात्कार जैसा ही है। ऐसी छोटी-छोटी पर महत्वपूर्ण बातों को नाटक में खूब उठाया गया है। अब ब्राह्मण पुत्र की लाश फिर चौराहे से गुजरता है तो ट्रैफिक-वाला कहता है, 'अबे अंधे की औलाद! तेरी आंखें है कि कौल-डोडे! सड़क तुझे दहेज में मिली है कि हटेगा ही नहीं। अबे मां के खसम! अभी तेरी बाप की कार तेरा कीमा बना जाती, तो उसे हम झटकेवाली दुकान पर भेजते या हलाल वाली दुकान पर? बोल! अबे यहां मीट खाने में भी साम्प्रदायिकता है। समझा? तेरे एक्सिडेंट के पीछे शहर में सांप्रदायिक दंगा हो जाता। और जनता के साथ पुलिस का व्यवहार देखिए कि जब ब्राह्मण कांस्टेबल को अपने शरीर को हाथ लगाने से मना करता है तो उत्तर मिलता है, 'क्यों न छुएं तुझे? तू किसी की रखैल है? किसी का काला धन है? किसी के छिपे अन्न का गोदाम है? फिक्सड डिपाजिट है? क्या है बे तू? ऐं. . . मुझे स्परश मत करो! जिसको देखो वही अपने को कुमारी कन्या समझता है।' धनवत्ता समाज में कुछ इस कदर

महिमान्वित हो गई है कि ब्राह्मण के यह कहने पर कि धनवानों का धन निर्धनों में बांट दो, विशिष्ट सैनिक कहता है, 'तुम शायद सोने का चमत्कार नहीं जानते। सोने वाले को कोई कैसे पकड़ सकता है।

निस्संदेह यह मानसिकता इस देश की व्यवस्था में रच-बस गई है। यदि कोई पीड़ित व्यक्ति इस शोषण, अन्याय, हिंसा के खिलाफ आवाज उठाता है या व्यवस्था को जनोपयोगी बनाए जाने की मांग करता है, तो शासन में बैठा व्यक्ति उर्फ आजकल का वास्तविक स्वामी उर्फ क्लर्क बिदक उठता है, 'वह शासन ही क्या, जो जनता से सहमत हो जाए। शासन कहता है, सुख से तात्पर्य है देश में अधिक अन्न उपजाने के आंकड़े, उन्हें खाने के लिए फाइव स्टार होटल, महंगे रेस्ट्रां, डिस्कोथेक, कैबरे-डांस, बड़े-बड़े पिक्चर हाल, नंगी फिल्म-तारिकाएं; भद्दे, अशिष्ट, ग्राम्य प्रेम दृश्य, शराब के ठेके, मल्टीस्टोरी बिल्डिंगे, नेताओं की आलीशान समाधियां, विदेशी, टूरिस्ट, गांजा, नशा, व्यभिचार, चाकू और छुरे और वेश्यालय और योगीराज, योगेश्वर, बालयोगेश्वर, बड़े-छोटे-पतले-मोटे कई प्रकार के ईश्वर, साधु, महात्मा, संत, पीर, फकीर, चोर, पुलिस, डाकू, मंत्री, काला बाजारिया, व्यापारी, जमाखोर, नेशनल सेंविंग स्कीम, आई मीन राष्ट्रीय बचत योजना. . . और अगर ऐसे में कोई 'क्यों? कैसे? कौन?' शब्दों का प्रयोग करता है तो शासन को इसमें विद्रोह की गंध आती है या फिर सीधे गाली दी जाती है कि भैया, लोकसभा में चले जाओ, खूब भाषण देना।

राम-कथा के एक पात्र को लेकर कोहली ने इस उत्कृष्ट व्यंग्य नाटक द्वारा आज की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और शैणिक जगत की विसंगतियों को उघाड़कर हमारे सामने रख दिया है। रामायण के कुछ अन्य पात्रों की भी आज के संदर्भ में बात कराई गई है। नरेंद्र कोहली के ये प्रयोग नाटक में नाटकोचित नाटकीयता का समावेश करते हैं। प्रसंग में राक्षसों के अंत के लिए विश्वामित्र महाराजा दशरथ से राम और लक्ष्मण को मांगने आते हैं। दशरथ उनके छोटे होने का बहाना कर भेजना नहीं चाहते, तब विश्वामित्र कहते हैं, 'रहने दे, दशरथ! तू किसी काम का नहीं। तू केवल मीठी बातें करता है। वोट ले सकता है और नारे दे सकता है। कर्म तेरे वश का नहीं। तू राक्षसों से नहीं लड़ सकता। अयोध्या में किसी काम नहीं! तू राक्षसों से नहीं लड़ सकता। अयोध्या में किसी सभा का उद्घाटन कर और भाषण दे कि अगली पंचवर्षीय योजना में दशमलव शून्य-शून्य एक राक्षस अवश्य मार दिए जाएंगे। लोग आंकड़ों को देखते ही तेरा विश्वास कर लेंगे और लालकिले में तेरा अभिनंदन करेंगे।'

इसी प्रकार ताड़का-बध में विश्वामित्र राम को प्रेरित करते हुए कहते हैं, 'राम! इसे मारो! यह राजनीतिक भ्रष्टाचार है। ताड़का इसका उपनाम है। इसकी एप्रोच बड़ी ऊंची है। यह रावण के मामा मारीच की मां अर्थात निकसन की नानी है। इसके पास न धन की कमी है, न शक्ति की, न संरक्षण की। यह गरीब, पिछड़े हुए एवं दुर्बल देशों को तंग करने वाली अमेरिका की सेना, सॉरी, रावण की सेना है।'

नरेंद्र कोहली ने न केवल समसामयिक विषयों में इन पात्रों को ढाला है, अपितु इनसे कुछ सार्थक कहाने का प्रयत्न किया है। एक अन्य प्रसंग में राम और परशुराम के संवाद की तुर्शी यूं मिलती है।

'परशुराम : मैंने सदा क्षत्रियों का नाश किया है, तुम्हारा भी नाश करूंगा, क्योंकि तुम भी क्षत्रिय हो. . .

राम : (डांटकर) तुम तो एकदम भारत के क्रांतिकारी हो। क्षत्रियों के मरने के पश्चात ऐसे चुप बैठ गये, जैसे संसार में अत्यचार रह नहीं गया। इन क्रांतिकारियों ने भी अंग्रेजों के जाने के बाद यह समझ लिया कि भारत से शोषण और भ्रष्टाचार समाप्त हो गया। अब वे भी राष्ट्रीय सरकार से ताम्रपत्र स्वीकार कर रहे हैं। अरे, जो क्रांतिकारी होते हैं, सदा क्रांतिकारी होते हैं, हर देश-काल में, हर रूप आकार में अत्याचार को पहचानकर, उसका विरोध करते हैं। परशुराम! तुमने राक्षसों के अत्याचार को कभी न पहचाना और भारतीय क्रांतिकारियों ने स्वतंत्र भारत में होने वाले अत्याचार को।'

आज की व्यवस्था में जकड़ा हुआ आदमी किस प्रकार का बौरा गया है, उस दंश के चिन्ह समय-समय पर अखबारों आदि में दिखाई देते रहते हैं। यह कैसा देश है, जहां कभी भी, कोई भी अपनी सुविधा से सच को झूठ और झूठ को सच कह देता है। यह यहीं संभव है कि आदमी मर जाता है और मंत्री, सरकार, पुलिस उस मौत को आसानी से मौत ही नहीं मानती। चापलूसी में लगे लोग चाहे सारे देश को गिरवी रख दें, पर चिंता नहीं, स्तुति जारी रहनी चाहिए। चाहें तो चोरों-गुंडों-लफंगों को देश के अमर राष्ट्रभक्त बना दें या शताब्दी के महान विचारक-जनता सह लेगी, क्योंकि वह एक मायाजाल में जी रही है, जिसे काटना उसके लिए आसान नहीं रह गया है। यह जाल तभी कटेगा जब एक नया विचार, एक नया सिद्धांत, एक नई जीवन-पद्धति, एक नई व्यवस्था जन्म ले। और उस नई व्यवस्था को जन्म देने में व्यंग्यकार सर्वाधिक योगदान दे सकते हैं। 'शंबूक की हत्या' लिखकर नरेंद्र कोहली ने एक नया व्यंग्य-बम ही रंगकर्मियों के सामने रख दिया, जिसका विस्फोट वे नाटक का मंचन कर सुन सकते हैं। चिंगारियों का अनुभव तो इसे पढ़कर भी किया जा सकता है।

7 बी, बी-2 हार्बर हाइट्स, नारायण आत्माराम सांवत मार्ग, कोलबा मुंबई- 400005

. . . पृष्ठ-89 का शेष

अंतर्मन में संचित होती रहती हैं। उचित अवसर प्राप्त होने पर मन में सयासी हुई ये ही अनुभूतियां योग्य शिल्प में प्रकट होने के लिए इनके भीतर एक छटपटाहट पैदा कर देती हैं और ये लिखने बैठ जाते हैं। लेखन के संदर्भ में इनका विचार है कि यह एक मानवीय धर्म है जिसमें पूरी ईमानदारी की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि ये 'लिखने के लिए लिखने में' विश्वास नहीं रखते। इनकके लेखन में सोद्देश्यता है। किसी की फरमाइश पर लिखना भी इन्हें स्वीकार नहीं है। लिखते वही हैं, जो इनके मन में लिखने के लिए होता है, जो इनका विवेक कहता है। अपने लेखन की ईमानदारी को 'मलिन करना' इनके लिए एक मानवीय अपराध के समान है। यह इनका अहंकार नहीं बल्कि लेखन कर्म के प्रति ईमानदार दृष्टि का परिचायक है।

ए-98 संतोषी मां अपार्टमेंट, विट्ठलवाड़ी अपार्टमेंट, कल्याण(पूर्व)-421306

प्रेम जनमेजय

शिल्प का अद्भुत वैविध्य

शिल्पगत वैविध्य का हिंदी व्यंग्य साहित्य में अभाव रहा है, परंतु इस अभाव को नरेंद्र कोहली के व्यंग्य साहित्य ने तोड़ा है। वस्तुतः यह व्यंग्य रचनाओं के शिल्प की विशिष्टता थी जिसने उसे परंपरागत निबंध, कहानी, उपन्यास, नाटक एवं कविता से अलग किया। आलोचकों को 'रानी नागफनी' की कहानी में कहानी एवं उपन्यास के परंपरागत तत्वों से भिन्नता दिखाई दी। 'राग दरबारी' उपन्यास होते हुए भी उपन्यास की सीमाओं को कथ्य और शिल्प के धरातल पर तोड़ता हुआ दृष्टिगत हुआ। व्यंग्य रचनाओं को परंपरागत कहानी, निबंध, नाटक, कविता अथवा उपन्यास की प्रतिमानों पर कसने में आलोचकों को आलोचनात्मक सृजनशील तृप्ति नहीं मिली। उन्हें निरंतर एक ऐसा अभाव अनुभव होता रहा जिसके कारण उन्हें लगा कि इन रचनाओं के साथ न्याय नहीं हो पा रहा है। शिल्प और कथ्य के इसी वैशिष्ट्य ने 'व्यंग्य' के स्वरूप का निर्माण किया है।

व्यंग्य का चरित्र वस्तुगत अधिक है। यही कारण है कि हिंदी साहित्य में व्यंग्य रचनाओं का प्रादुर्भाव करने वाले व्यंग्यकारों ने कथ्य पर विशेष बल दिया और कथ्य के वैविध्य ने ही शिल्प-वैविध्य को प्रस्तुत किया। इन रचनाकारों का लक्ष्य सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक विसंगतियों को चित्रित कर उन पर सार्थक आक्रमण करना रहा। शिलप-सौंदर्य के मोह में यह नहीं रहे। वैसे भी व्यंग्य का चरित्र पुरुषत्व-प्रधान है, उसे कविता-कामिनी की भांति अलंकारों अथवा तरह-तरह के सौंदर्य-प्रसाधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती है। (व्यंग्य को 'पुरुषत्व प्रधान' कहने में मेरा तात्पर्य यह नहीं कि 'पुरुषों' को आभूषण नहीं पहनाये जा सकते परंतु उस फूहड़ स्थिति की कल्पना आप ही कीजिए)। व्यंग्य साहित्य में आज जो शिल्प का वैविध्य दिखाई देता है, वह कथ्य की विविधता के कारण ही है।

नरेंद्र कोहली के व्यंग्य साहित्य में शिल्प के अद्भुत वैविध्य की जो चर्चा मैं कर रहा हूं उसका कहीं यह अभिप्राय नहीं लिया जाए कि नरेंद्र कोहली ने शिल्प वैविध्य के मोह में कथ्य को कमजोर बना डाला है या फिर उसे दूसरे दर्जे का महत्व दिया है। वस्तुतः यह लेखक के अनुभव जगत का वैविध्य तथा उसका प्रस्तुतिकरण ही था जिसने शिल्पगत वैविध्य की रचना की। नरेंद्र कोहली का व्यंग्य साहित्य में शिल्प वैविध्य के प्रति झुकाव अवश्य है, कहीं-कहीं वह सायास शिल्प को रचनाओं में 'इंजेक्ट' भी करते हैं। नाटक 'शंबूक की हत्या' की रचना प्रक्रिया की चर्चा 'मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाओं' की भूमिका में करते हुए लिखते हैं, 'शंबूक की हत्या' तक आते-आते सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियां पहले से भी बहुत अधिक विकट हो चुकी थीं। यद्यपि मेरा दृष्टिकोण पहले वाला ही था, किंतु मैं उसी शिल्प को दोहराना नहीं चाहता था।

नरेंद्र कोहली के अवचेतन में शिल्प की विविधता का भाव प्रबल है। उनके मन में व्यंग्य साहित्य में कथ्य की दृष्टि से दोहराव का खतरा विद्यमान है, और यह पाठक में ऊब पैदा करता है। इस खतरे से बचाव का एक ही मार्ग है- शिल्प-वैविध्य। वह लिखते हैं, 'किसी व्यंग्यकार की कुछ ही रचनाएं पढ़कर पाठक उससे पुनरावृत्ति की शिकायत करने लगता है। इस पुनरावृत्ति से बचने के लिए ही लेखक को विधाओं तथा तकनीकों के वैविध्य का सहारा लेना पड़ता है।' (भूमिका, 'मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं)।' परंतु सशक्त कथ्य के अभाव में शिल्पगत वैविध्य के सौंदर्य को वह स्वीकार नहीं करते हैं और न ही शिल्प को कथ्य से अलग करते हैं। उनकी मूल धारणा यही है कि कथ्य का वैविध्य ही शिल्प-वैविध्य को प्रस्तुत करें। विशेषकर अपने लेखन के संदर्भ में वह इसी अवधारणा को स्वीकारते हैं 'व्यंग्य तभी लिखता हूं, जब केवल व्यंग्य लिखने के लिए मेरे पास कुछ नया हो। लिखने को नया हो तो शिल्प भी नया बन जाता है।' (भूमिका, मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं)।

व्यंग्य के संबंध में नरेंद्र कोली का यह निश्चित मत है कि वह पीड़ा से उत्पन्न होता है। 'अस्वताल' की रचना बड़ी ही पीड़ित मन:स्थिति में हुई है। अब सोचता हूं तो लगता है कि जब तक सह सकता था सहा, पर जब सह न सका तो मैं व्यंग्य पर उतर आया। पीड़ा ने ही मुझे अपने से कुछ बड़ा कर दिया और एक ऐसी आंख दी थी जिसने उस सारे वातावरण को एक कार्टूनिस्ट की दृष्टि से देखा था। (आत्मकथ्य, 'पांच एब्सर्ड उपन्यास') 'मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं' की भूमिका में नरेंद्र कोहली लिखते हैं, 'पीड़ित आक्रोश की वक्रता ने जो दृष्टि दी, उसने अपने व्यक्तिगत अनुभवों से बाहर निकल राजनीतिक-सामाजिक असंगतियों को भी देखा और अपने पीड़ित आक्रोश को प्रकट करने के लिए ये व्यंग्य रचनाएं लिखता रहा।' व्यंग्य के उद्देश्य, उसी प्रक्रिया के संबंध में इसी पुस्तक में एक स्थान पर नरेंद्र कोहली लिखते हैं, 'अपनी असहायता में वक्र होकर जब वह अपनी तथा दूसरों की पीड़ा पर हंसने लगता है तो वह विकट व्यंग्य होता है, पाठक के मन को चुभवाता-सहलाता नहीं कोड़े लगाता है, अतः सार्थक और सशक्त व्यंग्य कहलाता है।'

नरेंद्र कोहली के उपर्युक्त उद्धरणों से व्यंग्य-संबंधी लेखक की मान्यताएं स्पष्ट होकर उभरती हैं। नरेंद्र कोहली व्यंग्य के मूल में पीड़ित आक्रोश को मानते हैं। यह पीड़ित आक्रोश व्यक्तिगत अनुभवों से जागरित होता है। असहायता की स्थिति में असहनीय होकर यह वक्र हो जाता है। वक्र होकर जब यह पीड़ित आक्रोश अपनी और दूसरों की पीड़ा पर हंसकर विकट व्यंग्य का रूप

धारण करता है। सशक्त एवं सार्थक व्यंग्य सहलाता नहीं, कोड़े लगाता है। नरेंद्र कोहली ने हास्य को व्यंग्य के साथ स्वीकार तो किया है परंतु व्यंग्य के साथ आने वाली हंसी को भिन्न माना है। यह हंसी निश्छल हास्य से पूर्ण नहीं होती है अपितु इसके मूल में असहायता एवं पीड़ा छिपी हुई है।

नरेंद्र कोहली व्यंग्य के कथ्य और शिल्प को अन्य विधाओं से भिन्न मानते हैं। उनकी दृष्टि में व्यंग्य के कथ्य और शिल्प में एक प्रकार की विशिष्टता है जो उसे अन्य विधाओं से अलग करती है। अतः वह व्यंग्य को विधा मानने के पक्षधर हैं।

नरेंद्र कोहली की व्यंग्य संबंधी उपर्युक्त धारणाएं व्यंग्य के शास्त्रीय पक्ष को समझने में विशेष सहायता देती है। वस्तुतः व्यंग्य की आलोचना संबंध प्रतिमानों की रचना तभी हो सकती है जब व्यंग्यकार अपनी रचना-प्रक्रिया, अपने आत्मकथ्यों, अनुभवों के माध्यम से तत्संबंधी लेख लिखें।

व्यंग्य को समझने से पहले उसकी रचना-प्रक्रिया को जानना मेरे विचार से आवश्यक है। बिना रचना-प्रक्रिया को समझे व्यंग्य की तह तक पहुंचना कठिन है।

औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से नरेंद्र कोहली की दो पुस्तकें हैं- 'आश्रितों का विद्रोह' तथा 'पांच एब्सर्ड उपन्यास', 'आश्रितों का विद्रोह' के मूल में उस विद्रोह की कथा है जो आश्रित जनता के हृदय में सत्ता के विरुद्ध उभरता है। यह विद्रोह परिवहन-व्यवस्था के विरुद्ध कॉलेज के छात्रों के माध्यम से, दुग्ध-व्यवस्था के विरुद्ध चेतन के माध्यम से, राशनिंग व्यवस्था के विरुद्ध मिस्टर कालिया के माध्यम से उभरता है। जनतंत्र की आड़ में शासक वर्ग जिस प्रकार अपनी कमजोरियों को छिपा लेता है, उसका लेखकीय दृष्टि सूक्ष्मता से विश्लेषण करती है। जिस निर्लज्जता एवं भ्रष्ट साधनों से नेता एवं पूंजीवादी वर्ग जनता के धन का दुरुपयोग करता है, दलित वर्ग को पीसकर उनकी गरीबी का कारण उन्हीं पर थोप देता है, इस व्यवस्था पर लेखकीय आक्रोश व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण से मुखरित हुआ है।

भारत जैसे प्रजातांत्रिक देश में अधिकांश जनता राजनीतिक शिक्षा की तो क्या कहिए, आधारभूत शिक्षा से विहीन है। जनता के सोचने-समझने की शक्ति हृदय द्वारा नियंत्रित रहती है। शासन को आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक मूल्यों के संदर्भ में न परखकर जनता मात्र शसन के बाहरी क्रिया-कलापों से अभिभूत रहती है। यही कारण है प्रशासनिक व्यवस्था के दो चेहरे हैं। बाहर से दिखने में यह व्यवस्था जितनी ईमानदार आभासित होती है, अंदर से उतनी ही भ्रष्ट है। ऐसा शासन यह कभी नहीं चाहेगा कि जनता में राजनैतिक चेतना आए क्योंकि राजनैतिक चेतना का अभिप्राय है सत्ता के क्रिया-कलापों को समझने वाली आलोचनात्मक तीक्ष्ण दृष्टि का प्राप्त होना और यह दृष्टि शासक को कभी भी शांति से बैठने नहीं देती है। जनता की जागृति शासक के लिए खतरा है। चेतना-सम्पन्न सजग जनता अनेक प्रश्नचिन्ह लगाकर सत्ता की रातों की नींद हराम कर देती है। नरेंद्र कोहली ने इस स्थिति की व्याख्यापरक आलोचना की है जिसमें शासन का निरंतर यह प्रयास रहता है कि जनता को यथासंभव आलसी, चेतना शून्य बना दिया जाए जिससे उसकी आलोचनात्मक शक्ति लुप्त हो जाए तथा शासक निरंकुश शासन कर सके।

'आश्रितों का विद्रोह' की मूल संवेदना शासन-विरोध की है। व्यंग्यकार ने फैंटेसी का आश्रय लेकर मुख्य रूप से वर्तमान शासन-व्यवस्था की विसंगतिपूर्ण स्थिति के विरुद्ध सार्थक व्यंग्य किए हैं। लेखक की मान्यता है कि शासन का प्रादुर्भाव सामान्य जन और शासन के मध्य एक समझौते के रूप में हुआ है। इस समझौते के अधीन शासित कानून अपने हाथ में नहीं लेगा और शासक शासित की आवश्यकताों को पूरा करेगा। परंतु अपनी आवश्यकताओं के कारण शासन पर आश्रित जनता पाती है कि शासक उसके साथ उचित एवं सम्मानजनक व्यवहार नहीं कर रहा है। जनता शासन के आश्रय को छोड़कर स्वतंत्र एवं स्वावलंबी होना चाहती है, अतः विद्रोह करती है। अपने निरर्थक अस्तित्व को सार्थकता प्रदान करने के लिए शासन अनेक हथकंडों का प्रयोग करके स्वावलंबी जनता को आश्रित बनाता है- ताकि वह पुनः मनचाहा व्यवहार कर सके। नरेंद्र कोहली की मान्यता है कि शासन ने समझौता तोड़कर एकतरफा एवं मनचाहा शोषण करने का मार्ग अपना लिया है। नरेंद्र कोहली ने शासन द्वारा आश्रितों के विद्रोह को कुचलने के लिए प्रयुक्त हथकण्डों का सटीक विश्लेषण किया है।

शासन द्वारा आश्रितों के विद्रोह को दबाने का कारगर उपाय है- आपात-स्थिति लागू करके संपूर्ण अधिकार अपने हाथ में लेना। प्रजातांत्रिक भारतवासी इस प्रकार की आपातस्थिति का अनुभव कर चुके हैं। कहते हैं लेखक केवल अतीत अथवा वर्तमान में सीमित नहीं रहता है अपितु वह भविष्य भी देखता है। सन् 1973 में प्रकाशित विवेचित व्यंग्य उपन्यास में आश्रितों के द्वारा किए गए विद्रोह का शासकीय दमन सन् 1975 में साक्षात दिखाई दिया। व्यंग्य पर केवल समसामयिक होने का जो आरोप लगाया जाता है वह यहां निरर्थक हो जाता है। जिस फैंटेसी की कल्पना लेखक ने कुछ वर्ष पूर्व की थी, वह यथार्थ होकर पाठकों के समक्ष आयी।

जनता द्वारा की गई क्रांति का संकेत प्रस्तुत व्यंग्य उपन्यास में उपलब्ध होता है, और लेखकीय दृष्टि भी। नरेंद्र कोहली ने क्रांति की आधारभूत भूमिका के रूप में अभावग्रस्त जनता को मूल केंद्र माना है। नरेंद्र कोहली ने किसी विशाल सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन के लिए विद्रोह का चित्रण नहीं किया है। व्यंग्य उपन्यास में सकारात्मक, सामाजिक-व्यवस्था में बदलाव को लेकर क्रांति की विशाल भूमिका तैयार नहीं की गई है। यही कारण है कि आश्रितों का विद्रोह असफल होता है। विद्रोह के लिए जिस प्रकार के जन-संगठन की अपेक्षा होती है उसका संकेत लेखक ने दिया है। जब शासन द्वारा प्रदत्त कष्टों को सहने के लिए तैयार हो जाती है तो शासन के आधार-स्तंभ टूट जाते हैं।

'आश्रितों का विद्रोह' इस अर्थ में भी महत्वपूर्ण व्यंग्य उपन्यास है कि हिंदी साहित्य में संभवतः पहली बार शासन के विरुद्ध प्रत्यक्ष विद्रोह की संभावना से चित्रित किया गया है। वर्तमान शसन के विरुद्ध व्यंग्यात्मक उक्तियां प्रभावोत्पादक हैं। शासन द्वारा जनता के आक्रोश-दमन, उसका शोषण करने के हथकण्डों का वर्णन लेखकीय दृष्टि की सूक्ष्मता को रेखांकित करता है।

समस्याओं के प्रति जागरूक नरेंद्र कोहली ने एक और जहां फंतासी एवं सूक्ष्म व्यंग्यात्मक शैली के माध्यम से शासन-तंत्र के मायाजाल की अंतिम परत तक चीर डाली है, वहीं अपने विचारों को सशक्त ढंग से अभिव्यक्त करने के लिए अनेक रूपों

का प्रयोग किया है। लेख सादृश्य-विधान पद्धति के द्वारा दोहरी मार तो मारता ही है, साथ ही एक 'शब्द को पारिभाषित रूप से व्याख्याति कर अपने व्यंग्यात्मक कथ्य को विभिन्न संदर्भों से भी जोड़ता है। सादृश्य-विधान की पद्धति इस उपन्यास की विशेषता है। उपमाओं के लिए लेखक विशेष रूप से आसक्त दिखाई देता है। यह सादृश्य-विधान दोधारी तलवार की तरह मार करता है। जीवन के सामान्य पक्ष का वर्णन तथा उसके माध्यम से सामयिक समस्याओं के विरुद्ध लेखक का अव्यक्त आक्रोश इन पंक्तियों में परखा जा सकता है- 'पत्नी का स्वास्थ्य देश की आर्थिक स्थिति के समान बिगड़ता जा रहा था, विशेष रूप से उसकी खांसी दिनों-दिन महंगाई के समान बढ़ती जा रही थी।' (आश्रितों का विद्रोह, पृ. 76)

नरेंद्र कोहली ने उपन्यास के पात्रों की जैसी भाषा छीन ली है। व्यंग्य के मोह में पात्रों की भाषा अस्वभाविक हो गई है। इस उपन्यास का एक पात्र है। रामलुभाया जो ताश के जोकर की तरह उपन्यास में कहीं भी घुस आता है। यह पात्र कई स्थलों पर कहानियों और सुने-सुनाये चुटकुले सुनाकर उबाता भी है। उपन्यास मूल स्वर में जनता तक अवश्य पहुंचना चाहिए परंतु अपनी प्रयोगशील प्रवृत्ति के कारण व्यंग्य उपन्यास कथा-प्रवाह को तोड़ता है।

'पांच एब्सर्ड उपन्यास' शिल्प और कथ्य की दृष्टि से हिंदी व्यंग्य साहित्य में नवीन प्रयोग हैं इस प्रकार का प्रयोग करने में नरेंद्र कोहली अकेले हैं और स्वयं लेखक ने भी इन पांच एब्सर्ड उपन्यासों की रचना करने के बाद छठी एब्सर्ड रचना करने में स्वयं को जैसे असमर्थ पाया है। जैसा कि कृति के 'आत्मकथ्य' को पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि नरेंद्र कोहली ने प्रयोग के लिए रचनाओं का निर्माण नहीं किया है अपितु स्थितियों के बेतुकेपन ने लेखक को विवश किया है। 'अस्पताल' की रचना-प्रक्रिया की चर्चा करते हुए लेखक ने इस बात के संकेत दिए हैं कि व्यक्तिगत जीवन में अस्पतालीय परिवेश के ऐसे कटु अनुभव उसे हुए जिसने उसके मानसिक संतुलन को बिगाड़ दिया। ऐसे में निरर्थकता और बेतुकेपन की दृष्टि अपने आस-पास के परिवेश को देखने लगी। हर जगह एक 'बेतुकापन' दृष्टिगोचर होने लगा। इसका कारण था 'पीड़ा', वह पीड़ा जो अस्पतालीय परिवेश से उपजी थी। वह 'निजी मानसिक संतुलन' को स्थिर रखने के लिए तथा 'पीड़ा के पिशाचों' से मुक्ति पाने के लिए एब्सर्ड शिल्प के माध्यम से एक कथ्य सामने आया जो बाहर से बेतुका दिखाई दे रहा था परंतु जिसके अंतर में गहन पीड़ाजनक आक्रोश छिपा हुआ था।

अस्पताल रोगियों की सेवा-सुश्रुषा का माध्यम होते हैं। यहां व्यक्ति अपने रोग के निदान के लिए आता है। अस्पताल को सेवा, करूणा और त्याग की भावनाओं का केंद्र माना जाता है। वहां के कर्मचारियों में मानवीय भावनाएं भरी होती हैं। अस्पताल का यह आदर्श हमारे सामने है। परंतु अनुभव कुछ और होते हैं। यहां से व्यक्ति रोगों के निदान के स्थान पर और रोग लेकर जाता है। अस्पताल की व्यवस्था पीड़ित मानव की सहायता करने के स्थान पर उसे और अधिक पीड़ा पहुंचाती है। वह अस्पताल का आदर्श रूप टूटते देखता है और पीड़ा से टूटने लगता है। 'अस्पताल' के पात्रों की भी यही स्थिति है। नरेंद्र कोहली ने अस्पतालीय परिवेश में छायी व्यवस्था को उजागर किया है। कृति में जब डॉक्टर पिता को एक बच्चे की मृत्यु की सूचना देता है तो पिता पूछता है, 'एक मर गया।' बच्चों का बाप हंसता है, 'आंधी इन्कमटैक्स कसेशन गोल, दूसरा कब मार रहे हो डॉक्टर?' सतही दृष्टि से यह उद्धरण बेतुका और निरर्थक लगता है। मानवीय भावनाओं के वशीभूत हम इसे असंतुलित मस्तिष्क का प्रलाप ही समझ सकते हैं परंतु सही तरह से विश्लेषण करने पर पता चलता है कि यह अस्पताल की व्यवस्था से पीड़ित व्यक्ति का तमाचा है। अस्पताल व्यक्ति को जीवन देने के लिए नहीं, जीवित को मृत बनाने के लिए है। पिता की हंसी में पीड़ाजनक आक्रोश छिपा हुआ है जो असहायता की स्थिति में एब्सर्ड होकर सामने आता है।

'दि कॉलेज' कॉलेज के नाम पर खुली संस्थाओं के बेतुकापन को सामने लाता है। शिक्षा के केंद्र ये कॉलेज प्रेमालाप, गुंडागर्दी, अपव्यय, निरर्थक हड़तालों आदि का माध्यम बन गए हैं। अध्यापक पढ़ाना नहीं चाहते हैं और छात्र पढ़ना नहीं चाहते हैं। फिर भी कॉलेज चल रहे हैं, इससे अधिक बेतुकापन और क्या हो सकता है। नरेंद्र कोहली ने इसी बेतुकेपन का चित्रण इस रचना में किया है। 'दि लाईफ' दफ्तरों और मोहल्लों में व्याप्त साहिबी जीवन के बेतुकेपन को चित्रित करता है तो 'मुहल्ला' रचना सामाजिक जीवन में व्याप्त बेतुकेपन को। 'मुहल्ला' में तथाकथित उच्च-मध्यवर्ग की खोखली जिंदगी की विसंगतियां चित्रित हैं

कथ्य की अपेक्षा 'पांच एब्सर्ड उपन्यास' को शिल्प विशिष्ट बनाता है। रचनाओं की भाषा, सादृश्य-विधान पद्धति, प्रस्तुतिकरण में एक नयापन है जो परंपरागत शास्त्रीय मान्यताओं को तोड़ता है। लेखक के इन रचनाओं को उपन्यास कहा है, परंतु कलेवर की दृष्टि से परंपागत मान्यताओं के आधार पर इन्हें उपन्यास स्वीकार नहीं किया जाएगा। पांचों उपन्यास क्राउन आकार की पुस्तक के एक सौ दो पृष्ठों में समा गए हैं। कलेवर की दृष्टि से चाहे ये औपन्यासिक कृति का आभास न देते हों परंतु इनका शिल्प उपन्यास का ही है। छोटे-छोटे अध्यायों में बंटी ये रचनाएं उपन्यास के परंपरागत रूप को तोड़कर स्वयं को स्थापित करती हैं।

इन रचनाओं को भाषा और प्रस्तुति में भी बेतुकापन है जो एब्सर्ड शिल्प को सामने लाता है। भाषा और प्रस्तुतिकरण का यह नयापन ही इन रचनाओं की विशिष्टता है। कुछ उदाहरणों द्वारा इसे समझा जा सकता है।

'तुम मेरा इंतजार कर लेतीं।' लड़के के खून के परनाले में से आवाज आती है।

'मैं बसों की इंतजार में ही इतनी थक चुकी हूं।' लड़की की वाणी में देश का भविष्य बोलता है. . .(दि कॉलेज)

बच्चों के बाप का मुंह ऐसे खुल जाता है, जैसे कठपुतली के जबड़ों के धागों को अनाड़ी हाथों ने छेड़ दिया हो।

क्लर्क अपना पैन, पैन-स्टैंड के बदले, बच्चों के बाप के खुले मुंह में रख देता है।

'दुनिया के किसी अस्पताल में ऐसा नहीं होता।' बच्चों का बाप अपने मुंह से पैन निकालकर अपनी जेब में रख लेता है। (अस्पताल)

'नौकर के चेहरे पर कब्रिस्तान की धूल उड़ने लगती है। आंखों में वैसे ही पानी जमा हो जाता है, जैसे बरसातों में निकास के अभाव में दिल्ली की सड़कों पर जमा हो जाता है। (दि लाइफ)

'अच्छा। कॉफी के बाद एक बोतल

खून पीना पसंद करोगे।' डॉ. मिस प्रभा की आंखों में प्रेम के बांध बन जाते हैं, 'मुंह से मत पीना, इंजेक्ट कर दूंगी। काफी कमजोर लग रहे हो।'

'नहीं, ठीक है। टॉनिक पी लूंगा।' गुलाटी मेज पर अपा दिल रखकर ब्रीफकेस उठा लेता है। (शफा देने वाले)

उपर्युक्त उद्धरणों में स्पष्ट है कि नरेंद्र कोहली ने कथ्य और शिल्प दोनों धरातलों पर 'एब्सर्डिटी' का प्रयोग किया है। कथ्य के माध्यम से यह बेतुकापन वर्णित प्रसंग के माध्यम से प्रत्यक्ष प्रहार करता है। इसके अतिरिक्त लेखक ने अप्रत्यक्ष व्यंग्य का माध्यम भी अपनाया है। सादृश्य-विधानों में अतिशयोक्ति एवं एब्सर्डिटी के माध्यम से जहां एक ओर परिवेश का बेतुकापन सामने आया है, वहीं अप्रत्यक्ष रूप से यह बेतुकापन कथ्य के बेतुकेपन कथ्य के बेतुकेपन का सहायक होकर व्यंग्यात्मक आक्रोश को अभिव्यक्त करता है। 'अस्पताल' और 'मोहल्ला' हिंदी व्यंग्य साहित्य की श्रेष्ठ रचनाएं कही जा सकती हैं। इसमें एब्सर्डिटी का कथ्य और शिल्प के धरातल पर अद्‌भुत समन्वय हुआ है।

नरेंद्र कोहली के चार व्यंग्य-संकलन अभी तक प्रकाशित हुए हैं- एक और लाल तिकोन, जगाने का अपराध, आधुनिक लड़की की पीड़ा एवं त्रासदियां। 'एक और लाल तिकोन' उनका पहला व्यंग्य संग्रह है और इससे पहले संग्रह में ही हमें लेखक की व्यंग्यात्मक आलोचनात्मक दृष्टि दृष्टिगत हो जाती है। इन रचनाओं में लेखक का उद्देश्य गुदगुदाने का नहीं, पीड़ित करने का रहा है। शेष तीनों संकलनों की भी यही प्रवृत्ति है। लेखक ने हास्य को कम, बहुत ही कम स्थान दिया है। वस्तुतः पाठक रचनाओं के माध्यम से परिचित होता है कि लेखक अत्यधिक पीड़ाजनक आक्रोश से भरा हुआ है। यदि रचनाओं में कहीं हंसी है भी तो वह प्रहारात्मक ही है। लेखक की कलम राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक, पुलिस, न्याय आदि क्षेत्रों की विसंगतियों पर व्यंग्यात्मक प्रहार करती है। किसी को इस प्रहारसे छूट नहीं है, जो गलत है उस पर प्रहार अवश्यंभावी है। नरेंद्र कोहली का व्यंग्यकार कहीं समझौता नहीं करता है। वह विचार और दृष्टि के धरातल पर किसी से बाधित नहीं है। वह मुक्त-भाव से विसंगतियों पर प्रहार करते हैं। 'अमेरिकन जांघिया' प्रसंग हो अथवा 'लाल फीताशाही', नरेंद्र कोहली ने 'लेफ्ट-राइट की राजनीति' राजनीति के संदर्भ में, 'जगाने का अपराध', 'एक और लाल तिकोन' जैसी रचनाएं लिखी हैं तो दूसरी ओर 'संस्कृति से बिछुड़ने का रोग', 'भगवान की औकात', 'संकट और संस्कृति' जैसी रचनाएं भी रची हैं। नरेंद्र कोहली का रचना-क्षेत्र विस्तृत है।

'व्यंग्य-संकलनों के माध्यम से उनका कथाकार रूप ही उभरकर सामने आता है। ललित निबंधों में भी कथाकार ही हावी रहा है। नरेंद्र कोहली के व्यंग्य करने का ढंग प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों हैं इनकी रचनाओं में इनका लेखक रूप सीधे प्रविष्ट करता है। प्रसंगों के माध्यम से व्यंग्य कम है। आत्म-व्यंग्य की कमी भी इन व्यंग्य-संकलनों में दिखाई देती है। नरेंद्र कोहली ने व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए फंतासी शिल्प का आश्रय भी लिया है।

'शम्बूक की हत्या' प्रयोगात्मक व्यंग्य नाटक है। प्रहसनों की रचना तो भारतेन्दु-काल में ही विद्यमान थी परंतु व्यंग्यात्मक नाटक की रचना का, मेरे विचार से यह प्रथम प्रयास ही है। यह नाटक जहां एक और रंगमंच की दृष्टि से प्रयोगशील है, वहीं कथ्य के आधार पर नाटक की परंपरागत वस्तु-परंपरा को भी तोड़ता है। यह नाटक दर्शकों के लिए ही नहीं, अभिनेताओं एवं निर्देशक के लिए भी एक चुनौती है।

'शम्बूक की हत्या' का कथा-सूत्र पौराणिक है। नरेंद्र कोहली रामायण में से शम्बूक-राम-प्रसंग का सूत्र लेकर इस नाटक की रचना करते हैं। यह पात्र मात्र पौराणिक है, इसका चरित्र पौराणिक नहीं है। चरित्र-चित्रण में ही नहीं, रचनाकार ने पात्रों के निर्माण में भी कल्पना का प्रयोग किया है। नाटक का परिवेश पात्रों के कारण चहो एक क्षण को अतीत में ले जाए परंतु नाटक का परिवेश पात्रों के कारण चाहे एक क्षण को अतीत में ले जाए परंतु नाटक का कथ्य व्यक्ति को वर्तमान में घसीट लाता है। नाटक आधुनिक भारतीय शासन पद्धति की दुर्बलता के कारण बिगड़ रही सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक परिस्थितियों का विश्लेषणात्मक चित्रण प्रस्तुत करता है। ब्राह्मण अपने पुत्र की असामयिक मृत्यु का कारण शासन के पाप को मानता है। वह न्याय चाहता है परंतु उसके स्थान पर उसे लालफीताशाही, अफसरशाही आदि के दर्शन होते हैं। नाटककार ने क्लर्क, विशिष्ट सैनिक, कांति बाबू, ब्राह्मण आदि के संवादों के माध्यम से आधुनिक विसंगतिपूर्ण परिस्थितियों पर अपना सार्थक आक्रोश व्यक्त किया है। नरेंद्र कोहली ने सामाजिक अव्यवस्था, राजनैतिक भ्रष्टाचार आदि का कारण वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था एवं स्वार्थपूर्ण सत्ता को माना है। क्लर्क के माध्यम से लेखक ने राजनीति, धर्म, साहित्य आदि पर सार्थक व्यंग्य किए हैं। भारत की राजधानी दिल्ली की 'प्रशंसा' करते हुए वह एक स्थल पर कहता है, '. . .महामारी फैलती है गरीब, गंदे-गलीज लोगों की बस्तियों में। तुम्हें कौन कहता है वहां जाओ। ठाट से दिल्ली में रहो। देखो, न यहां बाढ़ आती है, न सूख पड़ता है, न अकाल, न महामारी। यहां हमारे पास है- शराब, जुआ, चोरी, हत्या, बलात्कार, भ्रष्टाचार. . .। क्या नहीं है हमारे पास! सूखा, बाढ़ इत्यादि तो इधर आने का साहस भी नहीं कर सकते। आने की मूर्खता करेंगे तो शाहदरा में ही पकड़ लिए जाएंगे।' (शम्बूक की हत्या)। वस्तुतः ब्राह्मण और क्लर्क के संवादों में अनेकों ऐसे व्यंग्य-वाक्य हैं जिनका सूक्तियों की भांति प्रयोग किया जा सकता है।

'शम्बूक की हत्या' का मूल स्वर शासन की विसंगतियों पर व्यंग्य है। व्यंग्यकार ने पौराणिक कथा को आधार बनाकर उसे वर्तमान शासन की विसंगतिपूर्व परिस्थितियों से जोड़ा है। व्यंग्यकार क्षुब्ध है कि जनसेवा का ढोल पीटने वाला शासक-वर्ग यथार्थ में जनता से विमुख है। उसे जनता की समस्याओं, पीड़ाओं एवं दुख-दर्द के कोई सहानुभूति नहीं है। आम नागरिक की मृत्यु सरकार के लिए एक समाचार भर है जबकि मृत व्यक्ति की मृत्यु का दोषी शासन स्वयं है। जनता की सुख-सुविधाओं के लिए प्रयत्नशील होने के स्थान पर शासक स्वयं की सुविधाएं जुटाने के लिए कटिबद्ध दृष्टिगत होता है। शासन की विसंगति पर व्यंग्य करते हुए नरेंद्र कोहली कहते हैं कि जो शासन जनता से सहमत हो जाए, वह शासन नहीं है। अर्थात शासन कभी जनोन्मुख नहीं होता है, अतः जन-कल्याण की नहीं सोचता है।

शेष पृष्ठ-102 पर. . .

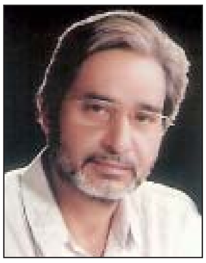

हरीश नवल

नाटक और रंग निकर्ष

नरेंद्र कोहली का व्यंग्यकार, कथाकार अपनी पूरी ताकत के साथ पाठक के सामने आ चुका है। उनका व्यंग्यकार 'शम्बूक की हत्या' के बाद जीवित हुआ था और 'निर्णय रुका हुआ' के साथ ही अधिक चर्चित हुआ और 'हत्यारे' नाटक के आने के बाद पूरी रंगमंचीयता से उभरा है।

नरेंद्र कोहली के पास चुस्त भाषा है, वर्णन की सरस शैली है जिसकी वजह से कथ्य के उद्देश्य के अनुरूप बहुत अच्छे और सोद्देश्य संवादों की रचना कर लेते हैं जो किसी भी नाटककार की सम्पत्ति होते हैं। तभी अपने प्रथम नाटक के प्रकाशित और अनेक बार मंचित होते ही वे नाटक शोध ार्थियों और रंगकर्मियों की नजर में आ सके।

'शम्बूक की हत्या' व्यंग्यकार नरेंद्र कोहली का प्रथम नाटक है जो 1975 में प्रकाशित हुआ था। अब तक यह नाटक देश में अनेक बार अनेक स्थानों पर अभिनीत किया जा चुका है।

रामायण की एक कथा में एक ब्राह्मण के पुत्र की असमय मृत्यु होने पर ब्राह्मण ने राजा राम से फरियाद की थी कि राजा राम ने शम्बूक की हत्या की थी। प्रस्तुत नाटक में शम्बूक के स्थान पर प्रशासन की भ्रष्टता और अव्यवस्था है जिनकी वजह से देश बरबाद हो रहा है। नाटककार की कल्पना है कि रामायण वाला ब्राह्मण राजा राम से फरियाद करने दिल्ली के राष्ट्रपति भवन आया है, परंतु उनसे मिल नहीं पाता, उनके क्लर्क और चपरासी ही उसे घेर लेते हैं। उसके साथ बालक के शव को देखकर पुलिस हत्या का केस दर्ज करना चाहती है, पर अंत में ब्राह्मण को धकिया देती है।

वर्तमान राज्य व्यवस्था के दुरुह चक्र को देखकर ब्राह्मण स्तम्भित हो जाता है। सत्ताधारी रक्षक नहीं हैं, वे आदमी का भक्षण करते हैं। नाटककार ब्राह्मण और क्लर्क का वार्तालाप करवाता है जिसमें पुलिस व्यवस्था, अकाल, बाढ़ आदि द्वारा विनाश, विश्वविद्यालयी क्षेत्र में तथाकथित बौद्धिक लोगों के खोखलेपन आदि को उघाड़ा गया है। विभिन्न क्षेत्रों की विसंगतियां कोहली जी को व्यंग्य करने पर मजबूर करती हैं।

नाटक की कथावस्तु प्रतीकात्मक है, विश्वसनीय नहीं अपितु सांकेतिक है। डॉक्टर आदि क्या होते हैं न जानने वाला ब्राह्मण डेवलपमेंट ऑफिसर आदि को जानता है। बालक के शव को लेकर चल रहा है, परंतु बारह वर्षीय बालक के शव को कोई देखता नहीं, ब्राह्मण को ही खुद बताना पड़ता है। एक फेंटेसी के रूप में पूर्ण दृश्यबंध सम्मुख आता है और उसमें व्यंग्यकार नरेंद्र कोहली नाटककार नरेंद्र कोहली पर सवार रहता है।

नाटक का रूपबंध बेहद दुर्बल है, एक ही दृश्यबंध है परंतु दृश्य-सज्जा अलग-अलग हो सकती है। शिल्प की दृष्टि से यह नाटक कम लगता है- मोनोलॉग और डायलॉग अधिक।

नाटक के संवाद बहुत जानदार तथा सोद्देश्य व्यंग्य से भरे हुए हैं। विशिष्ट सैनिक का उत्तर कि सरकार धनवानों को क्यों नहीं हटाती। 'अबे नहीं धनचक्कर, धनवानों को सरकार कैसे हटायेगी! तुम शायद नहीं जानते कि पैसे और सरकार में अवैध संबंध है। पेसा इस राजनीतिक वेश्या का यार है। पैसे ने सरकार बनाई है और सरकार ने धनवान बनाए हैं। फिर यार, धनवान लोग शरीफ आदमी हैं, साफ-सुथरे लोग हैं, रोज मंदिर जाते हैं, घर में जुए का अड्डा चलाते हैं, अपने बच्चों को पब्लिक स्कूल में पढ़ाते हैं और लड़कियों को क्रय-विक्रय का धंधा चलाते हैं, गोदामों में चीजें छिपाकर देश की चीजों की बचत करते हैं. . .नहीं तो तुम्हारी भुक्खड़ जनता तो एक दिन में सब कुछ खा-पीकर बराबर कर दे। तुम ही बताओ, तब सरकारी बचत योजनाओं का क्या होता. . .?

ब्राह्मण के अधिक प्रश्न करने पर 'व्यक्ति' उसे कहता है, 'अच्छी प्रजा को चाहिए कि वह 'क्या', 'कौन' और 'कैसे' जैसे खतरनाक शब्दों से बचे। इन शब्दों से विद्रोह की गंध आती है।

विश्वविद्यालय संबंधी अनेक संवाद इस नाटक में हैं जो विश्वविद्यालयों की आंतरिक स्थिति पर प्रहार करते हैं। क्लर्क का कथन, 'हमने विश्वविद्यालय इसलिए खोले हैं कि जनता उसके भ्रमजाल में अटकी, मुक्त होन के लिए छटपटाती रहे, युवा पीढ़ी तीन या पांच वर्ष उन दीवारों के साथ टक्करें मारती रहे. . .।

पुलिस की कार्यकुशलता के लिए उदाहरणार्थ एक संवाद देखिए- 'ठीक है! ठीक है! जिस देश में पानी बरसता, वहां लाठियां बरसनी ही चाहिए, आखिर हमारे कारण कुछ-न-कुछ बरसता है, नहीं तो एकदम सूखा पड़ जाता. . .'

संवादों में पर्याप्त मात्रा में देशज गालियां है। पुलिस के द्वारा इनका उपयोग कितने परिणाम में होता है, यह इसमें जाहिर होता है। कोई भी आदमी कर्तव्य का पालन नहीं कर रहा और न ही करना चाहता है- यह विडम्बना या विसंगति सभी क्षेत्रों में है- तथ्य इस नाटक के कथ्य का मूल है।

नाटक के अंत में ब्राह्मण के रूपक की गुत्थी सब-इंस्पेंक्टर सुलझाता है। वह पाठक या दर्शक को बताता है कि बालक का शव देश का भविष्य है, उसे शव के रूप में रखा हुआ है, कहीं कोई किरण नहीं, अब और अंधेरा ही अंधेरा है।

यह काल्पनिक रंगमंच का नाटक है जिसमें स्थितियां नहीं हैं, केवल संवाद ही संवाद है। रंग-निर्देशों और संकेतों की दृष्टि से नाटककार ने आरंभ में जो कुछ दिया है

शेष पृष्ठ-105 पर. . .

डॉ॰ शशि मिश्र

व्यंग्य : सामाजिक संदर्भ

आजाद देश की आजाद मानसिकता ने समाज-जीवन में साम्प्रदायिकता, द्वेष, ईर्ष्या, अन्याय, अत्याचार का जो जहर घोला, उसकी प्रतिक्रिया में प्राय: प्रत्येक सचेत साहित्यकार व्यंग्य-रचना करने को विवश हुआ है। प्रतिक्रियात्मक अभिव्यक्ति वाले इन साहित्यकारों का विवादास्पद बनना भी स्वाभाविक ही था। एक ओर स्वाधीन देश की चेतना सदियों की गुलामी एवं गुलामीयुक्त प्रतिबंधों को तोड़ फेंकने को उत्सुक थी तो दूसरी ओर भ्रष्ट व्यवस्था के पक्षधर भी कम नहीं थे। इस तरह आजादी के बाद इस देश की दोहरी मानसिकता एवं दोहरे मानदण्डों ने पूर्व निर्धारित मानव-मूल्यों, नीति एवं संस्कृति, सभी पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। भोली-भाली अशिक्षित जनता जितनी ही दिग्भ्रमित होती गयी, सत्तालोलुप धूर्त नेता उतने ही क्रूर एवं अमानवीय बन गए। भारतीय जीवन का यह वैषम्य उत्तरोत्तर विकराल होता गया। व्यक्ति के रूप में समाज-जीवन के इस वैषम्य को नरेंद्र कोहली जैसे साहित्यकार अनुभव करते हैं। उनकी लेखकीय सर्जक चेतना इन अनुभूतियों का साधारणीकरण करती है। लेखन-प्रक्रिया को समझाते हुए कोहली कहते हैं कि लिखते समय लेखक के सामने साधारणीकरण अथवा तादात्म्य की समस्या रहती है– 'जो उसके (लेखक के) मन में है, उस बात को वह पाठक के मन में उतार देना चाहता है।'

वैयक्तिक धरातल पर कोहली की चेतना विसंगतियों एवं विद्रूपताओं का साक्षात्कार करती रही है। 'पांच एब्सर्ड उपन्यास' की भूमिका में आत्मकथ्य करते हुए वह कहते हैं– 'जब तक सह सकता था सहा, पर जब सह न सका तो मैं व्यंग्य पर उतर आया। पीड़ा ने ही मुझे अपने से कुछ बड़ा कर दिया था और ऐसी आंख दी थी जिसने उस सारे वातावरण को एक कार्टून की दृष्टि से देखा था। और यह सब शायद इसलिए हुआ था ताकि मैं अपना मानसिक संतुलन स्थिर रखकर जी सकूं. . .।'

मानवीय जिजीविषा व्यक्तित्व के अनुरूप हर किसी को जीवन-शक्ति प्रदान करती है। मनुष्य समाज को व्यंग्यकारों के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए कि मारक परिस्थितियों के बीच, ये जीवन-सम्बल प्राप्त करते हुए मानवीय उदात्तता का स्तुत्य प्रयास करते हैं। कोहली के आत्मकथ्य की यह दारुण व्यथा किसी भी सहृदय व्यक्ति की चेतना के मर्म को झकझोकरने में सक्षम है। ऐसे क्षणों में ही सहृदय पाठक लेखकीय सह-अनुभूति द्वारा सम्बल प्राप्त करता है और जीवन को नष्ट होने से बचाने का प्रयत्न करता है। व्यंग्यकारों की यह चेतना हमें परिवेशगत क्षुद्रताओं से ऊपर उठाती है और हम उन अनेक लोगों के प्रति समभाव तथा संवेदना की अनुभूति से भर उठते है, जो हमारी ही तरह त्रासद विसंगतियों में दम तोड़ रहे होते हैं। करुणा की यह अजस्र धारा व्यंग्यकारों के ही सामर्थ्य की बात है। विषम परिवेश के प्रति परिहास, विनोद अथवा तिरस्कार की अपेक्षा कोहली की पीड़ित दृष्टि सामाजिक, राजनीतिक विद्रूपताओं के तह में जाती है– 'पीड़ित आक्रोश की वक्रता ने जो दृष्टि दी, उसने अपने व्यक्तिगत अनुभवों से बाहर निकल राजनीतिक-सामाजिक असंगतियों को भी देखा और अपने पीड़ित आक्रोश को व्यक्त करने के लिए मैं व्यंग्य रचनाएं लिखता रहा।'

परसाई की व्यंग्य रचनाओं में व्यंग्य-संस्कार प्राप्त करने वाले कोहली का व्यंग्य भी मानवीय करुणा का ही श्रेष्ठतम रूप है। शोषक एवं शोषित के द्वंद्व में कोहली की करुणा शोषितों का साथ देती है क्योंकि वे असमर्थ हैं–

'जो दलित और जो शोषित वर्ग हैं, सर्वहारा हैं, उनकी विसंगतियों के प्रति करुणा अधिक होती है क्योंकि वे समर्थ नहीं हैं। ऐसे में कटाक्ष करने के पहले हम सोचेंगे कि क्या यह दोषी है? यह देखेंगे कि मूल कारण कहां है?'

इन पंक्तियों को पढ़ते हुए वात्सल्यपूर्ण ममता सहज ही याद हो जाती है। दुर्बल, अस्वस्थ बच्चे के प्रति मां का अतिरिक्त लगाव जितना सहज एवं स्वाभाविक होता है, व्यंग्यकारों की करुण चेतना भी उतनी ही सहज एवं स्वस्थ है। शोषकों के प्रतिकार के लिए शोषितों को चेतना-सम्पन्न सामर्थ्य प्रदान करना ही उनका अभीष्ट है। वैयक्तिक पीड़ा के सोपानों को पार करते हुए वे सामाजिक दृष्टि का निर्माण करते हैं। इस कार्य हेतु पहले अपने ही घावों की शल्यक्रिया करनी पड़ती है, क्योंकि स्वयं को स्वस्थ बनाए बिना दूसरों का उपचार संभव नहीं। कोहली इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए कहते हैं–

'जीवन की अनेक विभीषिकाओं का साक्षात्कार हुआ। उसने मन को जो पीड़ा दी, उसकी असहायता ने मेरे व्यक्तित्व की वक्रता को पुन: मुखरित कर दिया और स्वयं को हल्का करने के लिए व्यक्तिगत अनुभवों पर मैंने कटाक्ष किए। अपनी पीड़ा का ही परिहास किया। अपने घावों को छील-छीलकर स्वयं को रुलाया।'

कोहली का रुदन आत्म-कुंठा का रुदन नहीं था बल्कि परिस्थितियों की विवशता एवं अपनी असहाय स्थिति की वक्रता का रुदन था। यह असहायता व्यवस्थागत असहायता थी। अत: कोहली का चेतन मन इस भ्रष्ट व्यवस्था के प्रति क्रोध व्यक्त करता है–

'जैसे-जैसे जिंदगी की समझ ज्यादा आई; परिस्थितियां विसंगतिपूर्ण होती गयीं, वैसे-वैसे व्यंग्य ज्यादा प्रखर और तीखा होता गया और उसकी तरफ रुचि भी बढ़ती गयी।'

जानलेवा विसंगतियों के प्रति कोहली

के मन ने प्रतिक्रिया की। वास्तव में आत्मपीड़ा के क्षणों में उनके मन ने व्यवस्था के विरुद्ध गंदी गालियां दी थीं किंतु साहित्य गालियों को हू-ब-हू स्वीकार नहीं करता, अत: वह अपने आक्रोश को सात्विक, सृजनशील तथा कलात्मक आक्रोश बनाते हैं जो व्यंग्य के रूप में प्रस्फुटित होता है–

'आक्रोश सात्विक और ईमानदार न हो तो रचना झूठा प्रचार हो जाती है, और सृजनात्मकता की कमी हो तो रचना गाली-गलोच बनकर रह जाती है।'

इसी तरह 'एक और लाल तिकोन' की व्यंग्य रचनाओं की चर्चा करते हुए कोहली कहते हैं– 'वे वैयक्तिक अथवा सामाजिक परिस्थितियां, जिन्होंने मुझसे यह सब लिखवाया, अगंभीर हुईं, जब कभी विसंगतियों ने यह रूप धारण किया, तभी कोहली ने व्यंग्य रचनाएं कीं। एक के बाद एक झकझोरने वाले अनुभवों ने कोहली को वैयक्तिक धरातल पर हास्य एवं रुदन दोनों ही अनुभूतियां दीं। कोहली ने इन अनुभूतियों का विस्तार किया तथा सामाजिकों की अनुभूति को समझने का सामर्थ्य प्राप्त किया। अपने अनुभवों का दान समाज को दिया, समाज के अनुभवों को आत्मसात किया और फिर उन्हें व्यंग्य के रूप में समाज-जीवन को ही अर्पित करने में कोहली लगे हुए हैं।

विभिन्न शिल्पों में व्यंग्य रचना करने वाले कोहली व्यंग्य के मूल व्यक्तित्व को न्यायसंगत आक्रोश मानते हैं– 'जिस व्यक्तित्व के कारण व्यंग्य विधा बनती है, वो है आक्रोश जिसे नागार्जुन ने क्षोभ कहा है। न्यायसंगत आक्रोश को जब कलात्मक रूप में अभिव्यक्त किया जाता है, तो वह व्यंग्य बनता है।'

व्यंग्य रचना की बारीकी को समझाते हुए कोहली स्वीकार करते हैं कि अप्रिय, अनुचित अथवा गलत घटना के कारण मन में आक्रोश उठता है। उस घटना अथवा वस्तु के विरुद्ध मन में कटाक्ष उभरते हैं। इन कटाक्षों की कड़ी ही व्यंग्य के रूप में आ जाती है। साधारणजन भी कटाक्ष करते ही हैं। किंतु रचनाकारों का कटाक्ष एकमात्र विध्वंस प्रेरित नहीं होता, न ही बदले की भावना उनमें होती है। वे तो समाज के स्वस्थ निर्माण संबंधी सृजनशील तनाव से घिरे होते हैं। आसपास की विसंगतियां एवं आंतरिक प्रतिक्रिया दोनों ही रचनाकार के भीतर ऊधम मचाते हैं। इन तनावों से मुक्त होने के लिए वह लेखन का सहारा लेता है, 'व्यंग्य जो है, वह एक टेंशन का पर्याय है और उस टेंशन को आदमी का दिमाग बहुत दूर तक वहन नहीं कर पाता।' अत: वह भीतरी टेंशन को कसाव पर उतारता है, अपना विरेचन करता है, सामाजिकों का साथ प्राप्त करता है और सामयिक मुक्ति प्राप्त करता है। प्रत्येक लेखन के मूल में कोहली इसी मुक्ति कामना एवं सह-अस्तित्वबोध को मानते हैं। भीतरी छटपटाहट एवं बेचैनी ही कागज पर अभिव्यक्त होती है। किंतु इस अभिव्यक्ति की प्रेरणा होती है। कोहली का विश्वास सामाजिक आदान-प्रदान में है। वह जिस तरह अपने दुखों का साधारणीकरण करते हैं, उसी तरह दूसरों के दुखों को अंगीकार भी करते हैं। आज का जीवन द्वंद्वात्मक आत्म-संघर्ष का जीवन है। चारों ओर अभूतपूर्व मुर्दनी छायी हुई है। लोगों की प्रतिक्रिया शक्ति सुप्त है। यह सामूहिक जड़ता गिने-चुने जागरूकों की प्रतिक्रिया पर हावी है। तथापि, कतिपय सृजनधर्मी साहित्यकार जन-जागरण का नेतृत्व करते ही हैं– 'कुछ अनुचित, अन्यायपूर्ण अथवा गलत होते देखकर जो आक्रोश जागता है। वह यदि काम में परिणत हो सकता तो अपनी असहायता में वक्र होकर जब अपनी तथा दूसरों की पीड़ा पर हंसने लगता है तो वह विकट व्यंग्य होता है, पाठक के मन को चुमलाता-सहलाता नहीं, कोड़े लगाता है, अत: सार्थक और सशक्त व्यंग्य कहलाता है।'

पाठकों की चेतना को झंकृत करने के प्रयास में कोहली देश की आत्मा को खोलकर रखते हैं। आजादी के बाद इस देश के आंतरिक रूप से क्या-क्या घटित होता रहा है, व्यक्ति के निजी व्यवहार से लेकर सामूहिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व्यवहार के दोमुंहेपन को कोहली के व्यंग्य निबंधों में अपने नग्न रूप में देखा जा सकता है। संस्कृत के व्यंजनागर्भ व्यंग्य की तुलना में आधुनिक व्यंग्य का पार्थक्य, परिवेश की असंगतियों में ही है– 'यह स्थितियों की ही विसंगतियां हैं कि आप उन स्थितियों को सीधा-सीधा लिख दें– अभिधा में, तो भी वह कटाक्ष हो जाता है क्योंकि वहां गलत हो रहा है। इसलिए संस्कृत-काव्यशास्त्र के लोग जहां व्यंग्य को व्यंजना से ही जोड़ते हैं, वहां हम बताते हैं कि नहीं साहब, यहां व्यंजना में नहीं, यहां तो अभिधा में भी हो रहा है।'

अभिधागत व्यंग्य कोहली की व्यंग्य विषयक धारणा का विस्तार करता है। हिन्दी साहित्य के रीतिकाल तक व्यंग्य को वह एक शब्द-शक्ति, अन्योक्ति, वक्रोक्ति अथवा समासोक्ति जैसे अलंकार के रूप में देखते हैं किंतु आधुनिक संदर्भों से उपजे व्यंग्य के लक्षणों का निर्धारण करने हेतु शास्त्रकारों की मांग करते हैं। किसी भी विधा का निर्णायक तंत्र कोहली के अनुसार साहित्यकार के व्यक्तित्व का मूल तंत्र होता है। व्यंग्य के संदर्भ में वह साहित्यकार के सात्विक सृजनशील तथा कलात्मक वक्र आक्रोश को मानते हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य-साहित्य की चर्चा करते हुए वे कहते हैं– 'हिंदी के व्यंग्य-साहित्य को देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्वतंत्रता के बाद से सामाजिक-राजनीतिक असंगतियों के कारण भारतेन्दु युग के बाद व्यंग्य का टूटा हुआ सूत्र न केवल फिर से पकड़ा गया, वरन् नवीनता और निखार के साथ दृढ़ किया गया। 'व्यंग्य संकलन' के नाम से जो पुस्तकें आयीं, उनमें ऐसे व्यंग्यात्मक निबंध थे जो न तो निबंध की परम्परागत परिभाषा में आते हैं, न कहानी की।'

स्वातंत्र्योत्तर भारत में एक साथ पनप रहे मानवीय गुण एवं अमानवीय क्षुद्रताओं, पूंजीवादी क्रूरता एवं जनवादी प्रतिबद्धता को कोहली के व्यंग्य-निबंधों में आसानी से देखा जा सकता है। कोहली की आरंभिक रचनाएं, उनके निजी परिवेश एवं वैयक्तिक अनुभूतियों का दस्तावेज हैं, जबकि बाद की रचनाएं व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ राष्ट्रीय जीवन के अनेकानेक विसंगत उपादानों से उद्‌भूत हुई हैं। व्यक्तिगत जीवन की पीड़ा तथा राष्ट्रीय जीवन की तर्क-शून्य विद्रूपपूर्ण स्थितियों ने कोहली को भीतर तक आंदोलित किया है– 'अति संवेदनशीलता की स्थिति में मैंने अपने समाज और देश में फैले हुए उस आतंक का अनुभव किया, जिसके मूल में राजनीतिक सत्ता थी। बात यहीं तक समाप्त नहीं हो गयी। मैंने अपनी कल्पनाशीलता में उस समाज का निर्माण किया जो इस सारी व्यवस्था का विरोध करता है और तब

यह भी महसूस किया कि यदि कभी सत्ता का विरोध हुआ तो उसका दमन कब और कैसे होगा?'

वैयक्तिक अनुभूतियों के तटस्थ विश्लेषण ने कोहली को जो दृष्टि दी, वह उनके स्वयं के लिए आश्चर्य की वस्तु है– 'मेरे व्यक्तित्व में से कभी-कभी किन्हीं कारणों से व्यंग्य का तंत्र ऐसा छन जाता है कि उसकी ओर ध्यान खींचा जाने पर मुझे स्वयं आश्चर्य होता है।'

अपनी पीड़ा के ताप में तपकर कोहली सांसारिक पीड़ा एवं मानवीय छटपटाहट की अनुभूति प्राप्त करते हैं। उनकी संवेदना विस्तृत होती है तथा वह 'स्व' से निकल 'सर्व' तक पहुंचते हैं। यह कोहली का आत्म-विस्तार है जहां परिवार, समाज, राष्ट्र, स्वजन, सभी अपनी सीमाएं लांघ चुके होते हैं और सहज मानवीय संकेत अथवा अनुभूति शेष होती है। यही वह स्थिति है जहां लेखक अन्य सामान्य लोगों से हटकर विशेष की श्रेणी में आ जाता है। सम्पूर्ण विश्व की घटना उसकी अपनी घटना होती है, प्रत्येक की प्रतिक्रिया, राग-अनुराग, द्वेष उसका अपना राग-अनुराग अथवा द्वेष होता है। कोहली के व्यंग्य-निबंध इन्हीं राग-अनुराग एवं करुणा के व्यंग्य-निबंध हैं जो राग-द्वेष के कारणों की समझ देते हुए जीवन को समझने की दृष्टि देते हैं। प्रशासनिक व्यवस्था के दोमुंहेपन का ज्ञान कराते हैं। साहित्य, समाज, धर्म, दर्शन तथा अर्थतंत्र की गुत्थियां उघाड़कर सामने रख देते हैं। चेतना सम्पन्न सजग जनता इनके प्रति शंकित हो उठती है। उसे समझ आ जाता है कि बाहर से दीखने में यह व्यवस्था जितनी ईमानदार नजर आती है, अंदर से उतनी ही भ्रष्ट है। कारण, यहां की जनता की अज्ञानता, अशिक्षा स्वयं है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था प्रत्येक नागरिक से राजनीतिक सूझ की अपेक्षा करती है जबकि यहां की अधिकांश जनता आज भी आधारभूत शिक्षा से विहीन है। ज्ञान-विज्ञान के उत्कर्षकाल में भी जन-सामान्य का जीवन, हृदय-संचालित है। यह हृदयगत भावनाओं की ही प्रबलता है कि शासन का छद्म उसे छद्म नहीं लगता बल्कि वह उसके बाहरी क्रियाकलापों, कर्मकाण्डों एवं पाखंडों के जाल में ही उलझकर रह जाता है। ऐसे सम्मोहित जनता को कोहली सत्य का आलोक देता है–

'हाय! कलियुग में राजधर्म का पालन करने वाला कोई नहीं रहा। बनाता कोई नहीं, उजाड़ सब रहे हैं।'

लोगों की इस संस्कारहीनता, कोरी सिद्धान्तवादिता, अव्यावहारिक आदर्श को कोहली 'संतों की बिल्लियां और चूजे' नामक निबंध में व्यंग्यात्मक बाना पहनाते हैं। धर्म, दर्शन और संस्कृति के क्षेत्र में अपने आपको विश्व-गुरु मानने वाला यह देश वैज्ञानिक युग के आते-आते कंगाल ही नहीं, कंगाल-शेष होकर रह गया; कारण खोखली आदर्शवादिता और खोखला अहम्। युगधारा अग्रगामी है जबकि हम अतीत के मोह से चिपके हुए हैं। प्राचीन युग से ही इस देश की परम्परा चली आ रही है कि लोग अपने हाथों में सिद्धांतों की हथकड़ियां डाल सब कुछ नष्ट होता देखते रहते हैं :

'सारा देश बस वचनों ही वचनों पर चल रहा है। भाषणों की खेती होती है, कारखानों में भाषण बनते हैं। सारा देश भाषण खाता, भाषण पहनता-ओढ़ता है और भाषणों के मकान बनाकर रहता है। लबाड़ियों का देश है, भाषणों-वचनों-आश्वासनों से काम चल जाता है।'

व्यंग्य एवं व्यंग्यकारों की यही उपादेयता है। राजनीति एवं बुद्धिजीवियों का यही द्वंद्व है, धर्मयुद्ध है। राजनीति टुच्चे स्वार्थों के कारण जनता को गुमराह करती है जबकि व्यंग्यकार ऐसी गुमराह जनता को टुच्चेपन से उबार विशाल एवं व्यापक दृष्टि देते हैं, मानवीय संवेदना एवं व्यापक मानव-हितों की चेतना का प्रसार करते हैं। वर्तमान भारतीय चरित्र की विसंगतियों के मूल में नरेन्द्र कोहली राजनीति को मानते हैं। राजनीति प्रेरित विद्रूपताओं ने ईमानदारी, सेवा, त्याग जैसी वृत्तियों को बेईमानी, स्वार्थ एवं टुच्चेपन में बदला है। ऐसे विगलित वर्तमान की अभिव्यक्ति के लिए एकमात्र व्यंग्यात्मक तेवर ही कोहली को उपयुक्त लगता है, अपितु ईमानदार अभिव्यक्ति का सहज रूप लगता है। वह स्पष्ट कहते हैं कि यह परिस्थितियों की ही विसंगति है कि उनकी सपाटबयानी भी व्यंग्य कहलाती है। कोहली का व्यंग्य सामाजिक सच का व्यंग्य है, जन-जन की व्यथा-वेदना का व्यंग्य है। अपने चारों ओर के यथार्थ को कोहली सहज एवं सरल लोक-शैली में व्यक्त करते हुए जनभाषा की संभावनाओं को कुशल अभिव्यक्ति देते हैं। राजनीति-संचालित व्यवस्था की पोल खोलते हुए अवाम के संत्रास को वाणी प्रदान करते हैं। धर्म, संस्कृति तथा सनातन भारतीय दर्शन को आजादी के तथाकथित ठेकेदारों ने किस सीमा तक विकृत किया है, इसका सही रूप कोहली के व्यंग्य-निबंधों में देखा जा सकता है। अन्य व्यंग्यकारों के लिए व्यंग्य जहां माध्यम, शैली अथवा रस है, कोहली के लिए वह विधा है। इसी अर्थ में कोहली का व्यंग्यकार अन्य व्यंग्यकारों से विशिष्ट है।

. . . पृष्ठ-98 का शेष

व्यंग्य की आलोचना के लिए भिन्न मानदण्डों की आवश्यकता तथा उसके विशिष्ट कथानक-चरित्र के कारण व्यंग्य रचनाओं को गलत कसौटी पर कसकर उन्हें गलत सिद्ध करने की ओर नरेन्द्र कोहली ने 'व्यंग्यम्' पत्रिका में प्रकाशित अपने लेख, 'आधुनिक व्यंग्य का आख्यान' में आलोचकों का ध्यान आकर्षित किया है। इस लेख में नरेंद्र कोहली ने आख्यान शिल्प की विभिन्न प्रकृतियों पर बल दिया है। इस आख्यान शिल्प के कारण ही व्यंग्य-रचनाओं में क्षेपक को नरेंद्र कोहली ने व्यंग्य रचनाओं के आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार किया है।

नरेंद्र कोहली ने व्यंग्य के उपकरणों के रूप में फंतासी, एब्सर्डिटी, कमेंट्री शैली, कोष्ठक, प्रतीकात्मकता, उपमा, रूपक, मानवीकरण, दृष्टांत आदि का सफल प्रयोग किया है। उनकी भाषा स्पष्ट एवं प्रहारक है। शब्दों का प्रयोग सटीक एवं आवश्यकतानुसार किया गया है। व्यंग्य एवं शिल्प के संतुलन को नरेंद्र कोहली की रचनाओं ने बनाए रखा है। व्यंग्य में शिल्प के विभिन्न कोणों एवं रूपों की प्रस्तुति नरेंद्र कोहली की व्यंग्य-रचनाओं के महत्व को रेखांकित करती है। निश्चित ही व्यंग्यकार की व्यंग्य रचनाओं ने व्यंग्य साहित्य की परम्परा को जीवित रखा है, उसे दृढ़ता एवं नवीनता प्रदान की है।

मनहर चौहान

मेरा प्रिय कहानीकार

नरेंद्र कोहली मेरा मित्र है और प्रिय कहानीकार भी।

मैं लगातार सावधान रहा हूं कि नरेंद्र की रचनाएं कहीं मैं इसीलिए तो पसंद नहीं करता कि वह मेरा मित्र है? इसी सावधानी के कारण नरेंद्र का सबसे कड़वा आलोचक भी मैं हूं। उसकी कुछेक रचनाएं पढ़कर मैंने यहां तक कहा कि ये तुम्हारे नाम से छपनी ही नहीं चाहिए। मगर जब वे रचनाएं छपीं तो उन्होंने नरेंद्र को न केवल साहित्यिक प्रतिष्ठा दी, उसे चमत्कारिक लोकप्रियता का वरण करने का भी अवसर दिया। वियतनाम युद्ध की विभीषिका का चित्रण करी नरेंद्र की छोटी-सी कहानी 'किरचें'।

किसी ने कहा है- मित्र के यप में वही स्वीकृत होता है, जो स्वयं का प्रतिरूप हो। लेखक और व्यक्ति, दोनों रूपों में मैं और नरेंद्र सचमुच काफी ज्यादा समानांतर हैं।

नए-पुराने किसी भी लेखक को स्व से उबरने की जिस कठिन परीक्षा का सामना करना पड़ता है, उसमें अधिकांश लेखक असफल हो जाते हैं। सव से उबरकर 'हटना' अथवा स्व के बारे में परे हटकर किसी अन्य व्यक्ति जैसी तटस्थता से लिखना नरेंद्र के लिए अब इतना सहज हो गया है कि मुझे गई बार उससे ईर्ष्या हुई है। स्वानुभवों को रचनायित करने से कई बार मैं केवल इसलिए कतरा गया हूं कि मुझे भय लगा है, बार मैं केवल इसलिए कतरा गया हूं कि मुझे भय लगा है, 'कहीं मैं तटस्थ न रह पाया तो?' किंतु नरेंद्र बड़ी दिलेरी के साथ इस भय से अपरिचित हैं। अत्यंत सहजता से वह स्वानुभवों को न केवल रचनायित करता है, उन 'संस्मरणात्मक कहानियों' में स्वयं अपना मजाक भी उड़ाया है। नरेंद्र की रचना 'अस्पताल', जिसे वह अपने कई एब्सर्ड उपन्यासों में से एक मानता हैं, इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। (जापान में कहावत है कि जो अपना मजाक स्वयं उड़ा सकता है वह महान है) आज शाद ही कोई युवक लेखक ऐसा ही जो अपनी 'संस्मरणात्मक कहानियों' में स्वयं का मजाक उड़ा सकता हो। आत्म-संस्मरणों को कथा का बाना पहनाते समय हमारे प्रायः सभी लेखक

वास्तव में एक ही दुहाई देते हैं कि जिस पात्र का यह संस्मरण है, वह पात्र कहीं से भी गलत नहीं था, गलत पात्र के आस-पास की दुनिया थी, किंतु उसी गलत दुनिया ने उस सही पात्र को गलत समझा और गलत सिद्ध भी कर दिया। जबकि नरेंद्र की एक भी रचना ऐसी नहीं है, जिसमें प्रमुख या अप्रमुख पात्र, दुहाई देने की मुद्रा में पाठक के सामने प्रस्तुत होते हैं।

नरेंद्र के सभी पात्र इतनी क्रूर तटस्थता के साथ कुछ इस तरह चित्रित किए गए होते हैं कि उनकी सरलता की कई बार चाणक्य-नीति जैसी तीखी धार का आभास देने लगती है। 'परिणति', 'सार्थकता', 'किस्सा' पुरानी यारी का', 'अस्पताल', 'मोहल्ला', 'द कॉलेज' आदि अनेक रचनाएं इसकी साक्षी हैं।

हिंदी में 'एब्सर्ड उपन्यास' केवल नरेंद्र ने लिखे हैं। वे नरेंद्र की प्रयोगधर्मिता, साहसिकता के परिचायक हैं उन रचनाओं द्वारा नरेंद्र ने सिद्ध किया है कि केवल शब्द-संख्या अथवा पृष्ठ-संख्या अधिक होने से कोई रचना उपन्यास हो सकती है, यदि उनके कथ्य का फलक पर्याप्त विस्तार व तीक्ष्णता रखता हो। नरेंद्र के 'एब्सर्ड उपन्यास' शब्द-संख्या में किसी कहानी से ज्यादा न होते भी बाकायदा परिच्छेदों में बंटे हुए हैं- यदि नरेंद्र चाहता तो उन सूक्ष्म परिच्छेदों को 'झंझावातित' कर दीर्घ परिच्छेदों में रूपांतरित कर सकता था। तब उसका एक 'एब्सर्ड उपन्यास' एक चुस्त उपन्यास होता। किंतु गागर में सागर (पुरानी कहावत के इस्तेमाल के लिए 'नए लोग' क्षमा करें) भरने का जो कमाल नरेंद्र को हासिल है, उसका परिचय तब कैसे मिल पाता?

समय के साखी
प्रगतिशील साहित्यिक मासिक
संपादक
डॉ० आरती
संपर्क
बी-३०८ सोनिया गांधी काम्पलैक्स
हजेला आस्पताल के पास भोपाल-३

'शब्द शिखर'
साहित्य संस्कृति एवं जनचेतना की पत्रिका
संपादक
आनंदप्रकाश त्रिपाठी
संपर्क
कथायन, पटेल का बगीचा
यादव कोलोनी, सागर-470001

रमेश सोबती

साहित्यकार का व्यक्तित्व ही विधा है : नरेंद्र कोहली

'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और सामाजिक दायित्व' विषय पर महाराजा हरिश्चन्द्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय मुरादाबाद में 'संस्कार भारती' के तत्वावधान में आयोजित दो दिवसीय 10-11 फरवरी 2001 राष्ट्रीय संगोष्ठी में मुझे भी इसी विषय पर अपना आलेख पढ़ने के लिए डॉ. महेश दिवाकर अध्यक्ष 'साहित्य कला मंच मुरादाबाद' ने आमंत्रित किया था और इसी राष्ट्रीय संगोष्ठी में वरिष्ठ साहित्यकार, उपन्यासकार एवं व्यंग्यकार डॉ. नरेंद्र कोहली अध्यक्ष थे। इस आयोजन के मुख्य अतिथि के रूप में स्वतंत्रता सेनानी पं. वचने त्रिपाठी आमंत्रित थे। मेरी पहली भेंट इस समारोह में डॉ. नरेंद्र कोहली से हुई थी। उन्होंने मेरे तीसरे काव्य संग्रह 'अनुभव में उतरते हुए' का विमोचन इसी मंच पर किया था। वहां अध्यक्षीय भाषण में डॉ. कोहली ने कहा था कि 'जीवन को खण्डों में विभाजित करके नहीं देखा जा सकता, कुछ भी कहना संवाद तो हो सकता है पर अभिव्यक्ति वही होती है जिसका सृजन साहित्यकार के मन में हो चुका होता है। प्रकृति के नियम मनुष्य के स्वभाव को नहीं बदल सकतें अभिव्यक्ति के संबंध में सर्वोपरि नाम महाऋषि बाल्मीकी जी का है। वे चिंतन, मनन और साधना से अपने मन को इतना निर्मल कर चुके थे कि वे आखेट द्वारा क्रोधी पक्षी के वध को बर्दाश्त नहीं कर सकते और उस समय उनके मुख से जो श्लोक निकले वो अनुष्टुप छंद में थे तथा स्वयं ऋषि इस बात पर मुग्ध हो गए कि मैंने यह क्या कह दिया? ये क्या अभिव्यक्त हो गया? यह साधारण चीज नहीं है यह केवल शब्द अनर्गल शब्द या सामान्य शब्द नहीं है। यह सामाजिकबोध ही तो है, ईश्वर ने प्रतिभा दी है, अद्‌भुत विधि मेरे हाथ आई है। उन्होंने श्रीराम के चरित्र का वर्णन इसी छंद में किया। यानि अभिव्यक्ति जब होगी तो साधारण जन के चरित्र, दुराचार व्यभिचार की अभिव्यक्ति नहीं होगी, वह किसी ऐसे असाधारण देव पुरुष के अवतार की अभिव्यक्ति होगी जोकि समाज के लिए कल्याणकारी हो। यही वाल्मीकी ने सोचा, क्योंकि शब्द की साधना ही अभिव्यक्ति की साधना है। यही कारण है कि डॉ. कोहली की रचनाओं में चाहे वह व्यंग्य रचनाएं ही क्यों न हो करूणा का स्वर विद्यमान है।

'इतना मत रोना राधे' डॉ. कोहली की पहली व्यंग्य कविता है जिसमें कृष्ण के विदेश गमन पर गोपियों के असंतुलित रुदन से लेकर देश की सेवा के नाम पर बच्चे बांध-बंधवाने वाले ठेकेदारों, इंजीनियरों तथा मंत्रियों इत्यादि के प्रति अपना आक्रोश वक्रतापूर्णक प्रकट किया गया है। यह कविता उन्होंने भाखड़ाबांध में दरार आ जाने के कारण दुखी हो कर लिखी थी। कविता, कव्य गोष्ठियों में बहुत सराही गई परंतु प्रकाशित नहीं हुई। बाद में इस कविता को एक गोष्ठी में व्यंग्य रचना स्वीकार कर लिया गया। इस कविता को उन्होंने गद्य में लिखा और कविता लिखना छोड़ दिया। 'अस्पताल' तथा 'एबसर्ड उपन्यास' तथा अन्य व्यंग्य रचनाएं लिखने से पूर्व एक लंबी चुप्पी रही और इस बीच 'आतंक' लिखा जिसमें व्यंग्य का नामों निशान तक दिखाई नहीं देता। एक लंबे अंतराल तक व्यंग्य लेखन सुप्त रहा। डॉ. कोहली वेद व्यास क तरह योग की स्थिति में आधुनिक घटनाओं पर विचार करते रहे और योगस्थ अवसाा में जो कुछ लिखा पाठकों ने खूब सराहा। उन्होंने लिखा 'महाभारत हमारा काव्य है, हमारा इतिहास है, हमारा आध्यात्म है, हमारा दर्शन है, इसीलिए हजारों वर्षों से वह चला आ रहा है और हम सभी उससे संस्कार ग्रहण करते हैं। जिस समय गोस्वामी तुलसीदास लिख रहे थे उन्होंने किसकी उपासना की? सबसे पहले शिव्त्व शिव की उपासना की। शिव शक्ति के बिना रामभक्ति नहीं मिल सकती वे यह कहते हैं कि जब तक राचरित्रमानस पर शिव के हस्ताक्षर नहीं हो जाएंगे। तब तक यह अभिव्यक्ति सार्थक नहीं होगी। शिव के हस्ताक्षर होने का क्या तात्पर्य है। सामाजिक बोध, शिवत्व, जनकल्याणकारी जिससे किसी की हानि न हो।'

पहली संतान की मृत्यु के बाद दूसरी संतान की अस्वस्थता का दुख और मृत्यु से जुड़ी जिंदगी की कई प्रकार की भयभीत स्थितियों का सामना उनको करना पड़ा। उनके मन में जो व्यथा हुई उसकी असहृदयता ने उनके व्यक्तित्व की वक्रता को फिर शब्दायमान कर दिया और अपने को सहस करने के लिए व्यक्तिगत अनुभवों पर कटाक्ष किए। अपनी ही पीड़ाओं का मज़ाक उड़ाया। अपने ही जख्मों पर नमक छिड़का और इसमें स्वयं को केन्द्रित किया। अस्पताल, आश्रितों का विद्रोह शंबूक की हत्या जैसी व्यंग्य रचनाएं लिखीं। आश्रितों का विद्रोह में डॉ. कोहली ने अपनी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को काफी तीखा रखा जिसमें शासन द्वारा जनता के साथ किए गए समझौते के प्रति विश्वासघात की पीड़ा को केंद्रीय विचार दिया। इस रचना में लेखक ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि किस प्रकार सरकार जनता की रक्षा हेतु उनके ही धन से पुलिस का संगठन करती है और उसी पुलिस द्वारा जनता का दमन करवाया जाता है। 'दूसरे कगार का निषेद' यह कहानी बहुत साधारण सी है। दामाद अपने ससुर से खफ़ा हैं, वे लोग उसका तिरस्कार करते हैं। जब उसकी पत्नी अपने मायके जाने के लिए तकरार करती है तो वह मना कर देता है, यहां डॉ. कोहली अपने कथानक को पुराकथा से जोड़कर शिव-पार्वती के प्रसंग को ले आते हैं– जैसे दस के यज्ञ में पार्वती जाना चाहती है और शिव कहते हैं कि बिना निमंत्रण के नहीं जाना चाहिए। यहां डॉ.

कोहली का अपने व्यक्तितव में पुराकथाओं और उस चरित्र के प्रति आकर्षण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। 'शंबूक की हत्या' नाटक में भी पुराकथाओं और उस चरित्र के प्रति आकर्षण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। 'शंबूक की हत्या' नाटक में भी पुराकथा का एक प्रसंग लिया है। शंबूक एक महत्वपूर्ण व्यंग्य कृति है, रामकथा का शंबूक बिलकुल नहीं यानि कि वह न रामकथा का ब्राह्मण है और न ही कोई घटना है।

डॉ. नरेंद्र कोहली प्रयोगधर्मी व्यंग्य-शिल्प के सर्जक हैं। सन् 1978 में आधुनिक लड़की की पीड़ा, सन् 1973 में आश्रितों का विद्रोह, सन् 1970 में जगाने का अपराध, सन् 1973 में त्रासदियां और शंबूक की हत्या 1975 जैसी व्यंग्य कृतियों के माध्यम से व्यंग्यजगत में अपनी ख्याति अर्जित की। उन्होंने हिंदी व्यंग्य को निबंध, कथा, त्रासद शैली, एब्सर्ड शैली और नाटकीय शैली द्वारा विभूषित किया है। व्यंग्य शिल्प से संबंधित विविध नवीन प्रयोग इनके व्यंग्य की विशेषता है। डॉ. प्रेमजनमेजय लिखते हैं, 'शिल्पगत वैविध्य का हिंदी व्यंग्य साहित्य में अभाव रहा है, परंतु इस अभाव को डॉ. कोहली के व्यंग्य साहित्य ने तोड़ा। इनका व्यंग्य वैचारिक गरिमा से मंडित है साथ ही इसमें आत्मपीड़ा के दर्शन होते हैं आक्रोश इसी पीडत्र को व्यंग्य द्वारा अभिव्यक्त कर देता है। सांस्कृतिक पतन, फैशन, आधुनिकता, शिक्षाजगत की हास्यस्पदताओं, प्रशासनिक भ्रष्टाचार, लोकतंत्रीय विडम्बनाओं के साथ ही परिवार, साहित्य जगत, पुलिस शासन आदि को उन्होंने व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है। द्विअर्थपरक शैली-विन्यास द्वारा व्यंग्य को कथ्यानुरूप शिल्प प्रदान किया है।'

डॉ. कोहली ने अपनी व्यंग्य रचनाओं में रामायण तथा महाभारत के पात्रों का प्रयोग किया और उनमें भक्ति का मुखर होना भी स्वाभाविक हो गया। वे बेशक पाठकों की दृष्टि में अपनी रचनाओं में मिथकों का प्रयोग करते हैं पर वे उन्हें मिथक न मानकर पुराकथा कहते हैं। पुराकथा को वे इतिहास से जोड़ते हैं और इतिहास के साथ-साथ कल्पनाएं उनकी रचनाओं में अपने आप जुड़ जाती हैं लेकिन रामायण तथा महाभारत के चरित्र विशेषकर नायकों को वे श्रद्धेय तथा आदरणीय, पूज्यनीय कुछ भी कह देते हैं। यही उनकी रचनाओं की विशिष्ट शैली है जिसे वे व्यंग्य में निर्मित करते हैं और व्यंग्य प्रभावशालीता से सराबोर हो जाता है। कहीं-कहीं राजनीति उनके व्यंग्य का प्रतिपाद्य है। धार्मिक अंधविश्वास सांस्कृतिक अवमूल्यन तथा भारतीय समाज पर उन्होंने जो व्यंग्य कसे हैं बहुत धारदार तरीके से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

डॉ. कोहली एक साक्षात्कार में व्यंग्य विधा पर स्पष्टीकरण देते हैं कि व्यंग्य लिखना मेरी मजबूरी नहीं है। अपनी लेखनाकांक्षा की तृप्ति में कहानियां, निबंधों और उपन्यासों के माध्यम से भी कर लेता हूं। व्यंग्य तभी लिखता हूं, जब केवल व्यंग्य लिखने के लिए मेरे पास कुछ नया हो। लिखने को नया हो तो शिल्प भी बन जाता है। यही कारण है कि मैंने व्यंग्य-लेखन के निबंध, कहानी, एब्सर्ड उपन्यास, फंतासी उपन्यास तथा नाटक के शिल्प का प्रयोग किया है।' उन्होंने विविध प्रयोगों को शिल्प के रूप में ग्रहण किया है। वे मानते हैं कि केंद्रीय विधा एक ही है- व्यंग्य। वे अपनी बात को स्पष्ट करते हुए विस्तारपूर्वक कहते हैं कि 'कुछ लोगों को व्यंग्य को स्वतंत्र विधा मानने में आपत्ति हो सकती है। अतः व्यंग्य को स्वतंत्र विधा के रूप में मान्यता देने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि 'विधा' अपने आप में क्या है? साहित्य की विभिन्न विधाओं के भेद पर विचार करते हुए, मुझे सदा यही लगता है कि विधाओं के भेद का मूल कारण, साहित्यकारों के व्यक्तित्व का भेद है। विधा की शर्तें, साहित्यकार के व्यक्तित्व की शर्तें ही हैं। यदि साहित्यकार के व्यक्तित्व में बिंब प्रधान हो, तो वे कवि होता है, घटना प्रधान हो तो कथाकार, विचार प्रधान हो तो निबंधकार- ठीक उसी प्रकार साहित्यकार के व्यक्तित्व में यदि आक्रोश की वक्रता प्रधान हो तो वह व्यंग्यकार होता है।' डॉ. कोहली के व्यक्तित्व में बिंब की प्रधानता नहीं के बराबर है लेकिन घटना, विचार तथा वक्रता की प्रधानता प्रचुर मात्रा में है। उन्होंने बहुत से उपन्यास लिखे, कहानियां लिखी, निबंध भी लिखे तथा व्यंग्य रचनाएं भी। उनका व्यक्तितव बहुआयामी है इसमें कोई संशय नहीं है। रामकथा, कृष्णकथा तथा विवेकानंद कथाएं भी लिखीं। उनकी सपाटबयानी भी व्यंग्य कहलाती है। उनका व्यंग्य सामाजिक सच व्यंग्य है तथा आम आदमी की व्यथा भी व्यंग्य है। डॉ. कोहली व्यंग्यकारों में विशिष्ट हैं।

एन.आर.आई एवेन्यू
सुखचै

. . . पृष्ठ-99 का शेष

वह प्रस्तावना न होकर प्रस्ताव लगता है। रंगशाला में पूर्ण अंधकार से प्रकाश आने पर ब्राह्मण का सड़क पर निकलना रंग-निर्देश मानो किसी कहानी का भाग बन गए हैं।

संवाद अत्यंत विस्तृत है। दो-दो पृष्ठों के संवादों से नाटक बोझिल हो उठा है। संवाद दर संवाद नाटक में बहते रहे हैं जिनमें नाटकीयता नहीं है, अपितु किसी जासूसी उपन्यास-सा सतही आनंद है।

नाटक को अभिनीत करने के लिए निर्देशक के लिए बहुत परिश्रम अपेक्षित है। दृश्यबंध योजना प्रतीकात्मक ही दिखाना होगा, यथार्थवादी नहीं। यथार्थवादी दिखाने के लिए नाटक में रंगोपकरणों की संख्या अत्यधिक होगी। प्रतीकात्मक शैली से ही काम लेना होगा।

प्रकाश के निर्देश नाटककार ने अच्छे दिए हैं। प्रकाश के माध्यम से रामयणकालीन तथा समकालीन भारतीय स्थितियों की तुलनात्मक रंग-प्रस्तुति एक साथ मंच पर घटित दिखाई जा सकती है।

संगीत के निर्देश नरेंद्र कोहली ने नहीं दिए हैं। संगीत इस नाटक में काफी कुछ कर सकता है। अनेक प्रभावों को संगीत द्वारा उभारा जा सकता है। यही बात ध्वनि-योजन के साथ भी जुड़ती है।

यद्यपि पौराणिक संदर्भों को लेकर साठोत्तरी हिंदी नाटक काफी समृद्ध हुआ है- 'अंधायुग' जिनमें से प्रमुख है। परंतु नरेंद्र कोहली नाटक के स्तर पर इसका उपयोग नहीं कर पाए हैं।

प्रस्तुत नाटक एक पाठ्य नाटक के रूप में अधिक प्रभावित करता है। इसका वाचन और पाठन दोनों ही रुचिकर हो सकते हैं परंतु दृश्य होने पर अभी नरेंद्र कोहली इसे सुदृढ़ नहीं बना सके, इसके बाद वे उनके दोनों नाटकों में रंग-संभावनाएं अपरिमित हैं।

17 सी, हिंदू कालेज स्टाफ क्वार्टर, दिल्ली
विश्वविद्यालय दिल्ली-110003

सविता राणा

सामयिक विसंगतियों का दर्शन

कोहली जी के व्यंग्य व्यक्तित्व की विशेषता है कि वह अनावश्यक रूप से लक्ष्य की परिधि को वृहत् नहीं करते हैं वे तो गंभीर विसंगति केंद्रित व्यंग्य लेखन के पक्षधर हैं। उनका मानना है कि व्यंग्य हंसने-हंसाने की वस्तु न होकर समाज में गहराई तक अपनी पकड़ बनाए विसंगतियों पर प्रहार करने का कुठारा है। कोहली जी इस कुठारे का प्रयोग अधिकांश स्थानों पर अव्यवस्था के सीने पर घत करने के लिए करते हैं। डॉ. कोहली का साहित्य कालजयी कहा जा सकता है क्योंकि जब तक साहित्य में विशुद्ध व्यंग्य अपना स्थान बनाने में विवशता महसूस करता है, तब तो जीवन में स्थितियां और अधिक जटिल हो जाती हैं। आज सत्य, स्पष्ट और बिना लाग-लपेट के कही जाने वाली बातें किसी को नहीं सुहाती, वैसे भी यदि उस पर फ्लेवर न लगा हो। यद्यपि ऐसा नहीं है कि कोहली जी मीठा नहीं बोलते परंतु उनकी मान्यता है कि सीमा से अधिक बोला जाने वाला मीठापन झूठ को बढ़ावा देता है। इसीलिए समाज में अत्याधिक मीठा बोलने वाले लोगों को कृत्रिम अति शिष्ट मानकर धिक्कारने में संकोच नहीं करते। अपनी इसी अवधारणा के कारण उनकी नेचर सीधी और खरी बात कहने की है। अत: नरेंद्र कोहली के व्यंग्य में प्रतीकात्मक, विविधात्मक, तटस्थात्मक तत्वों की प्रधानता है। उन्होंने हिंदी व्यंग्य साहित्य की एकरसता को विभाजित करके नयी-नयी दिशाओं में प्रवाहित किया है। कोहली जी ने अपनी रचनाधर्मिता के द्वारा समसामयिक जीवन में व्याप्त विषमताओं पर साध-साधकर तीर चलाए हैं। व्यंग्यकथाओं में प्रसंगवक्रता, विदग्धता ओर विसंगति की सूक्ष्म पकड़ सर्वदा लक्षित होती है। अपनी रचना 'कबूतर' के माध्यम से डॉ. नरेंद्र कोहली ने भारतीय राष्ट्र राज्य की वास्तविक वस्तुस्थिति का चित्रण बड़ी ही सरल और सुरुचिपूर्ण आख्यानों के रूप में किया है। महात्मा गांधी ने देश को आजाद कराने के लिए जन-जागरण अभियान चलाया, पूरे राष्ट्र को एकसूत्र में बांधा। रामराज्य के रूप में अपने देश में आचार-विचार, चरित्र, आदर्श, कर्म की प्रधानता का एक आदर्श गांधी जी ने समाज के समक्ष रखा। पंचायती राज व्यवस्था, कुटीर ग्रामोद्योग, सबको शिक्षा, सबको चिकित्सा का जो सपना गांधी जी का था उसी को 'गांधी दर्शन' के रूप में जाना जाता है। परंतु हम आज भी अपने शासकों के अधीन हैं। पहले शासक विदेशी थे परंतु अब स्वदेशी हैं। गांधी दर्शन को इस भ्रष्ट शासन तंत्र ने नष्ट-भ्रष्ट करके तार-तार का दिया है। देश के नेता भ्रष्ट, चरित्रहीन, व्याभिचार में लिप्त हो गए हैं। मंत्री लोग खूब देश को लूट रहे हैं, जनता को गुमराह कर रहे हैं। गांधी जी के पंचशीलों का उपहास उड़ाया जा रहा है। आज भी हिंदी उपेक्षित तिरस्कृत है। पुलिस की मनमानी है। अफसरों की बंदरबाट है। देश की अस्मिता खतरे में है और देश का नेतृत्व आज जनता के लिए विदेशी शासकों के समान हो गया है। इस सारी विद्रूपपूर्ण परिस्थिति को कोहली जी कबूतर और गांधी संवाद के माध्यम से कहते हैं, गांधी जी ने कबूतरों को हंसते कीाी नहीं देखा था। वे बड़े हैरान हुए, उन्होंने पूछा, 'हंसते क्यों हो?'

'मुझे पता नहीं', कबूतर बोले, 'कि अब सारा देश एकमत से यह चाहता है कि तुम्हारे शिष्य देश को छोड़ जाए। यदि हमारे कारण तुम्हारे शिष्य देश को छोड़ गये तो समझो कि हमने देश को दूसरी बार मुक्त किया।'

'यह बात है?' गांधी जी ने पूछा।

'हां' कबूतर बोले, 'और यह मत सोचो कि तुम्हारे शिष्ट देश को छोड़ जायेंगे। अंग्रेजों में लाज शरम थी। तुम्हारे शिष्यों में कुछ नहीं। वे तो इस देश को ऐसे चूस रहे हैं, जैसे कुत्ता हड्डी को चूसता है।'

'पर तुम कहीं और बीट क्यों नहीं करते?' गांधी जी ने झल्लाकर कहा, 'कहां करें?' कबूतरों ने जोर से पंख फड़फड़ाए, 'तुम्हारे पत्रों ने सारे देश को इतना गंदा कर रखा है कि उतनी गंदी जगह पर बीट करते हमें शरम आती है।'

डॉ. नरेंद्र कोहली स्वभाषा, स्वदेश, स्वधर्म, आत्मसम्मान के प्रबल समर्थक हैं। अपने समस्त रचनाधर्म में ये परिलक्षित होता है कि देश समाज में जहां भी वे इन पर आक्रमण होता देखते हैं वे तुरंत तिलमिला जाते हैं और इन विकृतियों पर तेजाब में भिगो-भिगोकर व्यंग्य बाण चलाते हैं। उनकी रचना 'एक और लाल तिकोन' इसका उदाहरण है जिसके माध्यम से वे यह दिग्दर्शन कराते हैं कि आज अपने देश में हिंदी बेगानी हो गई है और अंग्रेजी यहां की साम्राज्ञी बनकर अपना वर्चस्व दिखा रही है। अंग्रेजी ही शिक्षा का माध्यम है, अंग्रेजी ही रोजगार प्रदान कराने वाली है। अंग्रेजी रुतबा बढ़ा रही है। अंग्रेजी ही फाइव स्टार होटलों में वेटर और टूरिस्ट प्लेसों पर गाइड बनवा रही है। अंग्रेजी भाषा के सामने अपने देश की सभी भाषाएं बोनी हो गयी हैं। अंग्रेजी से ही बड़े लोग खास और आम का अंतर बनाए हुए हैं। अंग्रेजी के माध्यम से हम पर विदेशी सांस्कृतिक आक्रमण हो रहे हैं। खानपान, वेशभूषा, आदर्श, मूल्य सभी कुछ इस अंग्रेजी ने बदल दिए हैं। अंग्रेजी देश की सभ्यता संस्कृति को बदलने का मुख्य कारण बन गई है। उनकी प्रमुख रचना 'एक और लाल तिकोन' इन सब विद्रूपों का खुलासा करती है। इसी के एक अंश में कोहली जी कहते हैं, 'जनसंख्या कितनी भी बढ़ती, कुछ नहीं होता', वे बोले, 'यह तो हायर सैकेण्ड्री वालों ने अंग्रेजी का लाल तिकोन हटाकर अच्छा नहीं किया। मैं कहता हूं, हर परीक्षा में अंग्रेजी के छह परचे रखो और हर विषय

में अध्ययन का माध्यम अंग्रेजी हो। एक ही वर्ष में यूनिवर्सिटी में परिवार नियोजन न हो जाए तो मुझे कहना' यह उच्च शिक्षा के कुरूप को आइना दिखाता है।

हिंदी साहित्य में उच्च कोटि का हास्य-व्यंग्य कमतर लिखा गया है। इसका कारण इसकी जटिलता है परंतु नरेंद्र कोहली ने इस प्रकार के व्यंग्य लेखन में अपनी महारत दिखाई है। बिल्कुल नवाधुनिक राजनैतिक विषयों पर इस प्रकार का अनूठा लेखन करके न केवल इस विधा को नयी जमीन उपलब्ध कराई है वरन् विसंगतियों पर गहरी मार की है। डॉ. कोहली की रचनाओं को पढ़ना एक विशिष्ट अनुभूति से सराबोर होना है। पाठक उनकी रचनाओं को पढ़कर यह सोचने के लिए विवश हो जाता है कि आखिर इसका उपचार क्या है? डॉ. कोहली ने साहित्य जगत की विसंगतियों को बड़े ही रोचक रूप से अपनी रचना 'साहित्यकार' में उद्घाटित किया है। वे प्रचलित व्यवस्था का जीवंत वर्णन करके अपने को एक मौलिक और गंभीर चिंतक के रूप में स्थापित करते हैं। सरकार द्वारा प्रायोजित कार्यक्रमों के अध्यक्ष, मुख्यअतिथि, शासकीय उच्चाधिकार, प्राप्त समितियों के सदस्य नि:शुल्क विमान यात्राएं, गाड़ी घोड़ा, बंगला, नौकर-चाकर, सचिवालय आदि पाने के वे ही तथाकथित महान साहित्यकार अधिकारी हो सकते हैं। कोहली जी इन उच्च मानदण्डों के विषय में निर्भीकता से कहते हैं, 'तो इसमें गलत क्या है?' प्रस्तावक उखड़ गए, 'वे साहित्यकार हैं। साहित्यकारों के नेता हैं। पैसा है, सम्मान है, बड़े लोगों से मेल-जोल है। संध्या समय जमकर पीते और लुढ़कते हैं। हर लेखिका को अपनी सम्पत्ति समझते हैं, बड़े-बड़े बाल रखते हैं और उनमें से किसी एक को भी सफेद नहीं होने देते। नफीरी बजाने वालों की बंडी पहनते हैं और प्रसन्न रहते हैं। सैंकड़ों समितियों के अध्यक्ष हैं। सैंकड़ों के सदस्य हैं। सरकारी पैसे से खाते-पीते और मौज मनाते हैं। बड़े साहित्यकार वे नहीं तो आप होंगे? आपमें है हिम्मत सरकार को चूना लगाने की? कोहली जी अपनी बेबाक टिप्पणियों के लिए विख्यात हैं। वे मुफ्ती मोहम्मद सईद आतंकवादियों को छोड़ेंगे, कुछ भारतीयों की पाकिस्तान के साथ अच्छा व्यवहार करने की वकालत, वीरप्पन को रिश्वत देकर उच्च पुलिस अधिकारी को छुड़ाने आदि समसामयिक घटनाओं के विषय में स्पष्टता से लिखते हैं और वास्तविकता को आइना दिखाते हैं। पाकिस्तान के विषय में उनका मत है, 'अरे उसका तो व्यवसाय ही है, इस्लाम के लिख खतरे खोजना। उन्हें खरीदना, उन्हें बेचना। उसका उपयोग है जेहाद का उत्पादन। उसकी खेती है पड़ोसी से घृणा। यह देश घृणा के आधार पर जन्मा है। घृणा के खास लेकर जी रहा है और घृणा की मौत मरेगा। आप चाहते हैं कि वह प्रेम करे और बेमौत मर जाए।'

इसी प्रकार कर्नाटक में एक उच्च पुलिस अधिकारी का अपहरण होने के बाद असहाय कर्नाटक सरकार कुख्यात दस्तु सरदार वीरप्पन को मुंहमांगी धनराशि देकर अपहरित अधिकारी को मुक्त कराती है। इस घटना पर कोहली जी अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए कहते हैं, 'नहीं! मैं अपने देश के दूतावास से बोल रहा हूं। अभी-अभी हमारे राष्ट्रपति का फोन आया है कि वीरप्पन को खरीद लो 'उर वाले ने कहा, 'वह हमारे बड़े काम का हो सकता है। हम उससे तुम्हारे प्रधानमंत्री का अपहरण करवाना चाहते हैं। घबराओं मत। हम तुम्हारे प्रधानमंत्री को मारेंगे नहीं। बस, कुछ फिरौती लेकर छोड़ देंगे। तुम्हारे यहां फिरौती में बहुत कुछ देने कीह परम्परा है।' मुफ्ती मोहम्मद सईद के जम्मू कश्मीर के मुख्यमंत्री काल में धार्मिक वैमनस्य फैलाने, आतंकवादियों से सांठगांठ करने, हिंदुओं के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार करने पर डॉ. नरेंद्र कोहली कहते हैं, 'देखिए! आप दूसरों के मजहब का सम्मान करना सीखिए।' मुफ्ती साहब भी कुछ नाराज होकर बोले, 'वे लड़के जेलों में रहेंगे तो रोजा कैसे रखोगे? इबादत कैसे करेंगे?'

'मैं भी तो यहीं कर रहा हूं।' राम सुभाया ने कहा, 'दूसरों के धर्म का सम्मान करना सीखिए। रमजान का महीना है तो आपके वे लड़के जिनके लिए आप एकतरफा युद्ध विराम चाहते हैं- दूसरों से प्रेम करने के स्थान पर हथियार लेकर निहत्थे, निरपराध, निर्दोष और द्वेषहीन लोगों को मारने के लिए मंदिरों में क्यों जा बैठते हैं?'

डॉ. नरेंद्र कोहली तात्कालिक राजनैतिक परिस्थितियों का वर्णन संवादात्मक शैली में एक अनूठे अंदाज से करते हैं। अमेरिका में बिन ओसामा के इशारे पर अलकायदा द्वारा गिराये गये बमों के बाद अमेरिकन सरकार हिल गयी और उन्होंने बिन ओसामा को खोजने का सघन अभियान चलाया। ओसामा पाकिस्तान में आकर छुप गया था जिसको मुर्शरफ का पूर्ण संरक्षण था। इस प्रसंग की कोहली जी ने अपनी रचना 'वह कहां है' में बड़े ही अनूठे तरह से संपादित किया है। उसकी बानगी कुछ इस प्रकार है।

बुश ने कहा, 'या तो मेरी सहायता करो, या फिर तुम्हारी पिटाई होगी। फिर पाकिस्तान की विधवा स्त्रियां भी कहीं भीख मांगेंगी। ऐसे मित्र का मुझे क्या करना है। जो मेरी सहायता न करे, और अमेरिकी स्त्रियों को भी विधवा बनाए।'

मुर्सरफ ने उत्तर दिया, 'मैं तो वैसे ही पिस रहा हूं, जैसे कोई पुरुष अपनी पत्नी और प्रेमिका के झगड़े में पिसता है। इतिहास में काबुल से आए लोगों ने दिल्ली पर शासन किया है। मैं पहला आदमी हूं जो दिल्ली से आकर काबुल पर शासन कर रहा हूं। तुम मरे मित्र होकर भी मेरा भविष्य बिगाड़ना चाहते हो, तो बिगाड़ दो। मुझे मित्रता से प्यारा और कुछ भी नहीं है।'

इसी प्रकार मुर्शरफ और ओसामा संवाद भी स्वार्थपरता का बेजोड़ उदाहरण है। 'देखा!' मुर्शरफ कुछ रूष्ट होकर बोला, 'एक बार इशारा कर दूं कि तुम कहां हो तो ढाई करोड़ डॉलर मेरी जेब में और अरबो डॉलरों के हथियार पाकिस्तान की सेना को मिल जाएंगे। मैं उनका लालच नहीं कर रहा। तुम्हारी मित्रता निभा रहा हूं और तुम भी मुझे सुना रहे हो।'

ओसामा ने अपने साथी को संकेत किया। उसने संदूक खोलकर ढाई करोड़ डालर गिन दिए।

'यह लो, जो तुम्हें अमरीकी काफिरों से मिलना है, वह मैं ही दिए देता हूं।'

ओसामा ने कहा, 'अब बताओ, क्या करना है?' डॉ. नरेंद्र कोहली बहुमुखी आयाम वाले व्यक्तित्व से परिपूर्ण है। उनकी व्यंग्याभिव्यक्ति समाज की सभी प्रकार की विषमताओं को अपने में समेटे हुए है। दैनंदैनिक जीवन में घटित होने वाली घटनाएं जो प्राय: बाह्य रूप में साधारण लगती हैं परंतु आंतरिक रूप में उनके दीर्घगामी परिणाम जटिल एवं विकट होता है पर निरंतर अपनी

लेखनी चलाकर समाज को चेतावनी देने का अपना रचनाधर्म निभाया है। उनके लेखन दायरे में रोजमर्रा की जिंदगी में घटित विभिन्न घटनाएं, पुलि का चरित्र, भ्रष्टाचार, धर्मांतरण, साम्प्रदायिकता, चुनाव, हिंदी-अंग्रेजी समस्या, क्रिकेट संस्कृति, साहित्य, गिरते भारतीय जीवन मूल्य, धार्मिक पतन आदि-आदि अनेकानेक विद्रूप समाहित हैं। कोहली जी के लेखन की यह अद्‌भुत विशेषता है कि वह असलियत का चरित्र-चित्रण कर व्यंग्य-कटार से बार भी करते हैं और हंसाते भी हैं। इनके लेखन कर्म से कुछ अलग सोचने, विचारने एवं करने की प्रेरणा मिलती है। धर्म, दश्रन एवं धर्मांतरण के विषय में कोहली जी कहते हैं, 'हिंदू धर्म तो वही था, जिसमें पादरी रोज दोष दर्शन कर रहे थे और उनको सुनकर माइकल दत्त जैसे विद्वान व्यक्ति ईसाई हो गए थे।' मैंने कहा, 'वही हिंदू धर्म था, जिसके स्वरूप का बखान कर स्वामी विवेकानंद ने सारे विश्व में इस धर्म के श्रेष्ठ होने का डंका पीट दिया था। यह तो देखने वाले की दृष्टि का अंतर है। तुम बुद्धि का प्रयोग करो। दुर्बुद्धि का प्रयोग कर दोष दर्शन क्या करते हो?' डॉ. कोहली देश में पैसे के बल पर लालच देकर गरीबों को लाभ देकर धर्मपरिवर्तन के विरोधी हैं। ईसाई मिशनरियों द्वारा गरीब आदिवासी, बनवासी क्षेत्रों में सेवा के नाम पर हो रहे धर्मांतरण के विरुद्ध भी लिखते रहे हैं। राजनैतिक तुष्टिकरण जैसी भयंकर बीमार पर उन्होंने शरसंधान जमकर किए हैं। हमारे बड़े-बड़े राजनैतिक दलों के नेता अपना वोट बैंक पक्का करने के लिए देश के विभिन्न देशों से ही नहीं वरन बंगलादेश से आए लोगों की दिल्ली, मुंबई, कलकत्ता जैसे महानगरों में झुग्गियां बनवाते हैं, राशन कार्ड उपलब्ध कराए जाते हैं। मुफ्त बिजली, पानी मुहैया कराई जाती है। इस प्रकार ये नेता अपनी वोट अपने लिए आरक्षित करते हैं। सरकारी भूमि, रेलवे की भूमि पर झुग्गी बनाना इनका अधिकार हो गया है। देश एव ंसमाज की व्यवस्था कितनी भी अवरुद्ध हो, इन्हें चिंता नहीं, बस इनकी वोट पक्की होनी चाहिए। इस प्रवृत्ति को वी. पी.सिंह, देवगौड़ा, गुजराल आदि ने अपने प्रधानमंत्रीत्व काल में खुलकर बढ़ावा दिया है। इस प्रवृत्ति को डॉ. कोहली इस प्रकार अभिव्यंजना देते हैं, 'रेल का चलना बहुत जरूरी है?', 'उसने मुझे डांट दिया', 'तुम पूंजीपति हो', गरीबों की झुग्गियों को उजाड़कर रेल गाड़ी चलाना चाहते हो। नहीं चाहिए हमें ऐसी रेल। नहीं चाहिए पटरी। मैं तो चाहूंगा कि हवाई अड्डे की उडनपट्टी पर भी झुग्गी बनाने का अधिकार सबको होना चाहिए। जो चाहे, जहां चाहे झुग्गी बनाएं। तुम्हारे बात की नहीं है जमीन।' इसी क्रम में संसद में होने वाली बहस का नमूना भी देखिए। जब जगमोहन अतिक्रमण हटाने का अभियान चलाते हैं जगमोहन को तोड़ने का शोक है तो ये झुग्गियां क्यों नहीं तोड़ते?' दूसरे सांसद ने क्रोध से उबलते हुए कहा।

'झुग्गियां केसे तोडेंगे, वहां तो वी.पी. सिंह लेटे हुए हैं। गुजराल खड़े हुए हैं। देवगौड़ा अड़े हुए हैं। चंद्रशेखर जड़े हुए हैं। उनके सामने नहीं चली तो इन शरीफ लोगों के बंगले तोड़ने लगे।'

कोहली जी भारतीय अस्मिता के प्रबल समर्थक हैं। वे भारतीय सभ्यता संस्कृति, खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा की सदैव वकालत करते हैं। विदेशी रहन-सहन एवं विदेशी सभ्यता की आंख मींचकर नकल करने के बड़े घोर विरोधी हैं। उनकी यह सोच 'अमरीकन जांघिया' से भली प्रकार समझी जा सकती है। अब हमारे देश के लोग विदेशी वस्तुओं को अपनाने एवं धारण करने को जायज सिद्ध करने के लिए कितने बेतुके तर्क देते हैं, 'बात यह भाईजान' वे बोले, कि यह जांघिया मल्टीपरपज है। इसे नाइटसूट के समान भी पहना जा सकता है, यह ईवनिंग सूट का भी काम देता है, इसे आप सूट के नीचे पहनकर दफ्तर भी जा सकते हैं। यानि जहां जैसे जो सूट करे।'

'तो यह बिल्कुल अमरीकन पॉलिसी के अनुसार ही बनाया गया है।'

डॉ. नरेंद्र कोहली ने भारतीय मानसिकता का विरेचन बड़ी सूक्ष्मता से किया है क्योंकि हम दोहरी मानसिकता का जीवन जी रहे हैं। हम आदर्शवादी भी बनना चाहते हैं परंतु आधुनिक बनने की होड़ में हम अपनी पहचान भी खो रहे हैं। अल्ट्रा मॉडर्न बनने के चक्कर में हम पाश्चात्य संस्कृति को अपना रहे हैं पर कहीं न कहीं हमारे संस्कार हमें रोक भी रहे हैं। इस असमंजस की स्थिति का सजीव चित्रण कोहली जी ने अपनी रचना 'आधुनिक लड़की की पीड़ा' के माध्यम सोद्‌देश्य विश्लेषण किया है कि एक भारतीय लड़की अपने को आधुनिक भी कह रही है, वेशभूषा भी अत्याधुनिक पहन ली है, रहन-सहन भी बदल लिया है। परंतु विवाह स्वयं की इच्छा से नहीं कर पा रही है। रचना का यह अंश स्पष्ट करता है, 'मैं तो अपनी आधुनिकता के लिए बदनाम हूं।' फिर वह हंसी, 'मैंने अपने बाल कटवा दिए हैं। लुंगी और बेलबाटम पहनती हूं। दुपट्टे को एकदम छोड़ दिया है। आप मुझे पिछड़ी हुई कैस कह सकते हैं?' नहीं कह सकता था। बाल कटवा देने पर कोई पिछड़ा हुआ कहीं रह जाता है। बंगाल और तमिल प्रदेश में विध वाएं अपने बाल कटवा देती हैं। वे पिछड़ी हुई का हैं?'

'तो आप आधुनिका हैं और अपनी जाति के पिछड़ेपन से लड़ना चाहती हैं?'

कोहली जी ने अपने लेखन के द्वारा मानवीय पीड़ा की आवाज बनकर संस्कार-भागिता दिखाई है। अपनी रचना 'अस्पताल' के द्वारा उन्होंने स्वास्थ्य जैसे क्षेत्र की भीषण विभिषिका को तार-तार करके रख दिया है। अस्पताल जहां पर मरीज डॉ. डॉ. पुकारता जाता है परंतु जैसे ही वहां पहुंच जाता है, अपने आपको बधशाला में दाखिल हुआ मानता है। डॉ., नर्सों का व्यवहार, दलालों द्वारा शोषण, अस्पताल की बाजारवादी संस्कृति आदि से लड़ते-लड़ते वह हार जाता है और अपने अमूल्य प्राण गंवा बैठता है। परंतु यह स्वास्थ्य उपभोक्ता संस्कृति मरणोपरांत भी उसका पीछा नहीं छोड़ती जब तक कि उसका बिल भुगतान नहीं हो जाता है। बड़ी कारूणिक स्थिति बनती है कि मरीज के घरवाले मृत मरीज का शव भी नहीं ले पाते कि समय पर उसका अंतिम संस्कार कर सकें। क्योंकि उनके पास उनके अनाप-शनाप बिलों का भुगतान करने के लिए पैसे नहीं होते हैं। अस्पताल में मंत्री आते हैं तो सारी व्यवस्था जनसामान्य के लिए ठप्प हो जाती है। मरीजों का इलाज बंद हो जाता है। फलस्वरूप आपातकालीन मरीज तो डॉक्टर को दिखाने से पहले ही दम तोड़ देते हैं। मुख्यमंत्रियों और प्रधानमंत्रियों के आने पर तो और अधि क अफरा-तफरी मन जाती है। जैसे कि कुछ दिन पूर्व पी.जी. आई. चण्डीगढ़ में

प्रधानमंत्री के पहुंचने पर सब कुछ अस्त-व्यस्त हो गया था और किड़नी का एक मरीज अस्पताल के द्वार पर ही दम तोड़ चुका था। रचना की ये पंक्तियां अस्पताल की कार्यप्रणाली का दिग्दश्रन कराती है, 'आपका झंझट खत्म हुआ' नर्स कहती है, 'आपका दूसरा बच्चा भी मर गया। कांग्रेचुलेशन।'

'थैंक्यू!' बच्चे का बाप कहता है, 'भगवान इसी प्रकार सबके बच्चों को मारे। बहुत दिनों से मैं रात को ठीक से सोया नहीं था। अब सोऊंगा।'

'चल चलो। घर चलो।' बच्चे की मां चीखती है। 'आप घर नहीं जा सकते' बड़ी नस आ जाती है। 'पहले हास्पिटल का बिल पे करो।'

कोहली जी की संपूर्ण रचनाधर्मिता व्यवस्था विरोधी एवं मानवीय पीड़ा की अभिव्यक्ति को दर्शाती है। समाज में गहराई तक पैठ बनायी विसंगतियों पर जमकर व्यंग्य वर्षा की है। संस्कृति की होती दुर्गति से वे सदैव आहत होते हैं। स्व का स्वामित्व उनमें कूट-कूटकर भरा है। डॉ. नरेंद्र कोहली ने देश की भयंकर त्रासदी अल्पसंख्यक तुष्टिकरण, ईसाई मुस्लिम हितों की रक्षा के लिए हिंदुओं की अनदेखी करने के विभिन्न कारणों का सिलसिलेवार पोस्टमार्टम किया है। कोहली जी का कहना है पाकिस्ता न का जन्म मजहब के आधार पर हुआ तब फिर क्यों यहां मुस्लिम हितों के लिए हिंदू हितों की बलि चढ़ा दी जानी चाहिए? एक समय सारे विश्व पर राज करने वाले ईसाई, मिशनरियों के द्वारा धर्मांतरण करा रहे हैं। उनकी प्रसिद्ध रचनाएं 'असुरक्षित', 'विश्वबंध ुत्व' एवं 'त्यागपत्र' में कोहली जी इसका खुलासा करते हुए कहते हैं, 'मरा एक भी नहीं और सारे ईसाई असुरक्षित हो गए। यह बात मेरी समझ में नहीं आयी। पंजाब में इतने हिंदू मरे थे, पर तब किसी ने नहीं कहा कि इस देश में हिंदू असुरक्षित हैं। कश्मीर में इतने हिंदू मारे गए और शेष सारे निकाल दिए गए, तब भी किसी को नहीं लगा कि इस देश में हिंदू असुरक्षित है। केरल में हिंदू मरते हैं, तब भी किसी को नहीं लगता कि हिंदू असुरक्षित हैं।' इसी प्रकार 'देखिए वह तो एकतरफा मार्ग है जो हिंदू है, वह ईसाई हो सकता है, पर ईसाई चाहे भी तो हम उसे हिंदू है, वह ईसाई हो सकता है, पर ईसाई चाहे भी तो हम उसे हिंदू नहीं होने देंगे। हम उसका विरोध करेंगे।' पादरी ने कहा, 'आपको विश्वबंधुत्व स्थापित करना है तो आप चर्च में आ जाइए। हम मंदिर में नहीं आएंगे। हमारा विश्वबंधुत्व तो ईसा की छत्रछाया में ही हो सकता है।' सारांश में कहा जा सकता है कि डॉ. नरेंद्र कोहली उस पाए के साहित्यकार है जिन्होंने हिंदी की लगभग सभी विधाओं में अपने उत्कृष्ट कलमकार होने का परिचय दिया है। यहां यह निर्णय कर पाना एक यक्ष प्रश्न है कि वे सर्वश्रेष्ठ क्या हैं? व्यंग्यकार हैं? निबंधकार हैं? उपन्यासकार हैं? कहानीकार हैं? संस्मरणाकार

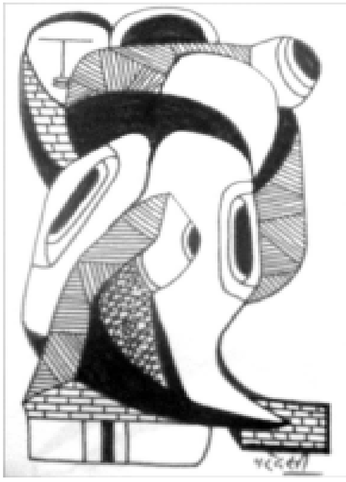

हैं? समीक्षक हैं? अत: एक ऐसे साहित्यकार जिनका सभी विधाओं पर समान अधिकार हैं। वे केवल डॉ. नरेंद्र कोहली ही हो सकते हैं।

डॉ. नरेंद्र कोहली का लेखन मौलिक एवं गंभीर है। उनके व्यंग्यों में समाज की विषादपूर्ण स्थितियों का विदर्शन मिलता है। उनकी कृतियां उच्च कोटि की कृतियां हैं। जिन पर आज के संदर्भों में शोध भी अपेक्षित है।

डॉ. कोहली विराट फलक के लेखक हैं। समग्र एवं संपूर्ण साहित्यकार के लिए जितने विधागत स्थान तथा शैलीगत प्रयोग सोचे नहीं जा सकते वे सब डॉ. कोहली के नाम लिखे हैं। डॉ. कोहली की विचारधारा और उनका व्यवहार उनकी रचनाओं को तराशता है। उनका कृतित्व उनके व्यक्तित्व का दर्पण है। उनके संस्कार, रूचि, स्वभाव उनकी रचनाओं से छनकर पाठकों तक पहुंचते हैं। स्वतंत्र भारती जनसामान्य के अंतर्मन की गहराई तक उतरकर अत्यंत सहजता, स्वाभाविकता, मौलिकता और कलात्मकता के साथ अपनी रचनाओं को अभिव्यक्ति दी है। डॉ. कोहली के पास विषय वैविध्य के साथ ही सम्प्रेषण की भी अनेक भंगिमाएं हैं। वे अपनी रचनाओं में कहीं संवादात्मक शैली और नाट्य शैली का प्रयोग करते हैं तो कहीं मुहावरेदार और अलंकारिक भाषा है। इस प्रकार वे अपनी रचनाओं के माध्यम से एक सूक्ष्म निरीक्षण प्रतिभा का परिचय देते हैं। जो निश्चय ही लक्ष्य साधक है। उनकी रचनाएं हिंदी साहित्य के क्षेत्र में प्रबुद्ध पाठक वर्ग का निर्माण करने में सार्थक सिद्ध हुई है। डॉ. नरेंद्र कोहली ने दिन प्रतिदिन की सामान्य विसंगतियों को भी असामान्य ढंग से चित्रित किया है। साहित्य की स्थापित विधाओं की विभिन्न संभावनाओं का प्रस्तुतिकरण एक साथ करने का सार्थक प्रयास है। सामाजिक विसंगतियों को तीखे अंदाज के साथ उधेड़ा गया है। विद्रूपों को पूर्णरूप से नग्न करके रख दिया है। डॉ. कोहली की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह प्रत्यक्ष चर्चा करके विषय की गंभीरता को बढ़ा देते हैं। उनका लेखन सरल भाषा में जो एक आम आदमी की चेतना को जाग्रत करने की क्षमता रखता है। उर्दू, अंग्रेजी देशज तथा क्षेत्रीय भाषाओं के शब्दों को प्रयोग करके लेखन को सर्वग्राही बनाया है। डॉ. हरीश नवल के शब्दों में 'रामकथा का नरेंद्र कोहली संस्करण अतिलोकप्रिय हुआ था। देश के प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में उनके अंश छपते रहे हैं। अपनी कृष्ण विषयक सोच के साथ 'महासागर' का धारावाहिक लेखन किया। इसको भी पाठकों ने सर्वोच्च प्राथमिकता के साथ लिया। एक समय था जब डॉ. कोहली सर्वाधिक प्रशंसिक नामों में हो गए थे। उनकी रचनाओं ने बिक्री के रिकॉर्ड तोड़ दिए थे। वे स्पष्टवादी हैं तथा इस और अन्य मामलों में भी अतिस्पष्ट हैं। वे सच्चे निर्भीक और बाहर-भीतर एक से रूप वाले हैं जो कहते हैं, कहकर स्वयं करते हैं। डॉ. कोहली को देश-विदेश के बुलावे आते हैं, वे समाचार के यशस्वी पुरुष रहे हैं। मान-सम्मान, पुरस्कार आदि से उनकी झोली सदैव भरी रही है। वे कभी स्वयं पुरस्कार योजना नहीं बनाते। वे एक स्नेही पिता, सहृदय पति,

सहनशील पड़ोसी और संस्कृति के जीवंत वाहक हैं।'

'तोड़ो कारा तोड़ो' नामक उपन्यास चर्चित उपन्यास है। जिसमें विवेकानंद अपने गुरू रामकृष्ण परमहंस के प्रति पूर्ण समर्पण भाव रखते हैं। यह कृति डॉ. नरेंद्र कोहली के व्यक्तित्व की सूचक है। इसी प्रकार उनकी एक अन्यकृति 'अभिज्ञान' भी एक विशिष्ट उपन्यास है। उपन्यास की कथावस्तु के रूप में कर्मसिद्धांत को समझना है। कृष्ण और सुदामा की कथा के माध्यम से प्रकृति की जटिलता के भीतर छिपे रहस्य प्रकट होकर हमें अपने जीवन को देखने की नई दृष्टि देता है। वास्तव में कृति अद्वितीय है।

डॉ. नरेंद्र कोहली एक विचारधारा विशेष से संबद्ध हैं। जो उनके संस्कारों की देन है। वे अतिशिष्ट, संस्कारवान, प्रखर, देशभक्त, जनसामान्य की पीड़ा से द्रवित होने वाले महान साहित्यकार शिखर पुरुष हैं। व्यक्तित्व के ये सभी तत्व उनके लेखन में विद्यमान हैं। अत: वे अपनी बात बेबाक स्पष्ट कहने से नहीं चूकते। यद्यपि ऐसा लिखना खतरों से खाली नहीं है। वे वर्तमान परिस्थितियों में भी पड़ोसी देशों, राजनैतिक दलों, देश के प्रमुख नेताओं, पुलिस की भूमिका, देश की आंतरिक सुरक्षा, आतंकवाद, दस्यु सरदारों आदि पर स्पष्ट रूप से टिप्पणियां करते हैं। जो उनकी निर्भीकता एवं अंत:करण की भावना का ओजस्विता का प्रमाण है। आज के समय जहां साहित्यकार भाट व चरण की श्रेणी में आ गए हैं। पदक, पुरस्कार, सुविधाएं पाने के लिए अपनी आत्मा की आवाज को दबाकर लिखते हैं। ऐसे ही समय में डॉ. कोहली का अपना अलग ही स्थान है। यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगा कि तारामण्डल के बीच वे ध्रुव तारे के समान अपनी अलग ही कांति वाले हैं। उन्होंने इतना लिखा है कि शायद ही किसी विसंगति को छोड़ा हो। मैं उनके साहित्य को समाज का सच्चा दर्पण मानती हूं। उनका संपूर्ण साहित्य दिशाबोध कराता है। युग चेतना को झंकृत करता है। हिंदी साहित्य संसार-सागर में पावन पवित्र गंभीर गंगा की तरह समाहित होकर अमूल्य निधि का रूप धारण करता है।

बी-10, एंड्रूजगंज एक्सटेंशन
नई दिल्ली-110049

के.एल. गर्ग

नरेंद्र कोहली का स्तंभ लेखन

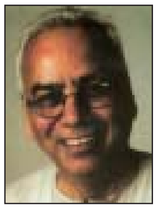

'इश्क एक शहर का' प्रसिद्ध और चेतन्य व्यंग्यकार डॉ. नरेंद्र कोहली की समग्र व्यंग्यावलि का तीसरा खंड है। इसमें एक व्यंग्य-नाटक 'शंबूक की हत्या' और छोटे बड़े व्यंग्य लेख शामिल किए गए हैं।

'शंबूक की हत्या' नाटक रामायण की एक घटना को आधुनिक जीवन और राजनीति के परिपेक्ष में ढालकर नए अर्थों में प्रस्तुत किया गया है। कोई ब्राह्मण अपने बेटे का शव उठाए शहर में आता है। वह इसकी हत्या के लिए शासन के कुकृत्यों और पापों को दोषी ठहराता है। राजसत्ता के विभिन्न तंत्र सेना, पुलिस, न्यूरोक्रेसी (क्लर्क) उसकी समस्या पर ध्यान केंद्रित करने की बजाए, उसे अन्य बातों में उलझाए रखते हैं। डॉ. नरेंद्र कोहली अपनी व्यंग्य दक्षता से समाज में फैली विसंगतियों और शासन के अनाचारों से पर्दा हटाते जाते हैं। शासन के भ्रष्ट किरदार और निकम्मेपन को नंगा करते जाते हैं। कई बार वो वह इतने ऊंचे स्वर में उद्‌घोष करते हैं कि नाटक की अर्न्तात्मा के मुखर और लाउड होने का भास होने लगता है। इस नाटक द्वारा देश का पूरा गला-सड़ा राजतंत्र और दायित्वहीन व्यवस्था नंगी हो जाती है, जिसके समक्ष 'देश का भविष्य' एक बच्चे की लाश केक रूप में पड़ा दिखाई देता है, जिसे देश का बुद्धिजीवी (ब्राह्मण) अपने दोनों हाथों में उठाए दर-ब-दरय फरियाद करता घूम रहा है।

कालम या स्तम्भ लेखन बहुत दुष्कर कार्य है। यह लेखक की मौज या मर्जी से नहीं लिखा जाता। कालम और अड़ियल बालम का एक ही पल, एक छिन बेचैनी लगी रहती है, वह करवट नहीं ले सकता। उसे हड्‌डी टूटे मरीज की तरह सीधा सपाट लेटना पड़ता है। नींद की मर्जी आए आए न आए न आए। सुरसा राक्षसी की तरह लेखक की ओर मुंह फैलाए बढ़ता रहता है। एक को लिखकर निपटाता है तो अगले दिन की चिंता खाने लगती है। कालम लेखन सिर चढ़े भूत के समान होता है। जितनी देर कालम की किश्त न लिखी जावे रेत सर ही खड़ा रहता है। कालम की तलाश दें लेखक पुलिस थाने नेता जी के श्यन-कक्ष, स्टेशन, बस-स्टेंड, औरतों के फैशन-शो, दफ्तरों और पता नहीं कहां-कहां मारा मारा घूमता है। कच्च मसाला मिल जाये तो खैरियत, नहीं फिर वही बेचैरी कालम जल्दी-जल्दी लिखा साहित्य होता है। कॉलम लेखक कभी पीछे मुड़कर नहीं देखता।

डॉ. नरेंद्र कोहली के इस खण्ड में भी अनेकों लेख हैं जो शायद किसी न किसी स्तम्भ लेखन की क्रिया अधीन ही लिखे लगते हैं। कई-कई जगह तो एक-एक तारीख में पांच-पांच लेख लिखे हुए हैं। डॉ. कोहली के पास जीवन का विस्तृत कैनवास और अनुभव है। इसीलिए उनके इन व्यंग्य-लेखों में जीवन के अनेक रंग घुले मिलते हैं। उनका सटाक-चरित्र रामलुभाया जीवन की असंगतियों, विसंगतियों, विद्रूपताओं और मुर्दा हो रहे मूल्यों की पग-पग पर कलई खोलता दिखाई देता है। कालम लेखक को इस बात का पूरा ध्यान रखना पड़ता है कि नये से नये विषय ढूंढे जाएं। पुनरावृत्ति कालम-लेखन का बेसीहापन जाहिर करती है। 'इश्क एक शहर का' के व्यंग्य लेखों में शहर की मुर्दा हो रही संस्कृति के दिग्दर्शन होते हैं। भू-माफिया से लेकर जड़ होते जा रहे नागरिकों को आत्मा-विहीन चेतना के कई रूप इन व्यंग्य-लेखों में स्थान पाए हुए हैं। भ्रष्ट नेता, औरत की दिशाहीन आजादी, दफ्तरी सभ्यता के कुकृत्यों के सटीक रूप इन लेखों में प्रदर्शित हुए हैं।

कालम-लेखन के संबंध में बताए गए, खतरों से डॉ. कोहली कितना बच पाए हैं, इसकी गवाही उनके ये व्यंग्य लेख की देंगे। इन लेखों की पूंछ में ऐसा डंक है जो हमें पीड़ा सहते हुए भी सोचने के लिए बाध्य करता है।

9 किशनपुरा मोहल्ला, डी.ए.वी. स्कूल के पास, मोगा-142001 (पंजाब)

संतोष खरे

एक विशिष्ट लेखक

अपना लेखन प्रारंभ करने से पूर्व और पश्चात जिन व्यंग्य लेखकों की व्यंग्य रचनाओं से मैं प्रभावित और प्रेरित हुआ हूं वे हैं हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी, श्रीलाल शुक्ल और नरेंद्र कोहली। नरेंद्र कोहली की लेखन प्रतिभा का मैं इसलिए भी कायल हूं कि वे व्यंग्य के लेखन में जितने कुशल है उतने ही अन्य विधाओं में। कई व्यंग्य संकलन, व्यंग्य उपन्यास, व्यंग्य नाटक आदि के अलावा उन्होंने रामकथा और महाभारत पर आधारित उपन्यास लिखे हैं जिन्हें पाठकों की व्यापक स्वीकृति मिली है। ऐसा कम ही होता है कि लेखक एक साथ कई विधाओं में लिखकर समान प्रतिष्ठा प्राप्त करे। नरेंद्र कोहली इस मायने में 'विशिष्ठ' हो जाते हैं। 'नरेंद्र कोहली का व्यंग्य संसार' आलेख (सापेक्ष-46 व्यंग्य सप्तक-दो) में सुरेश कांत का कथन है, 'वरिष्ठ व्यंग्यकारों में डॉ. नरेंद्र कोहली कई दृष्टियों में विशिष्ट हैं। एक तो वे व्यंग्यकारों की दूसरी पीढ़ी के मूर्धन्य व्यंग्यकार हैं। दूसरे कविता को छोड़कर साहित्य की सभी विधाओं में उन्होंने सामान्य प्रतिष्ठा पाई है। तीसरे अपनी विचारधारा को लेकर वे अत्यधिक विवादास्पद भी रहे. . .' पर यहां मैं उनके व्यंग्याकार पर बात करूंगा।

नरेंद्र कोहली की पुस्तक 'पांच एब्सर्ड उपन्यास' और 'अस्पताल' पढ़कर मुझे यही लगा था कि इस व्यंग्यकार के लेखन के मूल में व्यक्तिगत जीवन के दुख दर्द, पीड़ा, शोषण और इन सबसे उपजने वाला आक्रोश है। वे व्यंग्य के लिए सत्य का उद्‌घाटन अनिवार्य मानते हैं संभवतः इसी कारण उनकी अमिधा में लिखी गई रचनाएं अपनी स्पष्टवादिता के कारण स्पष्ट प्रभाव छोड़ती है। 'बात तो चुभेगी सं. सुभाष नाहर नवंबर-दिसंबर-1981 में डॉ. नरेंद्र कोहली से डॉ. प्रेम जनमेजय और डॉ. राजेश कुमार की बातचीत के दौरान कहते हैं कि '. . . हमारा जो आधुनिक व्यंग्य है, वह कटाक्ष है और कटाक्ष बिल्कुल विधा में यह स्थितियों की विसंगतियां हैं कि आप उन स्थितियों को सीधा-साधा लिख दे- अमिधा में भी तो कटाक्ष हो जाता है क्योंकि वहां गलत हो रहा है। इसलिए संस्कृत काव्य-शास्त्र के लोग जहां व्यंग्य को व्यंजना से ही जोड़ते हैं, वहां हम बताते हैं कि नहीं साहब, यहां व्यंजना में नहीं, यहां तो अभिधा में भी (व्यंग्य) हो रहा है। लेखक कटाक्ष के माध्यम से सीधा प्रहार कर रहा है। इस रूप में, जैसे काव्य के अलंकार-शास्त्र में स्वाभावोक्ति है कि कृष्ण जो कुछ कर रहे हैं, उसे सूरदास ने सीधा-सादा लिख दिया, तो भी वह इतना सुंदर हो गया कि काव्य हो गया। इसी तरह से व्यंग के क्षेत्र में मुझे लगता है कि विसंगतियां जहां जितनी ज्यादा हो, परिस्थितियों की कि केवल आप उनका सीधा-सादा लिख दिया, तो भी वह इतना सुंदर हो गया कि काव्य हो गया। इसी तरह से व्यंग्य के क्षेत्र में मुझे लगता है कि विसंगतियां जहां जितनी ज्यादा हो, परिस्थितियों की कि केवल आप उनका सीधा-सादा वर्णन कर दे, तो भी वह व्यंग्य हो जाता है। (सापेक्ष-46) 'व्यंग्य-यात्रा अंक-9 में शंकर पुणताम्बेकर का कथन है, 'लक्षणा, व्यंजना, प्रतीत, पुराण, लोककथा, विडम्बना (पैरोडी) फंतासी आदि में व्यंग्य लिखना जितना कठिन नहीं उतना अभिधा में लिखना कठिन है।. . .अभिधा के ये व्यंग्य जितने आसान लगते हैं, उतने है नहीं। इनमें वहीं प्रभावशीलता है जो लक्षणा-प्रतीक व्यंग्यों में होती है।' कोहली जी की रचनाएं इन कथनों को साबित भी करती है क्योंकि उनकी व्यंग्य रचनाएं राजनीतिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था के दो मुंहेपन का ज्ञान कराती है। धर्म, दर्शन, साहित्य, समाज आदि के गोरखधंधों, ढोंग, पाखण्ड आदि को उघाड़कर सामने रख देती है। यही व्यंग्य का उद्देश्य पूरा हो जाता है जब एक सजग पाठक वास्तविकता से परिचित हो जाता है।

नरेंद्र कोहली के व्यंग्यकार की विशेषता यह है कि वह अनावश्यक रूप से हास्य का सहारा नहीं लेता। यद्यपि वे स्वयं हास्य को व्यंग्य का एक स्वाभाविक साथी मानते हैं पर उसके लिए अनिवार्य नहीं मानते। महावीर अग्रवाल से हुई बातचीत में वे कहते हैं, '. . .निश्चित रूप से हास्य या निर्दोष हास्य जो है वह किसी को चोट पहुंचाने के लिए नहीं वरन मनोरंजन करने के लिए है। जबकि व्यंग्य एक प्रकार से आघात करने के लिए होता है। यदि हास्य के बाद मन सुख का अनुभव करता है तो व्यंग्य के पश्चात संवेदनशील मन शोक का अनुभव करता है।' उनकी अधिकांश व्यंग्य रचनाएं गंभीर उद्देश्य को लेकर चलती है। इस संदर्भ में 'हिंदी व्यंग्य का इतिहास' में सुभाष चंदर की टिप्पणी दृष्टव्य है। उन्होंने लिखा है, '. . .उनके लिए व्यंग्य हंसने-हंसाने की वस्तु नहीं अपितु समाज के विभिन्न क्षेत्रों में फैले विद्रूपों से लड़ने का एक साधन है। कोहली जी की इस व्यंग्य शक्ति का भरपूर उपयोग करते हैं। उनका व्यंग्य अधिकांश स्थानों पर अव्यवस्था के जिस्म में नश्तर चुभोने का कार्य करता है। उनकी रचनाएं सुनकर पाठक खीझ और क्षोभ से उबल पड़ता है, श्रेष्ठ व्यंग्य की यही पहचान भी है।'

नरेंद्र कोहली व्यंग्य को एक पृथक विधा मानते हैं जिसकी एक विशेष शैली होती है। उनका मानना यह है कि व्यंग्य के केंद्र में 'व्यंग्य निबंध' रहा है। उन्होंने व्यंग्य निबंध के अलावा व्यंग्य उपन्यास, कहानी, नाटक लिखे हैं पर उनके तीखे तेवर उनके व्यंग्य निबंधों में ही देखने को मिलते हैं। वे अपनी भाषा को लेकर बहुत सजग हैं। उनके लेखन की भाषा विषय के अनुरूप प्रवाहित

शेष पृष्ठ-114 पर. . .

सतीश पांडेय

नरेंद्र कोहली का प्रदेय

अपनी प्रहारक विशेषता द्वारा सहज मानवीय जीवन-दृष्टि का विकास करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वस्तुत: उसकी सार्थकता इसी में निहित है कि वह किस विसंगति पर कितना प्रभावी ढंग से प्रहार करता है और व्यंग्यकार उसके माध्यम से किन मूल्यों की स्थापना करना चाहता है। बहुत बार ऐसा होता है कि जिन मूल्यों की रक्षा की जानी चाहिए वे ही ध्वस्त होते नजर आते हैं। ऐसे में व्यंग्यकार का यह दायित्व होता है कि वह मानव जीवन की बेहतरी के लिए उपयोगी एवं स्वस्थ मूल्यों की न सिर्फ वकालत करे, बल्कि उनकी स्थापना के लिए अपना योग दें।

इसत तरह व्यंग्यकार को जहां स्वस्थ मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न करना होता है, वहां उसे अवस्थ एवं गैरजरूरी मूल्यों पर करारा प्रहार भी करना होता है, नहीं तो व्यंग्यकार नष्ट न होने योग्य मूल्य के प्रति अपनी तकलीफ अभिव्यक्त करता रहेगा और ऐ मूल्यों की प्रगति अनवरत कई गुना होती जायेगी, जिन्हें नष्ट किया जाना चाहिए। इस स्थिति की और अधिक स्पष्ट करते हुए डॉ. शेरजंग गर्ग ने लिखा है कि 'समाज को इन दोनों ही प्रकार के व्यंग्यकारों की संयुक्त भूमिका का बहुत लाभ पहुंच सकता है क्योंकि जहां पहली कोटि का व्यंग्यकार आंखें तरेरता हुआ, इण्टर हिलाता हुआ और होठों पर कुटिल शातिर मुस्कान धारण किए गलत रूढ़ियों, पथ-भ्रष्ट पीढ़ियों और तरक्की की बेबुनियाद सीढ़ियों को झकझोरता है, उनकी खोखली नीवों को और खोखला करता है, वहां दूसरी कोटि का व्यंग्यकार पराजित ईमानदारों और खस्ताहाल उच्च मान्यताओं अथवा विचारधाराओं की पीड़ा को व्यक्त करके तटस्थ, आत्मलीन जनों की आंखों में उंगलियां डालकर करुणा के एक स्वच्छ और सक्रिय परिवेश का निर्माण करता है।

व्यंग्य की उपादेयता संबंधी उपर्युक्त विचार-कसौटी पर नरेंद्र कोहली के व्यंग्य साहित्य का मूल्यांकन करने से यह स्पष्ट होता है कि इनकी सजग दृष्टि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, पुलिस, न्याय आदि विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त विसंगतियों पर रही है। इन्हें जो भी गलत दिखाई देता रहा है, उस पर उन्होंने तीव्र प्रहार किया है। उनका व्यंग्यकार कहीं भी समझौता नहीं करता है। वह मुक्त भाव से विसंगतियों पर चोट करता है।

इस प्रहारात्मकता के मूल में नरेंद्र कोहली की चिंता मानवीय भावनाओं के विकास की ओर रही है। वस्तुत: वे अपनी रचनाओं में गुदगुदाने का उद्देश्य नहीं रखते। उनका मकसद विविध संदर्भों में व्यवस्थाजन्य बेतुकेपन का मजाक उड़ाने हुए उससे पीड़ित व्यक्ति की चेतना को झकझोरने का अधिक रहा है। इसीलिए वे अपने समकालीन व्यंग्यकारों से थोड़ा पृथक दिखायी देते हैं।

इनके समकालीन व्यंग्यकारों में परसाई के व्यंग्य अधिक तीखे एवं सीधी चोट करने वाले हैं। उनकी व्यंग्य-दृष्टि से समकालीन जीवन को शायद ही कोई असंगत स्थिति जन पाई हो। उनके व्यंग्यों में तार्किकता भी खुलकर सामने आई है। इस मामले में शरद जोशी के व्यंग्य अधिक उदार नजर आते हैं। कहीं-कहीं पर उनके व्यंग्य भी अधिक परिष्कृत एक सोचने के लिए विवश कर देने वाले लगते हैं, किंतु परसाई की तुलना में शरद जोशी की रचनाओं में सामाजिक विकृतियों के विरुद्ध शिष्ट प्रतिक्रिया अधिक दृष्टिगत होती है। इसीलिए रघुवीर सहाय ने शरद जोशी के बारे में यहां तक कह डाला है कि शरद जोशी ने चुनी हुई चीजों पर हंसने हंसाने के दक्षता हासिल कर ली। शरद जोशी के समूचे साहित्य को इसी श्रेणी में रखना उचित नहीं होगा किंतु उनकी रचनाओं में परसाई जैसी सीधी एवं तीखी प्रहारात्मकता का अभाव है। रवीन्द्रनाथ त्यागी भी बहुत हद तक गुदगुदाते अधिक हैं। श्रीलाल शुक्ल ने भारतीय समाज तथा चिंतन टुच्चेपन तथा उसकी क्षुद्रताओं, कुण्ठाओं, विषमताओं एवं कुटिलताओं के अनेक आयामों के विद्रूषात्मक चित्र प्रस्तुत किए हैं। राग दरबारी जैसी कृति अनूठी व्यंग्यात्मकता लिए हुए हैं, किंतु उसमें वे अभिजातय वर्ग की पतनशील प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति को बड़ी चतुरता से बचा ले गए हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि श्रीलाल शुक्ल उन टूटे हुए मूल्यों की स्थापना के लिए प्रत्यतनशील नजर आते हैं, जिन्हें टूटकर नष्ट नहीं होना चाहिए था।

इस दृष्टि से नरेंद्र कोहली का व्यंग्य-लेखन दोहरी भूमिका पर सार्थकता लिए हुए है। वह जहां पतनशील एवं टूटने वाले मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए उनमें छटपटाहट भी है। उन्होंने जीवन के रोज के जाने-पहचाने, सामान्य-से लगने वाले संदर्भों को उठाकर बड़ी ही वस्तुपरकता के साथ पतनशील प्रवृत्तियों पर कटाक्ष किया है तथा जिन मूल्यों को टूटना नहीं चाहिए उनकी प्रतिष्ठा करनी चाही है। दहेज जैसी तमाम सामाजिक विसंगतियों, बदलते सामाजिक-पारिवारिक संबंधों, फैशनपरस्ती, शिक्षा-क्षेत्र से जुड़े लोगों तथा बुद्धिजीवियों आदि पर प्रहार करके इन्होंने न सिर्फ अपनी असहमति और आक्रोश व्यक्त किया है, बल्कि इनके स्थान पर नये, स्वस्थ मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए संकेत भी किया है।

इनकी व्यंग्य लेखनी राजनीतिक क्षेत्र की हर विसंगति पर भी चली है। आज के व्यक्ति-जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला ततव राजनीति ही है। इस क्षेत्र में

छल-छद्म और अवसरवादिता जिस रूप में पनप रही है, उससे मानवीयता को गहरी ठेस पहुंची है। स्वार्थ, सिद्धांतहीनता, भाई-भतीजावाद, कुसी का व्यामोह, भ्रष्टाचार, प्रशान की निष्क्रियता, पुलिस की दायित्वहीनता आदि पर व्यंग्यकार की दृष्टि अत्यंत पैनेपन के साथ मुखर हुई है। इन स्थितियों के कारण सामान्यजन के जीवन को असुरक्षित एवं असुविधाजनक बनाने वाली असंगत स्थितियों के प्रति कोहली की आक्रोशमयी भंगिमा उन्हें सामान्य व्यक्ति के स्वाभाविक विकास का हिमायती बना देती है।

कोहली की मूल चिंता मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की रही है। अतः अपना स्वार्थ साधने के लिए धर्म की दूषित व्याख्या प्रस्तुत करके मानव-मानव के बीच खाई पैदा करने धर्म के ठेकेदारों के प्रति अपना आक्रोश भी इन्होंने व्यक्त किया है। धार्मिक संकीर्णता के कारण उत्पन्न कट्टर साम्प्रदायिकता की भावना से सम्पूर्ण मानव जाति के समक्ष संकट उत्पन्न हो उठा है। इसके मूल कारणों की ओर संकेत करते हुए नरेंद्र कोहली ने व्यक्ति के जीवन-सत्य में हो रहे अवमूल्यन को समाप्त करने का प्रयास किया है। इसलिए लोगों के मन से ध ार्मिक अंध श्रद्धा को दूर करने तथा ऐसे स्वस्थ मूल्यों की स्थापना पर बल दिया है, जिनसे मानव जीवन का गुणात्मक विकास संभव हो सके।

व्यंग्यकार विघटित होते हुए महत् मूल्यों को स्थापित करने के लिए ही व्यंग्य का कटु एवं दहकता हुआ मार्ग अपनाया है। इस प्रयास में वह कटु चाहे जितना हो ले, लेकिन वह अमानवीय कभी नहीं हो सकता। नरेंद्र कोली ने भी पूरी प्रहारात्मकता के साथ भारतीय जीवन के उच्च आदर्शों एवं सास्कृतिक मूल्यों में हो रहे ह्रास पर चिंता व्यक्त की है और आधुनिकता की अंधी दौड़ को मूल्यों के पतन का असली कारण काना है। बाह्य रूप में आधुनिक बनने तथा चिंतन और व्यवहार के धरातल पर दकियानूस बने रहने वालों पर इन्होंने गहरी चोटें की हैं। भारतीय संस्कृति की उपेक्षा कर पश्चिम के प्रति अंध श्रद्धा रखने वालों को आड़े हाथों लेते हुए व्यंग्यकार कोहली ने भारतीय अस्मिता के महत्व को स्थापित करना चाहा है। व्यक्ति जीवन में खत्म होते हुए नैतिक मूल्यों के ह्रास को भी इन्होंने जगह-जगह व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति दी है।

आज जिस ढंग से चरित्रहीनता पनप रही है, ईमानदारी और त्याग जैस शब्द खोखले और अर्थहीन होते जा रहे हैं, इस पर व्यंग्यकार की गहरी चिंता व्यक्त हुई है। उनकी मान्यता है कि इन सबके मूल में ध न की अनियंत्रित इच्छा है। अनैतिक कार्यों द्वारा धन बटोरने की यह मानसिकता शोषण की प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है और एक बार शोषण-क्रम शुरू हो जाने पर मनुष्य के भीतर सभी मानवीय भावनाओं को ताक पर रखकर धन इकट्ठा करने की अमानवीय प्रवृत्ति पनप उठती है। नरेंद्र कोहली ने गरीबी, महंगाई, कालाबाजारी, मिलावट आदि अनेक असंगत स्थितियों के मूल में स्थित अमानवीय भावनाओं को भी अपने व्यंग्य का विषय बनाया है तथा सामान्य व्यक्ति के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की है।

व्यक्तिपरक एवं आत्मपरक व्यंग्य नरेंद्र कोहली के व्यंग्य लेखन का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू है। इसमें इन्होंने जहां ऐतिहासिक-पौराणिक एवं समसामयिक राजनीतिज्ञों पर व्यंग्य-प्रहार किया है, वहां असंगतियों के बीच जी रहे व्यक्ति पर कटाक्ष करने के लिए आत्मव्यंग्य भी किया है। इसके माध्यम से इनका उद्देश्य किसी व्यक्ति विशेष का मजाक उड़ाना न होकर उसकी कार्य पद्धति की विसंगतियों को उजागर करते हुए आज के जीवन को संतुलित बनाने की इच्छा व्यक्त करना रहा है।

शिक्षा और साहित्य से जुड़े होने के कारण नरेंद्र कोहली ने इस क्षेत्र की असंगतियों को बहुत नजदीक से अनुभव किया है। इसीलिए इस क्षेत्र में व्याप्त अनियमितताओं एवं विसंगतियों की प्रभावी अभिव्यक्ति इनकी व्यंग्य-रचनाओं में हुई है। चाहे शोध की ह्रासोन्मुख स्थिति हो या शोधार्थी का शोषण, कोहली ने बड़ी ही बारीकी से इन स्थितियों को परखते हुए उन पर प्रहार किया है तथा उनके परिष्कार पर बल दिया है। इसी प्रकार छद्म साहित्यिकों, संपादकों, पाठकों एवं प्रकाशकों संबंधी अनेक विसंगतियों पर इनकी रचनाओं में करारा व्यंग्य प्रस्तुत हुआ है।

फिल्मों ने वर्तमान जीवन को विशेषतः युवा-वर्ग को बेहद प्रभावित कर रखा है। इसके प्रभाव के कारण जीवन में भी अनेक विसंगतियां उत्पन्न हो जाती हैं। खासतौर पर जब फिल्मी ढंग का अयथार्थवादी जीवन जीने का प्रयास करते हुए लोग अपने यथार्थ जीवन में जटिलताओं का अनुभव करते हैं, तब स्थिति अत्यंत कठिन हो जाती है। फिल्मों में चित्रित पति-पत्नी संबंध, फिम संगीत, डायरेक्टर की दखलंदाजी आदि फिल्म जीवन प्रहारात्मक व्यंग्य-रचनाएं लिखी हैं।

इस तरह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त असंगतियों के प्रति नरेंद्र कोहली की दृष्टि न सिर्फ सजग रही है बल्कि उनके मन का गहरा असंतोष भी मुखर हुआ है। इस असंतोष द्वारा सामान्य मानव-मन को पीड़ित करके व्यंग्यकार को जगाने का उपक्रम ही अधिक किया है।

इन व्यंग्यों की प्रभावात्मकता उनके अभिव्यक्ति कौशल से और भी गुणीभूत हो गई है। इनकी भाषा इतनी द्रुत एवं तीखी है कि पाठक अभी एक व्यंग्य प्रहार से उबर भी नहीं पाता है कि उससे भी अधिक तेज और दमदार चोट उसे और झेलनी पड़ जाती है। इसीलिए डॉ. देवेश ठाकुर ने संकेत किया है कि कोहली के व्यंग्य का आनंद तभी उठाया जा सकता है, जब उसकी भाषा की द्रुतता को पकड़ने की क्षमता पाठक में हो। उनकी तीखी, चुभती हुई ह। इसका कारण यह है कि व्यंग्य के शिल्प के प्रति नरेंद्र कोहली अत्यंत सजग रहे हैं। उन्होंने पुनरावृत्ति के संकट का समझते हुए यह स्वयं ही स्वीकार किया है कि 'किसी व्यंग्यकार की कुछ ही रचनाएं पढ़कर पाठक उससे पुनरावृत्ति की शिकायत करने लगता है। इस पुनरावृत्ति से बचने के लिए ही लेखक को विधाओं तथा तकनीकों के वैविध्य का सहारा लेना पड़ता है।' लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वे शिल्प को आरोपित करने के पक्षधर हैं। उनके अनुसार कथ्यगत वैविध्य का सहारा लेना पड़ता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वे शिल्प को आरोपित करने के पक्षधर हैं। उनके अनुसार कथ्यगत वैविध्य होने पर शिल्पगत विविधता अपने आप आ जाती है। 'व्यंग्य तभी लिखता हूं, जब केवल व्यंग्य लिखने

के लिए मेरे पास कुछ नया हो। लिखने को नया हो तो शिल्प भी नया बन जाता है। इसीलिए नरेंद्र कोहली व्यंग्य को एक विधा और इसके कथ्य और शिल्प को अन्य विधाओं के कथ्य और शिल्प से पृथक मानते हैं।

शिल्पगत विविधता की दृष्टि से नरेंद्र कोहली का व्यंग्य साहित्य अत्यंत ही समृद्ध एवं बहुआयामी है। यदि इन्होंने 'आश्रितों का विद्रोह' औपन्यासिक शिल्प में लिखा है तो 'पांच एब्सर्ड उपन्यास' अपने कथ्य की एब्सर्डिटी के अनुरूप एक अलग शिल्प में अभिव्यक्त हुआ है, जो उपन्यास के निकट है लेकिन उसे पूर्णतया उपन्यास भी नहीं कहा जा सकता। व्यंग्य-निबंध तो हैं ही, इनकी कहानियां भी व्यंग्यात्मक भूमि पर ही अधिक लिखी गई हैं यहां तक कि नाटक 'शंबूक की हत्या' भी व्यंग्य-नाटक बनकर ही अभिव्यक्त हुआ है।

इस तरह इनकी व्यंग्य यात्रा निबंध, उपन्यास और नाटक जैसी प्रमुख विधाओं तक व्याप्त है। 'आश्रितों का विद्रोह' में सत्ता के प्रति आश्रित जनता का विद्रोह उभरा है। इसके माध्यम से व्यंग्यकार ने इस तथ्य पर प्रहार किया है कि किस तरह शासक वर्ग जनतंत्र की आड़ में अपनी कमजोरियों को छिपा लेता है। इसमें जनता को आश्रित, आलसी एवं चेतना शून्य बनाकर शासन करने का षड्यंत्र व्यंग्यात्मक रूप में उभारा गया है। सामान्य जनता द्वारा शासन-व्यवस्था के प्रति स्पष्ट विद्रोह प्रकट करने वाला संभवत: यह हिंदी का पहला उपन्यास है।

'पांच एब्सर्ड उपन्यास' की रचनाकार ने स्थितियों के बेतुकेपन के कारण विवश होकर की हैं अस्पताल के उसके निजी अनुभव इसमें जिस ढंग से व्यक्त हुए हैं, वह पीड़ित व्यक्ति का व्यवस्था पर जोरदार तमाचा है। इसी तरह कॉलेज के बेतुके परिवेश, मुहल्ले के साहबी जीवन का बेतुकापन तथा मुहल्ले के उच्च मध्यवर्गीय जीवन की विसंगति इनमें व्यंग्यात्मक रूप से व्यक्त हुई है। इनमें व्यक्त सादृश्य-विधान ने प्रस्तुति शिल्प में एक नयापन ला दिया है। व्यंग्य निबंधों और कहानियों का विषय करीब-करीब जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त विसंगतियों पर करारी चोट करने वाला है। 'शंबूक की हत्या' आधुनिक शासन पद्धति को दुर्बलताओं के कारण उत्पन्न विसंगतियों पर व्यंग्य चोट करने वाली नाट्य-रचना है जिसे पौराणिक कथा का आधार बनाकर अभिव्यक्ति दी गई है।

इस तरह व्यंग्य का मूल्यांकन करने का यदि कोई मानदंड है और उस मानदंड पर नरेंद्र कोहली की व्यंग्य-रचनाओं को मूल्यांकित किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि इन्होंने समकालीन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त विसंगतियों पर जहां करारी चोट की है, वहां व्यंग्य-प्रहार द्वारा इन्होंने उन मूल्यों की प्रतिष्ठा भी करनी चाही है, जिससे व्यक्ति जीवन स्वस्थ एवं समृद्ध तथा प्रत्येक व्यक्ति परिष्कृत जीवन की दिशा में प्रशस्त हो सके। इस प्रयास में इनकी पहल शिल्पगत प्रभावशालिता, ताजगी तथा भाषागत पेनेपन के कारण अधिक उल्लेखनीय बन पड़ी है।

. . . पृष्ठ-111 का शेष

होती है और उसकी प्रकृति के अनुरूप अपना स्वरूप निर्धारित करती है। वास्तव में वे व्यंग्य के तीर तेजाब में डुबोने के बाद छोड़ते हैं। वे हर लेखक को वैचारिक रूप से प्रतिबद्ध होना जरूरी मानते हैं पर प्रतिबद्धता वे किसी विचारधारा से न होकर 'सत्य' के प्रति होना चाहिए। तथापि उनका यह मानना है कि उनकी पीढ़ी ने हरिशंकर परसाई से व्यंग्य का संस्कार ग्रहण किया है। संभवत: यही कारण है कि उनकी कुछ व्यंग्य-रचनाओं में करूणा की अंतर्धारा प्रवाहित होती है किंतु यह भी सही है कि वे कई संदर्भों में परसाई से वैचारिक रूप से सहमत नहीं होते।

वर्षों पहले म.प्र. साहित्य अकादमी के निदेशक डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने रायपुर (छ. ग.) में व्यंग्य पर एक आयोजन किया था जिसमें मैंने पहली बार कोहली जी को देखा-सुना था। मैं हर वर्ष नए वर्ष का शुभकामना पत्र भेजता हूं और किसी-किसी वर्ष उन्होंने उसका प्रत्युत्तर भी भेजा है। मुझे इस बात का किंचित अफसोस है कि मैं उनसे केवल एक बार संपर्क कर सका।

7, राजेंद्र नगर, सतना (म.प्र.)

साहित्य सिलसिला

संपादक

डॉ॰ अजय शर्मा

संपर्क

24 मधुवन कालोनी, राजनगर बस्ती बावा खेल जालंधर

पुष्पगंधा

साहित्य कला एवं संस्कृति की त्रैमासिकी

नवंबर-जनवरी 2010 अंक

सैन्नी अशोष, विनोद शाही, स्नोवा बॉर्नो, जया जदवानी, पृथ्वीराज अरोड़ा, सुशांत प्रिय आदि की रचनाएं

संपादक

विकेश निझावन

संपर्क

557 बी, सिविल लाइन्स

आईटीआई बस स्टाप के सामने अंबाला शहर-3

प्रेरणा

समकालीन लेखन के लिए

(साहित्यिक एवं सामयिक पत्रिका)

कहानी अंक-

एक संवेदना की तलाश, बलराम, प्रदीप पंत, सूर्यकांत नागर, जयंत, राजेंद्र परदेसी, प्रमोद भार्गव आदि की रचनाएं

संपादक

अरुण तिवारी

संपर्क

ए-74 पैलेस आरचर्ड फेज-3

सर्वधर्म के पीछे, कोलार रोड, भोपाल-42

ज्ञान चतुर्वेदी

एक शिक्षाप्रद लेखक

नरेन्द्र कोहली हिंदी के लेखक हैं– इस बोदे वाक्य को पढ़कर क्या तस्वीर आपकी आंखों के सामने आती है?या यूं कहें कि अलानेजी हिंदी के एक लेखक हैं, तो कैसी तस्वीर उभरती है आपकी आंखों के सामने, अलाने जी की?

हिंदी के लेखक की एक इमेज सी बन गई है हिंदुस्तान में कि वह खादी के वस्त्र पहिनता होगा, कुर्ता पायजामा में चप्पलें चटकाटा घूमता होगा, उसके बाल बिखरे होंगे, उसकी जुल्फें माथे पर लटक-लटक आती होंगी, वह मुंह में हमेशा ही पान तथा तंबाखू रखे रहता होगा, जिसकी पीक को कागज पर गिरने से बचाता हुआ वह खरारी खटिया पर उकड़ूं बैठकर लालटेन के धुंधवाये कांच से छनकर आती पीली मद्दिम रोशनी में लिखता होगा, वह हमेशा कर्जे में डूबा भिखारी होगा, वह साइकिल पर खड़खड़ करता चलता होगा, वह ऐसा काला छाता लेकर निकलता होगा जो मौके पर खुलता ही नहीं होगा, वह हर एक से 'बंधु' कहकर बतियाता होगा, वह हर सुविधा को ठोकर मारकर फटेहाली में नंगा होकर मां सरस्वती की पूजा में रमा होता होगा, वह खूब ठहाका मारता होगा पर मनहूस भी होगा इत्यादि इत्यादि। हिंदी लेखक की यह छवि बनाने में हिंदी भाषा को दरिद्रों की भाषा मानने की मानसिकता, प्रेमचंद जैसे महान हिंदी लेखक की गरीबी और निराला से महाकवि की औघड़ता के यूटोपिया तथा हिंदी लेखन को अंग्रेजी में भुखमरों का लेखक मानने की साजिश के मिले-जुले असर का बड़ा रोल रहा है।

अब आप एक ऐसे हिंदी लेखक की कल्पना करें जो कम्प्यूटर पर लिखता हो, वातानुकूलित स्टडी में बैठकर नियमित रचना कर्म करता हो, जो स्वयं की फैक्स मशीन रखता हो ताकि रचना लिखकर सीधे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं को फैक्स की जा सके, जो कम्प्यूटर के मोडम के जरिए अमेरिका तथा विदेश में अन्यत्र सीधे अन्य कम्प्यूटरों पर पत्र भेजता हो, जो बढ़िया टिप-टॉप रहने में विश्वास रखता हो, जो हिंदी में इस समय सर्वाधिक रायल्टी पाने वाला साहित्यकार हो, जो कार ओर बस पर उसी सहजता से चलता हो, जो मां सरस्वती की पूजा का भरपूर प्रतिदान मांगने तथा पाने का माद्दा रखता हो, जिसके द्वार पर प्रकाशक याचक बनकर खड़े रहते हों, जो अग्रिम रायल्टी पाता हो, जो लेखन कर्म को 'प्रोफेशन टच' दे चुका हो, आदि आदि। आप पहले तो यही कहेंगे कि ऐसा शख्स हिंदी का लेखक हो नहीं सकता और यदि है भी तो हिंदी वाले उसको लतियाते जरूर होंगे। मैं रहूंगा कि वह शख्स हिंदी लेखक तो है और हां, यह सत्य है कि 'हिंदी करने वाले, हिंदी का धंधा करने वालों ने उसे नकारने में कभी कोई कमी नही की है। वे अब तक उसे नकारते रहे हैं। पर एक लेखक तो है– नरेन्द्र कोहली। हिंदी वालों के लिए नरेन्द्र कोहली कई मायनों में एक अजूबा है तथा ईर्ष्या का विषय है। मेरे लिए इन्हीं मायनों में नरेन्द्र कोहली से हिंदी लेखकों को बहुत-सी शिक्षाएं मिल सकती हैं। इस मायने में 'नरेन्द्र कोहली मेरे लिए शिक्षाप्रद लेखक हैं। मैं नरेन्द्र कोहली की इन्हीं बातों की चर्चा करना चाहूंगा, बशर्ते हिंदी के धनी-धोरी बुरा न मानें।

नरेन्द्र कोहली ने हिंदी लेखन तथा प्रकाशन जगत में व्याप्त इस बदमाशी भरी अफवाह का खंडन किया है कि साहब, हिंदी में तो सरस्वती और लक्ष्मी का बैर है। यदि सरस्वती की पूजा करते रहना है, तो नंगे घूमना चाहिए। लेखक होकर पैसा मांगना है, हद है भई! मेहनत से लिखी रचना का या तो कोई पारिश्रमिक ही न देना या दस-बीस रुपए टिपा देना आज तक हो रहा है। हमारे भोपाल के एक सर्वाधिक पढ़े जाने वाले अखबार ने ही कुछ दिनों पूर्व रवीन्द्रनाथ त्यागी को बीस रुपए पारिश्रमिक देने की हिम्मत तथा हिमाकत की थी। थ्योरी यही है कि हिंदी के लेखक का पैसा दबा लो, वह कुछ नहीं कहेगा। किताब छाप दो, रायल्टी गायब कर दो। रचना संकलन में ले लो, न पारिश्रमिक दो, न प्रति ही भेजो। बिना पूछे ही रचना को संकलन में डाल लो। तकाजा करे तो हें हें करने लगो। किताबें न बिकने का शाश्वत रोना रो दो। हिंदी का लेखक गली में लावारिस घूमती बकरी है, जिसे फुसलाकर कोने में ले जाओ और दूध दुहकर वापस गली में लतिया दो। मैं मैं करती है, तो करे– सुनेगा कोई नहीं। फिर लक्ष्मी ज्यादा आएगी, तो यह सरस्वती की पूजा बंद कर देगा।

अंग्रेजी से लेकर मराठी-बंगला-मलयालम आदि में लेखक को खूब पैसा मिलता है और वे फिर भी उतना ही अच्छा लिखते रहे हैं– पर हिंदी लेखक पर न जाने क्यों शक है कि वह गरीब-फटेहाल रहकर ही लिख पाएगा और पैसा पाते ही लिखना बंद कर देगा।

नरेन्द्र कोहली ने हिंदी में व्याप्त यह भ्रम तथा बदमाशी समाप्त की है। वे लिखते हैं और पूरा पैसा वसूलते हैं। वे इस मामले में पक्के हिसाबी हैं और हिंदी लेखकों को उनसे यह शिक्षा लेनी ही चाहिए कि लिखना ही काफी नहीं, वरन अपने लेखन की माकूल मार्केटिंग भी उतना ही महत्व रखती है। वे उपन्यास लिखते हैं, तो कई जगह वह धारावाहिक छपना शुरू हो जाता है– कई अखबारां में पत्रिकाओं में, फिर बाकायदा प्रकाशकों से 'नगोशियेसंस' होती है, रायल्टी तय होती है, पिछली बकाया हो (यूं तो होता नहीं) तो वसूला जाता है– फिर किताब आती है। फिर किताब की मनमाफिक आदमी से माफिक समीक्षा के प्रयास किए जाते हैं ताकि 'प्रोडक्ट' की 'प्रापर' 'पब्लिसिटी' हो सके। ये सारी बातें प्रायः हिंदी लेखकों में नहीं है। वे स्वयं बड़े असहाय से, लगभग अनाथ की भंगिमा में प्रकाशक के पास पहुंचते हैं तथा पांडुलिपि स्वीकृत किए जाने पर कृत कृत्य महसूस करते हैं। रायल्टी की हिसाब पूछते हुए वे शरमाते हैं तथा जाचेक मिल भी जाए तो बिना उसकी राशि पर एक नजर डाले जेब में डाल लेते हैं कि कहीं प्रकाशक उन्हें लालची न समझ ले, लालच तो प्रकाशक का अधिकार है न! आप सीखें या न सीखें, मैंने तो नरेन्द्र कोहली को जानकर यह सीखा है कि आपने जो लिखा उसका पूरा मूल्य आपको मिलना ही चाहिए और जो इसे आपका कमीनापन मानता है, वास्तव में वह स्वयं की काईयां तथा कमीना व्यक्ति होगा। मैं चाहूंगा कि हिंदी लेखन में यह प्रोफेशनलिज्म आए। आप मेरी रचना छापें, तो पैसे भी तो दें। अभी तो होता

यह है कि डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल जी आपकी दस रचनाओं को अपने संपादन में पचास संकलनों में छाप लेते हैं और दस रुपए तक देने की सोचते तक नहीं। हद है। यहां नरेन्द्र कोहली वाले तेवरों से शिक्षा लेनी आवश्यक है।

एक और शिक्षा, जो नरेन्द्र कोहली से ली जा सकती है। हिंदी में एक बड़ा बदमाशी वाला, लगभग मारक हथियार की भांति प्रयुक्त होने वाला शब्द है– 'सुविधाभोगी' या 'सुविधाजीवी' अरे यार, उसका लेखन स्साले का क्या होगा, वह तो सुविधाजीवी है। वह तो कार रखता है। वह ए.सी. में बैठता है। वह हवाईजहाज से घूमता है। वह सूट पहिनता है। वह स्साला क्या जाने आम आदमी का दर्द और लिखता है आम आदमी पर। मेरा पहले भी विनम्र मत रहा है कि सुविधाओं और रचनात्मक संवेदनाओं का कोई संबंध नहीं। यदि आप संवेदनशील हैं, आपमें वह दर्द है, करूणा है, परसेप्शन है, जीवन की समझ है, आदमी के अंतर्मन तक झांकने की नजर है, तो कार, एसी, सूट, बंगला– ये सब बेमानी है। इनसे आपके लेखन में क्योंकर बांधा होगी। हां, यदि इन सुविधाओं को जुटाने के लिए बेईमानी, जुगाड़बदी या नंबर दो के कामों में लेखक लग जाएगा, तो वह निश्चित ही समाप्त हो जाएगा। परंतु ईमानदारी से जुटाई सुविधाओं से मेरा लेखन क्यों बिगड़ना चाहिए, यह मैं आज तक नहीं समझ पाया? एक लेखक मित्र ने भोपाल में एक बार मेरे बारे में भी यही कहते हुए मुझे नकारने का प्रयास किया था कि ज्ञान चतुर्वेदी जी तो इतने बड़े मेडिकल स्पेशलिस्ट हैं, कार रखते हैं। बड़ा बंगला बना रखा है– ये क्या लिखेंगे आम आदमी के व्यंग्य। तब मेरे परम मित्र तथा ऐसे शूरमाओं को हमेशा ही मुंहतोड़ जवाब देने के लिए कुख्यात व्यंग्यकार मित्र अंजनी चौहान ने जो बात कही थी, वह एक पंक्ति में सारी स्थिति को बखूबी बयान कर देती है। उन्होंने कहा था– 'ज्ञान चतुर्वेदी जब नाली में लोटने लगे, भीख मांगने लगे, तभी अच्छा लेखक होगा क्या? तब तो सुअर और भिखारी ही हिंदी के सर्वश्रष्ठ लेखक होंगे।' नरेन्द्र कोहली ने सारे एश्वर्यों के बीच आम आदमी के दर्द को अभिव्यक्ति देते हुए जो व्यंग्य लिखे हैं, वे मेरी इस बात की पुन: पुष्टि करते हैं।

नरेन्द्र कोहली की एक शिक्षा और–

नरेन्द्र कोहली ने लेखन को सारे कर्मों से सर्वोपरि मानकर जीवन लिया है। वे नियमित लिखते हैं। वे लेखन को धंधे की तरह लेते हैं यानिक कि रोज की दुकान का शटर उठना ही उठना। ग्राहक आए, न आए। बैठना लिखने की टेबल पर। कोशिश करना, लिखने की। कुछ न कुछ लिखना। लिखने में आलस्य को कोई स्थान नही। सारे काम छोड़कर लिखने बैठना। जिन कामों से लिखने में व्यवधान पड़े, उन्हें छोड़ ही देना। पहले प्रमोशन छोड़ दिया कि प्रिंसिपल बनेंगे तो लिखने को समय कम मिलेगा। फिर नौकरी बाधा बनने लगी, तो उसको भी छोड़ने की सोच ली। लिखना। और लिखना। और और लिखना। कोई बाधा इसमें नहीं आनी चाहिए। वे बरदाश्त नहीं कर पाते कि कोई चीज उनके लेखन में रोड़ा बने। रोज लिखते हैं। टारगेट बनाकर लिखते हैं। यदि प्रकाशक से वायदा है कि फलानी तारीख तक उपन्यास दे देंगे, तो वे दे ही देंगे। वे एक साथ दो-तीन उपन्यासों पर काम करते रहते हैं, उनके बीच बचे समय में छोटी कहानियां व्यंग्य सभी क्षात्मक लेख भी लिखते रहते हैं, अन्य योजनाएं बनाते रहते हैं तथा निरंतर नया करने के चक्कर में रहते हैं। नरेन्द्र कोहली से यह बात हम सबको ही सीखना चाहिए कि थोड़ा-सा लिखकर संतुष्ट होकर न बैठ जाइए कि खूब लिख लिया। हमारे यहां यह रिवाज खूब है। एक किताब लिख लो और सालभर तक उसकी गा-बजा रहे हैं, उसी की खा रहे हैं और उसी से गोष्ठियां जमाते शहर-शहर घूम रहे हैं। लिखना बंद। नरेन्द्र कोहली में संतोष नहीं है। वे एक किताब लिखकर पूरी नहीं कर पाते कि दूसरी चल पड़ती है। वे इस मायने में हिंदी लेखन के देवआनंद हैं। देवआनंद हमारे सामने है– अब हम उसको देखकर उसके बालों जैसी अपने भी बालों में चिरैया बनाना सीख लें या फिर उसके कर्मयागी पक्ष से सीख लें। नरेन्द्र कोहली को देखकर हमारे कई लेखक मित्रों ने जो पौराणिक विषयों से सामग्री कबाड़कर उपन्यास ठोक दिए, उन्होंने देवआनंद जैसी चिरैया बनाने की बचकानी कोशिश की। मैं नरेन्द्र कोहली के कर्मयोगी पक्ष पर जोर देना चाहूंगा। लेखक को लिखना चाहिए और लिखते रहना चाहिए– यह एक बड़ी शिक्षा हिंदी के हम नए लेखकों को नरेन्द्र कोहली से लेना ही चाहिए क्योंकि हमारी पीढ़ी में लेखक बहुत कम मेहनत करके बहुत ज्यादा पाना चाहने लगा है। नरेन्द्र कोहली की एक शिक्षा और (शिक्षाओं का पूरा कारखाना-सी तीनों पारियों में चल रहा है नरेन्द्रजी के व्यक्तित्व में) अपने लिखे पर तथा अपने पर विश्वास करो। नरेन्द्र कोहली ने किया। सारे नकार, प्रहार तथा उपेक्षा के बावजूद। आज भी बहुत से हैं जो नरेन्द्र कोहली के सारे लेखन को ओरिजिनल तथा सारप्रद न मानकर मात्र पुराणों तथा इतिहास का पुनर्लेखन मानते हैं। कई हैं, जो उन्हें लेखक मानते ही नहीं। पर, खुशी की बात यह है कि नरेन्द्र कोहली जानते हैं कि वे क्या लिख रहे हैं। वे किसी से पूछने नहीं जाते कि क्या लिखूं? वे किसी लेखक संघ के फरमाबरदारों की मिस्त्रीनुमा हिदायतों पर अपने लेखन का महल नहीं खड़ा करते। शुरू में जब उन्होंने रामकथा पर आधारित उपन्यास शुरू किए थे, तो किसी भी प्रकाशक ने कोहली जी को घास नहीं डाली थी। अच्छी पत्रिकाओं ने क्षमा याचना सहित साभार वापस किए थे उनके उपन्यास अंश। पर कोहली जी को आत्मविश्वास था कि वे ठीक कर रहे हैं। वे ठीक साबित भी हुए। विश्वास के साथ लिखो और अपने विश्वास पर टिको– यह शिक्षा भी नरेन्द्र कोहली की जीवन कथा से हमें मिलती है।

ऐसी और न जाने क्या-क्या तथा कौन-कौन सी शिक्षाएं नरेन्द्र कोहली हमें देते हैं। उन्होंने अपनी जीवनी तथा अपने लेखन इतिहास की स्वयं ही एक बुकलेट (पुस्तिका) बनवा रखी है, जिसे आपको या किसी पी.एच.-डी. विद्यार्थी को देने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता। हम शायद शरमा जाते। पर लेखन में प्रोफेशनेलिज्म लाना यहीतो है। उनकी सुंदर दाढ़ी देखकर मुझे कई बार शिक्षा मिली है कि मैं भी रख लूं, परंतु हर शिक्षा कोई मानता थोड़े ही है। उनका भव्य ड्राइंग रूम, जिसकी एक दीवार कांच की दीवार है और उसके परे ऊपर से गिरता एक झरना है और नीचे से ऊपर उठता एक फव्वारा है– बताता है कि आपको सुरूचि हो तथा समझदारी भी, तो आप महानगर के घर में भी ऋषियों के आश्रमों-सी शांति तथा सुकून ला सकते हैं। एक अच्छी लाइब्रेरी, एक सुंदर आरामदायक स्टडी, ढेर-सी मेहमानबाजी, हम जैसे नए लेखकों से भरपूर प्यार तथा आत्मीयता, बाहें फैलाकर मिलना, एक सुंदर-सुघड़ पत्नी, एक तत्परता से हुक्म बजा लाने वाला सेवक, एक बिजली चले जाने पर तुरंत शुरू हो जाने वाला जनरेटर, सुसंकारवान औलादें– यह सब कुछ और फिर भी लिखने के प्रति भरपूर लालसा तथा स्वयं से घनघोर असंतोष कि अभी जीवन में कुछ किया नहीं, पाया नहीं। यही शायद नरेन्द्र कोहली को सबसे अलग करता है और नरेन्द्र कोहली का यही पक्ष मुझे बहुत प्रेरणा देता है।

ए-40, अलकापुरी, भोपाल-4620224

प्रेम जनमेजय

मेरे हिस्से के नरेंद्र कोहली

मेरा जन्म इलाहबाद के कमला नेहरू अस्पताल में 18 मार्च, 1949 को दोपहर ढाई बजे हुआ था और मां बताती हैं कि वे मेरे जन्म एक दिन पूर्व में चंद्रलेखा फिल्म देखकर आईं थी। उन दिनों हम पैलेस सिनेमा के कहीं पीछे रहते थे। आज भी इलाहबाद का नाम आते मेरे मन अपनत्व का अनुभव करता है। मेरे शैशव के आरंभिक वर्ष वहीं गुजरे हैं। देश की आजादी के दूसरे वर्ष अर्थात् 1949 में जब मेरा जन्म हुआ तो मेरे माता- पिता विभाजन की गर्दिश को इलाहाबाद में झेल रहे थे ।

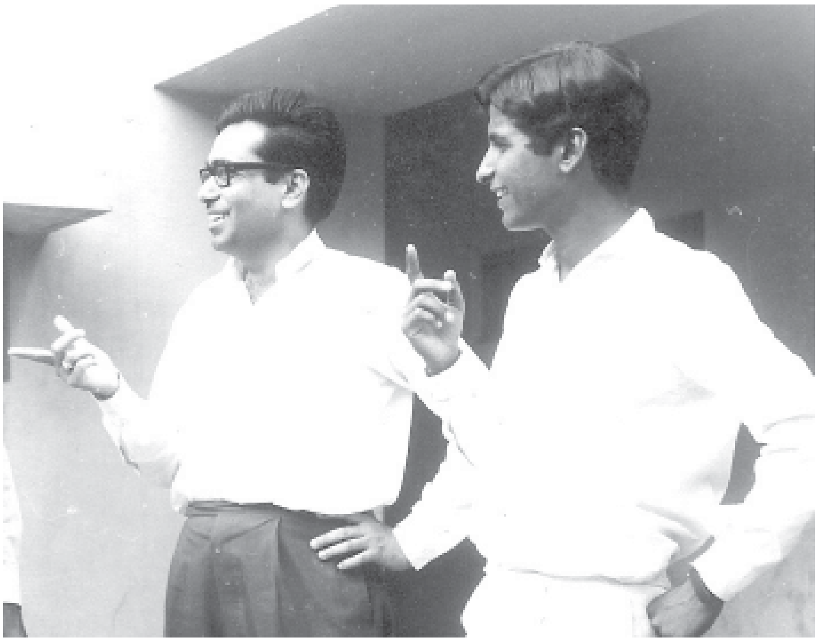

हस्तिनापुर कॉलेज में गुरु नरेंद्र कोहली और शिष्य– प्रेम जनमेजय, दिशा देखते समझते

इन दिनों कुंद्रा शब्द शिल्पा शेट्टी के पति राज कुंद्रा के कारण काफी पापुलर हो रहा है और पेज थ्री के पन्नों पर चमक रहा है। ऐसे में मैं भी बता दूं कि मेरे माता-पिता द्वारा दिया गया मेरा नाम प्रेम प्रकाश कुंद्रा है अवश्य है पर मेरा राज कुंद्रा से कोई संबंध नहीं है।

मेरे माता-पिता ने देश के विभाजन की त्रासदी झेली है। पिता सरकारी नौकरी पर थे और गांव से नौकरी करने लाहौर आते थे। पता चला कि गांव में खून-खराबा हो रहा है और उनके बहुत ही गहरे मुस्लमान दोस्त राशिद ने सलाह दी कि तुम इंडिया चले जाओ। पिता जो भी गाड़ी मिली उसमें बैठकर भारत आ गए। इस विभाजन के कारण पूरा परिवार बिखर गया। मेरी दादी और बुआ एक साथ थे। काफिले पर हमला हुआ। दादी मारी गई और मेरी बुआ, शीला विज्ञा जो इस समय शहडोल मे रहती हैं, उस समय छह वर्ष की थीं और उनके सर पर कुल्हाड़ी लगी थी। वे मेरी मृत दादी के पास खून में लथपथ थीं। तभी वहां कोई मुसलमान आया, उसने देखा कि बच्ची में जान है। उसने मेरी बुआ को उठाया, कुछ दूर चला, फिर पता नहीं उसके मन में क्या आया, मेरी बुआ को पास ही मढ़ैयों (श्मशान) में छोड़कर चला गया। अगले दिन फिर आया और देखा कि बच्ची में जान है। उसने उठाया और कुछ देर जा रहे मिल्ट्री के ट्रक वालों को सौंप दिया।

विभाजन की त्रासदियों का वर्णन लगभग एक जैसा ही कष्ट देता है। पर मेरे माता-पिता ने हम भाईयों को कभी उस खून-खराबे के किस्से नहीं सुनाए। मेरी मां तो जब भी अपने बीते दिनों को याद करतीं तो अपनी उन मुस्लिम सहेलियों के प्यार भरे बचपन और किशोरावस्था को याद करती जिनमें स्नेह और प्यार के धागे बंधे हुए थे। उन्होंने हमारे मन में कभी भी नफरत के बीज नहीं बोए। मेरे पिता ने तो हम तीनों भाईयों के नाम अपने हिसाब से, बिना किसी पंडित से नाम का अक्षर निकलवाए, एक सार्थक सोच के साथ रखे- प्रेम, सत्य और शांति। मेरा नाम तो इलाहबाद की गंगा के किनारे, पंडित जी ने त्रिवेणी प्रसाद कुंद्रा रखा था। यही नाम मेरी जन्म-पत्री में भी लिखा हुआ है। मेरे पिता ने कभी अपने नाम के साथ जातिवाचक चिह्न, कुंद्रा, का भी प्रयोग नहीं किया, उनसे संबंधित सभी कागजों में उनका नाम मात्र राम प्रकाश ही लिख हुआ है। इसी परंपरा में उन्होंने मेरे नाम के साथ, मेरे दोनों भाईयों के साथ भी कभी जातिवाचक चिह्न नहीं लिखवाया। स्कूली प्रमाणपत्रों से लेकर कॉलेज के प्रमाणपत्रों तथा कॉलेज में नौकरी के कागजों में मेरा नाम केवल प्रेम प्रकाश ही लिखा हुआ है।

मेरे पिता कहा करते थे कि तुम्हें अपने नाम सार्थक करने हैं, मैंने पूरा प्रयत्न किया है कि उनकी इस इच्छा का सम्मान कर सकूं।

जैसे हिन्दी का हर लेखक अपना आरम्भिक लेखकीय जीवन, काव्य लेखन के साथ करने के लिये विवश है, मैंने भी किया। परन्तु कविता के साथ कहानी की भी शुरुआत हो गयी। 1963-1966 के बीच मैं रामकृष्णपुरम् सेक्टर तीन के सरकारी स्कूल की नवीं कक्षा में पढ़ता था और विज्ञान का छात्र था। हमारे अंग्रेजी के अध्यापक श्री बत्तरा के प्रयत्नों के फलस्वरूप पहली बार किसी सरकारी विद्यालय ने अपनी पत्रिका निकालने का स्वप्न पूरा किया। मैंने उस

पत्रिका में, 1965 में, अंग्रेजी की एक कविता के माध्यम से, अपना तुच्छ योगदान दिया।

कविता जब प्रकाशित होकर आई तो अपनी ही कविता को छपा देखकर तथा उसकी प्रशंसा सुनकर मन और रचानाएं लिखने को प्रेरित हुआ। गर्मी की छुट्टियां होने वाली थीं और अध्यापक पढ़ाने में कम तथा अपने रजिस्टर और डायरियां लिखने में अधिक रुचि ले रहे थे। ऐसे में पिछले बैंच में बैठकर मैंने और मेरे सहपाठी मित्र सुदर्शन शर्मा ने एक कहानी लिखी, 'छुट्टियां'। सुदर्शन अब इस दुनिया में नहीं है और न ही उसके साथ लिखी वह कहानी ही किसी पत्रिका के पन्नों में जिंदा है, पर उसकी यादें आज भी किसी ताजा रचना की तरह जिंदा हैं। विज्ञान की पढ़ाई तथा दोबारा पत्रिका न प्रकाशित होने की विवशता ने उस कहानी को किसी अनाम कोने में जैसे गुम कर दिया, पर मेरे अंदर लिखने का इच्छा अपने पंख तलाशती रही।

ग्यारवीं की परीक्षा देने के बाद मेर पास कुछ करने को न था। बात 1966 की है। उन दिनों इंजीयनियरिंग आदि की परीक्षाओं के लिए गर्मियों की छुट्टियों का बलिदान नहीं करना पड़ता था। मेरे अंदर का लेखक फिर जागा और मैंने एक प्रेम-कथा लिखी– कल आज और कल। इसे मैंने गाजियाबाद से उन दिनों अपने शीघ्र प्रकाशन की घोषणा करने वाली पत्रिका 'खिलते फूल' में भेज दिया।

इधर हायर सैकेंडरी का परिणाम आया और मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय के आज के कॉलेज 'मोती लाल नेहरू कॉलेज' (जिसके वर्तमान प्रिंसिपल प्रसिद्ध कवि दिविक रमेश हैं)और इससे पूर्व डिग्री कॉलेज के रूप में और बाद में हस्तिनापुर कॉलेज के नाम से जाना गया, में गणित आनर्स में प्रवेश लिया। उन्हीं दिनों मेरी कहानी भी 'खिलते फूल' में प्रकाशित होकर आ गई। यह कहानी मैंने प्रेम प्रकाश 'शैल' के नाम से लिखी थी। मैंने यह कहानी उस समय हिंदी विभाग के अध्यक्ष स्व. महेंद्र कुमार को दिखाई। वे उन दिनों हिंदी आनर्स कोर्स आरंभ करने के लिए विद्यार्थी जुटा रहे थे। मैं उन्हें सुपात्र लगा और उन्होंने मुझे हिंदी आनर्स के लिए लगभग धकेलना आरंभ किया। मैंने जब कहा कि मैं विज्ञान का छात्र रहा हूं और मैंने तीन वर्ष तक हिंदी को छुआ तक नहीं है तो उन्होंने कहा कि मैंने बी.एस.सी. के बाद एम.एम. हिंदी की है। उन्होंने ये भी बताया कि उनके विभाग के एक अध्यापक नरेंद्र कोहली ने भी विज्ञान के बाद हिंदी आनर्स किया है। सन् 1966 में हिंदी के लिए आंदोलन भी चल रहे थे। अनेक कारण एकत्रित हुए और मैंने हिंदी आनर्स में प्रवेश ले ही लिया। मेरी प्रतियोगिता उन छात्राओं से थी जो न केवल तीन वर्ष तक हिंदी पढ़कर आई थीं अपितु हिंदी में अच्छे अंक भी लेकर आईं थीं। उनके मुकाबले मैं लगभग शून्य था। महेंद्र कुमार और नरेंद्र कोहली ने मेरी इस दुर्बलता को समझा और एक अच्छे गुरु की तरह मेरी हर प्रकार से सहायता की। ये गुरु कृपा का ही परिणाम था कि मैंने अपनी कक्षा के सभी विद्यार्थियों को पीछे छोड़ते हुए विश्वविद्यालय में तीसरा स्थान और लड़कों में प्रथम स्थान प्राप्त किया। अपने इस शैक्षिक विकास के लिए मैं आजन्म अपने गुरुओं का आभारी रहूंगा। नरेन्द्र कोहली और कैलाश वाजपेयी जैसे लेखकों को गुरु के रूप में पाने से एक पंथ दो काज हुए, पारंपरिक शिक्षा तो मिली ही, मेरी लेखकीय क्षमताओं का भी विकास हुआ। धीरे-धीरे कहानी, कविता लिखना, विभिन्न प्रतियोगिताओं में जाना, पुरस्कार प्राप्त करना जैसे मेरे जीवन का अंग बन गया। इसमें दिल्ली विश्वविद्यालय के तत्कालीन साहित्यिक माहौल का भी महत्वपूर्ण योगदान है। 'धर्मयुग' का बैठे ठाले और साप्ताहिक हिंदुस्तान का 'ताल बेताल' स्तंभ पहली पसंद बन गये । परसाई,जोशी और त्यागी की तिकड़ी का हास्य-व्यंग्य लेखन अपने रंग में रंगने लगा। उन दिनों टाईम्स ग्रुप की फिल्मी पत्रिका 'माधुरी' में मेरे व्यंग्य यदा-कदा प्रकाशित होने लगे। उन दिनों कैलाश वाजपेयी के प्रभाव में मैंने आधुनिक कविताएं लिखीं तो एम.ए. में प्रसाद स्पेशल होने के कारण छायावदी प्रभाव की कविताएं भी लिखीं। नरेंद्र कोहली के गद्य-व्यक्तित्व ने मुझे आकर्षित किया ओर उन्होंने जो आत्मीय-समय दिया उसने मुझे उनके बहुत करीब भी किया। प्रतियोगिताओं में सम्मिलित होने के लिए कॉलेज स्तर पर हमें बकायदा तैयार किया जाता था। कहानी या वाद-विवाद प्रतियोगिता में भाग लेना हो तो नरेंद्र कोहली तैयारी करवाते थे और यदि कविता प्रतियोगिता हो तो कैलाश वाजपेयी तैयारी करवाते थे। कैम्पस के प्रतियोगियों के होते हुए कोई पुरस्कार पा लेना शेर के मुंह से शिकार छीन लेने के बराबर होता था।

उन दिनों मैं हरिशंकर परसाई के लेखन से मैं बहुत ही प्रभावित हुआ और उनकी व्यंग्य संबंधी मान्यताओं से लगभग सहमत। परसाई में विसंगतियों को लक्षितकर उनकी दृष्टिसम्पन्न विश्लेषणात्मक रचनात्मक अभिव्यक्ति ने मेरे व्यंग्य-लेखन को और गति दी।

नरेंद्र कोहली का मेरे लेखकीय विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। लेखन उनके लिए मिशन है, जनून है और जीवन की प्राथमिकता है। लेखक के रूप में प्रेमचंद उनके आदर्श हैं। लेखन को प्राथमिकता देने का संस्कार नरेंद्र कोहली ने प्रेमचंद के जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर सुदृढ़ किया है। हमारे विद्यार्थी काल में वे अक्सर प्रेमचंद के उदाहरण देते थे। जैसे कि प्रेमचंद एक हाथ से लिख रहे हैं और दूसरे से गोद में बैठे बच्चे को थपका भी रहे हैं। नरेंद्र कोहली अपने आरंभिक काल में न केवल अपने लेखन के प्रति सजग रहे अपितु उन नवलेखकों के भी सजग-सहायक रहे जो घुटनों चलना सीख रहे थे। नए लेखकों की रचनाओं को गंभीरता से ठीक करना, उनके भाषा दोषों को सुधारना। नरेंद्र कोहली ने ये परंपरा अपने गुरु चंद्रभूषण सिन्हा से ग्रहण की। इसी परंपरा के तहत उन्होंने कॉलेज में लेखक-मंडल की गोष्ठियां आरंभ की। (इसी परंपरा को मैंने त्रिनिदाद में अपने प्रवास के दौरान शुरु किया।) इन गोष्ठियों में अधिकांशत: हिंदी आनर्स के ही छात्र थे। लेखक-मंडल की गोष्ठी के स्थायी अध्यक्ष नरेंद्र कोहली होते थे। गोष्ठी में शामिल होने वाले रचनाकार के लिए शर्त थी कि वह अपनी नई रचना लेकर आएगा, उसका पाठ करेगा, तत्पश्चात् सभी अपनी तरह से प्रतिक्रिया जाहिर करेंगे और हो सकेगा तो सुझाव देंगे तथा अंत में नरेंद्र कोहली रचना का 'छिद्रान्वेषण' करते। आरंभ में कुछ गोष्ठियां कॉलेज में हुईं परंतु व्यवस्था ठीक न लगने के कारण तथा लड़कियों के देर तक न रुक पाने के कारण ये गोष्ठियां रविवार को नरेंद्र कोहली के तत्कालीन

निवास-स्थान एस-362 ग्रेटर कैलाश पार्ट-1 दिल्ली में होने लगीं। गोष्ठी का समय समान्यत: 9 बजे होता पर दस बजे के लगभग ही गोष्ठी आरंभ हो पाती। आरंभ में इन गोष्ठियों में हस्तिनापुर कॉलेज से जुड़े लेखक ही होते। कुछ के नाम मुझे याद हैं- वीणा, रंजना, सुमन, जोगेंद्र सिंह, कुसुम, सुरेश कांत, राजेश कुमार, हरिमोहन, दिनेश कपूर आदि। बाद में लोग जुड़ते और बिछुड़ते गए। इन गोष्ठियों में दिविक रमेश, सुधीश पचौरी, क्षमा शर्मा, रमेश बतरा, मीरा सीकरी, तेजेंद्र शर्मा, गीता विज, शैलेंद्र, आशा जोशी, रमेश ठगेला आदि भी आते-जाते रहे। मैं निरंतर इन गोष्ठियों में शामिल रहा। कई बार तो, किसी-किसी गोष्ठी में मैं नरेंद्र कोहली और उनकी पत्नी मधुरिमा कोहली ही होते। इन गोष्ठियों का लाभ ये हुआ कि गोष्ठी के लिए नई रचना लिखने का दबाव रहता, नरेंद्र कोहली के पास आने वाली साहित्यिक पत्रिकाओं को पढ़ने का सुअवसर मिलता और रचनाएं प्रकाशनार्थ किन पत्रिकाओं में भेजी जा सकती हैं, इसका परामार्श मिलता। नरेंद्र कोहली ने चाहे अपने लेखन का आरंभ कविताओं से किया परंतु बहुत जल्दी उनका गद्यकार उनपर हावी हो गया और इतना कि नई कविता की इस हद तक कटु आलोचना करने लगा कि नए कवि 'लेखक मंडल' की गोष्ठी में आने से कतराने लगे। मैं कतराया तो नहीं पर गद्य की ओर प्रमुखता से मुढ़ गया। विश्वविद्यालय में आयोजित होने वाली कविता-प्रतियोगिताओं के लिए या वैसे ही मैं कोई कविता लिखता तो उसे कैलाश वाजपेयी को दिखाता और उनसे परामर्श लेता। कैलाश वाजपेयी के प्रभाव में मैंने अनेक कविताएं लिखीं।

हस्तिनापुर कॉलेज का पहला हिंदी आनर्स का बैच सन् 1969

लेखक मंडलीय गोष्ठी के आरंभिक दौर में मैं रामकृष्णपुरम् के सेक्टर-1 के सरकारी क्वार्टर न0 833 में अपने पिता को मिले सरकारी क्वार्टर में रहता था। हमारे पड़ोस मे, शायद 839 में आज के प्रसिद्ध कथाकार विजय रहा करते थे। आरंभ में मैंने प्रेम प्रकाश 'निर्मल', प्रेम प्रकाश 'शैल' तथा परीक्षित कुंद्रा के नाम से कहानियां लिखीं जिनमें 'कल आज और कल', 'अभिव्यक्ति', 'समुद्र', 'बस स्टॉप की भीड़' आदि हैं। प्रसाद मेरे प्रिय लेखक रहे। मुझे उनका नाटक 'जनमेजय का नागयज्ञ' अपने व्यंग्यात्मक तेवर के कारण बहुत पसंद था / है। उसी नाटक से मैंने अपने लिए जनमेजय उपनाम पसंद किया तथा नरेंद्र कोहली से, एक पत्र द्वारा, इस उपनाम को रखने का परामर्श मांगा। उन्होंने स्वीकृति दी। प्रेम जनमेजय उपनाम से मैंने पहली व्यंग्य रचना 'राजधानी में गंवार' अगस्त 1969 लिखी जिसे मैंने लेखक-मंडल की गोष्ठी में पढ़ा। इस रचना को लगभग सबने पसंद किया, नरेंद्र कोहली ने भी परंतु कुछ किंतु-परंतु के साथ। ये पहली रचना थी जिसे मैंने सरोजिनी नगर में टाईप सीखने जाने वाली दूकान में स्वयं हिंदी में टाईप भी किया।

मैंने नरेंद्र कोहली को पिछले 43 वर्षों से निकट से देखा रहा हूं और इस निकटता में निरंतर विकास भी हुआ है परंतु शुक्र है कि इन 43 वर्षों में हमारा कभी 36 का रिश्ता नहीं रहा। एक अध्यापक के स्थापित हुआ यह नैकट्य पारिवारिक संबंधों में निरंतर विकसित होता गया। मेरे जीवन के हर महत्वपूर्ण निर्णय के या तो वे परामर्शदाता रहे अथवा साक्षी। इस बीच अनेक ऐसे अवसर आए जहां वैचारिक मतभेद उभरे- 'जनयुग' में मेरा लेखन और व्यंग्य लेख 'नेकरों की वापसी', जबलपुर 'प्रगतिशील लेखक सम्मेलन', हरिशंकर परसाई का वैचारिक अनुकरण, नरेंद्र कोहली पर 'खाकी नेकर, लाल सलाम' जैसा आलेख, 'इंडो रशियन लिटरेरी क्लब' के महासचिव के रूप में नरेंद्र कोहली के धुर विरोधियों के साथ निकटता, श्रीलाल जी के साथ 'हास्य व्यंग्य संकलन' के सहयोगी संपादन के दौरान निकटता, 'व्यंग्य यात्रा' को व्यापक मंच में परिवर्तित करना आदि आदि, मतभेद उभरे परंतु संबंध-दरार विहीन रहे। नरेंद्र कोहली के साथ इस निकटता के आधार पर मेरा आकलन है कि लेखन के अपने आरम्भिक दौर में नरेंद्र कोहली जितने तार्किक, आक्रोशी, मधुर-नास्तिक और महत्वाकांक्षी थे आज उसके स्थान पर संतोषी, भक्त और सहृदय अधिक हो गए हैं। मांस खाने के लिए किसी भी दिन को अछूत न मानने वाले और नवरात्र के दिनों में भी परहेज न करने वाले नरेंद्र कोहली मंगल का उपवास रखने लगे हैं। वैसे पुराने प्रेम को भूलना और पुरानी प्रवृत्ति को छोड़ना कुछ कठिन होता है अत: यदि उनमें उनके पुराने गुण भी यदा-कदा दिखाई दे जाएं तो मुझे झूठा सिद्ध करने का प्रयत्न न करें। जैसे उनका एक 'गुण', मनमाफिक न होता देख तुरत प्रतिक्रिया स्वरूप अपने आक्रोश को अभिव्यक्त कर देना, की हो सकता है कुछ गति हो गई हो, परंतु विलीन हो गया हो, ऐसा नहीं कह सकते। दूसरे शब्दों में कहूं तो वे डिप्लोमैसी बहुत कम जानते हैं। नरेंद्र कोहली के लेखकीय जीवन के आरंभिक दौर में जुड़े अनेक सज्जन धीरे-धीरे या एक झटके में, छितर कर अलग हो गए। कुछ के लिए तो नरेंद्र कोहली का नाम ही अस्पृश्य हो गया, नरेंद्र कोहली के नाम को पचाना उनके लिए मुश्किल था। उनमें से अनेक मेरे अग्रज, मित्र और शुभचिंतक थे और

आज भी हैं। मेरे कुछ मित्रों ने मुझसे सवाल भी किए कि एक ही समय में तुम हमसे और उनसे कैसे संबंध रख सकते हो? कुछ ऐसा ही सवाल नरेंद्र कोहली ने भी अपने एक लेख में लिखा है– ' प्रेम के विषय में सामान्यत: कहा जाता है कि वह संबंधों को पूरी तरह से निभाता है, यद्यपि मैंने कुछ लोगों से उसके संबंध टूटते हुए भी देखे हैं। साहित्य के माध्यम से बने हुए, बहुत सारे संबंध स्वार्थ के आधार पर बनते हैं और फिर प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्यावश टूट जाते हैं। साहित्य की राह से होकर ही प्रेम के बहुत सारे ऐसे मित्र भी बने, जो किसी कारण मुझे सहन नहीं कर सकते थे, अथवा मेरे साथ उनकी पटरी नहीं बैठती थी। मुझे अनेक बार लगा कि उनकी संगति प्रेम को मुझ से दूर ले जा रही है। सामयिक रूप से कुछ ऐसा हुआ भी। किंतु संबंधों की यह शिथिलता बहुत दीर्घकालीन सिद्ध नहीं हुई। उनका नैसर्गिक रंग पुन: पुन: लौट कर आया।' मैं सबंध कैसे रख पाता हूं, ये मैं भी नहीं जानता पर इतना जानता हूं कि इसके पीछे अप्रत्यक्ष रूप से अपने पिता की उस इच्छा का सम्मान है कि मुझे अपना नाम सार्थक करना है और इसका ध्यान मैंने केवल नरेंद्र कोहली के साथ ही संबंधों में नहीं रखा है अपितु अन्य साहित्यिक एवं पारिवारिक संबंधों में भी रखा है। इसी कारण शायद मेरे हिस्से के नरेंद्र कोहली केवल मेरे ही हिस्से के हैं। मेरे हिस्से के ये नरेंद्र कोहली औरों के हिस्से से भिन्न हो सकते हैं, मेरे प्रति कुछ अधिक उदार होकर। मेरे इस हिस्से में उनके अनेक रूप हैं, इतने से जीवन की हैं अनंत कथाएं, इतनी कि, मैं लिखते-लिखते थक जाऊं पर वे समाप्त न हों।

अपने हिस्से के नरेंद्र कोहली के विभिन्न रूपों के कुछ अंशों का वर्णन करने का प्रयत्न कर रहा हूं। एक तो आलेख की अपनी सीमा है और दूसरी मेरी सीमा कि रचना का आकार बड़ा होते ही मेरा लेखकीय मन असहज होने लगता है, लेख के 'बड़प्पन' को संभाल नहीं पाता है।

अध्यापक और लेखन परामर्शदाता के रूप में नरेंद्र कोहली के मेरे युवा काल में योदगान का मैं उल्लेख कर ही चुका हूं। कॉलेज से आरंभ हुआ यह सबंध लेखकीय कर्म की समानता के कारण, कॉलेज की पत्रिका, साहित्य सभा से होता हुआ 'लेखक मंडल' के माध्यम से नरेंद्र कोहली परिवार का हिस्सा बनने, 'अतिमर्श' के प्रकाशन सपादन और वितरण, साहित्यिक यात्राओं, साहित्यिक गोष्ठियों, सरोजिनी नगर के तरणताल, मेरे विवाह, उनके और मेरे बच्चों के जन्मदिन, नरेंद्र कोहली के पुत्र कार्तिकेय के विवाह, त्रिनिदाद और टोबैगो में नरेंद्र कोहली की पहली विदेश-यात्रा आदि आदि तक जाता है। नरेंद्र कोहली के माध्यम से मैं दिनकर, नार्गाजुन, अज्ञेय, विष्णुकंत शास्त्री, महीप सिंह, मनहर चौहान, विजया चौहान, रमानारायण उपाध्याय, कृष्णा अग्निहोत्री, विवेकी राय, पराग प्रकाशन के श्रीकृष्ण, सी भास्कर राव, सुधीश पचौरी, क्षमा शर्मा, मीरा सीकरी, नरेंद्र मौर्य, तेजेंद्र शर्मा आदि साहित्यकारों से मिल पाया।

नरेंद्र कोहली के लेखकीय व्यक्तित्व एवं वैचारिक दृष्टिकोण में परिवर्तन की शुरुआत का एक महत्वपूर्ण कारण रामकथा पर आधारित उपन्यासों की श्रृंखला की पहली कड़ी, 'दीक्षा' का लेखन है। यह नरेंद्र कोहली का अत्यधिक महत्वाकांक्षी प्रोजेक्ट था जिसको प्रकाशकों की आरंभ में उपेक्षा ही मिली। 'एक पांडुलिपि की यात्रा' में नरेंद्र कोहली ने अपनी फ्रस्ट्रेशन, आक्रोश, अवसाद आदि का विस्तार से वर्णन किया है। नरेंद्र कोहली ने दीक्षा की भूमिका में लिखा– एक महत्वपूर्ण बात और थी– राम का चरित्र। अनेक उद्भट्ट विद्वानों ने इस चरित्र की विभिन्न संभावनाओं को देखने से इनकार कर उसे एक आदर्श जड़ चरित्र घोषित किया था। और मैंने शैशव से राम को एक अत्यंत सहज मानवीय चरित्र के रूप में देखा था। मेरे मन के राम ने मुझे सदा एक जनवादी, समता तथा न्याय पर आद्धृत चेतना दी थी। सामंती और पूंजीवादी चेतनाओं के सर्वथा विरुद्ध राम मुझे सदा जनवादी नैतिकता के ध्वजवाहक दिखे थे। . . .वानर-भालू जैसी पिछड़ी हुई आदिम जातियों को गले लगाकर, उन्हें अपने भाईयों के समान मानकर, उन्हें शून्य से उठाकर पूंजीवादी, साम्राज्यवादी राक्षस रावण के सम्मुख खड़ा कर, उसे पराजित कर देने वाले राम को जाति, संप्रदाय तथा अध्यात्म की श्रृंखलाओं में बंधे देख पीड़ा का ही अनुभव हुआ था।'

यदि मैं यह कहूं कि नरेंद्र कोहली लिखित राम-कथा से मेरा बहुत गहरा और पास का रिश्ता है तो अत्युक्ति न होगी। रामकथा के पहले खंड के रूप में दीक्षा का पहला संस्करण दिसम्बर 1975 में आया था और मेरे पास नरेंद्र कोहली के, प्रेम और आशा के लिए, हस्ताक्षर युक्त प्रति पर 24 दिसम्बर 1975 की तिथि अंकित है। यह प्रति अनेक मान्यों में मेरी अमूल्य धारोहर है । अमूल्य सहायता और सहयोग के लिए नरेंद्र कोहली ने भारत भूषण अग्रवाल, रमेश उपाध्याय, दिविक रमेश, मीरा सीकरी समेत जिन आठ रचनाकारों का आभार स्वीकार किया है, उनमें मेरा नाम सबसे पहले है। मैं जब भी इस प्रति को देखता हूं, स्वयं को एक अलिखित इतिहास का हिस्सा अनुभव कर रोमांचित हो जाता हूं। पुस्तक पढ़ते समय पुस्तक को, पेन या पेंसिल से, अपने तात्कालिक विचारों के शब्दचित्र बनाकर खराब करने की मेरी बहुत खराब आदत है। मेरी इसी खराब आदत ने दीक्षा की इस प्रति के पहले पृष्ठ पर मुझसे लिखवा दिया था– अद्भुत। मुझे याद है 'दीक्षा' को खंडों में अनेक बार सुना, पर फिर भी जब प्रकाशित होने के पश्चात् 24 दिसम्बर की शाम मुझे इसकी प्रति मिली तो मैं रात भर इसे पुन: पढ़ गया। सिद्धाश्रम में राक्षसों के आतंक का रोमांचित प्रसंग, आश्रमवाहिनी का निर्माण, मानवीय कल्याण तथा शोषण पर आधारित सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध अपने चिंतन के आलोक में विश्वामित्र द्वारा राम को दी गयी दीक्षा में चिंतन और कर्म के समन्वय की अवधारण, अहल्या-प्रसंग की तार्किक व्याख्या आदि अनेक ऐसे प्रसंग थे जिन्होंने मेरे प्रगतिशील युवा मन को अत्यधिक गहरे प्रभावित किया था। पौराणिक और सांस्कृतिक मूल्यों की इस आधुनिक, तार्किक और बौद्धिक राजनैतिक व्याख्या ने मुझे चमत्कृत कर दिया था। पहली बार किसी ने राम-कथा को औपन्यासिक शिल्प में सशक्त रूप में बांधा था। सम्भवत: राम-कथा की इन्हीं शक्तियों ने मुझसे 'दीक्षा' की प्रति पर मुझसे प्रतिक्रिया स्वरूप लिखवा दिया था– अद्भुत!

यह नरेंद्र कोहली के विचारों को शुरुआती दौर था। परंतु नरेंद्र कोहली को एक पक्ष से मिली उपेक्षा और दूसरे से मिले अतिरिक्त सम्मान ने उनके वैचारिक सोच को ही बदल दिया। उस दौर को याद

करते हुए राजेश कुमार से बातचीत में नरेंद्र कोहली कहते हैं- एक ओर वे लोग थे, जो यह कह रहे थे कि रामायण को नए ढंग से, हमारे युगानुकूल बनाकर, रामकथा को हमारी वेवलेंग्थ पर उपलब्ध करा दिया गया है, इसलिए हमको यह प्रीतिकर है। दूसरी ओर वे लोग थे, जो यह कह रहे थे कि हमारी धार्मिक कथा को परिवर्तित कर उसे विकृत और भ्रष्ट किया गया है। वे प्रसन्न नहीं थे। एक ओर वे लोग थे, जो यह कह रहे थे कि यह सामंती, साम्राज्यवादी, पुरानी मान्यताओं को स्थापित करने वाला लेखक है, इसलिए यह प्रगतिशील नहीं है। दूसरी तरफ वे लोग थे, जो यह कह रहे थे कि यह तो कम्यूनिस्ट रामायण हो गई, इसमें तो आज के वे सारे सिद्धांत आ गए। तो मैं स्वयं नहीं जानता था कि यह किस पाठक के लिए है, किस उम्र के पाठक के लिए है, किस विचार के पाठक के लिए है। . . .मुझे लगता है कि यह जीवन तो एक मात्र है, इसका विकास होता है। अलग-अलग समय में अलग-अलग तरह के लोग साथ आते रहते हैं। एक समय था कि जब मैं प्रगतिशील लेखक संघ का उपाध्यक्ष था, एक वह समय था जब मैं सी.पी.एम. (कम्यूनिस्ट पार्टी, मार्क्सवादी) के प्रत्याशियों के लिए वोट मांगता फिरता था। लेकिन अब मैं दूसरी तरह का व्यक्ति हूं और मुझे लगता है कि मेरी अपनी स्वाभाविक दिशा यही थी और है।' नरेंद्र कोहली के व्यक्तित्व के इसी परिवर्तन को लक्षित कर मैंने लेख लिखा था- खाकी नेकर, लाल सलाम। उस समय वे मेरे इस लेख से खिन्न भी हुए थे।

राम कथा को मैं नरेंद्र कोहली द्वारा नर से नारायण तक पहुंचने के प्रयत्न का पहला सोपान मानता हूं। बिंदु अग्रवाल का दिए गए साक्षात्कार में, महाभारत के कथ्य में भिन्नता के प्रश्न का उत्तर देते हुए नरेंद्र कोहली कहते हैं, 'रामायण और महाभारत कथ्य के लिखने में दस वर्ष का अंतराल है। इन दस वर्षों में मेरे भीतर भी बहुत कुछ बदला है। दूसरे मुझे लगता है कि रामायण की तुलना में महाभारत में कहीं अधिक आध्यत्मिकता है। तुलसी की बात मैं नहीं कर रहा, बाल्मीकी की रामायण की कर रहा हूं।. . . मेरी रामकथा में जैसे धर्म, अध्यात्म भक्ति इत्यादि को निकालकर अलग रख दिया गया है, वैसे महाभारत में नहीं। इस प्रकार महाभारत पर आधारित मेरे उपन्यासों के चरित्रों और कथ्यों में परिवर्तन कुछ ग्रंथ के कारण है और कुछ मेरे मानसिक परिवर्तन के कारण।' मेरा मन इस बात को तो स्वीकार कर लेता है कि नरेंद्र कोहली के लेखन में अध्यात्म का स्वर मानसिक परिवर्तन के कारण सुनाई देने लगा पर यह मानने को तैयार नहीं होता है कि रामायण की तुलना में महाभारत में कहीं अधिक आध्यात्मिकता है। नरेंद्र कोहली ने जब अभिज्ञान लिखना आरम्भ किया तो सुदामा के रूप में उनके मन में बाबा नागार्जुन का चरित्र परोक्ष में विद्यमान था और वो सुदामा के अभिज्ञान की कथा ही लिखने के लिए बैठे थे परन्तु लिखते-लिखते वह कृष्ण की कथा बन गई और इस बात को तो नरेंद्र कोहली ने स्वीकार भी किया है। 'मैंने अभिज्ञान लिखना आरंभ किया। सुदामा की कथा अच्छी-खासी चल रही थी कि द्वारका में वे कृष्ण के पास पहुंचे। मैं अपनी कथा लिखता रहा। पर इसी लेखन के दौरान मुझे कृष्ण के विराट रूप का आभास मिला। तब बेचारे सुदामा कहां टिकते। उपन्यास में भी कृष्ण और उनका कर्म-सिद्धांत प्रधान हो गया। अब मुझे लगता है कि अभिज्ञान में चाहे कथा सुदामा की हो किन्तु उसका मेरूदंड कर्म-सिद्धांत ही है।' ध्यान दीजिए, लेखक कह रहा है कि इसी लेखन के दौरान मुझे कृष्ण के विराट रूप का आभास मिला। यह आभास केवल लिखते हुए या कृष्ण संबंधी ग्रंथ पढ़ते हुए नहीं हुआ है अपितु इसके पीछे व्यक्तिगत कारण भी हैं। लेखक के जीवन में कुछ ऐसी घटनाएं घटित हुईं जिन्होंने उस विराट शक्ति का आभास करवाया। नरेंद्र कोहली की एक विशेषता है, वे दूसरे के बहकावे में जल्दी से नहीं आते हैं, तर्क करते हैं और जब तक स्वयं अनुभव नहीं कर लेते स्वीकार नहीं करते हैं। यही कारण है कि तुलसी के अनुभव को, उनके लिखे को उनके तार्किक मन ने नहीं माना परन्तु जब जीवन में अनुभव हुआ तो नरेंद्र कोहली ने लिखकर स्वीकार किया, 'मुझे अनुभव हुआ, जो ईश्वर यहां है, वह वहां भी है। मन ने प्रश्न किया, 'क्या यह भयभीत मन की आस्थामात्र है? जब कोई सहारा नहीं मिला तो संयोग को ही ईश्वर मान लिया?' पर मैं देख रहा था कि मेरी स्थिति इससे भिन्न थी। वह एक विचित्र मनोदशा थी। ईश्वर मेरे सम्मुख उपस्थित नहीं था, किंतु वह मेरे चारों ओर वर्तमान था। मैं उसे देख नहीं सकता था। किंतु उसका अनुभव कर सकता था। मेरा मन कृतज्ञता से भरा हुआ था। मैं समझ रहा था कि मेरे किए जो नहीं हो सकता था, वह भी घटित हो रहा था। मेरे लेखन में अक्समात श्रीकृष्ण चले आए थे।. . .मन जिस सात्विकता का अनुभव कर रहा था, वह कोई असामान्य, इंद्रियातीत, पारलौकिक अनुभव नहीं था। इस एक प्रकार की स्वच्छता और उदारता से परिचय मात्र था, जो पहले सुनी और पढ़ी तो थी किंतु मेरे अनुभव संसार का अंग नहीं थी।'

नरेंद्र कोहली अपने लेखकीय जीवन के आरंभिक दौर में 'कहानी', 'मुक्ता', 'सारिका', 'धर्मयुग' एवं 'पांचजन्य' आदि में एक साथ प्रकाशित हुए। उन दिनों समांतर कहानी, सचेतन कहानी, जनवादी कहानी आदि के दौर थे ओर लेखक तय करके चलते थे कि कहां छपना है ओर कहां नहीं। उन्हीं दिनों सेठीय पत्रिकाओं में छपने का विरोध भी चालू हुआ था। ऐसे में किसी भी को अछूत न मानकर कहीं भी छपना और किसी भी आंदोलन में शामिल न होना, क्या नरेंद्र कोहली के विरोध का कारण है। ऐसे में न तो उन्होंने स्वयं को डिफेंड किया और न किसी पार्टी ने उन्हें। नरेंद्र कोहली की लेखकीय महत्वाकांक्षा ने जो मार्ग दिखाया उसे उन्होंने अपना लिया। लेखन नरेंद्र कोहली की प्राथमिकता है, जिसके लिए वे दिल्ली विश्वविद्यालय की लेखन के लिए अत्यधिक सुविधाजनक नौकरी छोड़ सकते हैं, विदेश यात्रा के मोहक प्रस्ताव ठुकरा सकते हैं। वे किसी को प्रसन्न करने के लिए नहीं स्वयं संतुष्ट होने के लिए लिखते हैं। उन्हें जो जंचता है, वे वही लिखते हैं। ऐसा नहीं है कि वे प्रकाशकों या पत्रिका के संपादकों की मांग पर नहीं लिखते, लिखते हैं परंतु यदि उनके लेखकीय मन को वह जंचता है। जो पूरा कथाओं पर आधारित लेखन पसंद करता है, उनको लगता है कि व्यंग्य जैसा कूड़ा क्यों लिखते हैं नरेंद्र कोहली और जो व्यंग्य के पाठक हैं, वे कहते हैं कि नरेंद्र कोहली कहां पुराकथाओं में समय नष्ट कर रहे हैं। मेरे हिस्से में तो दोनों नरेंद्र कोहली हैं।

संस्मरण
त्रिनिदाद की एक शाम

सूर्यबाला

आप! चुप रहिए

अब तक मैं लगभग मान बैठी हूं कि नरेंद्र (कोहली) जी मुझ पर कभी भी 'कुपित' हो सकते हैं, पूरे अधिकार और अपनेपन के साथ। (यद्यपि वह बड़े यत्न के साथ इस अपनत्व भाव को छुपाए रहते हैं. . .) शायद उन्हें पता है कि मुझे उनका झिड़कना रास आता है। भला लगता है. . .(न लगता होता तो मैं उन्हें इसका अवसर क्यों देती)

मैं खुद भी अपनी आदतों से लाचार हूं। प्राय: भूल जाती हूं कि लोग मुझे एक वरिष्ठ लेखिका और उम्र दराज महिला के रूप में देखते हैं और मुझे अपने आपको उसी रूप में प्रस्तुत करते रहना चाहिए. . .लेकिन चूंकि मुझे खुद अपनी तरफ देखने की ज्यादा फुर्सत नहीं होती इसलिए अवसर मिलते ही मैं उम्रदराजी का लबादा उतार, जो मन में आया, कर बैठती हूं।

ऐसा ही हो गया उस शाम। त्रिनिदाद में हुए अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन की समापन संध्या थी वह। प्रमुख संयोजक की हैसियत से प्रेम (जनमेजय) ने बड़े आदरभाव से बुलाया था और अब तक के मेरे देखे सुने अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों की घनघोर अव्यवस्था की तुलना में यह सम्मेलन पूरी तरह व्यवस्थित, भव्य, सही मायने में विश्वस्तरीय था। अभ्यागतों के आतिथ्य से लेकर उनके आलेखों, अभिकारणों की गुणवत्ता तक। मेरा कमरा नरेंद्र जी एवं मधुरिमा (कोहली) जी की बगल में था और हमारे कमरों के ठीक सामने, एकदम नीचे झुकी डालों तक, आमों से लदे-फंदे तीन चार पेड़ थे। जिनके नीचे खड़े होकर मैंने, मधुजी ने नरेंद्र जी से तीन चार चित्र भी खिंचवाए थे।

समापन समारोह में अभ्यागतों को समान चिन्ह प्रदान करने के उपरांत लोकगीत, नृत्य तथा त्रिनिदादी भोजन की भी व्यवस्था थी। अपने अंचल के लोकगीत मुझे वैसे भी विभोर कर देते हैं और मैं मानती हूं कि हमारी इन लोकधुनों की गतिमयता, तेजबीट एक न एक दिन, बल्कि बहुत जल्दी ही सारी पश्चिमी 'बीट्स' को पछाड़कर समूचे विश्व पर छा जाने वाली है।

वहां भी समा बंधा तो कुछ लोगों के पैर नृत्य के ताल पर थिरक उठे। चूंकि वातावरण अत्यंत स्वस्थ एवं संभ्रांत था, मेरे लिए स्वयं भी अपने को रोक पाना कठिन होने लगा क्योंकि शास्त्रीय लोकगीत तथा नृत्य में मेरे प्राण बसते हैं।

मैंने मधुरिमा जी से नृत्य के लिए उठने का बहुत अनुरोध किया लेकिन वे स्वतंत्र चेता नारी होते हुए भी पति के नुकते समझने वाली सहधर्मिणी भी हैं। अत: टाल गईं। लेकिन मेरे लिए अब स्वयं को रोक पाना असंभव था। थोड़ी ही देर को सही पर शामिल हुई और प्रसन्न मन अपनी जगह वापस आ बैठी, इस बात से पूरी तरह बेखबर कि नरेंद्र जी को यह थोड़ा नागवार अवश्य गुजरा था।

स्वयं कुछ न कहने पर भी बातों-बातों में (उनकी मुद्रा से भी) यह उजागर हो उठा। मैंने दूसरी गलती यह कि यह आशय भांपने के बाद तरह-तरह के तर्कों से प्रकारांतर से अपने नृत्य वाले कृत्य को 'जस्टीफाई' करने की कोशिश करने लगी जैसे कि कभी-कभी सहज, सामान्य हो जाने में बुरा कुछ नहीं. . .नृत्य, 'रिलेक्सेशन' का बड़ा सशक्त माध्यम है। हमेशा विशिष्ठ ही क्यों बने रहा जाए. . .आदि इत्यादि. . . ठीक याद नहीं, किस बात पर लेकिन नरेंद्र जी अंतत: झल्ला कर भभक पड़े। आप तो (बस) चुप रहिये'

उनका कहना कि अलग-बगल के इष्ट मित्र मुस्कुरा पड़े। उस समय तो खैर किसी की क्या हिम्मत पड़ती लेकिन आगे पीछे यह जुमला लोगों का तकिया कलमा बन गया। एकाध बार तो मित्रों ने मुझ पर भी दुहरा डाला। 'आप चुप रहिये. . .' और दोनों पक्ष खुलकर हंस पड़े।

लेकिन इस संस्मरण का समापन अभी बाकी है। सम्मेलन से लौटकर मैं बॉस्टन (अमेरिका) गई थी। दस पंद्रह दिनों बाद एक लिफाफा मिलता है। अंदर आमो से लदे पड़ों के नीचे खिंचे, मेरे और मधु जी के चित्र। साथ में नरेंद्र जी की पंक्तियां 'आपके लिए त्रिनिदाद के आम भेज रहा हूं. . .'

हास्यम्-व्यंग्यम्

(हास्य-व्यंग्य का अनूठा आयोजन)
पुरस्कार समारोह विशेषांक-2009
संपादक
गिरिजाशंकर त्रिवेदी, मदन केवलिया
सहायक संपादक
कैलाश जाटवाला
349, ए-1 बिल्डिंग शाह एंड नाहर
इंडस्ट्रियल एस्टेट, धनराज मिल्स कंपाउंड
सीताराम जाधव मार्ग, लोअर परेल, मुंबई-13

हरिशंकर आदेश

एक अप्रतिम प्रतिभा

मेरे विचार में डॉ. नरेंद्र कोहली एक ऐसे सुपरिचित हस्ताक्षर हैं, जिससे कदाचित् कोई प्रगतिशील बुद्धिजीवी अपरिचित हो। जब मैंने प्रथम बार डॉ. कोहली के धारावाहिक रूप से प्रकाशित होने वाले 'महासमर' एवं 'अभ्युदय' नामक उपन्यासों के कुछ खण्ड पढ़े तो आभास हुआ कि यह व्यक्ति कोई सामान्य लेखक अथवा व्यंग्यकार न होकर एक अनूठी प्रतिभा का धनी है, कल्पना एवं समाहार शक्ति का ऊर्जावान पुंज है, गंभीर चिंतक एवं मनीषी विद्वान है: इसके मन-मस्तिष्क में केवल 'बाल्मीकी' का मर्यादावादी 'वशिष्ठ ही नहीं अपितु 'विश्वामित्र' जैसा महान क्रांतिकारी तपोपूत शक्ति-स्त्रोत है भी विद्यमान है, जो राम के हाथों केवल आतंकवादिनी ताड़का का वध ही नहीं करता अपितु उच्च वर्ग द्वारा शोषित, प्रताड़ित एवं पददलित तपस्विनी अहिल्या का उद्धार भी न्याय संगत रूप में करवा सकता है। इतना ही नहीं इन दोनों महार्षियों से बढ़कर उनके विचार लोक में रमा हुआ है। त्रेतायुग का सर्वश्रेष्ठ ऊर्जावान , तापसी क्रांतिकारी, संगठन कर्ता, समर-पटु, अपराजये 'कुंभज' (अगस्त्य) है। उसी क्षण से मैं उनका पाठक बन गया। उनसे साक्षात्कार की स्पृधा जागरूक हो उठी। किंतु परिस्थितियां अनुकूल नहीं बन पाईं। लगभग दो दशक व्यतीत हो गए। तब एक दिन मेरे परम आत्मीय प्रेम जनमेजय ने मुझे सूचित किया कि उनके प्रयत्न से वेस्टइंडीज विश्वविद्यालय के परिसर में एक अंतरराष्ट्रीय हिंदी संगोष्ठी आयोजित होने जा रही है। उनसे ही ज्ञात हुआ कि इस संगोष्ठी में यू.के. से तेजेंद्र शर्मा, पद्मेश गुप्त, अनिल जोशी, सूरिनाम से पुष्पिता, भारत से कन्हैयालाल नंदन, निर्मला जैन, सूरजभान, गिरीश पंकज, सूर्यबाला, दिविक रमेश, अशोक चक्रधर, नरेंद्र कुमार, सुरेश रितुपर्ण के अतिरिक्त नरेंद्र कोहली भी सपत्नीक भाग लेने आ रहे हैं। मैंने अपने भाग्य को सराहा तथा गोस्वामी तुलसीदास को स्मरण किया- जा पर जाको सत्य स्नेहू. . .

आरंभ से ही मेरी प्रबल अभिलाषा थी कि इन सभी विद्वानों को अपनी अकिंचन कुटिया पर आमंत्रित करूं। मैंने अपनी इच्छा प्रेम जनमेजय से व्यक्त की। बड़े प्रयत्न के पश्चात 2 मई, 2002 को मध्यान्ह में दो-तीन घंटो का समय मिला, यही क्या कम था? उस दिन जनावकाश नहीं था, अत: थोड़े से समय में अतिथियों को जुटाना दूर रहा भारतीय विद्या संस्थान के सदस्यों को भी जुटाना टेढ़ी खीर थी।

अब घड़ी आई जिसकी उत्सुकता से प्रतीक्षा थी। उपर्युक्त सभी विद्वान मेरे आश्रम में पधारे। जब डॉ. नरेंद्र कोहली मेरे आश्रम में पधारे तो आभास हुआ मानों 'महार्षि याज्ञवल्क्य जी' 'भारद्वाज आश्रम' में पधारे। मुख्य मंच पर डॉ. निर्मला जैन, नंदन जी, नरेंद्र कोहली मैं तथा प्रेम जनमेजय आसीन थे। मैं अपने प्रिय लेखक डॉ. कोहली से वार्तालाप कर के, उनका सामीप्य पाकर इतना आत्म-विभोर हो गया कि कुछ औपचारिकताएं तक विस्मृत कर बैठा। अस्तु, मैंने उस दिन डॉ. कोहली को समीप से देखा तो आभास हुआ कि वे केवल सुदर्शन नहीं सुदर्शनविद् भी हैं। मैंने परिलक्षित किया कि चश्में के पीछे से झांकते हुए झील से गहरे चक्षुओं में गंभीर विचारों की अगम्य गहराई है, उनके उन्नत ललाट पर अंकित रेखाएं इस बात का संकेत देती हैं कि वे एक प्रज्ञावान पुरुष हैं। उस दिन भारतीय विद्या संस्थान द्वारा सभी विद्वानों का सम्मान किया गया। डॉ. नरेंद्र कोहली को उस दिन संस्थान के सर्वोच्च हिंदी सम्मान 'त्रिनिदाद हिंदी शिखर सम्मान से सम्मानित किया गया।

डॉ. नरेंद्र कोहली व्यंग्य साहित्याकाश के एक ऐसे जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं जिसका आलोक व्यंग्य के नित विकासशील नीहारिका-मंडल पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। यद्यपि डॉ. कोहली की गणना आज के मूर्धन्य व्यंग्यकारों में की जाती है किंतु मैं उन्हें केवल एक व्यंग्यकार ही न मानकर वर्तमान युग का एक महान साहित्य प्रणेता मानता हूं।

गिरीश पंकज

समांतर विधाओं में तालमेल

नरेंद्र कोहली हम सब के आदरणीय हैं। (पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हिंदी आलोचकों को छोड़ दें) हम मतलब व्यंग्यकार, हम मतलब वह विशाल पाठक-वर्ग जो शायद यह भी नहीं जानता, कि वे प्रथम श्रेणी के व्यंग्यकार भी हैं। जी हां, कोहली जी के साथ यह भी हो रहा है। हम व्यंग्यकार तो उन्हें व्यंग्यकार के रूप में भलीभांति जानते हैं और मानते भी हैं, लेकिन बहुत से ऐसे हिंदी पाठक भी हैं, जो उनके व्यंग्यकार वाले रूप से ज्यादा परिचित नहीं हैं। वे कोहली जी के उपन्यासों से अच्छे से परिचित हैं। चाव से पढ़ते भी हैं। इसमें दो राय नहीं, कि वे खूब बिकने वाले हिंदी लेखकों में अव्वल नंबर पर हैं। जब कोई सुधी पाठक मुझसे मिलता है और कहता है कि कोहली जी का फलां-फलां उपन्यास तो कमाल का है, तो यह सुन कर बड़ी खुशी होती है। उनके उपन्यासों की दुनिया में धूम है। फिर चाहे वह तोड़ो कारा तोड़ो हो, अभिज्ञान हो, महासमर हो, वसुदेव हो, दीक्षा हो या फिर अठारह सौ पृष्ठों का महाउपन्यास अभ्युदय हो। उनका हर उपन्यास अपने पिछले उपन्यास को पीछे छोड़ देता है। कोहली जी की हर रचना उनके गहन अध्ययन का सुपरिणाम होती है। उनके उपन्यासों में पौराणिकता या ऐतिहासिकता भर नहीं हैं, उसमें समकालीन समय का संस्पर्श भी है। साथ सहा गया दुख, क्षमा करना जीजी जैसे सामाजिक उपन्यास भी कोहली जी ने लिखे हैं। लेकिन यह शुरुआती दौर था। बाद में उन्होंने पौराणिक पात्रों तक पहुंच कर उन्हें नए रंग में ढाल कर एक तरह से नए विमर्श से भी जोड़ दिया। कोहली जी रामकथा, कृष्णकथा, महाभारत की घटनाओं से होते हुए स्वामी विवेकानंद जैसे युग पुरुषों को सामान्य पाठकों तक पहुंचा देते हैं। आधुनिक पुरानी बातों को नये संदर्भों में पेश कर के इतना आधुनिक बना देते हैं, कि लगता ही नहीं कि रचना का कथ्य सैकड़ों-हजारों साल पुराना है। यही है कोहली जी की जादूगरी। यही कारण है कि वे भारतीय पाठकों के दिलों में राज करते हैं। नरेंद्र कोहली जी ऐसे हिंदी लेखक हैं, जिनका अन्य भारतीय भाषाओं में भी अनुवाद हो चुका है। एक नहीं अनेक कृतियां...। उनके साहित्य की सर्वव्यापकता को हम इसी से समझ सकते हैं, कि उन पर नब्बे से ज्यादा लोग शोध कर चुके हैं, पी.एच-डी की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं। यह सिलसिला अभी जारी है।

कोहली जी से मेरी अनेक मुलाकातें हुई हैं। दिल्ली, भोपाल, रायपुर और लखनऊ आदि शहरों के कार्यक्रमों में उनके साथ व्यंग्य पढ़ने का सौभाग्य भी मिला है। व्यंग्य के बारे में उनके विचारों को भी मैंने सुना है। उनकी व्यंग्य रचनाएं उनके एकदम अलग ही रूप को प्रस्तुत करती हैं। उनका व्यक्तित्व साधुता का आभास देता है। बढ़ी हुई सफेद दाढ़ी...आंखों पर चढ़ा चश्मा... ये सब देख कर ही लगता है कोई साधु-पुरुष है। उनके पौराणिक-ऐतिहासिक उपन्यास इस बात की पुष्टि करते हैं कि भारतीय संस्कृति एवं श्रेष्ठ परम्पराओं के संरक्षक एवं पोषक हैं लेकिन उनके व्यंग्य-संसार को देखें तो आश्चर्य होता है कि गंभीर किस्म के उपन्यास लिखने वाला यह लेखक व्यंग्य के क्षेत्र में कितनी गंभीर चुटकियां भी लेता है। व्यंग्यकार नरेंद्र कोहली किसी को भी नहीं छोड़ते। सबकी खिंचाई करते चलते हैं। अब यह अलग बात है कि वे जैसा लिखते हैं, वैसा तल्खपूर्ण व्यवहार भी करने लगते हैं। अक्सर मंचों पर वे दो टूक बोलते हैं और लोगों को नाराज कर देते हैं। लेकिन वे परवाह नहीं करते कि लोग क्या कहेंगे। वे बहुत साफ-साफ कहते हैं। अगर कहीं कमजोरी है तो चालाक किस्म के लेखक लीपापोती कर देते हैं लेकिन कोहली जी ऐसा नहीं करते। मुंह पर ही सच बोल देते हैं। जो होगा देखा जाएगा। यही कारण है कि आलोचक उनको तवज्जो नहीं देते। क्योंकि वे आलोचक की खुशामद नहीं कर सकते। हिंदी का आलोचक इस रोग का शिकार है। वह उसी लेखक को महत्व देता है, जो शरणागत हो जाता है। लेकिन कोहली जी ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि वे व्यंग्यकार हैं। उन्हें अपने लेखन पर विश्वास है। यही कारण है कि आज हिंदी आलोचकों की उपेक्षा के बावजूद उन पर अनेक लोगों ने न केवल शोध किए, वरन वे पाठकों के प्रिय लेखक भी बने हुए हैं। इधर की हिंदी आलोचना जब हिंदी उपन्यासों की चर्चा करती है तो गुटबंदी साफ़ नजर आती है। बहुत से लेखकों को हमारी आलोचना ने अधिमूल्यता (ओवररेटेड) दे दी है। औसत दर्जे के उपन्यासों को शताब्दी का महानतम उपन्यास निरूपित करने वाली हिंदी की तथाकथित आलोचना को कोहली जी का व्यापक औपन्यासिक प्रदेय दिखाई ही नहीं पड़ता। लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि असली आलोचक तो समय होता है, पाठक होते हैं। इस वक्त कोहली जी के उपन्यास खूब पढ़े जा रहे हैं। सौभाग्य की बात यही है, कि जो लोग कोहली जी के उपन्यास पढ़ते हैं, वे हिंदी आलोचना नहीं पढ़ते। आलोचना की भाषा अजीबोगरीब होती हैं। साधारण पाठक समझ ही नहीं पाता कि आलोचक कहना क्या चाहता है। बहरहाल, रचना की ताकत उसे लोगों तक पहुंचा देती है। अगर आज नरेंद्र कोहली हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में पढ़े जा रहे हैं, तो यह उनकी रचनात्मक उर्जा ही है।

कई बार मैं सोचता हूं, कि कोहली जी ने केवल व्यंग्य ही क्यों नहीं लिखे? उन्होंने उपन्यास लिखे, कहानियां लिखी, नाटक लिखे और बाल साहित्य का सृजन भी किया। शोध समीक्षाएं भी कीं। ऐसा इसीलिए भी हुआ, कि लेखक अपने को अभिव्यक्त करने के माधयमों की तलाश कर ही लेता है। करना भी चाहिए। अगर

शेष पृष्ठ-133 पर. . .

मधुरिमा कोहली

व्यंग्यकार नरेंद्र कोहली : जीवन में

सच्चा और खरा आदमी किस अच्छा नहीं लगता? अच्छा लगता है या नहीं कौन जाने; पर कहते तो सब यही हैं। सच्ची और खरी बात की प्रशंसा साहित्य और जीवन, दोनों में ही होती है। 'व्यंग्य' का पाठक तो सच्ची और खरी बात पर ही मुग्ध होता है। हास्य का योग इस सच्ची और खरी बात को हृदयंगन कराने में अनिवार्य-सा हो जाता है। यह हास्य कभी-कभी व्यंग्य के प्रभाव को हल्का करने के कारण आलोचकों के आरोप भी झेलता है। हिंदी के व्यंग्यकार अपने लेखन को लोकप्रिय हास्य-कवियों के चुटकुलेबाजी से अलग करने के लिए हास्य के अधिक योग के प्रति सावधान रहने की बात करते देखे जाते हैं। व्यंग्य-विधा की लोकप्रियता के लिए सच्ची और खरी बात का अपना महत्व है; किंतु उसे ग्राह्य बनाने में हास्य के योगदान को नकारा नहीं जाना चाहिए।

जब साहित्य में ही शुद्ध व्यंग्य को अपनी जगत बनाने में कठिनाई आती है, तो जीवन में तो स्थिति और भी विषम हो उठती है। सच्ची और खरी बात का स्वाद सबको रुचिकर नहीं होता, विशेषकर जब वह बिना चाशनी के ही परोस दी गई हो। दुनिया को भाव की सच्चाई भी चाहिए पर बात की मिठास भी। मित्र-मंडली में बैठे व्यंग्यकार नरेंद्र कोहली के आसपास ठहाकों की गूंज भी सुनी जा सकती है, पर कड़वी बात से रुष्ट हो जाने वाले लोगों की संख्या भी कम नहीं होगी। यह नहीं कि वे मीठा बोलना नहीं जानते या बोलते नहीं, पर जिसकी मान्यता यह हो कि जहां कहीं भी अतिरिक्त मिठास है, वहां उतना ही झूठ अधिक है, उसकी बात में सायास और कृत्रिम मिठास की संभावना कम ही होती है। अपनी इसी मान्यता के कारण वे बहुत अधिक मीठा बोलने वाले लोगों को, जिन्हें सामान्यता समाज में अत्यंत शिष्ट समझा जा रहा होता है; झूठा और मक्कार तक मान लेते हैं। मान ही नहीं लेते, दोस्तों की बातचीत में कह भी देते हैं। अपनी ऐसी ही धारणाओं के कारण उनकी प्रवृत्ति सीधी और खरी बात कहने में अधिक है। लोकप्रियता और अ-लोकप्रियता हासिल करने और जीवन में सफल होने के डेल कारनेगीय फार्मूलों का उनकी जीवन-शैली में कोई स्थान नहीं है।

एक नहीं अनके बार ऐसे अवसर आए हैं, जब किसी मित्र के घर हम बैठे हैं, उनके कुछ परिचित, पड़ोसी या संबंधियों से वहां पहली बार मिलना हुआ, और नरेंद्र कोहली की हाजिरजवाबी, कुछ टिप्पणियों, कुछ फब्तियों कुछ चुटकुलों आदि ने ऐसा माहौल बना दिया कि हंसी के ठहाकों से कमरा गूंज उठा और उन लोगों का, विशेषकर महिलाओं को नरेंद्र के व्यक्तित्व के प्रति प्रशंसा-भाव मुझे तक कुछ ऐसी शब्दावली में पहुंचा, 'आपके तो बहत मजे हैं। ऐसे ही हमेशा हंसाते रहते होंगे. . .।' और मुझे एक हंसोड़ पति की पत्नी होने के सौभाग्य के बोझ से झुक जाना पड़ता है। पर ऐसे अवसरों की भी कमी नहीं है, जब कुछ लोगों ने अपनी पीड़ा को मेरे प्रति सहानुभूति के रूप में व्यक्त किया हो। शब्द ठीक-ठीक ये तो नहीं होते, पर भाव कुछ ऐसा ही होता है, 'उफ! कैसे झेलती हो इस आदमी को, जिसकी कोई कल सीधी नहीं।' ये वे अवसर होते हैं जब नरेंद्र कोहली सच्ची और खरी बात कुछ इस अंदाज़ में कहने के मूड में होते हैं कि 'मैं तो अपनी बात कहूंगा ही, आपको अच्छी लगे, मेरी बला से।' ऊपर से देखने में तो अंदाज़ नहीं लगता है, पर भीतर से आक्रोश यह कि 'आप अपनी सर्वथा असंगत बात मुझ पर थोपते जा रहे हैं और मुझसे यह अपेक्षा है कि शिष्टाचार के नाम पर मैं अपनी बात भी न कहूं, क्योंकि आपको बुरी लगेगी! क्या आपने परवाह की कि मुझे आपकी बात कितनी बुरी लगी है? क्या केवल कुछ शिष्ट से ढंग से कह देने से ही वह बात सही हो जाती है?'

कुछ विषय तो अतिरिक्त संवेदनशील क्षेत्र के हैं, जिनके निकट व्यंग्यकार नरेंद्र कोहली की उपस्थिति विस्फोट का रूप लेती है। भाषा और संस्कृति का संदर्भ हो, या फिर किसी भी प्रकार के विशेषाधिकार अथवा आरक्षण के नाम पर समाज को बांटने का। इन संदर्भों में कोई छोटी-सी बात भी उनके लिए इतनी उद्दीपक हो सकती है कि वह उन्हें भीतर तक तिलमिला दे। उन्हें सारी बातें एक बड़े षड्यंत्र के तहत नियोजित-सी लगने लगती हैं। प्रहार का आक्रामक होना, इसीलिए अनिवार्य हो उठता है। अरे भई, तुम्हें क्या लेना, यदि कोई अपने भाई को 'ब्रदर' और पिता को 'फादर' कहकर खुश है? विदेशों में सब कुछ जिन्हें अच्छा लगता है और अपने देश में सब कुछ खराब, उनके विचार आपके जीवन में कहां अड़चनें खड़ी कर रहे हैं? महिलाएं यदि अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रही हैं और गाहे-बगाहे पुरुषों की खबर ले ही लेती हैं, (आपको तो अपवाद कहकर पहले ही आरोपों से मुक्त कर देती हैं) तो आप क्षुब्ध क्यों हैं? पर नहीं, नरेंद्र कोहली को तो उस समय जैसे समाज या देश ही विनाश के कगार पर खड़ा दिखाई देने लगता है; जैसे सब लोग छोटे-बड़े धक्के देकर उसे पतन की ओर धकेल रहे हैं, खंड-खंड बांटकर उसकी शक्ति को कम कर रहे हैं, उसकी भाषा और संस्कृति छीनकर लुंज-पुंज बना रहे हैं, तब व्यंग्यकार नरेंद्र कोहली की प्रखरता अप्रत्याशित उग्र रूप में प्रकट होती है। सामने वाले को बात तो चुभेगी ही, नश्तर भी लग जाए तो कोई बड़ी बात नहीं।

एक व्यक्ति नरेंद्र कोहली

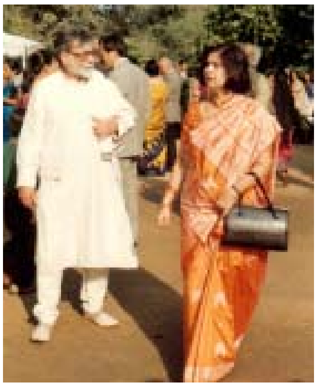

जैनेंद्र ने कहीं लिखा है कि साहित्य और साहित्यिक, दोनों में वैसा पार्थक्य नहीं है जैसे हलवाई और मिठाई में होता है। खराब मन का आदमी भी अच्छी मिठाई बना सकता है, क्योंकि मिठाई मन से नहीं बनती, पर साहित्य के मामले में ऐसा नहीं हो सकता। साहित्य मन से बनता है। साहित्य में व्यंग्यकार की जो बातें उसके मन से निकली हैं, वे पाठक को अच्छी लगती हैं, पर कुछ बातें किताबों में ही अच्छी लगने के लिए रह जाती हैं। जीना किताबों में नहीं जीना तो दुनिया में है!

दुनिया मे लोक-व्यवहार और शिष्टाचार के नाम पर झूठ और कृत्रिमता को प्रश्रय देने का चलन-सा हो गया है। सच्ची और खरी बात कहने का अर्थ गाली-गलौच करना नहीं होता। किसी से वह कहने लगता है कि आप झूठे हैं, मक्कार हैं, पाखंडी हैं, घमंडी हैं, आपकी कथनी और करनी में एकरूपता तो दूर की बात है कोई समानता भी नहीं है आदि बातें किसी से कहकर मित्रता ब नाए रख सकना तो संभव नहीं ही है, किसी भी प्रकार का कोई भी सामाजिक संबंध बना रह सकेगा, इसमें भी संदेह है। आपकी व्यवहार में अक्सर ऐसी स्थितियां आती रहती हैं जहां हम ऐसे भावों को बचाकर निकल जाते हैं; पर नरेंद्र कोहली तो मानो ऐसी विसंगतिपूर्ण स्थितियों को आमंत्रित करते प्रतीत होते हैं। किसी समारोह में मिल गए मित्र, परिचय, संबंधी अक्सर कहते हैं, 'कभी आइए न!' उन्हें जवाब मिलेगा 'जरूर' और अपनी ओर से भी अपने घर आने का निमंत्रण देंगे क्योंकि उन्हें किसी के घर जाने की अपेक्षा अपने घर पर लोगों से मिलना हमेशा अधिक प्रिय रहा है। दूसरा अपना लाचारी दिखाएगा, 'आपका घर दूर बहुत है. . .' बस यही मौका नरेंद्र कोहली नहीं चूकते, 'जी हां, यह तो आप ठीक ही कह रहे हैं, दूर तो बहुत है। हम ही आएंगे क्योंकि हमारे घर से आपका घर बहुत पास है।' ऐसे में कल्पना ही की जा सकती है कि प्यार जताने वाले उस व्यक्ति की अब इस व्यक्ति को अपने घर बुलाने या इसके घर आने में कोई रुचि शेष रही भी होगी या नहीं। 'आप कभी आते नहीं' कहकर स्नेह व्यक्त करने वाले लोगों से तो अक्सर वे हिसाब मांग लेते हैं कि पिछले साल-भर में वे कितनी बार आकर हमें उपकृत कर चुके हैं। और विवाद होने पर भविष्य में प्रमाण के लिए ऐसे हिसाब-किताब के लिए रजिस्टर रखने का सुझाव भी दे देते हैं। शब्द प्रयोग में असावधानी के कारण अर्थ का अनर्थ होते देख वे अक्सर सामने वाले को परेशानी में डाल देते हैं। उनसे बात करते हुए बहुत सावधान रहने की जरूरत होती है, नहीं तो 'पकड़े जाएंगे' वाले भाव से पीड़ित लोगों की असुविधा भी समझी जा सकती है।

साहित्य के रसास्वादन के लिए काव्यशास्त्रियों ने 'सहृदय' की शर्त लगाई थी। चुटीली व्यंग्य-विनोदपूर्ण बातचीत के रसास्वादन के लिए भी सहृदयता अनिवार्य है। व्यंग्य जीवन में हो या साहित्य में- चोट करता है। 'बात' है तो चुभेगी ही। इस चुभन का 'आनंद' पूर्वग्रहों से मुक्त, सत्याग्रही सहृदय ही ले सकता है। नरेंद्र कोहली के साथ बातचीत एक छोटी साहित्यिक व्यंग्य-गोष्ठी का-सा आनंद देती है जब उसमें परस्पर द्वेष से रहित, पूर्वग्रहों-दुराग्रहों से मुक्त, अनुकूल, आपसी समझ और संप्रेषण वाले लोग सम्मिलित होते हैं। लक्ष्य न किसी को नीचा दिखा कर आहत करने का है, न तिरस्कार, न उपहास का; 'फिकरा बन गया' (बकौल पंजाबी के वरिष्ठ लेखक गुरबेल सिंह पन्नू) तो कह दिया। एक मित्र बड़े भक्ति-भाव से मंदिर का 'प्रसाद' दे रहे हैं, महीने में एक मंगलवार को वे धर्म के नाम पर मंदिर अवश्य जाते हैं, नरेंद्र कोहली प्रसाद ग्रहण करते हैं, एक टिप्पणी के साथ, 'अच्छा तो यह तुम्हारा मासिक धर्म है।' न अपने मन में धर्म के प्रति आस्था की कमी है, न मित्र की धार्मिक भावना के प्रति अश्रद्धा।

नरेंद्र कोहली के सुनाए चटपटे किस्से कई लोगों को बरसों से याद हैं। अक्सर लोग उन्हें हमारी उपस्थिति में सुनाकर हमारी याद को ताजा किया करते हैं। हमारा बड़ा बेटा कार्तिकेय जब नन्हा शिशु ही था, कुछ अस्वस्थ था, उसे दूध हजम नहीं होता था। ऐसे में किसी ने बकरी का दूध पिलाने का सुझाव दिया था। एक बकरी वाले को ढूंढा गया, जो अपनी बकरियां लेकर आता और हमारी उस बकरी वाले पर निर्भरता बढ़ती गई। बकरी वाला जब-तब तंग करने लगा, कभी दूध के दाम बढ़ाने के लिए कहता, कभी दूध कम नापता, कभी बहुत देर से आता और दूध कम देता। अक्सर उससे मेरी कहा-सुनी हो जाती। हमारी गर्ज बकरी वाले के सामने बहुत स्पष्ट थी और उसका फायदा उठाना उसके लिए लाजमी था। एक दिन उसने यह कहकर आना ही बंद कर दिया कि वह यहां बकरियां नहीं लाएगा। हम उसके घर से दूध ले आया करें। ढूंढते-ढूंढते नरेंद्र कोहली उसके घर पहुंचे, उससे अनुनय-विनय की, बकरी वाले ने अपने पास खड़े व्यक्ति को सुनाकर कहा, 'बाबूजी तो बहुत सीधे हैं, पर जो इनकी 'घर से' है न, वह बहुत तेज हैं। अपने स्वभाव के अनुसार नरेंद्र ने यह किस्सा मेरी उपस्थिति में ही मित्रों को सुनाया, किस्से का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए, 'बकरी वाला कुछ ही दिन में इसे समझ गया और मैं. . .।' इसकी परिणति पुरुषों और स्त्रियों के सम्मिलित ठहाके में ही संभव थी। हंसी में शामिल तो मैं भी हुई थी पर अपनी टिप्पणी के साथ, 'तभी तो मैंने विवाह के लिए आपको चुना, बकरी वाले को नहीं. . .।' ठहाका पहले ठहाके से भी ऊंचा ही था, 'नरेंद्र भी उसमें शामिल थे, बिना किसी तरह की मन की मैल के।' यह प्रसंग मित्रों के बीच निर्द्वंद्वभाव से नरेंद्र भी सुना लेते हैं और मैं भी। आपसी समझ के अभाव में ऐसे प्रसंगों की आवृत्ति कैसे संभव है।

शिष्ट और सभ्य समाज में नारी-पुरुष समानता के बड़े-बड़े दावों के बावजूद मित्र-मंडली में हास्य के ठहाकों की एक बड़ी कीमत महिलाओं को चुकाते अक्सर देखती हूं। केवल महिला होने के कारण ही मैं या कोई स्त्री जब हास्य-परिहास, व्यंग्य-विनोद के नाम पर 'उपहास' का विषय बनाई जाती है तो मैं 'उदार' होने का नाटक भी नहीं कर पाती। जाने-अनजाने यदि नरेंद्र कोहली कभी ऐसा कुछ कह जाते हैं तो मेरा आहत मन अपने बचाव के लिए अपनी समस्त सृजनात्मक ऊर्जा को एकत्रित कर एक वकील के रूप में खड़ा कर लेता है। इस वकील को वादी का वकील होना है या प्रतिवादी का, द्वंद्व अभी शेष है।

सुभाष चन्दर

कुछ नोट्स

हर बड़े लेखक की तरह नरेंद्र कोहली के साथ भी विवादों का नाता रहा है। उन पर चाहे-अनचाहे कुछ 'आरोप' लगते रहे हैं। मसलन वह रामकथा, कृष्णकथा वगैरहा लिखने वाले 'धार्मिक लेखक' हैं, उनका साहित्य की 'मुख्यधारा' से क्या वास्ता? नरेंद्र कोहली दक्षिणपंथी विचारधारा के लेखक हैं, दक्षिणपंथी लोगों का लेखन से क्या लेना-देना, वामपंथी विचारधारा से जुड़े बिना लेखन . . .वह भी टिकाऊ, शाश्वत और न जाने क्या-क्या टाइप का, लेखन हो कैसे सकता है? नरेंद्र कोहली नाम का लेखक बिल्कुल अव्यावहारिक और मुख्यधारा के समाज से कटा हुआ बंदा है। मंच पर ही लोगों को, यहां तक कि आयोजकों को हड़का देता है। ऐसे लोगों से तो कार्ल मार्क्स ही बचाये।

यह आरोप तो और भी क्लासिकल है, 'नरेंद्र कोहली हिंदी के सबसे ज्यादा रॉयल्टी लेने वाले लेखक हैं। मतलब ज्यादा रॉयल्टी ज्यादा लेखन मतलब लोकप्रिय लेखन, मतलब प्रकाशकों की मर्जी का लेखन मतलब. . .सस्ता लेखन। मुख्यधारा के लेखक / आलोचक लोकप्रिय लेखक की चर्चा करके अपने आपको पाप का भागीदार नहीं बना सकते। सो उनकी चर्चा देशभर में फैले लाखों पाठकों में बेशक होती रहे। लेखकों / आलोचकों में कम ही होती है। सही भी है लोकप्रिय लेखन की क्या चर्चा– बिकाऊ लेखन की क्या बात?

अब आता हूं, अंतिम आरोप पर। नरेंद्र कोहली बड़े लेखक हैं होंगे। महापुरुषों की जीवन गाथा के सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं, होंगे। पाठकों के मध्य बेहद लोकप्रिय लेखक हैं, होंगे। उनके लेखन में श्रेष्ठता के सभी तत्व हैं, होंगे. . । वह हमारे समय के महान रचनाकार हैं / होंगे, बड़े उपन्यासकार, कहानीकार, निबंधकार, आलोचक, बालकथाकार सब हो सकते हैं। पर व्यंग्यकार. . .वो भी महान व्यंग्यकार. . .परसाई, जोशी, त्यागी, शुक्ल की चौकड़ी के बाद के पांचवे पांडव. . . ना ऽ ऽ बाबा ना ऽ ऽ। वह कतई व्यंग्यकार नहीं हैं, महान व्यंग्यकार तो नहीं।

अब मैं इसी अंतिम आरोप पर आता हूं। सच्ची बात तो यह है कि मैं भी यही मानता हूं कि वह और चाहे कुछ भी हों पर व्यंग्यकार नहीं हैं। अपनी बात के समर्थन में मैं कुछ फंडू किस्म के तर्क भी दे सकता हूं।

तर्क नंबर-1 : व्यंग्य तो हंसने-हंसाने का मामला है। बीबी की फरमाइश, लाला का मोटापा, दोस्त की मूर्खता, बारातियों की मौज-मस्ती, नेताजी की बाज़ीगरी इन सब 'शानदार' विषयों पर व्यंग्य की 'खेती' हो तो है मज़ा व्यंग्य का। व्यंग्य मतलब फुलझंडियों के जलने का मजा, व्यंग्य मतलब ठहाकों की बाजीगरी। हंसी के गोलगप्पों का मजा। ये सब मजा भला नरेंद्र कोहली के यहां कहां? उनके यहां तो हास्य माइक्रोस्कोप से खोजना पड़ता है। उनकी रचनाएं पढ़ो . . .तो तिमिमिला जाओ. . .अव्यवस्था पर खीझो. . . आक्रोशित हो जाओ। भला कोई इसलिए व्यंग्य पढ़ता है? व्यंग्य का मतलब तो हल्का-फुल्का मनोरंजन है, कहे देते हैं. . .ये सब गंभीर बातें हम पे ना झेली जायेंगी, लल्ला भला कोई व्यंग्य लेखन हुआ . . .ना बीवी, ना लाला, ना मोटापा, ना नेता, ना कंजूस. . .ना मूर्खता का कारनामा, ना हंसी की लिबलिबी, ना शरारतों की मज़ेदारी। सब कुछ गंभीर-गंभीर. . .। ऐसा ही गंभीर होने का शौक रखते, तो व्यंग्य क्यूं पढ़ते? छी. . . ।

वैसे उनके यहां है भी क्या. . .वहीं सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक विसंगतियां और ये नहीं कि इन पर कुछ सहीराम टाइप चटखारेदार टिप्पणी करके आगे बढ़ जाएं. . . कुछ हंसाने-फंसाने का जुगाड़ बैठा जाए। ना बाबा ना. . . ये महाशय तो विद्रूपों की, अव्यवस्था की तह में जाएंगे, उसके मूल को खोजेंगे और फिर कर देंगे उस पर तड़ से प्रहार। पढ़कर आएगा क्या . . . गुस्सा खीझ. . .कुछ तोड़-फोड़ डालने का साहस। धत्! भला कोई ऐसे विकरालरूप विचारों के लिए व्यंग्य पढ़ता है।

निष्कर्ष– सो साहब. . .लब्बो-लुआब ये कि नरेंद्र कोहली कतई व्यंग्यकार नहीं हैं, जो हंसाए-गुदगुदाए ना. . .वो और कुछ भी

हो व्यंग्यकार नहीं हो सकता।

तर्क नंबर-2 : व्यंग्यकार तो वह होता है जो रोज़ अखबारों के स्तंभों में राजनेताओं पर नामपरक चटखारेदार टिप्पणी करता है, सभाओ-बैठकों में गला साफ करता है। अपने गुट बनाता है। अपने पक्ष के लोगों के गुणों को गुणा करता है, विपक्षी के गुणों का भाग करता है। इसको गिराता है, उसको उठाता है। पुरस्कारों की दौड़ में सबसे आगे रहता है।

नरेंद्र कोहली. . .ये महाशय तो नाम परक टिप्पणी से बचते हैं। चटखारे लेकर व्यंग्य लिखना तो इनकी सामर्थ्य के बाहर की बात है। वैसे तो नामपरक लिखेंगे नहीं, लिखेंगे तो ऐसा कि मज़ा आना तो दूर. . .ऐसा लगेगा किसी ने कुनैन की गोली मुंह में घोल दी हो। व्यंग्य में तेजाब की जरूरत भला कहां है। जैसे हो गंभीर. . .और उसे क्या कहते हैं, सरोकारपरक व्यंग्य लिखते हैं, हम पे तो पढ़ा भी ना जाए, रही बात सभा-समारोहों में शामिल होने की। तो. . .कोई भरोसा नहीं कि वहां उन्हें कौन-सी बात बुरी लग जाए और उनका सात्विक आक्रोश वहीं उबल जाए। एक घटना तो अभी याद आ रही है। मौका था अलका पाठक को आर्य स्मृति पुरस्कार मिलने का। मंच पर व्यंग्य की फजीहत हो रही थी, मुख्यधारा के लेखक राग अलाप रहे थे। व्यंग्य लफ्फाजी है, बैठे-ठाले का शगल है। परसाई, जोशी वगैरहा ने अखबारों से पैसे बनाने के लिए जो चटख टिप्पणियां कीं। उन्हें व्यंग्य का नाम दे दिया. . .वगैरहा. . .वगैरहा। रवीन्द्र कालिया आदि दिग्गज मौजूद थे। उनकी महान बातों का भला कौन विरोध करता। हम जैसे छुटभैये व्यंग्यकार मुंह पे हाथ रखे, नजर झुकाये चुपचाप ये सब प्रवचन सुन रहे थे। तभी नरेंद्र कोहली जी का मंच पर आगमन हुआ। साक्षात् परशुरामी मुद्रा में उन्होंने रवींद्र कालियां से लेकर आयोजकों तक को जो व्यंग्य का मतलब समझाया कि सभी महानुभाव चुप्पी साध गए। कुछ तो उनके सात्विक आक्रोश से डरकर मंच से बाहर की तरफ कूचकर गए। व्यंग्य की इज्जत का धनुष टूटने से बाल-बाल बच गया। ऐसे एक नहीं अनेक किस्से हैं जिनमें उन्होंने सभाओं के रंग को बदरंग करके छोड़ा। भला किसी सही बात पर नाराज होना व्यंग्यकार को शोभा देता है? ऐसे समय तो खींसे निपोरने का अभ्यास ही काम कर जाता। ऐसे अव्यावहारिक प्राणी को व्यंग्यकार कैसे कहा जाए जो ना पुरस्कारों की दौड़ में रहे, ना किसी से मेल-जोल रखे. . .लिखने. . .सिर्फ लिखने भर से इस दुनिया में कोई व्यंग्यकार बना रह सकता है क्या? सो उन्हें व्यंग्यकार मानने में हमें तो उज्र है भैया।

तर्क नंबर-3 : नरेंद्र कोहली ने भला लिखा क्या है जो उन्हें व्यंग्यकार माना जाये।

यह तर्क सबसे ज्यादा जानदार है। कोहली जी ने ऐसा क्या लिख डाला कि उन पर व्यंग्यकार का तमगा लगाया जाए। कुल मिलाकर चार-पांच सौ व्यंग्य कथाएं। (परसाई के बाद सबसे ज्यादा व्यंग्य कथाएं उन्हीं के खाते में हैं, ऐसा कुछ नासमझ लोग मानते हैं) केवल दो व्यंग्य उपन्यास 'आश्रितों का विद्रोह' और 'पांच एब्सर्ड उ उपन्यास' जैसे दो उपन्यास 'शम्बूक की हत्या' जैसे कुछ नाटक और महज सात-आठ सौ व्यंग्य लेख। किताबों की बात करें तो डेढ़ दर्जन व्यंग्य संग्रहों सहित 'गिनती' की मुश्किल से 24-25 किताबें। भला इतनी थोड़ी-सी किताबों से कोई व्यंग्यकार बन सकता है। अगर बात व्यंग्यकथाओं की करें तो एक से एक खुरदरी व्यंग्य कथाएं। अनागत, कबूतर, कैनोपी का स्वयंवर, 'ब्लड बैंक की अप्सरा जैसी न जाने कितनी रचनाएं। नासमझों का कहना है कि 'ये बीसवीं सदी की उत्कृष्ट रचनाएं हैं। युगबोध, शिल्प की नवीनता, प्रहारात्मकता और सरोकारों की गंभीरता के कारण इन्हें कभी नहीं भुलाया जा सकेगा।' नासमझों की बात पर क्या ध्यान धरना।

यही लफड़ा व्यंग्य निबंधों के साथ रहा- सरकार और रोजगार अकाल मृत्यु जैसे न जाने कितने व्यंग्य निबंध हैं जिनमें स्याही की जगह तेजाब का इस्तेमाल किया गया है। पूरी हिंसावादी विचारधारा का लेखन है। व्यंग्य को शाकाहारी होना चाहिए। व्यंग्य में आक्रोश का क्या काम? कुछ हंसने-गुदगुदाने वाले, खट्टी-मीठी चटनी का मजा देने वाले निबंध होते तो कोई बात भी थी, ये क्या कि पाठक निबंध चाटे रसीले की आस में और घुल जाये मुंह में कुनैन। भला नीम की चटनी भी कोई थाली में रखता है? यही बात नाटकों की भी। 'शम्बूक की हत्या' को ही देख लो। ना कोई मिर्च-मसाला, ना कोई ताली-पिटाऊ डॉयलॉगबाजी- भला क्या नाटक हुआ। कहते हैं कि हिंदी के सर्वश्रेष्ठ व्यंग्य नाटकों में गिनती होती है, हुआ करे ये प्रतीकात्मक बातें अपनी समझ में तो आती नहीं। नाटकों में विसंगति की खोज और फिर प्रहार. . .ना भाई, अपुन को ऐसे नाटक पसंद नहीं।

अब बात व्यंग्य उपन्यासों की। फिर बात नासमझों की, कहते हैं कि 'अस्पताल' (पांच एब्सर्ड उपन्यास' का एक लघु उपन्यास) विश्व साहित्य की अनूठी व्यंग्यकृति है। कारूणिक और त्रासद व्यंग्य की ऐसी रचना अन्यत्र दुर्लभ है। नासमझ लोग आगे जोड़ते भी हैं कि अगर कोहली जी ने 'अस्पताल' के अलावा कोई अन्य व्यंग्य रचना नहीं भी लिखी होती, तब भी 'अस्पताल' के कारण वह व्यंग्य जगत में सदैव अमर रहते। नासमझों की बात की चर्चा भी समझदार नहीं करते। सो अपुन भी नहीं करेंगे। हम तो कहेंगे कि दो दर्जन से भी ज्यादा व्यंग्य की किताबें लिखने से क्या होता है। धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान से लेकर तुलसीप्रभा तक में लाखों पाठकां की प्रशंसा जाने से क्या होता है? कबूतर, अनागत, कैनोपी का स्वयंवर जैसी व्यंग्य साहित्य की अमूल्य रचनाएं लिखने भर से क्या होता है? 'अस्पताल' जैसे विश्वस्तरीय व्यंग्य औपन्यासिक कृति लिखने से क्या होता है?

किसी को व्यंग्यकार साबित करना ना करना हमारे अधिकार क्षेत्र में है। आप पूछेंगे. . .हम कौन. . .तो हम हैं मुख्यधारा के आलोचक। हमारा ठप्पा लगवाये बगैर कोई महान व्यंग्यकार कैसे बन सकता है। उसके लिए लिखने से अलग भी कुछ करना पड़ता है। किस्सा तो यह है कि हम फतवा देते हैं कि नरेंद्र कोहली व्यंग्यकार नहीं हैं। अब कोई चूं-चपड़ ना करे. . .वरना. . .

तो मित्रो. . .आपने ये नोटनुमा लेख पढ़ लिया. . .सच कहियेगा. . .क्या आप अब भी नरेंद्र कोहली को व्यंग्यकार मानते हैं। नहीं ना. . .तो आइये. . .मेरे साथ जज साहब के सामने गला फाड़कर चिल्लाये- 'नरेंद्र कोहली व्यंग्यकार नहीं हैं मी लॉर्ड!'

हरीश नवल

मैं केवल व्यंग्य नहीं लिखता

भारत की राजधानी दिल्ली। इसी दिल्ली का एक कॉलेज। नाम राजधानी कालेज। कॉलेज काफी बिखरा-बिखरा सा। लड़के-लड़कियों के दल इधर-उधर फैले हुए हैं। मुख्य भवन में कई कक्ष। एक बड़े कक्ष के बाहर लिखा हुआ- स्टाफ रूम। स्टाफ रूम में अड़ियल, बढ़ियल, दढ़ियल अनेक प्रकार के प्राध्यापक। अध्यापक चाय पीते हुए। अध्यापक राजनीति पर बहस करते हुए। अध्यापक चुरुट लगाए। अध्यापक कहकहे लगाते हुए। अध्यापक वेतन पर बहस करते हुए। ये आम मध्यवर्गीय पढ़े-लिखे, सभ्य और कह सकते हैं तमीज़दार लोग थे।

इन सबसे परे एक अलग ही किस्म के गंभीर, चिंतक और हमारे प्रिय लेखक डॉ. नरेंद्र कोहली थे। वे मेरे परम मित्र प्रेम जनमेजय के सगे अध्यापक रहे थे। वे मेरे आत्मीय दोस्त जो तब रमेश दिविक था, के सहकर्मी थे। गलत कह गया मैं। रमेश शर्मा दिविक जो कालांतर में प्रख्यात दिविक रमेश बने और अब एक वर्ष से उसी राजधानी कॉलेज जिसका नाम मोतीलाल नेहरू कॉलेज हो गया था के प्राचार्य हैं।

प्रेम, दिविक और मेरे व्यंग्य सहयात्री सुरेशकांत जो उस कॉलेज में तब छात्र की भूमिका में थे- तीनों ही डॉ. नरेंद्र कोहली के प्रशंसक थे। मैं कॉलेज ऑफ वोकेशनल स्टडीज़ में पढ़ाने लगा था। प्रेम भी वहीं आ गए थे। हम दोनों साथ-साथ, हम दोनों हाथ-हाथ, कभी करते दो-दो हाथ डॉ. नरेंद्र कोहली को मिलने उनके हस्तिनापुर कॉलेज गए थे। मैंने डॉ. कोहली को दूर-दूर से देखा था, उस दिन बेहद पास से उन्हें महसूस किया। उनके पाठक के रूप में उनका बहुत कुछ नज़रों से गुज़रा था पर कभी लेखक से बात नहीं हो पाई थी। उस दिन हुई और प्रेम के गुरु को मैं अपने भी गुरु के रूप में उसी दिन की बातचीत के बाद मानने लगा था। उनका उपन्यास 'साथ सहा गया दुख' मुझे भीतर तक भिगो चुका था। उनकी शोधपरक पुस्तक 'हिंदी उपन्यास : सृजन और सिद्धांत मेरे शोधार्थी का शमन कर सकी थी। उनकी कहानियां चाव से पढ़ता रहता था। 'निचले फ्लैट में' के प्रभाव में रहा था। 'शम्बूक की हत्या' में उनका नाटककार रूप पहचाना जाता था। 'पांच एब्सर्ड उपन्यास' व्यंग्य शिल्प और शैली के नएपन से मुझे आंतकित कर चुका था। मैं यदा-कदा श्रद्धेय गुरुवर डॉ. विजयेंद्र स्नातक के श्रीमुख से उनकी यशोगाथा के टुकड़े सुन चुका था। मैं राजधानी कॉलेज से तो लौट आया पर डॉ. नरेंद्र कोहली का व्यक्तित्व दिलो-दिमाग़ पर छाया रहा। उनसे मिलने की उत्कंठा बढ़ती गई।

सन् 1975 में डॉ. कोहली का चर्चित उपन्यास 'दीक्षा' प्रकाशित हुआ था। रामकथा का एक नया आयाम था, दृष्टिकोण वैज्ञानिक एवं अत्याधुनिक था। एक सनसनी-सी फैली थी। उस समय कोहली जी का वर्चस्व एक बड़े व्यंग्यकार के रूप में बन रहा था। व्यंग्य की महात्रयी के बाद के मुख्य व्यंग्यकारों में उनकी गणना हो रही थी। यही वह समय था जब प्रेम जनमेजय, मैं और सुरेशकांत व्यंग्य लेखन के प्रति पूर्णतया समर्पित होने का मन बना रहे थे। दिल्ली से बाहर हमारे समानांतर हरि जोशी, श्रीकांत चौधरी, अंजनी चौहान, ज्ञान चतुर्वेदी, विनोद शंकर शुक्ल, यज्ञ शर्मा, श्रीकांत वैष्णव, प्रकाश पुरोहित, प्रभु जोशी, सुरेश सेठ, मनीष राय, निशिकर आदि प्रतिम रचनाकार जोड़ीदार बन रहे थे। डॉ. नरेंद्र कोहली के साथ-साथ अजातशत्रु, अशोक शुक्ल और सुदर्शन मजीठिया व्यंग्य मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। कोहली जी हम सबके प्रेरक थे। परंतु कोहली जी का संस्कृतिचेता उपन्यासकार रूप छाने लगा था। व्यंग्यकार के ऊपर 'दीक्षा' के प्रकाशन से पूर्व पाण्डुलिपि पर चर्चा करते हुए सरोजिनी नगर, नई दिल्ली में एक विशेष गोष्ठी आयोजित की गई। मैं तब तक गोष्ठियों में बोलने का साहस नहीं कर पाता था पर डॉ. कोहली के आदेशात्मक आग्रह पर मेरा समीक्षक भी सजग हो उठा। मैंने कुछ कहा था। वह रिपोर्ट में भी छपा था। 'दीक्षा' वाचन से मुझे अहसास हो गया था कि एक उल्लेखनीय कृति के रूप में वह याद की जाएगी ऐसा ही हुआ। 'दीक्षा' जबर्दस्त हिट हुई।

डॉ. नरेंद्र कोहली ने मुझे समीक्षक बन सकने की प्रेरणा दी तथा मेरे भीतर के व्यंग्यकार और उसकी रचनाओं को पंख दिए। 'ब्लू स्टार' नामक साइक्लोस्टाइल पत्रिका में उन्होंने मेरी रचना 'दौरा बाढ़ इलाके का' प्रकाशित करवाई। उसी पत्रिका में उनका एक व्यंग्य छपा 'अमेरिकन जामिया' यह रचना मुझे अपने कतिपय मित्रों व पड़ौसी को सभ्य नागरिक का आचरण सिखाने में बेहद कारगर सिद्ध हुई।

डॉ. कोहली दक्षिणी दिल्ली की कॉलोनी 'ग्रेटर कैलाश' के पास एस ब्लाक में रहते थे तथा लगभग नियमित रूप से एक साहित्यिक संगोष्ठी का संचालन करते थे। उनके एक अन्य शिष्य हरिमोहन तथा प्रेम जनमेजय ने एक पत्रिका का संपादन किया था जिसमें मेरी व्यंग्य कथा 'विक्रमार्क, बुढ़िया और सराय रोहिल्ला' प्रकाशित हुई थी जिसे पढ़कर डॉ. कोहली ने अपनी संगोष्ठी में 'एक रचनाकार की रचनाएं' में व्यंग्य पढ़ने के लिए आमंत्रित किया। सच कहूं मुझे ढंग से पढ़ना नहीं आता था, उच्चारण का दोष, पंजाबी लहजा व कहां पॉज देना है आदि कुछ न आता था। वह गोष्ठी मेरे

लिए ऐतिहासिक सिद्ध हुई। विक्रमार्क सहित मेरी कुछ सात रचनाएं सुनी गईं तथा सराहना का प्रोत्साहन पुरस्कार मिल सका। तब कोहली जी ने कहा कि अपने प्रथम व्यंग्य संकलन में शीर्षक रूप में 'विकमार्क बुढ़िया और सराय रोहिल्ला' ही देना। उनकी सहधर्मिणी विदुषी डॉ. मधुरिमा कोहली से भी तभी उत्साहवर्द्धन का आशीष मिला था। दोनों मेरी गलतियां सुधारते थे।

कोहली जी का स्कूटर थम गया और उन्होंने कार खरीद ली थी। मित्र, शिष्य व अन्यगण मुदित हुए थे। उन्होंने धाम भी बदला। पीतमपुरा वैशाली के अपने प्लॉट में उन्होंने एक शानदार घर बनवाया। खूब खुला, पीछे एक लॉन भी रखा। प्रेम और मैं तब पश्चिम विहार की एक सोसायटी 'साक्षरा अपार्टमेंट' की सदस्यता ले सकने में सफल हुए थे। हम दोनों भी पिता बन चुके थे। डॉ. कोहली ने नए घर में एक आसमानी फव्वारा लगाया था जिससे झरने की तरह नीचे पानी झरता था। हमारे बच्चों ने उसमें मुफ्त स्नान कर भवन का भीगा-भीगा उद्घाटन कर दिया था। डॉ. कोहली बच्चो के इस भव में महामुदित हुए थे। नए भवन में स्टडी ने बहुत आकर्षित किया था। बाद में कम्प्यूटर पदार्पण युग ने डॉ. कोहली को नवतकनीक का सुख प्रदान किया था।

नए भवन में डॉ. नगेंद्र की अध्यक्षता में रचना गोष्ठी की बागडोर डॉ. कोहली ने थाम ली थी। हर बार नई रचनाएं सुनने और सुनाने का सुख प्राप्त होने लगा था। दो तीन रचनाकार रचना पाठ करते और शेष समीक्षात्मक टिप्पणियां देते। मैं, प्रेम और आशा जोशी भी पश्चिम विहार के साक्षरा में रहने लगे थे। वहीं से गोष्ठी में आते और नया लिखने की दीक्षा कोहली जी से प्राप्त करते। पश्चिम विहार से पूर्व मैं लगभग एक वर्ष कोहली जी का पड़ोसी होने का सुख प्राप्त कर सका था। वैशाली की निकटवर्ती विशाखा इन्क्लेव में मैं रहता था जहां स्वयं डॉ. कोहली कई बार पधारकर मुझे और मेरे परिवार को सुख प्रदान कर सके थे।

रामकथा का नरेंद्र कोहली संस्करण बेहद लोकप्रिय हुआ था। उसके अंश देश के प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। डॉ. कोहली का ध्यान तत्पश्चात भगवान कृष्ण की ओर गया। उन्होंने महाभारत का सम्यक अध्ययन किया। उसी विषयक अन्य ग्रंथों से चिंतन, विमर्श के नवपाठ ग्रहण किए और अपनी कृष्ण विषयक सोच के साथ 'महासमर' का धारावाहिक लेखन किया। इसे भी पाठकों ने हाथों हाथ लिया। हमें सौभाग्य मिला महासमर के कतिपय अंशों का प्रकाशनपूर्व वाचन सुनने का, जो डॉ. कोहली की ओजस्वी वाणी से होता था। समीक्षात्मक टिप्पणियों का आदान-प्रदान इस बार भी था।

डॉ. कोहली सर्वाधिक प्रशंसित नामों में हो गए थे। उनकी रचनाओं ने बिक्री के रिकार्ड बनाए। रायल्टी के रूप में अपना अधिकार ग्रहण करना डॉ. कोहली को प्रिय लगता रहा है। वे इस तथा अन्य मामलों में भी अति स्पष्ट हैं तथा स्पष्टवादी हैं। वे सच्चे निर्भीक और बाहर-भीतर एक से रूप वाले व्यक्ति हैं। वे हिप्पोक्रेट नहीं हैं। वैशाली में जनवरी 1990 में डॉ. कोहली ने अपने पचासवें जन्म-दिन का भव्य आयोजन किया था जिसमें देश के अनेक जाने-माने रचनाकार सम्मिलित हुए थे। डॉ. कोहली को देश-विदेश के बुलावे आते थे। मान-सम्मान, पुरस्कार आदि से उनकी झोली सदैव भरी रही है। वे कभी स्वयं पुरस्कार-योजना नहीं बनाते थे। कभी ऐसा निर्देश उन्होंने मेरे जैसे शिष्यों को दिया। वे एक स्नेही पिता, सहृदय पति, सहनशील पड़ोसी और संस्कृति के जीवंत वाहक हैं।

एक नरेंद्र को जब दूसरा नरेंद्र मिला, नरेंद्र कोहली जी के रचनाधर्मी जीवन में एक नया मोड़ आया। उन्हें मिलने वाला दूसरा नरेंद्र- स्वामी विवेकानंद हैं जिनका जीवनपरक उपन्यास उन्होंने 'तोड़ो कारा तोड़ो' शीर्षक से पाठकों को दिया है। विवेकानंद की कई जीवनियां प्रसिद्ध व प्रामाणिक हैं पर 'तोड़ो कारा तोड़ो' मानों एक चलचित्र है जिसकी आत्मीय शैली विवेकानंद के चरित्र के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करती हैं। मुझे सबसे अधिक पसंद आता है वह पक्ष जहां युवा (नरेंद्र) विवेकानंद अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस के प्रति अतुलनीय समर्पण भाव रखते हैं।

कहना न होगा यह उपन्यास गुरुवर नरेंद्र कोहली के अपने व्यक्तित्व का भी द्योतक है।

डॉ. नरेंद्र कोहली के साथ चण्डीगढ़, जालंधर, भोपाल, सांची, झांसी, लखनऊ आदि कई जगह जाना हुआ। बाहर की इन यात्राओं में उन्हें पास से काफी जानने का मौका मिला। जो उन्हें ठीक से नहीं समझते वे उन्हें तुनकमिजाज, दम्भी व मूडी समझने का विभ्रम पाल सकते हैं। सांस्कृतिक चेता व्यक्ति जो शुद्धता की कसौटी पर ही तथ्यों, व्यक्तियों और संस्थाओं को तौलता या जांचता हो, कभी-कभी बोर भी लग सकता है। मैंने कई बार यह बोरियत उल्लास से प्राप्त की है।

श्रद्धेय डॉ. कोहली से संदर्भित सभी पुस्तकें एक ओर हैं तथा ईशान महेश की पुस्तक 'सृजन-साधना' दूजी ओर। जिस ओर ईशान है वही पलड़ा भारी है। गुरु के प्रति जैसा समर्पित भाव कोहली जी विवेकानंद में पाते हैं, वैसा ही भाव मुझे ईशान महेश में कोहली जी के प्रति दिखाई देता है। ईशान ने लिखा, 'जिन दिनों मैंने डॉ. कोहली की रामकथा पढ़ी थी, उन दिनों मुझे स्वप्न में राम और विश्वामित्र के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं दिया। डॉ. नरेंद्र कोहली विश्वामित्र के रूप में दिखाई देते थे, मुख पर असीम शक्तिपुंज लिए और राक्षसों से घिरा मैं उन्हें सहायता के लिए पुकारता था और उनके आने का समाचार पाकर राक्षस-समूह भाग खड़ा होता था। 'अभिज्ञान' और 'महासमर' पढ़ते समय सब कुछ कृष्णमय दिखता था। आज ईशान महेश एक संत सम जीवन व्यतीत कर रहे हैं जिसमें का समस्त धवलपन उन्हें हमारे गुरु कोहली से ही मिला है कभी ईशान से कोहली जी विषयक बातें हुईं थीं जिनमें मैंने जो सीखा, जो जाना उससे कोहली जी का कद मेरी निगाहों में और अधिक बढ़ गया।

उपसंहार

हिंदू कॉलेज की एक साहित्यिक गोष्ठी में मैंने अध्यक्षता कर रहे डॉ. नरेंद्र कोहली को अपने को उनका शिष्य घोषित करते हुए कहा था- 'प्रेम जनमेजय अर्जुन की भांति और मैं एकलव्य की तरह हूं। मैंने इतना भर ही कहा था कि उनके गले का भर्राता स्वर मुझे सुनाई देने लगा था, हरीश मुझे द्रोणाचार्य घोषित न करो।'

मैं सन्न रह गया था। सन्न रह जाता हूं। ऐसा निश्छल, सदाचारी, सौम्य और शालीन व्यक्तित्व क्या कभी किसी एकलव्य का अंगूठा मांग सकता है? कदापि नहीं। वह तो शिष्य का हाथ थामने के लिए सदा अपना सबल हाथ बढ़ाता है। बढ़ाता रहेगा। वे विशेष हैं, वे नरेंद्र कोहली नहीं सच में दि नरेंद्र कोहली ही हैं। आमीन

15-सी विश्वविद्यालय मार्ग, हिंदू कॉलेज स्टाफ क्वार्टर्स
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

कमलेश भारतीय

अनुशासित व मर्यादित रचनाकर्मी

मेरी नजर में श्री नरेंद्र कोहली एक अनुशासित व मर्यादित रचनाकर्मी हैं। मेरी उनसे पहली मुलाकात उस समय उनके शिष्य दिविक रमेश व आजकल 'व्यंग्य यात्रा' के संपादक प्रेम जनमेजय के माध्यम से हुई थी। वे ग्रेटर कैलाश में रहते थे। दोनों शिष्यों की यह प्रबल इच्छा थी कि मैं नरेंद्र कोहली जी का साक्षात्कार करूं। अब मजे की बात देखिए कि आज चाहे पत्रकारिता में तीन दशक से ऊपर से सक्रिय हूं, पर उस समय एक कस्बे के छोटे से हाई स्कूल का हिंदी अध्यापक था। किसी छोटे या बड़े साहित्यकार का साक्षात्कार नहीं किया था।

इस तरह देखा जाए तो जीवन में बिना पत्रकारिता क्षेत्र में आए, मेरे पहले साक्षात्कार के सहयोगी बने दिविक रमेश व प्रेम जनमेजय और वह साक्षात्कार देहरादून से प्रकाशित साप्ताहिक बैनगार्ड में प्रकाशित भी हुआ। उस समय नरेंद्र कोहली जी त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन भी कर रहे थे और जहां तक मुझे याद है उसी में उनका नाटक 'शंबूक की हत्या' प्रकाशित हुआ था।

इसके बाद सन् 1975 के फरवरी माह में अहमदाबाद (गुजरात) में अहिंदी भाषी लेखक शिविर के लिए केंद्रीय हिंदी निदेशालय ने मेरा चयन किया और मैं बिना सीट बुक करवाए दिल्ली नरेंद्र कोहली जी के पास पहुंच गया। वे एक बड़े भाई या अभिभावक के नाते बहुत चिंतित हो गए कि बिना सीट बुक करवाए 24 घंटे लंबी यात्रा कैसे करूंगा। वे स्वयं अपने बेटे को गोद में उठाए मुझे रेलवे स्टेशन ही नहीं, डिब्बे तक विदा करने आए। एक छोटे से कस्बे से चला एक युवा व एकदम नया रचनाकार आज भी उनके इस स्नेह को मन में संजोए बैठा है। उन्होंने ही मुझे यह बताया कि अपने पास आने वाले हर छोटी-बड़ी पत्रिका को पत्र लिखकर प्राप्ति सूचना अवश्य देते हैं। मैंने भी इस क्रम को शुरू किया, अपनाया और बिना रहा हूं।

नरेंद्र कोहली ने मेरे से पूछा था- कथाकार हो, कथासंग्रह अब तक प्रकाशित क्यों नहीं हुआ? मैंने तब कहा था कि अभी ऐसी कहानियां नहीं, जिन्हें संकलित कर पाठकों के हाथों में सौंप सकूं। इस पर कोहली ने कहा था कि जब ऐसा समझो, तब संग्रह तैयार कर मुझसे संपर्क करना। मैंने मजाक में पूछा था- क्या यह आपका वचन है? उन्होंने उसी लहजे में दृढ़तापूर्वक कहा- वचन ही समझो।

सन् 1999 तक इस बात को परसों बीत चुके थे। मैं नवांशहर, मोहाली, चंडीगढ़ से हरियाणा के हिसार में पहुंच चुका था। अचानक एक संग्रह तैयार किया। पांडुलिपि तैयार करने के बाद एकदम नरेंद्र कोहली जी का वचन याद आया और फोन मिला दिया। उन्होंने कहा, मुझे वचन याद है। पांडुलिपि मेरे पते पर भिजवा दो। मैंने कोरियर करवा दिया। फोन कर पूछा तो जवाब आया- अब इसे भूल जाओ। प्रकाशित संकलन मिलेगा।

लगभग दो वर्ष बाद मैं पत्रकारिता की भागदौड़ व कवरेज के बाद दोपहर के समय घर पहुंचा तो पत्नी ने मुस्कराते हुए स्वागत किया और पूछा कि आपके लिए खुशखबरी है। अनुमान लगाओ क्या खुशखबरी हो सकती है? उन दिनों हमारे वेतनमान बढ़े थे। मैंने सोचा कि बकाया राशि की बढ़ी संख्या वाला चैक आ गया। वे बोलीं– बिल्कुल गलत। इससे बड़ी खुशी का अनुमान लगाओ। मैंने हाथ खड़े कर दिए, हार मान ली। तब उन्होंने छिपाकर रखी मेरे नए कथा संग्रह 'एक संवाददाता की डायरी' की प्रति दिखाई। यह वही संग्रह था, जिसे कोहली जी को भेजा था। एक रचनाकार का दूसरे रचनाकार के प्रति ऐसा स्नेह शायद सबके भाग्य में नहीं आता, पर मेरी दुआ है कि ऐसा स्नेह सबके भाग्य में आए। मेरी आंखें खुशी के आंसुओं से भीग गयी थीं। बाद में इसी कथा-संग्रह को अखिल भारतीय अहिंदी भाषी रचनाकार पुरस्कार के रूप में 50,000 रुपए का पुरस्कार मिला। श्रेय मुझे मिला पर इसके हकदार तो नरेंद्र कोहली ही थे, सूत्रधार तो वही बने। मुझे उनकी कहानीकार में प्रकाशित कहानी 'शटल' आज तक नहीं भूलती। उपन्यास 'आतंक' भी खूब पढ़ा। नकोदर में मोहन सपरा के निवास पर नरेंद्र कोहली ने अपनी रामायण की श्रृंखला मे किस तरह घटनाएं कथा में गूंथत हैं, इसका खुलासा करते कि जब बंगलादेश में बुद्धिजीवियों को मार गिराया था, तब रामायण काल में आश्रयों में ऋषियों को किस तरह और क्यों मारा जाता था, इसका रहस्य समझ में आ गया था। यही नहीं, जब उनसे सवाल किया गया था कि लंबे उपन्यासों की रचना कब करते हैं तब उन्होंने बताया कि सर्दियों की लंबी रातों में क्योंकि वह मौसम उन्हें लेखन के लिए सुविधाजनक लगता है। फिर वे हिसार के फतेहचंद महिला महाविद्यालय में भी व्याख्यान के लिए डॉ. शमीम शर्मा ने न्यौते पर पहुंचे थे। मैं उन्हें जब भी नववर्ष की बधाई देता, वे कहते हैं कि नवसम्वत् पर बधाई देना। यह हमारी परम्परा नहीं, यह हमारा नववर्ष नहीं। जब मैं उन्हें नवसम्वत् पर ही याद करने की कोशिश किया करता हूं। वे हिंदी के सर्वाधिक कमाई-लेखन के बल पर करने वाले रचनाकार भी चुने गए। यह रचनाकारों के लिए जहां खुशी की बात है, वहीं जिम्मेवारी निभाने की भी। नरेंद्र कोहली इसी तरह लेखन करते रहें और अब मन में हैं कि एक बार फिर दिविक रमेश व प्रेम जनमेजय उनके साक्षात्कार के लिए समय मांगकर मुझे ले चलें तो एक चक्र पूरा हो जाए। पृथ्वी गोल है- साबित हो जाए।

1034 बी, अर्बन एस्टेट-2
हिसार-125005 (हरियाणा)

विवेकी राय

जनवादी से अध्यात्मवादी

कथाकार नरेंद्र कोहली से मेरा परिचय उनकी कृतियों के माध्यम से हुआ। उनकी आरंभिक कृतियां में से 'आश्रितों का विद्रोह' और 'आतंक' ने ध्यान आकर्षिक किया था; परंतु 'साथ सहा गया दुख' नामक कृति ने इतना प्रभावित किया कि कृतिकार को बधाई दिए बना नहीं रह सका। यहीं से पत्र-व्यवहार आरंभ हुआ और वह चलता गया। उन दिनों मेरी आदत थी कि जो पुस्तक पढ़ने में अत्यधिक आकर्षित करती थी और जिस के वस्तु और शिल्प, दोनों पक्ष की समृद्धि मन को छूने लगती थी, उस पर मैं लिखने बैठ जाया करता था। यह लिखना अथवा समीक्षा-कर्म प्राय: समीक्षा के लिए नहीं, लेखक के सृजन-सौंदर्य को आत्मसात करने के लिए होता था।

'दीक्षा' के बाद अगले वर्ष सन् 1976 ई. में रामकथा का दूसरा भाग 'अवसर' और इसी प्रकार प्रतिवर्ष उस श्रृंखला के एक-एक नए भाग के प्रकाशन-क्रम में सन् 1979 ई. तक शेष 'संघर्ष की ओर' और 'युद्ध' (दो भाग) का प्रकाशन संपन्न हो गया। वास्तव में यह बहुत श्रमसाध्य और महान कार्य रहा। इसकी संपन्नता के साथ लेखक से मिना एक सुखद अनुभव था। मिलने का यह पहला मौका कलकत्ते में भारतीय संस्कृति संसद की ओर से आयोजित सन् 1983 ई. वाले कथा-समारोह में मिला। यह आयोजन 23 दिसंबर से शुरू होकर तीन दिनों तक चला। इसमें जैनेंद्र जी, निर्मल वर्मा, रामदरश मिश्र, भीष्म साहनी, अवध नारायण मुद्गल, रानी सेठ, उषा प्रियंवदा, गोविन्द मिश्र, लक्ष्मीनारायण लाल, हिमांशु जोशी, बटरोही, सिद्धेश, प्रभाकर माचवे, चंद्रकांत बांदिचडेकर और नरेंद्र कोहली आदि लेखकों ने भाग लिया था।

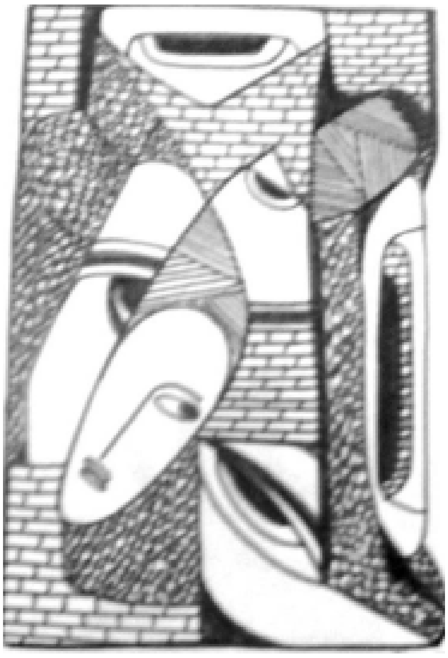

नरेंद्र कोहली को इस समारोह के निकट से देखने का मौका मिला। वे कम बोलने वाले, गंभीर और जिज्ञासु प्रवृत्ति लगे। अपने भाषणों में वे समस्याओं को प्रश्नों के माध्यम से उठाते रहे। वे अपने को प्रस्तुत करने में बहुत सावधानी बरतते रहे। वे कभी बलपूर्वक स्थापित करने की चेष्टा नहीं करते थे। उनके विचारों में विस्तार-वृत्ति होती थी। इतने पर भी वे बोलने में अधिक समय नहीं लेते थे। उनका बोलना मौलिक चिंतन और आधुनिक की चेतना से पूर्ण होता। उक्त सम्मेलन में अंतिम कर 25 दिसंबर को अंतिम सत्र 'मूल्य : मूल्यांकन : पुनर्मूल्यांकन' के अंतर्गत डॉ. नरेंद्र कोहली ने कहा, 'जिस रचनाकार के पास कहने को अपनी बात है, वही काल-प्रवाह में टिक पाता है। यही कारण है कि प्रेमचंद का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता चला जा रहा है, जबकि उग्र, चतुरसेन शास्त्री आदि अपने समय में बहुत चर्चित होने के बावजूद आज धूमिल होते जा रहे हैं।'

उक्त कथन में 'अपनी बात' वाला तथ्य बहुत मूल्यवान है। नए बदलते समाज की नई चेतना और नई संवेदना तथा नई सोच को, ताजी ऊर्जा के साथ मौलिक शिल्प में प्रस्तुत करने वाले कथाकार नरेंद्र कोहली के पास निर्विवाद रूप से कहने के लिए अपनी बात है। यहां तक कि वे बाल्मीकि और व्यास की बातों को उठाते हैं तो उसे प्रस्तुत करने में अपनी बात बना देते हैं और अविरोध, अनवरोध कह डालते हैं। अपनी इसी नवाग्रही व्यक्तित्व के चलते ही वे अत्यंत जागरुकता के साथ जहां भी अवसर मिलता है, नएपन को अन्वेषित करते रहते हैं।

दूसरी बार कुछ और अधिक निकट से परिचय का सुयोग एक स्वागत समारोह में हुआ। स्वागत मेरा ही हो रहा था। समारोह अखिल भारतीय लेखक संगठन, दिल्ली की ओर से डॉ. रामदरश मिश्र ने अपने आवास पर (17 फरवरी सन् 1987 ई.) आयोजित किया गया था। मैं उन दिनों उनका अतिथि था। पहली बार दिल्ली गया था। मेरा गंवार लेखक इस स्वागत से बहुत संकुचित हो रहा था। समारोह में कोहली जी के अतिरिक्त डॉ. कमलकिशोर गोयनका, डॉ. नरेंद्र मोहन, डॉ. रमाकांत श्रीवास्तव, डॉ. ललित शुक्ल, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक और डॉ. विनय आदि साहित्यकार उपस्थित थे। डॉ. नरेंद्र कोहली ने दिल्ली-संबंधी मेरे अनुभव के बारे में प्रश्न किया तो मैंने उसे एक सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया, 'दिल्ली एक लड़ाई है।' और फिर अपनी यात्रा-भीरुता के प्ररिप्रेक्ष्य में इसकी व्याख्या की। सचमुच डॉ. मिश्र के साथ दिल्ली में लगभग एक सप्ताह तक घूमने में मुझे ऐसा ही लगा था। कहीं भी जाना, बसों की भारी भीड़ में धंसना मेरे लिए बीहड़ लड़ाई थी।

भाई कोहली जी ने मुझे अगले दिन अपने यहां भोजन करने और रात्रि विश्राम के लिए आमंत्रित किया। मेरी यात्रा-भीरुता को ध्यान में रखते हुए, उन्होंने अपनी गाड़ी लाने और मुझे अपने आवास तक ले चलने का प्रस्ताव भी रखा। वास्तव में एक विशेष कारणवश उनके यहां आने के लिए मैं बहुत उत्सुक था। कुछ वर्ष पूर्व मेरे पड़ोसी और मित्र पंडित रामचंद्र शर्मा जब दिल्ली गए थे तो मेरा पत्र

लेकर वे कोहली जी से मिलने भी गए थे। गाजीपुर लौटने पर शर्मा जी ने उनके स्वागत सत्कार की अति प्रशंसा के साथ उनके नवनिर्मित मकान को कुछ असाधारणता का वर्णन किया था।

उस असाधारणता-वर्णन से मेरे मानस-पटल पर जो चित्र बनता था, वह बहुत कलात्मक, मौलिक और रंगमंचीय भव्यता के लिए हुए होने के साथ बहुत प्रशस्त विशाल रूप में उभरता था। कोहली जी के साथ उनके मकान अपने मकान की उक्त विशेषता के बारे में पूछने पर कोहली जी कहते हैं, 'नहीं! असाधारण कुछ नहीं है। बैठक का एक भाग प्राय: दस फुट ऊंचा है, दूसरा बीस फुट। इससे यह सुविधा होती है कि दो तल होने पर भी मकान एक ही ईकाई का होता है। जब मकान बनाया तो बच्चे छोटे थे। इसलिए मकान को दो तलों में विभाजित करने का मन नहीं हुआ। बैठक मं से ही सीढ़ी ऊपर जाती है। मन में लोभ आने पर भी, मकान का कोई खंड किराए पर नहीं दिया जा सकता।

उक्त दस फुट तल पर बैठकर कोहली जी उन दिनों सृजन-कार्य किया करते थे। तब वे रामकथा-संबंधी उपन्यासों की श्रृंखला को पूर्णकर महाभारत पर भिड़े थे। इस कथा को उन्होंने 'महासमर' नाम दिया था। सन् 1988 ई. में उसका प्रथम भाग 'बंधन' के नाम से पाठकों के सामने आया और इसमें भी उन्होंने भरपूर ख्याति मिली। इसमें कथाकार ने रामकथा वाले जनवादी रंग से हअकर कथा को मनोवैज्ञानिक रंगों से सज्जित किया था। इस प्रकार आस्वाद धरातल में परिवर्तनजन्य शिल्प चमत्कार से पाठकों को बेहद आकर्षित किया था।

वे टेबल के सामने जिस कुर्सी पर बैठकर लिखते थे, उसके पीछे दीवार पर गणेश जी का एक भव्य चित्र लगा था।. . .तो यह रहस्य है महाभारत जैसे जटिल विशाल महापुराण में प्रवेश कर सफलता प्राप्ति का? सहायक गणेश जी यहां भी मौजूद हैं।

कोहली जी के परिवार के साथ भोजन करते समय मैंने उक्त तथ्य को रहस्योद्घाटन की भूमिका बांधकर प्रस्तुत किया, तो बहुत हंसी हुई मालूम हुआ, वहां जानबूझ कर गणेश जी को प्रतिष्ठित नहीं किया गया है। उपयोगिता की दृष्टि से लगाए गए कैलेंडर के साथ वे तो अनायास ही आ विराजे हैं।. . .मैं सोचता हूं, वर्तमान में अनायास होने वाली बहुत सारी बातें भी भविष्य के लिए गहरा अर्थ रखती हैं। रामकथा के अज्ञातवास प्रभाव से लेखक का अन्तस रूपांतरित होने वाला था। अगली कृति के अज्ञात अनुकूल सहायक गणेश जी अनायास ही पीठ पीछे विराजमान हो गए थे। और आगे 'तोड़ो कारा तोडो' को पूर्ण करते-करते तो ऐसा लगता है कि लेखक में पूर्णत: रूपांतर घटित हो गया है।

ज्ञात हुआ है कि जिस कक्ष में बैठकर वे नित्य आठ घंटे अपने को सृजन-यज्ञ में खपाया करते हैं, उमसें गणेश जी के अतिरिक्त हनुमान जी भी विराजित हैं। पुरुषोत्तम भगवान कृष्ण की एक साढ़े चार फुट की मनोरम प्रतिमा है। राम जी भी हैं। प्रतीक्षा प्रभु इच्छा की है, एक पृथक मंदिर भी बनाने की इच्छा है। यह सब क्या है? राम और कृष्ण-कथा के इस ईश्वरवाद रहित जनवादी लेखक के क्रमिक परिवर्तन को कृतियों के माध्यम से मैंने ध्यानपूर्वक देखा है।

. . . पृष्ठ-124 का शेष

कोहली जी ऐसा नहीं करते, और अपने को केवल व्यंग्य लेखन तक ही सीमित कर देते तो भारतीय साहित्य-या कहें कि विश्व साहित्य को- अभ्युदय, महासमर, तोड़ो कारा तोड़ो, वसुदेव या शंबूक की हत्या जैसी कालजयी कृतियाँ कैसे प्राप्त होती। ये ठीक है कि व्यंग्य रचनाएँ भी कम नहीं हैं-पाँच एब्सर्ड उपन्यास, आश्रितों का विरोध , भोंपू, एक और लाल तिकोन, आधुनिक नारी की पीड़ा, वह कहाँ है, त्रहि-त्रहि, जगाने का अपराध, आत्माकी पवित्रता, और रामलुभाया कहता है जैसी अनेक कृतियाँ उनके व्यंग्य-कौशल का प्रमाण हैं। एक लेखक दो समानांतर विधाओं में कैसे तालमेल बिठा लेता है, यह कोहली जी जैसे बड़े लेखक के रचना-संसार को देख कर ही समझा जा सकता है। कोहली जी की व्यंग्य रचनाओं में हमारा समय रूपायित होता है। कोई भी पहलू कोहली जी नहीं छोड़ते। निर्मम हो कर व्यंग्य करते हैं। क्योंकि वे ऐसा समाज चाहते हैं, जहाँ नैतिकता को प्रतिष्ठा मिले। मैंने जितना भी उन्हें पढ़ा है, यही समझ सका हूँ, कि कोहली जी का लेखक भारतीयता की ही तलाश है। वे मूल्यों के गहरे उपासक हैं। उन्हें अपनी सांस्कृतिक परम्परा प्रिय है। मगर वे पोंगापंथी नहीं हैं। वे आधुनिक दृष्टि सम्पन्न लेखक है। वे केवल गुणानुवाद ही नहीं करते । जहाँ घटियापन, पिछड़ापन देखते हैं, वहाँ फौरन हस्तक्षेप भी करते हैं। शंबूक की हत्या जैसी कृति उनको और ऊँचा उठाती है। उनकी प्रगतिशील दृष्टि उनके उपन्यासों एवं व्यंग्य रचनाओं में देखी जा सकती है। पौराणिक पात्रें को लेकर लिखे गए उपन्यासों में भी वे आधुनिकता का तड़का लगाते हैं। इसीलिए उनके पौराणिक पात्र पाठकों को पुराणों के नहीं हमें अपने समय के, हमारे बीच के ही लगते हैं। वे भारतीयता के, राष्ट्रीयता के प्रवक्ता हैं। उनका पूरा लेखन ज्वलंत मुद्दों को भी पकड़ता है। मिथकों को भी वो समकालीन बना देते हैं। यह उनकी शैली है। उनका अभिज्ञान पढ़ लीजिए, या फिर वसुदेव, हर कृति सोद्देश्य है। कोहली लिखने के लिए ही नहीं लिखते,जैसा कि बहुत से लेखक करते हैं। चमत्कार पैदा करना, प्रयोग के नाम पर फूहड़ताएँ परोसना, गाली-गलौच करना अब फैशन है। लेकिन कोहली जी का लेखन इन विकृतियों से परे हैं। नरेंद्र कोहली जी की आधुनिकता में नग्नता नहीं, नैतिकता समाहित है इसीलिए वे मुझे बेहद प्रिय हैं। मेरे प्रेरक हैं। मेरे ही क्यों, बहुतों के। आज जब उनकी उम्र के लेखक अंतरजाल (इंटरनेट) की दुनिया से दूर हैं, मैंने देखा वे तो फेसबुक में भी सक्रिय हैं। कम्प्यूटर -ज्ञान में भी किसी से कम नहीं हैं। यानी वे समय के साथ भी चल रहे हैं। लेकिन अपनी शर्तों पर। वे सत्तर साल के हो रहे हैं। लेकिन मैं में उनको बीस साल से जस का तस देख रहा हूँ। बीस साल पहले भी वे मुझे सत्तर के लगते थे। उनके बालों की सफेदी और उनका पौराणिक लेखन उन्हें बुजुर्ग बना कर आदरणीय बना देता है। चंद्रवदन मृगलोचनियों के लिए इस बाबा किस्म के लेखक के यहाँ कोई गुंजाइश ही नहीं बची। वे इन सब लफड़ों से दूर भी हैं। बहरहाल, मैं कोहली जी को नमन करता हूँ, और ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ, कि वे इसी तरह स्वस्थ रहे और भारतीय साहित्य को अपनी नैतिक लेखनी से समृद्ध करते रहें।

संपादक-सदभावना दर्पण जी-31, नया पंचशील नगर, रायपुर (छत्तीसगढ़)

रमेश बतरा

लेखक बने ही नहीं बनाए भी

'हरि अनंत कथा अनंता' के सुर में श्रीमान नरेंद्र कोहली को उनकी लेखकीय क्षमताओं के संदर्भ में 'अनंत' कहा जा सकता है। वर्षों पूर्व वह जमशेदपुर की पृष्ठभूमि पीठ पर लादे हुए दिल्ली आए और दिल्ली विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हो गए। आज वह अपनी धर्मपत्नी प्राध्यापिका मधु जी और दो बच्चों के साथ चैन की जिंदगी बसर कर रहे हैं। मगर लिखने के मामले में उनके मन में चैन नहीं। इस सिलसिले में वह हमेशा बेताब और जागरूक रहते हैं. . .और कई बार तो लगातार लिखते रहने के लिए घर में उपस्थित होते हुए भी स्वयं को अनुपस्थित कर देते हैं। उन पर लिखने के मामले में उनके मन में चैन नहीं। इस सिलसिले में वह हमेशा बेताब और जागरुक रहते हैं. . .और कई बार तो लगातार लिखते रहने के लिए घर में उपस्थित होते हुए भी स्वयं को अनुपस्थित कर देते हैं। उन पर लिखते रहने का भूत सवार रहता है। उनका वश चले तो वह नौकरी छोड़कर भी अपना प्रतिपल लेखन को समर्पित कर दें।

कोहली जी की कहानियों और व्यंग्य रचनाओं को भुलाए नहीं भुलाया जा सकता। उनकी इन रचनाओं की सराहना भी कोई कम नहीं हुई, मगर अंततः हुआ यह कि वह 'रामकथा' के 'रामायणकार' के रूप में अप्रतिम कथा-संग्रह, व्यंग्य-संग्रह और उपन्यासों की भरमार है। इतने कि उनके नाम याद रख पाना शायद कोहली जी के भी बस का न हो। वैसे, कई बातों को जानबूझ कर भूल जाना भी उनकी एक आदत है। खासकर कड़वी बातें। वह कहते हैं, 'जीवन में अच्छी-अच्छी बातें ही याद रहें, यही एक लेखक की सफलता है। इससे मेरा लेखन भी सार्थक होता है।'

वह स्वयं ही लेखक नहीं बने। पढ़ने-पढ़ाने और अध्ययन करने के साथ-साथ कोहली जी ने अपने विद्यार्थियों को भी लिखने के लिए प्रेरित किया। इसके लिए उन्होंने हर रविवार को अपने ही घर पर एक गोष्ठी का आयोजन शुरू कर दिया। इन गोष्ठियों के नतीजे में उन्होंने बहुत से लेखकों का बाकायदा निर्माण भी किया। उनके निर्देशन में प्रेम जनमेजय, हरीश नवल और सुभाष अखिल जैसे लेखकों ने काफी तरक्की की और किसी हद तक नाम भी कमाया।

अपने विद्यार्थियों को प्रेरित करने के साथ-साथ उन्होंने ग्रेटर कैलाश (दिल्ली) में एक संस्था बनाई, जिसमें उनकी कॉलोनी के लोग शामिल थे। इस संस्था बनाई, जिसमें उनकी कालोनी के लोग शामिल थे। इस संस्था के माध्यम से वह साहित्य का प्रचार करना चाहते थे, जो कि हुआ। हर सप्ताह वह किसी कथाकार या कवि को बुलाकर उसकी रचनाएं गैर-लेखकों के बीच सुनवाते रहे। यह एक ऐसा प्रयास था जो कोई-कोई ही कर पाता है। इस माध्यम से उन्होंने अपने ब्लाक के सभी लोगों को 'साहित्यमय' बना डाला। यह उनका साहित्य को जमीन से जोड़ने का प्रयास था, जिसे वह किसी-न-किसी रूप में आज भी आजमा रहे हैं। लेकिन वह यह भी मानते हैं कि 'इस कार्य में अधिक योगदान मधु जी का ही रहा।'

ग्रेटर कैलाश के किराए के मकान से वैशाली (पीतमपुरा) में अपने घर में बसने के बाद उनका सिलसिला बिल्कुल टूट गया। शायद इसलिए भी कि भारतीय संस्कृति के मिथक उनके जेहन पर हावी हो गए और उन्होंने ज्यादा-से-ज्यादा मिथकों में सत्यापन को खोजने और फिर लिखने में लगा दिया।

वीरेंद्र मेंहदीरत्ता

ईमानदार व्यक्तित्व

नरेंद्र कोहली को एक बहुत अच्छे दोस्त के रूप में जाना है मैंने। आत्मीयता में एक स्निग्धता होती है और इस स्निग्धता की गर्माइश को मैंने इनके सम्पर्क में आने के बाद ही सही रूप से पहचाना है।

सबसे बड़ी बात जो मुझे नरेंद्र कोहली में लगी है कि आम साहित्यकारों की तरह बहुत कुछ ओढ़कर वह नहीं जीता। सामान्य आदमी की तरह से, जीवन की सामान्य विवशताओं से जूझता हुआ, जीवन की सभी सामान्य जिम्मेदारियों को बखूबी निभाता हुआ— रचनाधर्मिता के प्रति ईमानदारी के प्रतिबद्ध है।

नरेंद्र कोहली की जागरूकता और सचेतता, उसकी शक्ति है। परिवार, मुहल्ले, शहर और देश- इनकी सभी समस्याओं के प्रति जागरूक यह साहित्यकार एक सर्जनात्मक जीवन-दर्शन बनाने की ओर बढ़ रहा है। किसी भी उपन्यासकार के लिए अपने युग की धड़कन को सुनने के लिए यह आवश्यक भी होता है।

मुझे पूरा विश्वास है कि उत्तरोत्तर नरेंद्र कोहली बेहतर उपन्यास लिखेंगे।

तेजेंद्र शर्मा

संबंधों का कद्रदान

नरेंद्र कोहली मूलत: एक व्यंग्यकार हैं। वहां तक कि 'अभिज्ञान' जैसी चिंतन प्रधान कृति में भी ग्राम-प्रधान के संदर्भ में वे लिख बैठते हैं कि 'यह आदमी नहीं, पद बोल रहा है।' अत: मैं उन्हें एक व्यंग्यकार ही अधिक मानता हूं। उनके जीवन में एक व्यवस्था है। तमाम दूसरे लेखकों की तरह ऐसा नहीं है कि इधर-उधर कागज और दूसरी चीजें बिखरी रहें। इनका सब कुछ व्यवस्थित है।

इनके मेरी पहचान 'दीक्षा के प्रकाशन के बाद हुई थी। मेरे एक मित्र दिनेश कपूर ने मुझे पढ़ने के लिए 'दीक्षा' दी। काफी दिनों तक वह पुस्तक वैसे ही पड़ी रही क्योंकि मैं हिंदी-पुस्तकों के पढ़ने का बहुत कम ही साहस कर पाता था। मूलत: मैं अंग्रेजी साहित्य का विद्यार्थी रहा हूं। लेकिन जब मैंने 'दीक्षा पढ़नी शुरू की तो पढ़ता ही गया और तब मुझे लगा कि हिंदी में भी ऐसे लेखक हैं, जो मल्टी डाइमेंशनल करेक्टर वाली रचनाएं लिखते हैं। इसके बाद मैंने 'दीक्षा पर एक लंबी प्रतिक्रिया भेजी, जो दशहरे की छुट्टिया के कारण काफी दिनों बाद कोहली जी को मिली। एक पाठक की प्रतिक्रिया, जिसमें कुछ महत्वपूर्ण बातें भी लिखी थीं, उन्हें प्रभावित कर गई।

इसके बावजूद हम एक दूसरे से मिल नहीं पाये थे। हमारी पहली मुलाकात भी बड़ी अजीब थी। मैं और इंदू घर लौट रहे थे और कोहली जी अपनी पत्नी के साथ स्कूटर से आ रहे थे। वे हमारे सामने रुके और फिर पूछ बैठे– 'तुम तेजेन्द्र हो?' मैंने भी कहा 'आप नरेंद्र कोहली हैं? फिर दोनों लोग हंस पड़े। यह पहचान यादगार बन गई। जिसको कभी देखा नहीं, उसको इस तरह पहचान लेना- किसी आंतरिक शक्ति से प्रेरित होकर ही ऐसा हुआ होगा।

इस घटना के कुछ दिनों बाद वे बंबई आये। मेरे यहां ही रुके। उस दिन राखी का त्यौहार था। उसी साल उनकी बहन का देहांत हुआ था। अत: वे इंदू से पूछ बैठे– तुम मुझे राखी नहीं बांधोगी? इंदु ने उन्हें राखी बांधी और उन्होंने इंदु को अपनी बहन मान लिया। लेकिन उस साल इंदु ने भैया दूज के टीके नहीं भेजे। उसने सोचा राखी के दिन यहां थे, इसलिए राखी बंधवाने को कह दिया होगा। संबंध इतना प्रगाढ नहीं था किंतु कुछ दिनों में ही उनका एक भावपूर्ण पत्र मिला, जिसमें एक शिकायत थी कि 'मुझे भैया दूज को तुम्हारे टीके का इंतजार था। लेकिन. . .'

हमें उनके इतने निकट ला दिया कि आज हम स्वयं को उनके सबसे निकट के संबंधियों में से मानते हैं। वे संबंधों की कदर करना जानते हैं। अत्यंत ही 'सेंसिटिव' हैं। नहीं तो इस तरह के संबंध बहुत बार बनते हैं लेकिन टिक नहीं पाते। शुरू-शुरू में हमने एक दूसरे को 'इम्प्रेस' करने की कोशिश हो सकता है कि हो परंतु उनमें कोई बनावटीपन नहीं है। एकदम स्वाभाविक संबंध हैं हमारे। अब तो वे मुझे अपना इंटरनेशनल पी. आर.ओ. मानते हैं क्योंकि मैं अपनी सर्विस/एयर इंडिया / के दौरान देश-विदेश की यात्रा किया करता हूं। विदेशों में भी मैंने उनकी रचनाओं के महत्व को बताने का प्रयास किया है। मारिशस में मैंने उनकी रामकथा पर आधारित पंद्रह मिनट की एक 'रेडियो वार्ता' भी प्रस्तुत की है।

वे 'नेचुरोपैथी' में विश्वास रखते हैं। महीनों तक फल-फूल, सलाद आदि पर ही रह जाते हैं। उनके विचार से सही चिंतन-कार्य में इससे सहायता मिलती है। ज्यादा चिंतन करने से जो 'ऐबनार्मलिटी' पैदा हो जाती है, उसे दूर करने के लिए भी ऐसा करना हितकर होता है। चुहल करना इनके व्यक्तित्व का एक अन्य पहलू है। वैसे तो उनकी पूरी जिंदगी पर व्यंग्य-परिहास छाया है। एक बार मैंने पूछा- 'आप कुछ दुबला गये हैं' झट से बोले- 'पैंटे छोटी हो गई थीं। नई पैंट बनवा नहीं सकता। अत: दुबला गया।'

बेटी के न रहने का भाव कभी-कभी उनके चेहरे पर दिखाई दे जाता है। बेटी की बड़ी इच्छा थी। पर. . .।

रिश्वत लेने-देने के एकदम 'अगेंस्ट' हैं। कई काम करना चाहते हुए भी इसी कारण नहीं कर पाते। इस मामले में बड़े ही 'स्ट्रेट फॉरवर्ड' हैं। दो टूक बातें कर बैठते हैं।

हर लेखक की तरह 'क्रिटिसिज्म' पर 'एजिटेट' भी होते हैं पर इस भाव को वे इस तरह छिपा लेते हैं कि दूसरा कोई जान ही नहीं पाता। उनके पास हर बात के लिए तर्क है। एक ही विषय के दोनों पक्षों को एक तरह प्रस्तुत करेंगे कि दोनों पक्ष मान्य हो जाएंगे। यह तर्कनाशक्ति रामकथा के उपन्यासों और 'अभिज्ञान' में विशेष रूप से उभर कर आई है।

दिनेश कपूर

शीशे का व्यक्तित्व

एक के बाद एक कुछ चित्र आंखों के सम्मुख आते-जाते हैं। . . .पहला दृश्य संवत 2028 तदनुसार ई. 1971। समय-कक्षाओं क बाद। स्थान-हस्तिनापुर कॉलेज का एक कमरा। नए-नए लेखकों की एक गोष्ठी चल रही है, नरेंद्र कोहली के आयोजन में। मैं बड़ी उत्सुकता से अपनी बार की प्रतीक्षा में हूं। मैं अपनी पहली कहानी सुनाने के लिए आया हूं। कहानी, हीन भावना से पीड़ित एक व्यक्ति की है, जो बस में एक लड़की के साथ बैठा है। बाहर वर्षा हो रही है; और वह इस द्वंद्व में है कि अगर उसने खिड़की बंद करने के लिए हाथ बढ़ाया तो क्या खिड़की वास्तव में बंद हो सकेगी? यदि खिड़की बंद न हुई तो उसका अहं लड़की के सम्मुख बुरी तरह तिरस्कृत होगा। यह सारा ऊहापोह उसके मन में है, जबकि अंत में हाथ बढ़ाने पर वह आसानी से खिड़की बंद कर देता है।

उपस्थित समुदाय ने मेरी कहानी सुनी है। मैं उत्सुकता से कोहली जी के मुंह की ओर ताक रहा हूं, उनकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा में।

'तो खिड़की बंद हो गई?' वे पूछते हैं।

मैं मुस्कुरा कर रह जाता हूं।

'अगर, यह प्रथम प्रयास है, तो अच्छा है। यूं कहानी में इतने 'उफ़' हैं कि पाठक सोचने लगता है कि उफ़ कब यह कहानी खत्म होगी।'

मुझे बेहद निराशा है। मेरा मुंह लटक जाता है। ये कोहली साहब केवल अपने प्रिय विद्यार्थियों की ही रचनाओं की तारीफ करते हैं बस। यह भी कोई समीक्षा हुई। नए लेखकों को ऐसे बढ़ावा दिया जाता है क्या?

दूसरा दृश्य- स्थान- हस्तिनापुर कॉलेज का कोई ओर कमरा। प्रसंग- 'जगाने का अपराध' नाटक का रिर्हसल। तीन मुख्य पात्रों मं से एक- 'बदमाश' की भूमिका मैं निभा रहा हूं। हमारा नाटक आई. आई.टी. में होने वाली अंतः कॉलेज प्रतियोगिता में जाएगा। खूब जमकर अभ्यास हो रहा है।

एक-दो-तीन दिन तक रिहर्सल निर्विघ्न रूप से, समय पर ढंग से चलता रहता है। चौथे दिन किसी कारण से मैं रिहर्सल में देर से पहुंचता हूं। कोहली साहब की क्रूर दृष्टि मेरा अवलोकन करती है। कठोर स्वर कानों से टकराता है- 'देर क्यों हुई?' मैं डरा-डरा कारण बता रहा हूं।

पांचवें दिन फिर किसी अन्य कारणवश देर हो चुकी है। मेरा मन बुरी तरह आशंकित है। आज क्या होगा? डरते-डरते मैं रिहर्सल के कमरे में प्रवेश करता हूं। वहां वे दोनों लड़के अपनी एक महिला मित्र के साथ बैठे हैं कोहली साहब नहीं हैं। मेरी जान में जान आती है। 'कोहली सर, लेट आएंगे क्या?' मैं पूछता हूं। कमरे में एक बारगी चुप्पी छा जाती है। फिर 'बाबुल' बतलाता है, 'तुझे आज फिर देर हो गई। कोहली साब गुस्सा हो रहे थे। उन्होंने तुम्हें नाटक से निकाल दिया है।' मेरा पीला पड़ा चेहरा देखकर वह सांत्वना देता है, 'वे स्टाफ रूप में गए हैं शायद। अभी-अभी तू जाकर मिल ले। माफी-वाफी मांग लेना। सब ठीक हो जाएगा।'

डरता-डरता मैं स्टाफ रूप में पहुंचता हूं। चपरासी से कहकर उन्हें बुलवाता हूं। अपने किसी सहयोगी अध्यापक से बात करते हुए, हाथ में रजिस्टर-सा पकड़े वे सहज ढंग से बाहर आते हैं। सहज ढंग से ही मेरी नमस्ते का उत्तर देते हैं; और आधे मिनट में अपनी बातचीत समाप्त कर, उन्हें विदा कर मेरी ओर मुड़ते हैं, 'हां भई, कहो?'

'सर. . .मैं आज लेट हो गया।'

'हां! आज तुम फिर लेट आए।'

'सर गलती हो गई। माफ कर दीजिए।'

'तो ठीक है। गलती की सजा भुगतो। माफी क्यों मांगते हो। जब गलती करने का साहस करते तो दीनों की तरह गिड़गिड़ाते क्यों हो। सजा सहने की हिम्मत रखो।'

'सर, अब ऐसा नहीं होगा।'

'नहीं! तुम्हारे कारण मैं दूसरों की प्रतीक्षा में बैठाए नहीं रख सकता अगर तुम वाकई गलती महसूस करते हो तो ठीक है। जाओ, अगली बार जब कोई नाटक करेंगे तो तुम्हें फिर बुला लेंगे।'

मैं स्तंभित-सा खड़ा रहता हूं और वे चले जाते हैं। अब की बार तो बुद्धि ही कुंठित हो जाती है। मैंने ही भयंकर भूल की है या वे ही ठीक कह रहे हैं। ऐसा तो आज तम कभी नहीं हुआ था। लगता है इस आदमी में सवंदेना नाम की कोई चीज नहीं है।

ऊपर की दोनों घटनाएं मेरे विद्यार्थी काल में हुई। तब एक बात सीखी। अगर गलती की हो, तो सजा भुगतने से डरने से काम नहीं चलेगा। उसके लिए तैयार रहना होगा। और इसी के परिणामस्वरूप एक बात और हुई। गलत हुई या ठीक, नहीं जानता। इसके बाद मैंने भी किसी को किसी दोष के लिए क्षमा नहीं किया। स्वयं दंड भुगते तो अन्य को सजाएं भी दीं।

आज सोचता हूं तो लगता है कि सारे जीवन में एक यही बात, आदमी सीख जाए तो बहुत है।. . .एक सुबह लगा कि दुनिया बदल गई है। मैं पहले से बेहतर व्यक्ति हूं और जीवन को देखने की मरी दृष्टि व्यापक और प्रखर हो गई है। कितने ही वाक्यों में छिपे अर्थ मेरी दृष्टि पहचानने लगी है; और मेरी स्थूल बुद्धि और दृष्टि के साथ, कहीं से एक सूक्ष्मता आकर जुड़ गई है।

धनराज चौधरी

सरलता और अपनापन

कोहली जी से व्यक्तिगत संबंध हैं मेरे। कुछेक बिंदु जो सहज स्मरण पड़ते हैं, लिखे रहा हूं।

- डॉ. कोहली से मेरी जान-पहचान (लगभग 1970 से) तब हुई जब कि मैंने व्यंग्य विधा को कुछ समय के लिए स्थगित करने की शुरुआत की थी। तब पत्र-संपर्क स्थापित हुआ। साहित्यिक क्षेत्र में (मैं भौतिक शास्त्र पढ़ता-पढ़ाता हूं) शीर्ष लेखकों में वह सरलता एवं अपनेपन का अनुभव उन्हीं दिनों मुझे डॉ. भारतीजी और कोहली जी में मिला।
- कुछ समय बाद उनका जयपुर आना हुआ। 'दीक्षा' आ चुका था, शायद 'अवसर' भी। हमारी अंतर-अनुशासनीय संस्था 'संदर्भ' में वे खुलकर सामने आये, 'कहना चाहता हूं, अपने ढंग से कहूंगा, शास्त्र इतिहास की अवहेलना हो जाय तो हो जाय।' प्रश्न था, इस स्थूल में, लालित्य का क्या होगा? इसका उत्तर जब वे फिर से जयपुर आये, तब किसी और संदर्भ में जाना कविता मेरी विधा नहीं। जैसे कही जा सके, वही कहें। हां ऐसे कि संप्रेषित हो जाय, जिन्हें संबोधित है, उन तक आवाज पहुंच जाय, मुझे संतोष होगा।
- मेरे पहले उपन्यास 'प्रवाह' के प्रकाशन में उनका हाथ था। तीसरा उपन्यास 'प्रतिबिंब' प्रकाशक के अपने कारणों से तीन साल अटका पड़ा रहा तो वापिस लाने के लिए कोहली जी को लिखा। आश्चर्य, इस पत्र में मित्र के लिए किए गए के प्रति एक शब्द नहीं था वरन् था पश्चाताप की रायल्टी न दिला सका। दूसरा मेरे कारण इतने दिनों तक अप्रकाशित रहा।'
- दिल्ली जाने पर प्राय: मिलना होता है। पत्नी और दो पुत्रों से बना वह परिवार स्वस्थ एवं तनावमुक्त है। भली पत्नी और सुयोग्य पुत्रों का सहयोग ही अभिभावक को इतना अच्छा लेखक और उससे कहीं अच्छा आदमी तो नहीं बनाता? घंटों पृष्ठ पर पृष्ठ लिखते रहते हैं। सामाजिक चेतना के लिए प्रौढ़-बुर्जुर्गों को बुलाना और साप्ताहिक गोष्ठी का संयोजन। कोई बाह्य मित्र आ जाए तो दिल्ली जैसे बड़े शहर में भी उसके व्यक्तिगत कार्यों के लिए चल पड़ा और फिर भी सुबह पांच बजे दूध के लिए बाल्टी लिए घूमने जाने को तैयार आदमी है या प्रेत!
- इस व्यक्ति ने अपना मकान बनाया तो पहला काम यह किया कि किराए के मकान की चाबी उसके मालिक को धन्यवाद सहित थमाई। ऐसी मूर्खता डॉ. कोहली ही करता है। जबकि स्थितियां यह भीं कि ऊंचाई ले रही दीवरों पर टकटकी लगाए हैं, दाढ़ी बढ़ी है और किसी मजदूर के प्रति टोह जारी है; यहां गांठ वाले पौधे, यहां गुलाब, इधर बेलें- पानी में प्रतिबिंब, ऐसे प्रकाश, वहां बैठूंगा. . ., पड़ोसी और अच्छे मित्रों के सहयोग से बन रहा है। इतने रुपए? प्रकाशकों के शटर उठने का इंतजार, पी.एफ. जीवन बीमा निगम। इन झंझटों के बाद भी सहजता से कहते- छोड़ो यार, एक तिब्बती रेस्तरां में कुछ नूडल्स उड़ाएं।
- डॉ. कोहली में यश-प्राप्ति के लिए पूरे मन से किए गए प्रयत्न देखे हैं पारिश्रमिक की एक कौड़ी भी छोड़ना नहीं चाहते। लोग कहते हैं अब ढर्रे के हो गए, वे नहीं मानते और आने वाली रचना में कुछ नया कर गुजरते हैं।
- बडे प्रलोभन हैं परंतु उन्हें साधारण मित्रों का सादा घर और खाना पसंद है। एक बात उनके बारे में समझ नहीं पाया। वे अरसे तक दाढ़ी मूंछ बढ़ाए रहते हैं फिर अरसे तक सफाचट इस बीच अकेली मूंछें बढ़ाने का अंतराल क्यों नहीं होता।

सी. भास्कर राव

नरेंद्र छद्म बुद्धिजीवी नहीं हैं

नरेंद्र कोहली मेरे मित्र, सलाहकार एवं मार्ग-दर्शक बहुत कुछ हैं। मात्र मेरे लिए ही नहीं, परंतु अन्य बहुत से लोगों के लिए वे ऐसे ही हैं। उनका व्यक्तित्व कुछ ऐसा ही है कि एक ओर उनके प्रति आत्मीयता बनी रहती है तो दूसरी ओर उनके प्रति सम्मान का भाव भी सदैव बना रहता है। नरेंद्र कोहली के निकट होना, हमारे जैसे लोगों के लिए गर्व और गौरव की बात है।

नरेंद्र कोहली में ऐसे अनेक गुण हैं जो अनायास, सहज रूप में, उन्हें किसी के आदर्श पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। उनका व्यक्तित्व बाह्यत: भी इतना तेजस्वी, प्रखर और प्रभावशाली है कि वे कुछ क्षणों में ही किसी के भी प्रभावित कर लेते हैं। उनमें अदम्य आत्मविश्वास है। उनके आत्मविश्वास ने उन्हें जीवन में अत्यंत सामान्य स्थिति से बहुत समृद्ध स्थिति तक पहुंचाया है।

वे छद्म बुद्धिजीवी नहीं हैं। उनके अध्ययन-मनन एवं चिंतन का क्षेत्र काफी विस्तृत है। वे दुनिया-जहान के किसी भी विषय पर धाराप्रवाह बोलने की अद्‌भुत क्षमता रखते हैं। भाषा के तो वे अत्यंत धनी हैं ही। थोड़ी देर तक उनसे बातचीत कर लेने भर से ही उनके अनुभव और अध्ययन की व्यापकता एवं गहराई का पता चल जाता है।

वे मात्र प्रतिभाशाली ही नहीं, वरन् परिश्रमी भी हैं। प्रतिभा और परिश्रम का एक संतुलित समन्वय उनके व्यक्तित्व में मिलता है। उनकी तर्क शक्ति काफी प्रबल है। प्रतिभा, परिश्रम, तार्किकता एवं आधुनिकता के वे एक सजीव दृष्टांत हैं। प्राचीन साहित्य के अध्ययन और सामयिकता की सार्थक पहचान के कारण ही वे हिंदी साहित्य की रामकथा पर आधारित अनूठे एवं मौलिक चिंतन से भरपूर उपन्यास दे सके।

उनमें अनावश्यक भावुकता नहीं है। वे एक व्यावहारिक व्यक्ति हैं कुछ लोग उन पर यह आरोप लगा सकते हैं कि उनमें अहं अधिक है। अहं है, पर उतना ही जितना कि एक तेजस्वी पुरुष में होना चाहिए। अनपेक्षित अहं उनमें नहीं है। उनमें दंभ नहीं है। उनके निकट संपर्क में आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति इस बात को अच्छी तरह अनुभव कर सकता है।

उनमें अपने कर्म के प्रति गहरी एकाग्रता है, आस्था है। 'अभिज्ञान' में कृष्ण-सुदामा की कथा के माध्यम से कर्म के प्रति उनकी अटूट निष्ठा ही व्यक्त हुई है। जीवन के प्रति भी उनमें पूर्ण लगाव-जुड़ाव है। वे हताश, निराश, टूटे-हारे कभी दिखलाई नहीं पड़ते। जीवन को उसकी गंभीरता और सार्थकता में जीने की कला वे जानते हैं। जीवन के छोटे-छोटे क्षण भी कितने संवेदनशील और महत्वपूर्ण होते हैं, यह उनकी कहानियों की यथार्थता, सजीवता, सहजता और स्वाभाविकता से स्पष्ट होता है।

उनकी दृष्टि बड़ी तेज एवं पैनी है। तुरंत किसी को भी चीर-फाड़ कर उसके अंतस्थल तक पहुंचने की सामर्थ्य उनमें है। उनके संवाद बड़े ही आकर्षक सटीक और चुभते हुए होते हैं। अपने व्यक्तित्व के इस आयाम के कारण वे एक व्यंग्यकार के रूप में इतने सफल रहे हैं। उनके व्यंग्यकार व्यक्तित्व का अनुभव मात्र रचनाओं में ही नहीं वरन् जीवन में भी होता है।

वे निश्चय ही एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति हैं परंतु कोरे 'दिवास्वप्नी' नहीं हैं। वे जो भी लक्ष्य निर्धारित करते हैं, वहां तक पहुंचने में कोई कसर नहीं छोड़ते। अपने लक्ष्य के प्रति उनमें एक ज़िद्दी लगन मिलती है। यही कारण है कि वे जीवन के हर क्षेत्र में सफल रहे हैं। उनकी समस्त रचनात्मक एवं भौतिक उपलब्धियां इसका प्रमाण हैं।

सोमदेव कोहली

मेरा भाई नरेंद्र

जब तक वह पांच वर्ष का नहीं हुआ, उसकी एक विचित्र सी आदत थी– वह अपने शरीर का भार एक टांग से दूसरी टांग पर बदलता रहता था। वह कभी सीधा खड़ा नहीं रहता था। शायद उसके भीतर की चंचलता ही उसकी इस विलक्षण आदत का मूल कारण रही होगी। जब नरेंद्र ढाई वर्ष का था तो एक ज्योतिषी ने कहा था; 'यह लड़का बड़ा होकर लेखक बनेगा।' उस समय हम सबने ज्योतिषी की बात को हंसी में टाल दिया था; किंतु आज हमारे माता-पिता उस ज्योतिषी की बात को बहुत शिद्दत से याद करते हैं।

नरेंद्र के व्यक्तित्व में कई सुनिश्चित विशेषताएं हैं जो कि उसकी लेखनी को आप भी प्रभावित करती हैं। नरेंद्र में यह सब विशेषताएं बचपन से ही हैं– चाहे कितने ही अविकसित रूप से क्यों न रही हों।

यदि नरेंद्र किसी कार्य की सच्चाई तथा संभावनाओं के विषय में विश्वस्त हो जाए तो वह उस कार्य को बिना फल की परवाह किए पूरा कर देता है। वह एकनिष्ठ होकर जुट जाता है और वह कार्य ही उसका जीवन बन जाता है। नरेंद्र की इस प्रवृत्ति ने जीवन के हर मोड़ पर उसकी सहायता की है– चाहे वह उसका शैशव था, छात्रावस्था थी या लेखन की शुरुआत। वह जल्दी हार नहीं मानता और सिद्धांतों का सौदा तो कदापि नहीं करता। यद्यपि उसके इस स्वभाव ने उसके मन में बहुत-सी कड़ुवी यादें छोड़ी हैं, परंतु इससे उसका चरित्र सुदृढ़ भी हुआ है।

उन दिनों हम लाहौर में थे। नरेंद्र मात्र तीन वर्ष का था। उसने पड़ोस के एक बालक के पास लकड़ी का एक दोलन घोड़ा देखा। नरेंद्र का बालक मन खिलौने के लिए मचल उठा। वह अपने माता-पिता से उस घोड़े के लिए जिद करने लगा। उन दिनों वह घोड़ा छह रुपए का आता था और हमारे माता-पिता इतने साधन सम्पन्न नहीं थे कि पुत्र को वह घोड़ा ले देते। उन्होंने नरेंद्र को बहुत समझाया और उसे प्रसन्न करने के लिए एक बड़ा घास से भरा कागज का घोड़ा ले दिया। पर उसके मन पर तो वह लकड़ी का घोड़ा अंकित हो चुका था। एक दिन जब हमारे पिता दफ्तर जाने लगे तो नरेंद्र भी उनके पीछे हो लिया। वह बहुत दूर तक उनके पीछे निकल गया। पिता जी ने अचानक मुड़कर देखा तो कुछ दूरी पर अपने पुत्र को अपने पीछे पाया। नरेंद्र ने फिर घोड़े के लिए हठ की। पिताजी ने प्यार से उसे समझाया। जब नरेंद्र की हठ ने पिता जी की सहनशीलता की सीमा तोड़ दी तो पिता जी को उसे धमकाना पड़ा। नरेंद्र बहुत उदास होकर घर लौटा। यह घटना नरेंद्र के हृदय तथा मस्तिष्क पर पूरी तरह से अंकित हो गई, उसे उस छोटे से वय में ही यह ज्ञान हो गया कि उसके माता-पिता उसको प्रत्येक इच्छा की पूर्ति नहीं कर सकते। उसको ज्ञान का पहला प्रकाश मिला, 'यह संसार बहुत निष्ठुर तथा अन्यायी है। यहां प्रत्येक बच्चे को लकड़ी का दोलन घोड़ा नहीं मिल सकता।'

जब नरेंद्र पांच वर्ष का था तो उसे 'देव समाज हाई स्कूल' लाहौर में भर्ती करवाया गया। परंतु वर्ष समाप्त होने से पूर्व ही भाग्य ने एक और झटका दिया। हमारे पिता की आंखें कमजोर हो गईं कि उन्हें नौकरी छोड़नी पड़ी। हम स्यालकोट वाले अपने घर में वापस आ गए। पिताजी को तीस रुपए महीना पेंशन मिलती थी। कमाई का और कोई साधन नहीं था। परिवार की आर्थिक स्थिति शोचनीय थी। दादाजी का देहांत एक वर्ष पूर्व हो चुका था। पिताजी ने हिम्मत नहीं हारी। उन्होंने सभी संभव स्रोतों से पैसा इकट्ठा करके खेल के सामान की एक दुकान खोल ली। उन्हें इस कार्य का पहले कोई अनुभव नहीं था।

हमारा परिवार अपने पैतृक मकान में रहने लगा। यह मकान शहर के बीचो-बीच स्थित था। दूसरे मकान में, जो कि शहर के बाहर था, हमारी सौतेली दादी (हमारे दादा ने दो विवाह किए थे), मैं और हमारा चचेरा भाई मनमोहन रहते थे। दो महीने मे ही मेरा छोटा भाई सुदर्शन और हमारी बहन विमला भी दादी के घर आकर रहने लगे। हमारे पिता अपनी सौतेली मां के सामने कभी नहीं बोल पाते थे। यह व्यवस्था हमारी दादी की इच्छा के अनुसार की गई थी। नरेंद्र अब अपने बड़े भाई कुलभूषण और छोटे भाई रवींद्र के साथ शहर वाले मकान में रह रहा था।

गंडा सिंह हाई स्कूल, स्यालकोट, जहां कुलभूषण (चौथी कक्षा) तथा नरेंद्र (दूसरी कक्षा) पढ़ते थे, हमारे शहर के मकान से साढ़े तीन मील दूर था। वह स्कूल हमारी सौतेली दादी के घर से बहुत करीब था। दादी के आदेशानुसार, दोनों बच्चे स्कूल के पश्चात उनके घर चले जाते और केवल शाम के समय ही अपने घर वापस जाते। दादी स्वभाव से काफी उग्र थीं। कोमल हृदय नरेंद्र को दादी का व्यवहार अखरा। अगले ही दिन से उसने तपती दोपरी में स्कूल के घर तक साढ़े तीन मील का रास्ता चलना शुरू कर दिया। वह अब दोपहर में दादी के यहां नहीं रुकता था। माता-पिता की खुशामद भी नरेंद्र के विचार नहीं बदल सकी। अगले छह महीने, जो हमने स्यालकोट में काटे, नरेंद्र कभी भी दादी के घर नहीं रुका।

15 अगस्त, 1947 को देश के टुकड़े हो गए और स्यालकोट पाकिस्तान का हिस्सा बन गया। लाखों हिंदुओं के समान हमारा परिवार भी पंजाब के 'उस' हिस्से को छोड़कर 'इधर' चला आया। हम सब इकट्ठे नहीं आ सके। दो दलों में विभाजित होकर हम लोग, शरणार्थी शिविरों की ओर चल पड़े। सौतेली दादी के साथ वाला दल 15 अगस्त को निकल पड़ा। जब तक दूसरा दल अपनी यात्रा शुरू

कर सकता, पहला दल गाड़ी में डेराबाबा नानक के लिए रवाना हो चुका था। डेराबाबा नानक रावी के किनारे एक सीमावर्ती शहर है। यद्यपि दोनों दल रास्ते में नहीं मिल सके; परंतु दोनों का लक्ष्य एक ही था- जमशेदपुर। यहां हमार पिता के इकलौते भाई तथा मनमोहन के पिता श्री प्रकाशचंद 'टाटा आरन एवं स्टील कंपनी' में इंजीनियर थे। पहला दल वहां 4 अक्टूबर को काफी खस्ता हालत में पहुंचा। दूसरे दल को वहां तक घिसटते नवंबर मास का अंत हो गया।

नरेंद्र उन दिनों मात्र आठ वर्ष का था। उसके अंदर के विचारक ने रास्ते में ऊपर बीती हुई निर्दयता तथा क्रूरता का पूरा अध्ययन किया। उसने जीवन में पहली बार मनुष्य की पाशविकता, स्वार्थ और नीचता का नंगा नाच देखा था। वह बहुत दिनों तक व्याकुलता में घिरा रहा।

नरेंद्र मेधावी छात्र था। वह आठवीं कक्षा से एम.ए. तक सदा ही अपनी कक्षा में प्रथम रहा। पढ़ाई के मामले में वह बहुत परिश्रमी था। आठवीं कक्षा से ही उसे छात्रवृत्ति मिलनी आरंभ हो गई। 1961 में रांची विश्वविद्यालय में बी.ए. ऑनर्स (हिंदी) में नरेंद्र पूरे विश्वविद्यालय में प्रथम रहा। अपनी योग्यता के बलबूते पर उसे अपनी पढ़ाई के लिए कभी भी फीस नहीं देनी पड़ी। वह सहपाठियों तथा अपने अध्यापकों में समान रूप से लोकप्रिय था। पढ़ाई में कमजोर विद्यार्थियों की वह सदा ही सहायता करता था।

मैट्रिक तक नरेंद्र की पहली भाषा उर्दू थी। वैसे वह ग्यारहवीं कक्षा तक विज्ञान का विद्यार्थी था। परंतु कॉलेज में पहुचंते ही उसने सबको आश्चर्यचकित कर दिया और विज्ञान से कला की ओर मुड़ गया। उसने हिंदी ऑनर्स शुरू किया। पांचवीं कक्षा से ही नरेंद्र ने वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में भाग लेना शुरू कर दिया था। उसकी जीभ पर जैसे सरस्वती का निवास था। वह वाद-विवाद में रूचि भी बहुत लेता था और उस पर मेहनत भी बहुत करता था। उसने स्कूल तथा कॉलेज का प्रतिनिधित्व बहुत-सी वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में किया। उसे बहुत से पुरस्कार भी मिलते थे। वह बिना किसी तैयारी के किसी भी विषय पर घंटों बोल लेता था। उसकी यह रुचि उसे वकालत की ओर भी उकसाने लगी। बाद में उसके विचारों ने पलटा खाया और लेखन उसका स्वभाव बन गया।

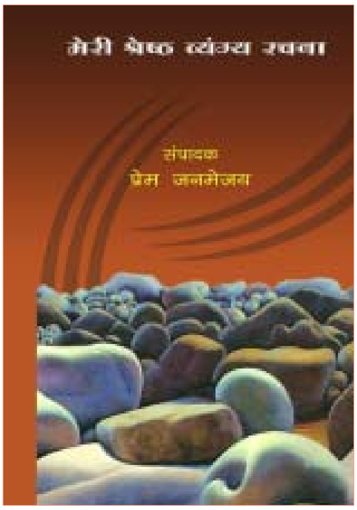

मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचना

संपादक
प्रेम जनमेजय

समकालीन हिंदी-व्यंग्य में रचनाशील महत्वपूर्ण व्यंग्य लेखकों द्वारा अपने संपूर्ण व्यंग्य लेखन से चुनी हुई एक श्रेष्ठ व्यंग्य रचना का संकलन, इस टिप्पणी के साथ कि वह रचना उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ क्यों है।

प्रकाशक

भावना प्रकाशन
126, पटपड़गंज
दिल्ली -110091

मूल्य : 500 रुपए

(व्यंग्य यात्रा के पाठकों के लिए विशेष छूट)

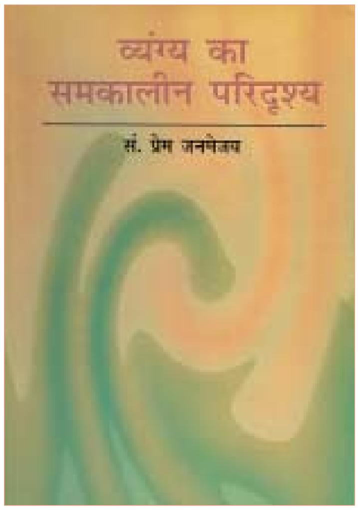

व्यंग्य का समकालीन परिदृश्य

संपादक
प्रेम जनमेजय

समकालीन हिंदी व्यंग्य के महत्वपूर्ण पक्षों- व्यंग्य का मनोविज्ञान, व्यंग्य में मिथकीय प्रयोग, व्यंग्य कविता हाशिए पर क्यों तथा हिंदी व्यंग्य के समकालीन पक्ष पर
विजयेंद्र स्नातक, प्रो. निर्मला जैन, कृष्णदत्त पालीवाल, रमेश उपाध्याय, कन्हैयालाल नंदन, नरेंद्र कोहली, प्रकाश मनु, प्रदीप पंत, खगेंद्र ठाकुर, गोपाल चतुर्वेदी, शंकर पुणतांबेकर, विष्णु नागर, ज्ञान चतुर्वेदी, दिविक रमेश, हरीश नवल आदि विद्वानों के चिंतनपरक आलेख।

प्रकाशक

ग्रंथलोक
10296, गली नं.-1, वेस्ट गोरखपार्क
शाहदरा, दिल्ली-110032

मूल्य : 700 रुपए

(व्यंग्य यात्रा के पाठक विशेष छूट के लिए पत्रिका-प्रबंधक से संपर्क करें)

मीरा सीकरी

व्यक्तित्व एवं कृतित्व में समान

नरेंद्र कोहली के व्यक्तित्व के संदर्भ में कुछ चाक्षुष बिंब हैं, जो मेरी आंखों में आज भी चित्रित हो उठते हैं।

लगभग बीस वर्ष पहले एम.ए. के विद्यार्थी के रूप में क्लास की लड़कियों से घिरा हुआ एक लड़का, जो अपने साथ पढ़ने-लिखने की ख्याति के कारण हल्का न पड़ते हुए भी अपनी रोमानी छवि ही अंकित करता था।

अपनी 'कलीग' के प्रेमी और होने वाले पति के रूप मेमं रेस्तरां में होस्ट बना, निमंत्रित महिलाओं से घिरे होने पर, संभवत: अपनी घबराहट या उनको चुनौती के रूप में लेते हुए भी कहीं ये सब मेरे पर बीस पड़ जाए, बेवजह अपने हथियार भांजते आक्रामक रुख अपनाए जो नरेंद्र कोहली सामने आया, वह अपने रोमानी खोल में से निकल एक 'रफ' व्यक्ति था।

फिर कोहली-युगल के मित्र होने पर मैंने नरेंद्र कोहली को दु:ख-सुख में कन्सर्न्ड, ईमानदारी, स्पष्टवादी, कभी-कभी उग्र किंतु संवेदनशील आत्मीय के रूप में पाया, जो बहुत बार मित्र कम अभिभावक ज्यादा प्रतीत होने लगता है। अपनी स्पष्टदृष्टि और बेबाक अभिव्यक्ति के कारण कभी-कभी मित्रों को भी नाराज कर बैठता है।

किंतु इन सबसे अहम् जो बात है, वह यह कि आज प्राय: कला-जगत में कलाकार के व्यक्तित्व और कृतित्व के बीच में बहुत गहरा अंतराल है। किंतु नरेंद्र कोहली का कृतित्व ही नहीं नरेंद्र कोहली का व्यक्तित्व भी उन्हीं मूल्यों को अपनी जिंदगी में मूर्त करता है, जिनकी गरिमामय अभिव्यक्ति वह अपने साहित्य में कर रहा है। बहुत आसानी से नरेंद्र कोहली के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को उनके साहित्य में ढूंढा जा सकता है।

इनसे व्यक्ति रूप में जुड़े इन लोगों की प्रतिक्रियाओं से इनका व्यक्तित्व समग्र रूप से उजागर तो हो जाता है किंतु इनके साहित्यिक व्यक्तित्व के संदर्भ में अनेक भ्रामक विचार समय-समय पर सामने आते रहते हैं। कोई इन्हें 'राम को मार्क्सवादी बनाने के कारण भारतीय संस्कृति को भ्रष्ट करनेवाला' कहता है तो किसी के विचार में 'इन्होंने राम को आर.एस.एस. का सरसंचालक' बना दिया है। वास्तव में नरेंद्र कोहली की विचारधारा जीवन की विसंगतियों को व्यंगात्मक रूप से चित्रित करने की रही है। यद्यपि ये अदम्य स्वाभिमानी स्वभाव के हैं किंतु जो गर्दन किसी भी पूंजी या लालच-लोभ के सामने कभी भी नमित नहीं होती, वही अपने से श्रेष्ठ लोगों के सामने सहज ही झुक जाती है। इनके चेहरे से ही अंतर्मन की बात स्पष्ट होने लगती है। सामान्य स्थिति में यदि चेहरे पर सहज मुस्काहट रहती है तो किसी विसंगति को देखकर उसी चेहरे पर इनके मन की कड़वाहट देखकर उसी चेहरे पर इनके मन की कड़वाहट स्पष्ट झलकने लगती है। इस प्रकार मन की हर एक प्रतिक्रिया इनके चेहरे के माध्यम से पढ़ी जा सकती है। मध्यवर्गीय जीवन जीते हुए भी मध्यवर्गीय जीवन के दिखावे और दुराव-छिपाव से दूर रहने वाले नरेंद्र कोहली अत्यंत ही महत्वाकांक्षी व्यक्ति हैं। यह महत्वाकांक्षाएं इन्हें निरंतर प्रेरणा देती रहती हैं किंतु इन महत्वाकांक्षाओं की सीढ़ी चढ़ने के लिए ये बैसाखियों का सहारा नहीं लेते बल्कि लेखन को अपने दैनिक जीवन का अंग बनाकर जीवन के अनुभवों को कागज पर उतारते हैं। इस प्रकार ये अथक परिश्रम में विश्वास रखते हैं।

इनका प्रयास एक सीधे-सादे व्यक्ति की तरह जीवन व्यतीत करने का रहता है। कोशिश करते हैं कि अच्छे पुत्र, पिता, भाई, पति पड़ोसी तथा अध्यापक के साथ-साथ अच्छा आदमी भी बन सकें। परंतु कोशिश तो कोशिश होती है। अच्छा आदमी इसलिए बनना चाहिते हैं क्योंकि इनका सोचना है कि 'नरेंद्र कोहली तुच्छ-सा व्यक्ति है, साधारण, सामान्य- पर लेखक बहुत पवित्र शब्द है, उसे अपमानित करना मानवीय अपराध है।' इनका यही विचार कुछ लोगों की नजर में इन्हें अहंकारी, नकचढ़ा, चिड़चिड़ा और बदतमीज बना देता है परंतु इन्हें इस बात का कोई अफसोस नहीं है कि ऐसे लोगों को खुश करने के लिए ये बहुत व्यावहारिक क्यों नहीं बन पाते। ये इस रूप में व्यावहारिक बनना भी नहीं चाहते क्योंकि इन्हें शंका है कि व्यावहारिक बनना भी नहीं चाहते क्योंकि इन्हें शंका है कि व्यावहारिक बनकर ये बेईमानी से नहीं बच पाएंगे।

प्रस्तुति- सतीश पांडेय

शोध दिशा
(समकालीन सृजन को समर्पित त्रैमासिकी)
अक्टूबर-दिसंबर माँ को समर्पित अंक
संपादक : डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल
संपर्क : हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार, बिजनौर।

विदूषक
संवेदना की दिशा तलाशती
हास्य व्यंग्य की त्रैमासिक पत्रिका
का निर्मल मिलिंद को समर्पित अंक
संपादक : अरविंद विद्रोही
संपर्क : बिरसा नगर, जोन नं.-२ए, पूर्व गुप्ता गैस गोदाम के नजदीक, जमशेदपुर-४

आशा जोशी

कंटीले तार के पीछे

मुझे न तो ठीक-ठीक वह तारीख ही याद है और न वह महीना जब पहली बार डॉ. नरेंद्र कोहली से मुलाकात हुई थी लेकिन वर्ष 1972 था, यह मुझे बिल्कुल ठीक याद है। डॉ. साहब ग्रेटर कैलाश में रहते थे। मैंने तब तक उनकी रचनाएं पढ़ी नहीं थीं। रंजना और प्रेम के संपर्क में उनकी चर्चा बार-बार होती थी और जब-जब मिल कर बैठते थे हम सब लोग तो न जाने कहां से डॉ. कोहली की चर्चा बिन-बुलाई मेहमान-सी हमारे बीच पसर जाती है। चर्चा के माध्यम से मुलाकात तो सन् 1960 में ही हो गई थी, जब हम लोग एम.ए. में सहपाठी बने थे। मैं लौट ही हूं लगभग पच्चीस वर्ष पीछे, जब मैं प्रेम जनमेजय, वीणा, रंजना यहां तक कि सुमन से भी हर समस्या, हर मर्ज, हर प्रश्न का इलाज इनके द्वारा सुझाए गए एक नाम में पाती थी, वह थे डॉ. कोहली। इसलिए इस उत्सुकता का जागना स्वाभाविक था कि कैसा होगा वह शख्स जो एक प्राध्यापक के रूप में कॉलेज में पीछे छूट कर भी हाथ में लगी मेंहदी की तरह इन सभी के दिलो-दिमाग में छाया हुआ है?

फिर एक बार बातचीत के दौरान रंजना ने कहा कि तुम भी लिखती हो, (लिखती तो मैं कहां थी, और लिखती आज भी नहीं हूं) क्यों नहीं तुम भी हम लोगों के साथ उन मासिक गोष्ठियों में भाग लेतीं, जो उनके घर पर होती है।

'क्या होता है उन गोष्ठियों में?'

'क्या होता है इससे मतलब? अरे हम सभी बारी-बारी से अपनी रचनाएं सुनाते हैं, उन पर सार्थक चर्चा होती है जिससे लेखन-कला में निखार आता है।' रंजना मुझे समझा रही थी।

तब मन में निर्णय लिया कि एक बार ही सही, जाकर देखना तो चाहिए गोष्ठी में। क्या होता है वहां? क्या है उस व्यक्ति में ए ेसा कि जब-जब ये लोग उस एक व्यक्ति की बात करते हैं तो इनकी जिव्हा ही नहीं रोम-रोम भी बोलता है। पता नहीं क्यों, कभी-कभी मुझे लगता था कि ये लोग अतिशयोक्ति में बात करते हैं। खैर सन् 1972, तब तक मैं भी प्राध्यापन से जुड़ चुकी थी- पहली बार गोष्ठी में भाग लेने गई थी। उनका घर पहली मंजिल पर था। रंजना ने बहुत अच्छी तरह समझा दिया था कि डॉ. कोहली समय के बहुत पाबंद हैं इसलिए तुम ठीक समय पर पहुंच जाना। रूपनगर से ग्रेटर कैलाश के तीन बजे पहुंचना बहुत आसान तो नहीं था। पहुंचते ही घंटी बजाने की जरूरत नहीं पड़ी। ऊपर पहुंची, दरवाजा खुला था शायद गोष्ठी में आने वालों को प्रतीक्षा में, जो दक्षिणी दिल्ली में बंद संस्कृति के नितांत विरुद्ध था। वैसे तो अब बंद दरवाजों की संस्कृति पूरी दिल्ली को ही लगभग निगल चुकी है! परिचय देने और लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी। नीली फ्रेडेड जीन और आधी बाजू की कमीज पहने जो व्यक्ति सीधी आंखों से पलक झपकाए बिना चुप्पा बन स्वागत कर रहा था वही इस घर का सरमायेदार है, लेखक और लेखकों की नई जमात तैयार करने वाला है, मैंने घुसते ही जान लिया। रंजना के बगल में बैठते ही नए सदस्य का परिचय भी जेसे अपने आप मिल गया। मैं पहुंची थी तो गोष्ठी आरंभ हो चुकी थी. . . एक के बाद एक रचना सुनाने व चर्चा-परिचर्चा का क्रम चलते-चलाते गोल घेरे की तरह निशाना मुझ पर आकर टिका। मेरे पास तो कोई रचना थी ही नहीं। तब पहली बार वह व्यक्तित्व सीधे मुझसे बात करने की मुद्रा में आया-

'तुम रचना नहीं लाईं। रंजना ने तुम्हें बताया होगा कि हर सदस्य को अपनी रचना लानी पड़ती है।'

मैं चुप!

'तुम अगली बार से रचना लेकर आओगी। तभी तो गोष्ठी का पूरा लाभ उठा सकती हो।' उसके शब्द ठीक-ठीक यह नहीं थे, पर भाव यही था।

'अगली बार अवश्य लेकर आऊंगी।'

'लेकिन रचना मौलिक होनी चाहिए, नई होनी चाहिए।'

अनभै सांचा

साहित्य और संस्कृति की त्रैमासिक पत्रिका

संपादक

द्वारिका प्रसाद चारुमित्र

संपर्क

148 कादंबरी, सेक्टर-9 रोहिणी, दिल्ली-85

समीक्षा

संस्थापक संपादक : गोपाल राय

सौजन्य संपादक : सत्यकाम

संपर्क

एच-2 समुना, इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-68

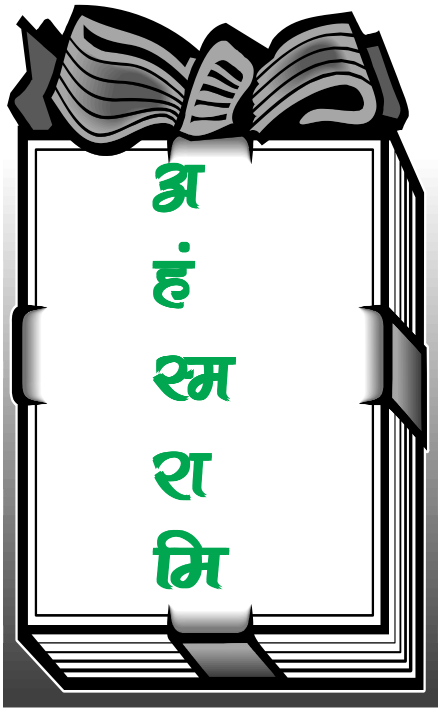

डॉ. नगेंद्र

1966 ई. में मेरी पहली पुस्तक प्रकाशित हुई थी। वह उन्हें देने उनके घर गया तो वे घर पर नहीं थे। दूसरी 1967 में प्रकाशित हुई; पर उस समय भी वही हुआ। तीसरी 1969 ई में छपी; वह दी तो कुछ अतिथि बैठे थे। 1970 में चौथी पुस्तक छपी; वह देने गया तो शायद वे नहाने जा रहे थे, क्योंकि मेरे सामने ही उन्होंने 'लड़के' को गर्म पानी के विषय में आदेश दिया था।

मैंने नमस्कार कर पुस्तक बढ़ा दी। चेहरे पर वही दूरी, तटस्थता, अनुशासन और मर्यादा के भाव पर इस समय के लिए सर्वथा अनुकूल। लगा, यह आदमी कभी मुलायम हो ही नहीं सकता। उन्होंने थोड़ा प्रयत्न किया, 'अभी उसी कॉलेज में हो?'

वाणी और चेहरे के भाव में कोई साम्य नहीं था।

लगा, अपने स्वभाव के प्रतिकूल मुलायम होने के प्रयत्न में यह व्यक्ति कितना दयनीय दीखने लगता है।

'जी!' मैंने कहा।

और सहसा वे फिर से डॉ. नगेन्द्र हो गए, 'अच्छा, फिर आना।' मैं कुछ अपेक्षाएं लेकर गया था। अब तक विभिन्न पत्रिकाओं में डेढ़ सौ रचनाएं प्रकाशित हो चुकी थीं। यह मेरी चौथी पुस्तक थी। मेरे लेखन के विषय में उन्होंने कभी एक शब्द भी नहीं कहा था। आज इसी बहाने दो-चार बातें करने की इच्छा थी।

मैं सामने पड़ी कुरसी पर बैठ गया।

'फिर आना।' उन्होंने पुनः कहा।

'फिर किस बहाने आऊंगा?' सोचता हुआ मैं उठा आया।

अज्ञेय

तब 'अज्ञेय' 'नवभारत टाइम्स' के संपादक थे।

मैंने उनको फोन किया, 'मैं आपसे मिलना चाहता हूं।'

उन्होंने पूछा कि मैं दफ्तर में मिलना चाहूंगा या उनके घर पर? सुबह मिलना चाहूंगा या शाम को?. . .और अंत में उन्होंने एक सप्ताह बाद का समय, शाम को घर पर मिलने के लिए दे दिया।

मैं ठीक समय से निजामुद्दीन में उनके घर पहुंचा। वे अभी दफ्तर से लौटे नहीं थे। उनके नौकर ने मुझे एक कमरे में बैठा दिया। एक और सज्जन भी वहां बैठे प्रतीक्षा कर रहे थे।

'अज्ञेय' आए। नमस्कार इत्यादि के पश्चात वे बैठ गए। उन्होंने उस दूसरे व्यक्ति से कहा, 'कहिए।'

उन सज्जन ने मेरी ओर संकेत किया और कहा कि आप पहले इनसे बात कर लीजिए।

'वे समय लेकर आए हैं।' अज्ञेयजी बोले, 'आप अपनी बात कहिए।'

बाध्य होकर उन सज्जन को अपनी बात कहनी पड़ी। उन्होंने अज्ञेयजी के विषय में कोई निबंध लिखा था, और उसके साथ प्रकाशनार्थ, वे अज्ञेयजी का एक चित्र चाहते थे।

अज्ञेयजी उठकर भीतर गए और अपना एक चित्र लाकर, उन्होंने थमा दिया। वे सज्जन नमस्कार कर चले गए।

अब अज्ञेयजी मेरी ओर मुड़े।

मैंने उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार की बधाई दी। उनके लिए इस पुरस्कार की घोषणा के पश्चात मैं उन्हें पहली बार मिल रहा था; और घोषणा के पश्चात इतना बड़ा अंतराल भी नहीं आया था कि यह बधाई अनावश्यक होती।

उन्होंने मुस्कराकर बधाई स्वीकार की या उसे टाल दिया- कह नहीं सकता।

सावित्री सिन्हा

मिसिज सिन्हा की तबीयत बहुत खराब थी। नर्सिंग होम में थीं। हम डरे-सहमे नर्सिंग होम में पहुंचे। सिन्हाजी की छोटी बेटी मधु बाहर ही मिल गई।

श्रीलाल शुक्ल, मनोहरजोशी एवं अलका पाठक

सुरेशकांत और नरेंद्र कोहली

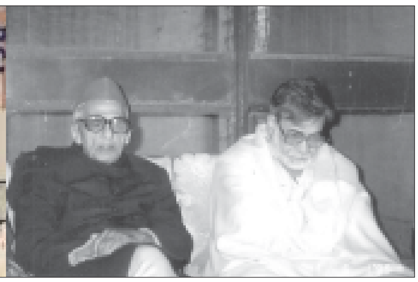

डॉ. नगेंद्र के साथ नरेंद्र कोहली

'आप लोग बैठिए। कमरे में अधिक लोगों के जाने की मनाही है। मैं अभी आपको बुला लूंगी।'

तो बात काफी गंभीर थी। जो कमरे से निकल रहे थे, वे मुंह लटकाए थे। कहीं कोई आवाज नहीं- गंभीरता और चुप्पी। थोड़ी देर में मधु ने इशारा किया। हम अपने पैरों और सांसों की आवाज का भी दबाते हुए बहुत धीमें से कमरे में घुसे। कई लोग गुमसुम बैठे थे। सिन्हाजी लेटी थीं। हमारे सबके नमस्कार का उत्तर देकर गुड्डू से बोलीं, 'बेटा आज तो कुछ नहीं है तुम्हारे लिए।'

मधु ने जाने कहां से कुछ टाफियां निकालकर गुड्डू को दे दीं। सिन्हाजी आश्वस्त हो गईं, 'चलो कुछ तो है।'

मधुरिमा से पूछा, 'कॉलेज का क्या हाल है?' बातचीत चल निकली। उन्हें अधिक बोलते देख मिस्टर सिन्हा ने रोका, 'तुम अधिक बातें मत करो।'

'अच्छा मैं नहीं करती, तुम करो।' वे हल्के-हल्के हंसी।

ऐसी ही कितनी यादें हैं। अंतिम दिनों में उन्हें बहुत पीड़ा थी- फिर भी बातचीत में सहज थीं। पीड़ा दबाकर हंसती थीं। ऐसे ही किसी दिन उन्होंने कहा था, 'सोचती हूं। अपने सभी छात्र-छात्राओं के बच्चों को एक बार एकत्रित करूं।' पर संभव नहीं हो पाया। . .आज जब कभी सोचता हूं तो उन्हें रीडर के रूप में, प्रोफेसर के रूप में, विभागाध्यक्ष के रूप में, प्राध्यापिका के रूप में, प्रशासिका के रूप में, लेखिका के रूप में, विदुषी के रूप में याद करता हूं, पर इन सबसे ऊपर उठा हुआ एक रूप सहज ही सब पर छा जाता है- एक सहज मानव का रूप! इस रूप को किसी पद की आवश्यकता नहीं, किसी सत्ता की आवश्यकता नहीं। पर अपने आए में वैसे ही इतना महिमामंडित है कि शेष सब कुछ उसकी ज्योति के सम्मुख धुंधला पड़ जाता है।

जैनेंद्र कुमार

एक दिन समाचार-पत्रों से उनके रोग की सूचना मिली। . .मुझे उनके घर पर हुई एकमात्र भेंट स्मरण हो आई। खान-पान के विषय में जैनेन्द्रजी का वह संयम और उनका वह तना हुआ सीधा मेरुदंड। ऐसे व्यक्ति को भी रोग. . .अस्वस्थता के उनके आरंभिक दिनों में उनके स्थान को लेकर काफी अस्पष्टता-सी रही : वे अस्पताल में हैं. . .अपने घर पर हैं, किसी मित्र के घर पर हैं. .

समाचार-पत्रों में लगातार उनके रोग के विषय में छप रहा था और उसके साथ-ही-साथ, लेखक के प्रति समाज और सरकार के दायित्व और सम्मान के संदर्भ में अनेक प्रश्न उठ रहे थे। हम समाचार-पत्रों में पढ़ रहे थे, मित्रों से जान रहे थे, परस्पर चर्चा कर रहे थे कि दिल्ली की हिंदी अकादमी, साहित्य अकादमी, दिल्ली प्रशासन, केंद्रीय सरकार कोई भी तो एक वयोवृद्ध, सर्वसम्मान प्राप्त, प्रतिष्ठित लेखक की सहायता के लिए आगे नहीं आ रहा है। उनके उपचार की समुचित व्यवस्था नहीं हो रही है, उनके लिए कोई उपयुक्त आवास नहीं मिल पा रहा है. . .इत्यादि। अंत में शायद कहीं किसी को लज्जा आई, या किसी प्रभावशाली व्यक्ति ने कोई उद्यम किया। जैनेंद्र के लिए एक सुविधाजनक आवास का प्रबंध किया गया। . .किंतु अब उस तेजस्वी वाणी के धनी को शब्द के लिए मुहताज देखना कितना पीड़ादायक है। मेरा मन बार-बार यही कहता है कि हे विधाता! लेखक को धन-संपत्ति दे न दे, उसे वाणी की समृद्धि दे। उसके शरीर को अमर कर न कर, उसके शब्दों को अमरता अवश्य प्रदान कर!

बाबा नागार्जुन

लेखक-मंडल के मंत्री भी बाहर मैदान में वहीं आ गए थे, जहां मैं और नागार्जुन खड़े बात कर रहे थे।

'मैं चलूं।' उन्होंने कहा, 'मुझे स्कूल में पढ़ाने जाना है।'

वे चरण-स्पर्श के लिए झुक गए।

नागार्जुन ने उन्हें उठा लिया, 'अरे यह क्या करते हो। हम लोग तो शहर के लड़कों से हाथ मिलाते हैं। माडर्न हो गए हैं न हम लोग।'

मंत्री मदोदय चले गए और मैं और वे फिर अपनी बातचीत की ओर लौटे। बातचीत को आगे बढ़ाने का एक सूत्र मेरे मन में था, 'आपने लठमार कविता की चर्चा की थी। कोमल कविता लठमारी कैसे करेगी?'

वे बोले, 'लठमार कविता तो ऐसी होनी चाहिए कि सुनने वाला भी कहे कि क्या कहा है जालिम ने।'

उन्होंने कविता सुनाई :

'अभी-अभी उस दिन मिनिस्टर आए थे

बत्तीसी दिखलाई थी, वादे दुहराए थे

भाखा लड़खड़ाई थी, नयन शरमाए थे

छपा हुआ भाषण भी पढ़ नहीं पाए थे।

'देखा, कैसा मारा है।' उन्होंने अपना हाथ जोर से मेरे हाथ पर मारा। मुझे लगा, जैसे मैं उनका अत्यंत आत्मीय हो गया हूं। बीच की सारी दूरी उनके उन्मुक्त व्यवहार ने समाप्त कर दी थी. . .जैसे हमारे बीच दो मित्रों का-सा रिश्ता हो, जो बातें कर सकते हैं, कहकहे लगा सकते हैं, एक-दूसरे के हाथों पर हाथ मारकर किलकारियां भर सकते हैं. . .

कैसी प्रसन्नता हुई थी मुझे, जैसे कवि नागार्जुन द्वारा दिए गए इस महत्व से साहित्य-जगत में मेरा स्थान कुछ ऊंचा उठ गया हो।

बाबा शाम को आ गए थे। रात देर तक हमने बातचीत की थी। और सुबह-सुबह बाहर बरामदे में बैठकर गपशप के साथ चाय-पान हुआ था। उसके बाद से मेरा और बाबा का कार्यक्रम अलग-अलग हो गया था। उन्होंने अपने झोले में से छोटा-सा ट्रांजिस्टर निकाल लिया और उसे कान

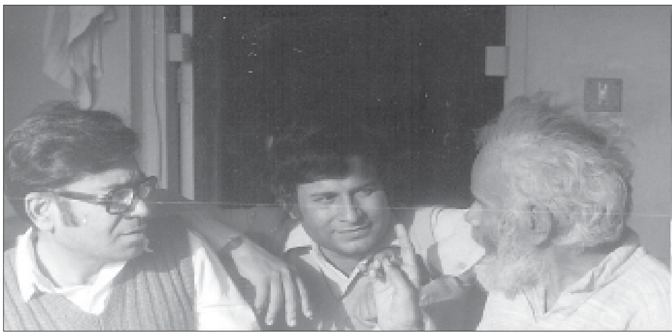

नरेंद्र कोहली, प्रेम जनमेजय और बाबा नागार्जुन

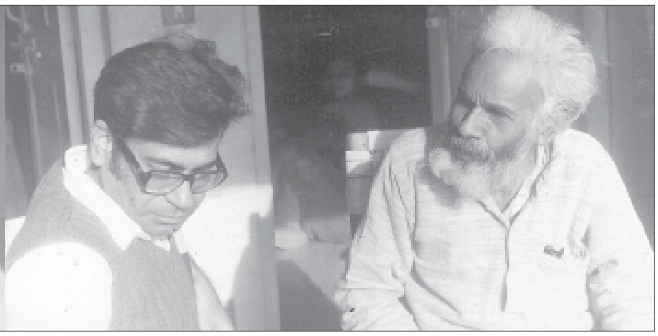

नरेंद्र कोहली के साथ बाबा नागार्जुन

के साथ लगा लिया।

यह ट्रांजिस्टर कदाचित बाबा का सबसे प्रिय साथी है। उन्हें हर घंटे दो घंटे के बाद समाचार सुनने की आदत है। समाचार-पत्र तो चौबीसों घंटों में एक ही बार आता है। बार-बार समाचार सुनाने वाला सुग्गा तो एक ही है- आकाशवाणी। वैसे हो सकता है कि मेरे ही समान बाबा को भी आकाशवाणी के समाचारों पर विशेष भरोसा न हो, पर स्पष्टत: मनमाना झूठ बोलने की क्षमता होने पर भी बहुत प्रमुख समाचारों की उपेक्षा आकाशवाणी वाले भी नहीं कर सकते।

इस दृष्टि से बाबा सर्वथा बहिर्मुखी हैं। वे अपने परिवेश की तिल-तिल खबर रखना चाहते हैं। और उनका परिवेश छोटा नहीं है। सारा विश्व ही उनका परिवेश है। उन्हें बहुत सारे समाचार पत्र चाहिए। रेडियो, टीवी चाहिए। छोटी-बड़ी पत्र-पत्रिकाएं चाहिए। और यथासंभव अधिक से अधिक लोगों से व्यक्तिगत धरातल पर पत्र-व्यवहार चाहिए। शायद समाचारों की यह भूख ही है, जो बाबा को एक स्थान पर टिकने नहीं देती। कहीं किसी मित्र या परिचित की याद आ जाए, तो उससे मिलने के लिए चल देंगे। कहीं कोई विशेष घटना घट जाए तो घटने की संभावना हो तो बाबा उधर की ही गाड़ी पकड़ लेंगे। किसी क्षण उनके मन में समा जाए कि किसी विशिष्ट दिशा में गए बहुत समय हो गया है, तो उसी दिशा में चल देंगे।

पटना में कुछे मित्रों ने बताया था कि बाबा घर से अपना झोला टांगकर निकलेंगे कि कदम कुआं तक हो आऊं, या किसी परिचित से मिल आऊं।. . .घर वाले उनकी प्रतीक्षा ही करते रहेंगे कि बाबा अब लौटते हे। कि अब लौटते हैं- और बाबा गाड़ी में बैठ कलकत्ता, दिल्ली, बंबई- कहीं भी पहुंच जाएंगे।

मुझे याद है कि उन्होंने स्वयं ही हंसते हुए सुनाया था कि उनके बच्चे कहते हैं कि 'बाबा का स्वास्थ्य ठीक न हो। अस्वस्थता की स्थिति में वे बिस्तर पर पड़े हों, तो उन्हें रेलगाड़ी में बैठा आना चाहिए। बाबा स्वस्थ हो जाएंगे।'

शरद जोशी

सामान्यत: साहित्यकार से मिलने से पहले पाठक का परिचय उसके साहित्य से ही होता है। इसलिए शरदजी से मिलने से पूर्व मेरा उनके साहित्य से परिचित होना, तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है। वस्तुत: शरदजी की रचनाओं से मेरा परिचय अपने जीवन में उस दौर में हुआ, जब मैं साहित्य के संस्कार ग्रहण कर रहा था। कहानियां तो फिर भी कुछ लिखी थीं, किंतु व्यंग्य लिखने की कामना अभी आकार ग्रहण करने में सफल नहीं हो पाई थी। शरदजी के संकलन नहीं पढ़े थे मैंने, केवल पत्रिकाओं में किसी कालम के अंतर्गत छपने वाली उनकी व्यंग्य-रचनाएं ही देखी थीं। इससे पूर्व उन्होंने क्या लिखा था, मैं नहीं जानता था, उनकी लेखनी के अन्य आयामों से भी न परिचय था, न उनमें मेरी रुचि थी। मैं तो केवल यह देख रहा था कि इस लेखक ने कितने कम शब्दों में कैसा अद्‌भुत चित्रण किया था, कैसा वर्णन किया था, क्या बात कही थी और उसमें कैसा चमत्कार पैदा किया था। मैं नहीं जानता था कि लिखे हुए अंश का देश और समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा था। या पड़ सकता था। मैं तो केवल यह जानता था कि उसे पढ़कर मेरे मन में क्या घटित हो रहा था। मुझे उन थोड़ी-सी पंक्तियों में ही अन्याय और अत्याचार पर होते हुए प्रहारों में अपनी जीत दिखाई पड़ रही थी। मुझे लग रहा था कि जो कुछ मेरे मन में है, वही इस लेखक की कलम पर है। वह जानता है कि कहां क्या अनुचित है। वह जानता है उसे किसका विरोध करना है। वह जानता है कि किन शब्दों में यह विरोध होना चाहिए।. . .और शब्दों का जादू तो जैसे पाठक को बांध ही लेता है। . . .इच्छा होती थी कि मैं भी इतना ही अच्छा लिख सकूं. . .

लतीफ़ घोंघी

लखनऊ में 'माध्यम' साहित्यिक संस्थान के वार्षिक आयोजन 'अट्टहास समारोह' में लतीफ जी युगलबंदी सहित अर्थात ईश्वर शर्मा के साथ मिल गए। दोनों को साक्षात सामने देखकर सूक्ष्म-निराकार युगलबंदी स्थूल और साकार रूप में सामने आ गई। ईश्वर शर्मा में भी परिचय हुआ। वह अवसर ही हास्य-व्यंग्य सम्मेलन का था, इसलिए कुछ सैद्धांतिक चर्चा हुई। परस्पर एक-दूसरे के विचारों से अवगत हुए। एक-दूसरे की रचनाएं सुनीं। उन पर टिप्पणी की और तब अनुभव किया कि हम इस प्रकार एक-दूसरे से असंपृक्त, अनासक्त और निर्लिप्त नहीं रह सकते। हमें एक-दूसरे के निकट आना ही होगा। वहीं हमने एक और बात का भी अनुभव किया कि जहां साहित्य की अन्य विधाओं में समकालीन लेखक अपनी सुविधाओं के लिए स्वयं को अधिक प्रतिष्ठा दिलाने के लिए और अपना महत्व बढ़ाने के लिए, अपने समकालीनों को पहचानना ही नहीं चाहते; वरिष्ठ लेखक यह मानकर कि साहित्य उनके साथ ही समाप्त हो गया है कनिष्ठ लेखकों का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते; और कनिष्ठ लेखक महत्व की सीढ़ी पर शीघ्रातिशीघ्र चढ़ने की आपाधापी में अपने वरिष्ठ लेखकों के सिर पर पैर रखकर आगे बढ़ना चाहते हैं, व्यंग्य में न इतनी आपाधापी है न इतनी अराजकता। वहां अपेक्षाकृत कुछ अधिक सौहार्द दिखाई देता है। यही कारण था कि वहां अनेक पीढ़ियों के व्यंग्यकार एक-दूसरे को सम्मान तथा प्रतिष्ठा देते हुए दिखाई दिए। ऐसा नहीं होता तो लतीफजी का सान्निध्य रहा।

इसी संदर्भ में हमारी अगली भेंट दिल्ली में प्रेम जनमेजय के घर पर हुई। रचनाएं पढ़ी गईं। गपशप हुई। भोजन किया और अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने की चर्चा करते हुए विदा हुए। लतीफ घोंघी और ईश्वर शर्मा ने अपने नगर पहुंचकर अपना वचन निभाया। उन्होंने मध्यप्रदेश के अनेक व्यंग्यकारों के विषय में पर्याप्त सामग्री मुझे भिजवाई।

नरेंद्र कोहली, प्रेम जनमेजय के साथ डॉ. नगेंद्र

नाइलोन पूल में नरेंद्र-मधुरिमा कोहली, प्रेम-आशा कुंद्रा, दिविक रमेश, अशोक चक्रधर

विनोद साव, प्रेम जनमेजय, लतीफ घोंघी के साथ

मधुरिमा

पहली बार जब मधुरिमा ने तमककर कहा था, 'मैं आपको अच्छी नहीं लगती।' तो बहुत कुछ घटित हो गया था, मेरे भीतर! छोटे-से, गोलाकार गोरे मुख पर झुंझलाहट का लाल रंग बड़ा प्यारा लगा था। मैं उसे विश्वास दिलाने के लिए तड़प उठा थे। मैं उससे कितना प्यार करता हूं। पर वह मेरी बात मानने से निपट इनकार कर देती है; और अपने नन्हे-नन्हे से हाथ झटककर, बार-बार दोहराती रहती है, कि जब वह मुझे अच्छी नहीं लगती, तो मैं उससे क्यों मिलता हूं। मैं उसे कितना विश्वास दिलाता हूं, पर वह नहीं मानती और हारकर जब मैं सस्ता-सा फिल्मी संवाद बोलता हूं, 'अच्छा! मेरी और देखो! मेरी आंखों में देखकर कहो, कि मैं झूठ बोलता हूं।' तो वह दृष्टि चुराकर, छिटककर, अलग खड़ी हो जाती है, और इधर-उधर. . .धरती-आकाश, फर्श-दीवारें, किसी भी ओर देखकर कह देती हैं, 'हां! आप झूठ बोलते हैं।'

और 'आप झूठ बोलते हैं।' वह इतने प्यारे ढंग से कहती हैं कि 'विवश फूटते गान प्राणों से जैसे शब्द मेरे मन में गूंजने लगते हैं। मैं बढ़कर उसे कंधों से थाम लेता हूं, और कहता हूं, 'देखो! मेरी ओर देखो।'

पर वह नहीं देखती और 'किए मुख नीचा कमल समान, प्रथम कवि का ज्यों सुंदर छंद' - मेरी कमीज के बटन से खेलती हुई कहती है, 'आपकी ओर देखकर नहीं कह सकती। आपकी मुद्रा देखकर मुझे लगता है कि मैं झूठ बोल रही हूं। जबकि मैं जानती हूं कि झूठ आप ही बोल रहे हैं।'

और मुझे विश्वास हो जाता है कि झूठ वस्तुतः मैं ही बोल रहा हूं। तो क्या मैं उससे प्रेम करता? बहुत पहले, जब हम जानते भी नहीं थे कि हमारी आपसी चुहल, हमें किस ओर ले जा रही है, उसने सिकी बात पर मुझे 'बेचारा' विशेषण प्रदान किया था। मेरे स्वर में उग्रता आ गई थी, 'बेचारा तो एक गाली है। वह असहाय और दीन होता है। मैं पर्याप्त समर्थ हूं। बेचारे पर दया की जाती है; किंतु मैंने आज तक किसी से दया नहीं मांगी।'

अपने-आप में फूला हुआ चला आया था मैं। पर मधुरिमा जब अपनी उदासीनता से मेरे धैर्य की परीक्षा लेती है। किसी बात पर गुमसुम हो जाती है, पूछने पर भी कुछ बताती नहीं, तो मैं वह तनाव सहन नहीं कर पाता। मेरे मस्तिष्क की नसें, टूटने-टूटने को हा जाती हैं, तो मैं बड़ी निरीहता से कहता हूं, 'तुम्हें मुझसे प्रेम नहीं है, तो दया करके ही बता दो, कि बात क्या है।'. . .तभी तो मेरे मित्र कहते हैं कि मधुरिमा ने एन वनैले जीव को पालतू ही नहीं बना लिया है, उसे खूंटे से बांध भी लिया है। अब वह वनैला जीवन अपना सिर तक नहीं उठाता।

मधुरिमा लड़ती नहीं मुझसे; किंतु झगड़े बिना नहीं रहती। झगड़ती जरूरत से ज्यादा है। 'जाइए! हम आपसे नहीं बोलते।' और 'आप मुझसे मत मिला कीजिए। मत बोला कीजिए।' जैसे वाक्य, उसका तकिया-कलाम हो गए हैं। . .पहले की बात और थी। तब वह पढ़ती थी; इसलिए प्रायः घर पर ही होती थी। मुझे जब अवकाश होता, बुला लेती; और दो मिनट भी देर होने पर कैसे-कैसे स्पष्टीकरण देने पड़ते थे। मैं घबराता था और मिनट-मिनट का ध्यान रखकर निपट पंक्चुअल बना रहने के लिए, सचेष्ट रहता था। पर इस तथ्य का एक दूसरा पक्ष भी था। यदि मुझे वह बुलाए; मैं जाऊं और उसके लिए प्रतीक्षा करनी पड़े, तो मैं भी किसी हिटलर से कम नहीं हुआ करता था। तब उसकी शिकायत थी कि मैं उसे सदा डांटता ही रहता हूं। भई! वह मेरे समान पंक्चुअल नहीं हो सकती। मुझे पहले ही सोच-समझ कर कोई पंक्चुअल लड़की चुननी चाहिए थी। चुनते हुए तो कुछ सोचा नहीं। चुन ली 'सुस्ती की गठरी'। और अब चाहता हूं कि वह पंक्चुअल हो जाए।

चंद्रभूषण सिन्हा

दोपहर का समय था। पढ़ने-पढ़ाने में समय भी काफी हो गया था। मैंने उसे भोजन के लिए रुकने का आग्रह किया। वे मान गए। हम भोजन करने बैठे हमारे परिवार में सामान्य मिर्च मसाला खाया जाता था। किंतु उनके लिए वह भी इतना अधिक था कि भोजन करना उनके लिए संभव नहीं था। मुझे आज भी स्मरण है कि सब्जी में से मटर का एक-एक दाना निकालकर उसे पोंछकर वे खा रहे थे। शायद दही अथवा मलाई की भी कुछ सहायता ली गई थी। वह भोजन न होकर एक प्रकार की यंत्रणा हो गई। मेरे मन में आज तक उसका पश्चाताप है; किंतु सिन्हाजी ने उसकी तनिक भी शिकायत नहीं की।

बी.ए. ऑनर्स का परीक्षाफल मिलने के पश्चात मैं दिल्ली चला आया। बीच में वे भी एन.सी.सी. संबंधी कुछ विशिष्ट दायित्वों के कारण कुछ समय के लिए जमशेदपुर से बाहर रहे। मैं छुट्टियों में जमशेदपुर जाता था और वे वहां होते थे तो उनसे अवश्य मिलता था।

पर इस बीच ही उनका विवाह हुआ। तीन बच्चे हुए और उनकी पत्नी का देहांत हो गया। इधर दिल्ली में मेरी नौकरी लगी। वहीं विवाह हुआ। बच्चों का जन्म हुआ। दो बच्चियों का देहांत हो गया। बड़ा बेटा कुछ समय तक अस्वस्थ रहा। गृहस्थी में कई प्रकार की परेशानियां आईं। अपनी इन व्यक्तिगत और पारिवारिक परेशानियों में हमारा कदाचित एक-दूसरे से कोई संपर्क नहीं रहा। कारण जो भी रहे हों, किंतु मुझे सिन्हाजी से अपनी कोई ऐसी भेंट याद नहीं आती, जिसमें हमने उनके या मेरे पारिवारिक जीवन के इन कठिन दिनों की कोई चर्चा की हो। हम जब भी मिले,

गोइन्का सारस्वत सम्मान के अवसर पर विश्वनाथ, सूर्यबाला, श्यामगोइन्का, गिरिजा शंकर त्रिवेदी के साथ

चंद्रकांत वंदीवाडेकर एवं गोविंद मिश्र के साथ

कॉलेज की, समाज की, साहित्य की और देश की बातें करते रहे। अपने निजी जीवन की परेशानियों को अतीत मानकर या फिर मात्र संकोचवश उनकी चर्चा नहीं की गयी। पर इस बीच मुझे ये सूचनाएं मिलती रहीं कि देश और विदेश रूप से बिहार प्रदेश के समान जमशेदपुर में भी परिस्थितियां बिगड़ ही रही थीं। जो-जो संस्थाएं कुछ निर्माण कार्य कर रही थीं, उन पर धीरे-धीरे स्वार्थी लोगों ने आधिपत्य जमा लिया था और उनका सारा रक्त चूस लिया था। अब वे संस्थाएं या तो मर चुकी थीं या फिर मरने की प्रक्रिया में से गुजर रही थीं और मरने की प्रतीक्षा कर रही थीं- कॉलेज हो, सार्वजनिक पुस्तकालय हों, साहित्यिक संस्थाएं हों।

प्रेम जनमेजय

गवर्नमेंट डिग्री कॉलेज, मोती बाग (अब मोतीलाल नेहरू कॉलज) में मेरे भी वे आरंभिक वर्ष ही थे। प्रेम अपनी कथा का सबसे मेधावी छात्र था। ऑनर्स में पाश्चात्य काव्यशास्त्र की कक्षा में वह अकेला ही छात्र था। उसके साथ एक और छात्र था तो, किंतु न होने जैसा। प्रेम कक्षा में ही नहीं, मेरी अन्य सारी गतिविधियों में भी मेरे साथ था। वह लेखक मंडल में मेरे साथ था। कम खर्च में पत्रिका को डाक से भेजने की अनुमति न होने के कारण हमें उस पर लगाई जाने वाली डाक टिकट काफी खर्चीली लगती थी, इसलिए एक-एक अंक को दिल्ली के किसी कोने में उसके ग्राहक तक पहुंचाने के लिए मैं और प्रेम अपने स्कूटर पर सारे नगर में घूमते-फिरते थे। मैं स्कूटर चलाता था और वह पत्रिका के अंक लेकर पीछे बैठता था। . . .वह कितना-कितना मेरे साथ था, इसका कुछ अहसास तो तब होता है, जब स्मरण करता हूं कि मेरे नाटक शंबूक की हत्या का मंचन उज्जैन में हो रहा था। उन लोगों ने मुझे बुलाया था। मैं जाना चाहता था, किंतु अकेले जाने का संकोच और यात्रा की ऊब।. . .बात पुरानी है, अतः अब याद नहीं कि वह सब कैसे तय हुआ, कितु प्रेम मेरे साथ गया था। मेरा बड़ा बेटा कार्तिकेय तब पांच-सात वर्षों का रहा होगा, वह भी हमारे साथ था। वह मेरी आज तक की अपने प्रकार की एक ही साहित्यिक यात्रा है। हम लोग भोपाल गए। रात को लक्ष्मीकात वैष्णव के घर ठहरे। प्रातः उज्जैन के लिए चल पड़े। उसी यात्रा में हम इंदौर, खंडवा और हरदा भी गए। प्रेम की इच्छा थी हम हम लोग जबलपुर भी जाएं। वहां हरिशंकर परसाई थे। किंतु श्रीराम आयंगार भी था। वह प्रेम का मित्र था, यद्यपि परिचय मेरा भी था। श्रीराम के अन्य मित्र भी थे। प्रेम को उनका आकर्षण खींच रहा था। कार्तिकेय इस निरंतर यात्रा से ऊब चुका था और वापस लौटना चाहता था। वह प्रेम से काफी छोटा था; किंतु वे दोनों एक-दूसरे के विरोध में आमने-सामने खड़े हो गए थे। अंततः उनमें समझौता हुआ कि कार्तिकेय जबलपुर जाने से मना नहीं करेगा। इसके बदले में अब प्रेम मार्ग में ग्वालियर, आगरा और मथुरा घूमने की इच्छा का त्याग करेगा। प्रेम को यात्रा प्रिय है। पर उसने उस समझौते का पालन किया।

प्रेम के विषय में सामान्यतः कहा जाता है कि वह संबंधों को पूरी तरह से निभाता है, यद्यपि मैंने कुछ लोगों से उसके संबंध टूटते हुए भी देखे हैं। साहित्य के माध्यम से बने हुए, बहुत सारे संबंध स्वार्थ के आधार पर बनते हैं और फिर प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्यावश टूट जाते हैं। साहित्य की राह से होकर ही प्रेम के बहुत सारे ऐसे मित्र भी बने, जो किसी कारण मुझे सहन नहीं कर सकते थे, अथवा मेरे साथ उनकी पटरी नहीं बैठती थी। मुझे अनेक बार लगा कि उनकी संगति प्रेम को मुझ से दूर ले जा रही है। सामयिक यप से कुछ ऐसा हुआ भी। किंतु संबंधों की यह शिथिलता बहुत दीर्घकालीन सिद्ध नहीं हुई। उनका नैसर्गिक रंग पुनः पुनः लौट कर आया। लेखक मंडल में हम प्रत्येक लेखक की रचना बड़े धैर्य से सुनते हैं और उसका विश्लेषण करते हैं। यह क्रम सन् 1965 ई. तक चल रहा है। प्रेम इस लेखक मंडल का मेर बाद सबसे पुराना और सबसे नियमित सदस्य है। मुझे वह दिन भी याद है, जब अनेक कारणों से हमारे सदस्य इधर-उधर बिखर जाते थे और अकेला प्रेम ही आता था। प्रेम, मैं और मेरी पत्नी मधुरिमा हम तीना व्यक्ति बेठकर रचना पढ़ते और सुनते थे। पर लेखक मंडल चलता रहा था। इस प्रकार मैंने प्रेम की प्रायः सारी ही रचनाएं सुनी हैं। आरंभ में वह कहानियां भी लिखता था। कविताएं भी लिखता था। अब भी कभी-कभी कविता की कुछ पंक्तियां-व्यंग्यात्मक ही सही लिख लेता है। किंतु मूलतः विकास उसके व्यंग्यकार का ही हुआ है। मुझे अपने मित्रों का स्वयं को किसी भी प्रकार सीमित कर लेना पसंद नहीं है- न पढ़ने के क्षेत्र में और न ही लिखने के क्षेत्र में। संकीर्णता अच्छी नहीं होती, किंतु उसी प्रकार विक्षेप भी अच्छा नहीं होता। प्रेम का लिखना व्यंग्य तक ही सीमित हो गया। उसने एम.फिल. और पी-एच.डी. के शोध के लिए भी व्यंग्य संबंधी विषय ही लिए। इससे उसी व्यंग्य के प्रति निष्ठा प्रकट होती है। उसने स्वयं को बिखरने नहीं दिया। अपनी सीमा को पहचान कर, अतिरिक्त बोझ को छांट दिया।

सुरेश कांत

सुरेश में आरंभ से ही लिखने की महत्वाकांक्षा रही है। इसलिए कक्षा के बाहर भी, साहित्य परिषद् लेखक मंडल अथवा कॉलेज पत्रिका के माध्यम से वह मेरे सम्पर्क में ही नहीं रहा, मेरा आत्मीय भी रहा। उन दिनों वह केवल व्यंग्य सुने और सराहे थे। उसको विकसित होते देखा था। एक बार वह लेखक मंडल की एक गोष्ठी में नहीं आ सका, तो उसने मुझे एक पत्र लिखा था।

मान्वयर, 20.7.1977

सबसे पहले मांगता हूं माफी नहीं आ सका गोष्ठी में और नहीं सुना सका अपनी व्यंग्य रचना और फलस्वरूप, स्थिति आजकल यह है कि मैं आजकल अपराध भावना से ग्रस्त हूं। यह कार्यक्रम कुछ दिनों और जारी रहने की संभावना है। वस्तुतः मुझे कोई अधिकार नहीं था आप लोगों को अपनी महान (व्यंग्य) रचना के रसास्वादन से वंचित रखने का। पर उसके पीछे, जैसा कि अंडरस्टुड है, एक बड़ा कारण था जो यहां इसलिए नहीं लिख पा रहा हूं कि पत्र छोटा है और बात बड़ी। दूसरे शब्दों में, लिखूंगा तो छोटे पत्र बड़ी बात हो जाएगी। बहरहाल, समय मिलते ही मय रचना के उपस्थित होऊंगा। आप उसे एक नजर देख लेंगे।

क्षमाप्रार्थी

सुरेश कांत

उसके पत्रों में वक्रता भी है अदम्य विश्वास भी कि उसे और उसकी भावना को उसके वास्तविक रूप में समझा जाएगा। किंतु लेखक मंडल के उन दिनें में जिस बात की ओर मेरा ध्यान अधिक आकृष्ट हुआ- वह थी सुरेश की परिश्रम क्षमता। उसने न तो कभी अपनी आलोचना की उपेक्षा की और न उसका बुरा माना। एक-एक रचना को दो-दो, तीन-तीन बार लिखकर दिखाया। जब तक कि हम दोनों उससे संतुष्ट नहीं हो गए।

सुरेश का हस्तलेख आरंभ से ही बहुत सुंदर और साफ-सुथरा रहा है। मोती जड़े हुए। काम व्यवस्थित। जब-जब उसने अपनी रचनाओं का पहला या दूसरा, आरंभिक अथवा साफ आलेख मुझे दिखाया, सदा ही उसके प्रति मेरे मन में प्रशंसा का भाव जागा। उसका आलेख पढ़ने में कभी कठिनाई नहीं हुई। न कभी उसने अपनी रचना में कोई परिवर्तन अथवा संशोधन करने में अनिच्छा दिखाई। ऐसे छात्र और नव लेखक मैंने बहुत देखे हैं जो मानते हैं कि उन्हें जो लिखना था, लिख चुके। अब उसमें जो संशोधन करना हो, मैं स्वयं ही कर लूं और पुनः लिखने की आवश्यकता हो तो मैं किसी से लिखवा लूं अथवा टाइप करा लूं।

नरेंद्र कोहली का जन्म 6 जनवरी 1940 ई को स्यालकोट (पंजाब) के एक गाँव के साधारण कृषक परिवार में हुआ था जो अब पाकिस्तान में है। माता का नाम विद्यावंती था। पंजाब के छोटे गाँव के एक साधारण कृषक परिवार में जन्मी उनकी माँ अशिक्षित थी मगर ममतामयी, सरलजीवी थीं। उनकी माँ का देहांत 1992 ई में हुआ। पिता का नाम परमानंद कोहली था। इनका जन्म 1903 ई में सियालकोट के मध्यवर्गीय नौकर पेशा परिवार में हुआ। वे अपनी आँखों की बीमारी के कारण आठवीं से ज़्यादा न पढ़ सके। वे उर्दू में लेखन कार्य किया करते थे। उन्होंने उर्दू में तीन-चार उपन्यास लिखे थे जिनका हस्त-प्रति ही अपने पुत्र को दे पाए। वे अविभाजित पंजाब के वन विभाग में अस्थायी रूप में सेवारत थे। अपने पिताजी के बारे में कोहली लिखते हैं- "दृष्टि दोषपूर्ण होने के कारण वे सातवीं से आगे नहीं पढ़ सके थे। दादा ने उन्हें स्यालकोट में पुस्तकों और पत्रिकाओं की एक दुकान खोल दी थी। किंतु वे दुकानदार नहीं, साहित्यकार बनना चाहते थे। उन्होंने दो-एक कहानियाँ भी लिखी थीं, जो किसी दैनिक समाचारपत्र में प्रकाशित हुई थीं किंतु न वे साहित्यकार बन सके और न दुकानदार। अंग्रेज़ों के विरुद्ध किए गए किसी प्रदर्शन में पकड़े गए। दादा ज़मानत पर न केवल उन्हें छुड़ा लाए, वरन अपने अंग्रेज़ अधिकारी से कहकर उन्हें अपने ही विभाग में अस्थायी क्लर्क की नौकरी दिलवा दी। समुचित रूप से शिक्षित न होने और अपने दृष्टिदोष के कारण, उनकी नौकरी न कभी पक्की हो सकी, न उनकी पदोन्नति हुई।"

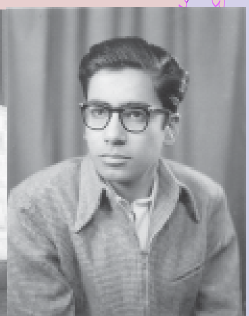

नरेंद्र कोहली के पिता को देश के विभाजन के पश्चात, पूँजी, डिग्री और अन्य कौशल के अभाव के कारण अपनी नौकरी छोड़कर भारत के जेमशेड्पुर आकर अपने रिश्तेदार के यहाँ रहना पड़ा और यहाँ उन्होंने पटरी पर बैठकर फल बेचने का व्यवसाय करने से अपनी नई ज़िंदगी की शुरुआत की। 1992 ई में दिल्ली में अस्सी वर्ष की अवस्था में इनका देहांत हो गया। इनके परिवार में तीन लड़के और एक लड़की थी। नरेंद्र कोहली अपने परिवार के बारे में इस प्रकार बताते हैं- "मेरे सबसे बड़े भाई सोमदेव को हमारी सौतेली दादी ने गोद ले रखा था। उन्हें हम आज भी उसी रिश्ते से चाचाजी पुकारते हैं। वे दादा-दादी के पास स्यालकोट में ही रहते थे। जाने किन कारणों से मेरे दूसरे भाई सुदर्शन और मेरी एकमात्र बहन विमला भी दादा-दादी के पास ही रहते थे। लाहौर में अपनी माँ और पिताजी के साथ मैं, मुझसे बड़ा भाई भूषण और हमारा सबसे छोटा भाई रवींद्र थे।"

नरेंद्र कोहली बड़े सरल एवं भावुक स्वभाव के हैं। उनको बचपन के सुख से वंचित रहना पड़ा। अपने बचपन की ज़िंदगी की एक झाँकी प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं- "जैसे सामान्यतः बचपन कहते हैं, मेरा बचपन वैसा कभी नहीं रहा। मैंने कभी किसी और के घर में लगे पौधों और वृक्षों से फूल और फल नहीं चुराए। पत्थर मारकर किसी की खिड़की के शीशे नहीं तोड़े। न कभी मेरी माँ को मुझे खोजने के लिए पड़ोसियों के दरवाज़े खटखटाने पड़े और न कभी गली-गली भटकना पड़ा।"

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि नरेंद्र कोहली का बचपन साधारण बच्चों की तरह स्वाभाविक न होकर कुछ भिन्न था। नरेंद्र कोहली बचपन में अक्सर बीमार रहा करते थे, इसलिए माँ के साथ अपना ज़्यादा समय बिताया करते थे। अपने बचपन का और एक चित्र को अंकित करते हुए कोहली इस प्रकार लिखते हैं- "मेरा शैशव कभी भी नटखट और खिलंडरे बच्चों जैसा नहीं रहा। आरंभ में कदाचित मैं काफ़ी बीमार और रोना बच्चा रहा होऊँगा। शरीर पर फोड़े-फुंसियाँ भी बहुत थीं। अधिकांशतः माँ से ही चिपका रहता था। पर ऊर्जा की कमी नहीं थी क्योंकि मैं अपने ढंग से सदा

एम.ए. की डिग्री

नरेंद्र कोहली के दादा जी

ही अधिक काम करनेवाला प्रसिद्ध रहा हूँ या शायद, ऊर्जा अधिक नहीं थी, पर जो थी, उसे मैंने बिखरने नहीं दिया।"

नरेंद्र कोहली का बचपन पाकिस्तान में स्थित लाहौर की तंग गलियों में बीता। अधिक किराया न दे सकने की वजह से एक के बाद एक मकान को ख़ाली करते हुए कोहली जी के परिवार के लोगों को एक कम किराए के मकान में रहने की अनिवार्यता का सामना करना पड़ा। तंग गली के इन घरों में परिपूर्ण व्यवस्था की कमी थी, इस कारण से उनके परिवारवालों को बहुत सी समस्याओं के साथ समझौता करना पड़ता था। इसके बारे में नरेंद्र कोहली लिखते हैं- "गली में नालियों की उचित व्यवस्था नहीं थी। घर के बाहर गंदा पानी जमा करने के लिए एक गढ़ा था जिसे हौदी कहते थे। पानी इतना ही बहना चाहिए था, जितना उस हौदी में समा सके। पानी अधिक हो जाता तो गली में बह जाता और वहाँ कीचड़ हो जाता। इसलिए मकान मालिक की ओर से माँ और पिताजी को हिदायत दी गई कि वे पानी अधिक न बहायें। माँ और पिताजी कम-से-कम पानी से नहाते थे। मुझे और मुझसे बड़े भाई भूषण को दूसरे मुहल्ले में अपनी एक बुआ के घर नहाने जाना पड़ता था-जहाँ नालियों का अस्तित्व था।"

पिताजी की आँखों की ख़राबी ज़्यादा होने से उन्हें पच्चीस साल की अस्थायी सरकारी नौकरी से निकाल दिया गया। उसके बाद कोहली का परिवार लाहौर से स्यालकोट आ गया। कोहली के बचपन का जीवन कई सामाजिक एवं कुछ बुनियादी पारिवारिक आवश्यकताओं के अभाव और कमियों से भरा था। सामान्यतः जिसे हम बचपन कहते हैं उस बचपन की ख़ुशी से वंचित होकर नरेंद्र कोहली को जीवन बिताना पड़ा।

शिक्षा :

नरेंद्र कोहली की शिक्षा का श्रीगणेश छः वर्ष की अवस्था में देव समाज हाईस्कूल, लाहौर, में भर्ती के साथ हुआ। उसके पश्चात उन्होंने कुछ महीने स्यालकोट के गंडासिंह हाईस्कूल में शिक्षा प्राप्त की। 1947 ई.में देश विभाजन के बाद उनके परिवार जेमशेडपुर (बिहार) आ गया। उनकी प्रैमरी शिक्षा तक की पढ़ाई जेमशेड्पुर में स्थित न्यू मिडिल इंग्लिश स्कूल में हुई। आगे चलकर उन्होंने आठवीं से ग्यारहवीं कक्षा तक की पढ़ाई मिसिज़ के.एम.पी.एम हाईस्कूल में हासिल की। अँग्रेज़ी स्कूल होने पर भी वहाँ उन्होंने अँग्रेज़ी अक्षर ज्ञान के साथ उर्दू के माध्यम से शिक्षा प्राप्त की। हाईस्कूल में विज्ञान के विषयों के बारे में अध्ययन किया। नरेंद्र कोहली उर्दू से हिंदी माध्यम चुनने के रोचक विचार पर लिखते हैं- "उन्हीं दिनों बहन जी कॉलेज में पहुँच गई थी और उन्होंने 'हिन्दी-साहित्य' को वैकल्पिक विषय के रूप में ले लिया था। वे 'पंत' और 'प्रसाद' के काव्य-संग्रह पढ़ा करती थीं। गा-गाकर 'रामचरित मानस' के खंड पढ़ा करती थीं। कभी सूरदास और रत्नाकर की गोपियों के कई प्रसंग उसे पढ़ाया करती थीं। और उसे लगता था कि उसे भी हिन्दी ही पढ़नी चाहिए. . .उर्दू में कुछ मज़ा नहीं आ रहा था।"

कोहली ने उच्च शिक्षा के लिए जेमशेडपुर के को-आपरेटिव कॉलेज में दाख़िला ली। हिन्दी और अँग्रेज़ी के साथ तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान और विशिष्ट हिंदी लेकर पढ़ाई की। उसके बाद बिहार विश्वविद्यालय से 1959 ई में आई.ए.की परीक्षा दी। उन्होंने 1961 ई में राँची विश्वविद्यालय से हिंदी में बी.ए.आनर्स परीक्षा उत्तीर्ण की। 1963 ई में दिल्ली विश्वविद्यालय के रामजस कॉलेज से हिन्दी में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। तदुपरांत इसी दिल्ली विश्वविद्यालय से नरेंद्र कोहली ने 1970 ई में पी-एच.डी (विद्या वाचस्पति) की उपाधि प्राप्त की।

पारिवारिक जीवन :

नरेंद्र कोहली अपनी पढ़ाई के बाद जीवन-यापन के लिए 1963 ई में दिल्ली के पी.जी.डी.ए.वी.कॉलेज में हिन्दी अध्यापक बने जिसे छोड़कर कोहली जी ने 1965 ई में अपनी दूसरी नौकरी मोतीलाल नेहरु कॉलेज से शुरू की। वहाँ अध्यापन की 32 वर्ष की सुदीर्घ सेवा के बाद पचपन वर्ष की आयु में 1995 ई में कोहली जी ने स्वैच्छिक अवकाश ग्रहण प्राप्त कर लिया।

नरेंद्र कोहली का छोटा सा परिवार है। कोहली ने अध्यापक बनने के बाद 1965 ई में डॉ.मधुरिमा के साथ विवाह किया। पत्नी डॉ.मधुरिमा कोहली दिल्ली विश्वविद्यालय से हिन्दी साहित्य में एम.ए.,पी-एच.डी प्राप्त कर कमला नेहरु कॉलेज में हिन्दी अध्यापिका के रूप में 1964 ई से कार्यरत हैं। 1966 ई में पहली बच्ची का जन्म हुआ लेकिन वह बच्ची चार महीने के पश्चात चल बसी। 1967 ई में जुड़वा संतानों का-कार्तिकेय और सुरभि का जन्म हुआ। यहाँ भी बदनसीबी की वजह से एक बच्ची सुरभि, सिर्फ़ चौबीस दिनों की आयु में ही चल बसी। पहला पुत्र कार्तिकेय कोहली दिल्ली विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में एम.ए., एम.फ़िल. करने के पश्चात अब दिल्ली के रामलाल आनंद कॉलेज में अर्थशास्त्र का अध्यापन का कार्य कर रहे हैं। कार्तिकेय कोहली की पत्नी वंदना चक्षु विशेषज्ञ बनकर स्वास्थ्य के क्षेत्र में सेवा कर रही हैं।

1975 ई में नरेंद्र कोहली के दूसरे पुत्र अगस्त्य का जन्म हुआ। उन्होंने अपने दूसरे बेटे अगस्त्य को दिल्ली के सरदार पटेल विश्वविद्यालय से उच्चतर माध्यमिक शिक्षा दिलाई। उनके दूसरे पुत्र इलिनॉय इंस्टीट्यूट ऑफ़ टेक्नोलोजी, शिकागो में यांत्रिकी की उच्चतम उपाधि ग्रहण करने के बाद अब सियाटल (अमेरिका) में नेटवर्क अभियंता के रूप में कार्यरत हैं

व्यक्तित्व की विशेषताएँ :

नरेंद्र कोहली हिन्दी साहित्य जगत के अप्रतिम व्यक्तित्व के धनी हैं। उनमें अद्भुत जीवट और संघर्षशीलता का संगम देखने को मिलता है। नरेंद्र

पिता परमानंद कोहली

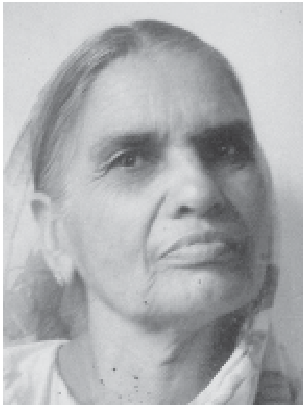

माता विद्यावंती

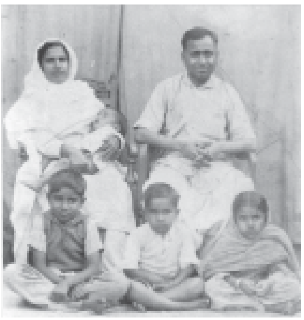

सन् 1940 मां की गोद में नरेंद्र कोहली अपने पिता और भाइयों के साथ

मधुरिमा को अर्धांगिनी स्वीकार करते हुए

कोहली के व्यक्तित्व में गंभीर एवं मृदु स्वभाव का सम्मिश्रण है। इसके लिए उनके परिवार का भी महत्वपूर्ण योगदान है। मृदु भाषी, सरल व्यवहार एवं नम्र स्वभाव के कोहली में कठोर व्यवहार देख पाना असंभव है। नरेंद्र कोहली लगभग साढ़े पाँच फूट के सामान्य क़द के व्यक्ति हैं। चश्मे के भीतर से बाहर का सब कुछ समेट लेने को आतुर हैं उनकी आँखें। घनी श्वेत-श्याम दाढ़ी उनकी पहचान है। वे सीधा-सादा खादी वस्त्र पहनना अधिक पसंद करते हैं। कोहली स्वभाव से विनम्र, पेशे से अध्यापक, कर्म से साहित्यकार, मिज़ाज से गंभीर और विचार से शोषितों के प्रति सहानुभूति रखते हैं। वे पाठकों के प्रति एक शिक्षक का नाता बराबर निभाते हैं। नरेंद्र कोहली अंदर से बहुत गंभीर दीखते हैं मगर बाहर से बहुत विनोदी, हँसमुख और ज़िंदादिली व्यक्तित्व के हैं।

नरेंद्र कोहली लिखने के साथ-साथ पढ़ने और गप्पें मारना बहुत पसंद करते हैं। कोहली पूर्ण रूप से समाज में घुल-मिलकर लिखने के स्वभाव के हैं। जीवन में प्राप्त अनेक प्रकार के अनुभवों की पूँजी को साहित्यिक सामग्री के रूप में प्रयोग करने की क्षमता कोहली रखते हैं। हर काम को यथासंभव ठीक समय पर करने के इच्छुक हैं। बहुत व्यस्तता के बावजूद भी सबके लिए सहज-सुलभ बने रहते हैं और अपरिचित और नई पहचान के लोगों के साथ बहुत आत्मीय भाव से व्यवहार करते हैं जिसका अनुभव मुझे दिल्ली के उनके निवास पर हुआ। सुंदर और विशाल है उनकी 'वैशाली'। आधुनिक कलाकृतियों से सजाया हुआ घर उनके कला प्रेमी होने का प्रमाण है। साहित्य की किताबें और पत्र-पत्रिकाओं में छपी उनकी रचनाओं की क़रीने से सजी ढेरियाँ। सम्मान एवं पुरस्कार के रूप में प्राप्त स्मृति चिह्नों से भरे हुए शो केस। इस निवास में अपने शोधकार्य के संबंध में उनसे मिलने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ। उन्होंने बड़ी आत्मीयता से मेरा आदरातिथ्य किया। हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकार होकर भी मुझ जैसे के साथ सम्मान पूर्वक व्यवहार किया। मेरी दृष्टि में नरेंद्र कोहली का यह असाधारण व्यक्तित्व सबको मोह लेता है।

अध्यापक नरेंद्र कोहली :

नरेंद्र कोहली पेशे से एक अध्यापक थे। 32 वर्ष तक अध्यापक के रूप में रहकर उन्होंने साहित्य को पढ़ाया। उन्होंने न केवल पाठ्यपुस्तकों के बारे में पढ़ाया, बल्कि बच्चों को साहित्य के मर्म से साक्षात्कार कराया। 1995 ई को पचपन वर्ष की अवस्था में बत्तीस वर्ष की दीर्घकालीन सेवा के उपरांत स्वैच्छिक अवकाश ग्रहण किया। एक सफल अध्यापक होने की संतृप्ति की भावना उनको है। अध्यापक होने के कारण शैक्षिक संस्थाओं की अंदरूनी परिस्थिति और विद्रूपताओं को कोहली अपने दैनिक जीवन में महसूस करते रहे और शैक्षिक परिवेश का जीवंत चित्रण प्रस्तुत कर सके। अध्यापक नरेंद्र कोहली के व्यक्तित्व का परिचय देते हुए दिनेश कपूर लिखते हैं- "गुरु-शिष्यों के संबंधों को आत्मीय बनाकर, अपने व्यक्तित्व से कुछ अतिरिक्त देते हुए भी शिष्य को किस प्रकार अनुशासित रखा जा सकता है, ये ख़ूब जानते हैं। शायद यह भी उसी 'अतिरिक्त' देन का एक अंश है। मेरे-उनके संबंध सदा क्लास रूम से बाहर के ही रहे। फिर भी उनसे बहुत कुछ पाया। इसी संदर्भ में उनके निकट भी आया। और शालीन दूरी भी बनी रही। वे एक अच्छे अध्यापक हैं; यह तो उनका कटु से कटु आलोचक भी मानेगा। पर वे अच्छे शिक्षक भी हैं। क्लास रूम में और पाठ-पुस्तकों का ज्ञान न पा सकने का मेरा क्षोभ, जीवन भर उनके व्यक्तित्व से बहुत कुछ सीख कर क्षीण हुआ है।"

नरेंद्र कोहली अनुशासन को महत्व देनेवाले अध्यापक हैं। कठिनतम परिस्थितियों में भी अपने मूल्यों का पालन कर अपने को एक अच्छे और आदर्श शिक्षक के रूप में प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। कोहली के इस प्रकार के परिपूर्ण व्यक्तित्व का चित्र पेश करते हुए प्रेम जनमेजय बताते हैं कि- "लगभग साढ़े पाँच फूट के सामान्य क़द में, अदम्य आत्म-स्वाभिमान आकाश की उन्मुक्त ऊँचाइयों में अपना प्रसार पाता है। गर्दन किसी पद, पूँजी, लालच के सामने नमित नहीं होती है, अपितु अपने अग्रजों के सामने श्रद्धा से नमित हो जाती है। शैशव की स्वाभविकता से युक्त चेहरा जो एक पल मुस्कराहट में है तो दूसरे ही पल विपरीत परिस्थितियों में कटु हो जाता है। नरेंद्र कोहली के अंतर को उनके चेहरे के माध्यम से पढ़ना आसान है। किसी भी क्रिया की प्रतिक्रिया चेहरे पर तुरंत होती है। किसी भी असंगति को देख कर निश्छल, जिज्ञासु, स्नेहमयी आँखें आक्रोश और करुणा की भाषा बोलने लगती हैं। आँखों पर चढ़ा चश्मा भी उस भाषा के प्रसार को रोक नहीं पाता है।"

नरेंद्र कोहली के पास अपने शिष्यों को देने के लिए 'परम कृपा' नहीं है लेकिन उनके पास अप्रतिम सृजनात्मक प्रतिभा है। इसी प्रतिभा से अपने शिष्यों को प्रभावित करते रहें। इसकी ओर संकेत करते हुए प्रेम जनमेजय लिखते हैं- "जिस गुरु के पास पुरस्कार, पद, नौकरी, देश-विदेश की यात्रा, समितियों की सदस्यता आदि ये 'परम कृपा' होती है वह 'महान गुरु' होता है, तथा शिष्य भी मक्खियों की तरह ऐसे गुरु के पास मँडराते रहते हैं। ऐसे गुरु लँगड़े को भी दौड़ में प्रथम पुरस्कार दिलाने की क्षमता रखते हैं तथा कीचड़ में कमल खिलने की ताक़त रखते हैं। नरेंद्र कोहली के पास देने के लिए 'परम कृपा' नहीं है। नरेंद्र कोहली के पास तो देने को परिश्रम, अनुभव, सहायता, सृजनात्मक प्रतिभा आदि हैं। वे किसी पुरस्कार समिति, आदि के अध्यक्ष नहीं हैं जो बंदर-बाट का सुअवसर प्रदान कर सकें। यही कारण है कि उनके साथ लोग किसी स्वार्थ के कारण नहीं, श्रद्धा और विश्वास के कारण जुड़ते हैं।"

नरेंद्र कोहली के पुत्र अगस्त्य कोहली

परिवार का प्रमुख नरेंद्र कोहली :

नरेंद्र कोहली के व्यक्तित्व की विशेषता के बारे अपना अभिप्राय प्रकट करते हुए उनके भाई सोमदेव कोहली लिखते हैं- "घर से दूर रहते हुए भी, नरेंद्र सिर से पाँव तक परिवार से जुड़ा है। नरेंद्र में एक ख़ास तरह की सेन्स ऑफ़ ह्यूमर है। वह इस तीव्रता से सोचता व कार्य करता है कि उसके साथ चलना दूबर हो जाता है। उसका हास्य कई बार इतना पैना व्यंग्य बन जाता है कि उसके नाते-रिश्तेदार आहत हो उठते हैं। इस बात को वह मानता भी है और महसूस भी करता है।"

नरेंद्र कोहली एक परिवार के मुखिया होने के नाते अपनी ज़िम्मेदारियों को बहुत अच्छी तरह निभाने में कृतार्थता महसूस करने में विश्वास रखते हैं। इस बात का समर्थन करते हुए उनकी धर्मपत्नी मधुरिमा कोहली लिखतीं हैं- "जब बच्चे छोटे थे तो पिता रूप में वे बच्चों को बहुत समय दिया करते थे, पर यह पक्ष शायद इनका दुर्बल पक्ष है। प्रायः दायित्व भावना से प्रेरित होकर ही बच्चों को समय दे सके हैं, सहज स्वाभाविक वात्सल्य इन्हें बच्चों की ओर आकृष्ट नहीं करता। बच्चों के खाने-पीने, पहनने के वस्त्र, स्कूल की पढ़ाई, मनोरंजन या उनकी बातें-इन सभी से काफ़ी उदासीन रहते हुए भी कैसे वे एक स्नेहशील पिता का व्यक्तित्व बनाए हुए हैं-यह स्थिति अवश्य ही आश्चर्य में डालनेवाली है, क्योंकि हमारे बच्चे पिता के प्रति किसी प्रकार के आतंक अथवा आक्रोश का भाव नहीं रखते; उनके मन में सहज स्नेह और आकर्षक का भाव है।"

मित्रों के साथ कोहली :

जैसे परिवार के सदस्यों के साथ उनका आत्मीय व्यवहार होता है वैसे ही परिवार से अलग रहनेवाले दोस्तों के प्रति भी इनका आत्मीय व्यवहार देखा जा सकता है। नरेंद्र कोहली की मित्र मंडली बहुत बड़ी है। देश के कोने-कोने में इनके मित्र हैं। उन सबके साथ एक जैसा व्यवहार कोहली का पहचान है। नरेंद्र कोहली की भेदभाव रहित आत्मीय स्वभाव उनकी अपनी विशेषता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए डॉ.सी.भास्कर राव लिखते हैं- "नरेंद्र कोहली की एक बड़ी विशेषता यह है कि जिन्हें वे मित्रों के रूप में अपनाते हैं, उन्हें गहराई से स्वीकार करते हैं। यह नहीं देखते कि सामनेवाला व्यक्ति उनसे बड़ा है या छोटा, कम है अधिक। सच तो यह है कि नरेंद्र मित्रों के लिए मित्रता के आदर्श हैं। मित्रता का समुचित निर्वाह, उनसे सीखा जा सकता है। ऐसी कोई घटना नहीं है कि नरेंद्र ने अपने किसी स्वार्थवश किसी को मित्र बनाया हो या फिर मित्रता का ग़लत लाभ उठाने की कोशिश की हो। वे मित्रता की सीमाओं और मर्यादाओं का कभी उल्लंघन नहीं करते। उनके सभी मित्र समान रूप से उनके संबंध में रहते हैं और उनके ही कारण, परस्पर भी एक-दूसरे से संबध का अनुभव करते हैं। अपने मित्रों और सहपाठियों के बीच नरेंद्र बने रहते हैं, सदैव।

प्रकाशित रचनाएं

1. प्रेमचंद के साहित्य सिद्धांत (शोध-निबंध)- 1966 ई.
2. कुछ प्रसिद्ध कहानियों के विषय में (समीक्षा)- 1967 ई.
3. परिणति (कहानियां)-1969-2000 ई.
4. एक और लाल तिकोन (व्यंग्य)-1970-2000 ई.
5. पुनरारंभ (उपन्यास)- 1972-1994 ई.
6. आतंक (उपन्यास)- 1972 ई.
7. पांच एब्सर्ड उपन्यास (व्यंग्य)- 1972-1994 ई.
8. आश्रितों का विद्रोह (व्यंग्य)- 1973-1991 ई.
9. जगाने का अपराध (व्यंग्य)-
10. साथ सहा गया दुख (उपन्यास)- 1974 ई.
11. मेरा अपना संसार (लघु उपन्यास) - 1975 ई.
12. शंबूक की हत्या (नाटक)- 1975 ई.
13. दीक्षा (उपन्यास)- 1975 ई.
14. अवसर (उपन्यास)- 1976 ई.
15. प्रेमचंद (आलोचना)- 1976 ई.
16. जंगल की कहानी (उपन्यास)- 1977-2000 ई.
17. मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं (व्यंग्य)- 1977 ई.
18. कहानी का अभाव (कहानियां)- 1977 - 2000 ई.
19. हिंदी उपन्यास:सृजन और सिद्धांत (शोधप्रबंध)- 1977-1989 ई.
20. संघर्ष की ओर (उपन्यास)-1978 ई.
21. गणित का प्रश्न (बाल कथाएं) - 1978 ई.
22. आधुनिक लड़की की पीड़ा (व्यंग्य)-1978 - 2000 ई.
23. युद्ध दो भाग(उपन्यास) - 1979 ई.
24. दृष्टि देश में एकाएक (कहानियां)- 1979-2000 ई.
25. अभिज्ञान (उपन्यास)- 1981 ई.
26. शटल (कहानियां)- 1982-2000
27. त्रासदियां (व्यंग्य)-1982 ई.
28. नेपथ्य (आत्मपरक निबंध)-1983 ई.
29. नमक का कैदी (कहानियां)-1983, 2000 ई.
30. आत्मदान (उपन्यास)-1983 ई.-2008 ई.
31. निचले फ्लैट में (कहानियां)- 1984, 2000 ई.
32. नरेन्द्र कोहली की कहानियां (कहानियां)-1984 ई.
33. संचित भूख (कहानियां)- 1985, 2000 ई.
34. आसान रास्ता (बाल कथाएं)- 1985
35. निर्णय रुका हुआ(नाटक)- 1985 ई.
36. हत्यारे (नाटक)- 1985 ई.
37. गारे की दीवार (नाटक)- 1986 ई.
38. प्रीतिकथा (उपन्यास)- 1986 ई.
39. परेशानियां (व्यंग्य)- 1986, 2000 ई.
40. बाबा नागार्जन (संस्मरण)- 1987 ई.
41. महासमर-1 (बंधन)-उपन्यास- 1988 ई.
42. माजरा क्या है?(सर्जनात्मक, संस्मरणात्मक, विचारात्मक निबंध) -1989 ई.
43. अभ्युदय (दो भाग)- उपन्यास- 1989, 1998 ई.
44. महासमर-2, (अधिकार)- उपन्यास- 1990 ई.
45. नरेन्द्र कोहली : चुनी हुई रचनाएं (संकलन)- 1990 ई.
46. समग्र नाटक (नाटक)- 1990 ई.
47. समग्र व्यंग्य (व्यंग्य)-

48. एक दिन मथुरा में (बाल उपन्यास)- 1991 ई.
49. हम सब का घर (बाल उपन्यास)- 1991 ई.
50. समग्र कहानियां (कहानियां) भाग-1, 1991 ई. भाग-2, 1992 ई.
51. प्रेमचंद (समीक्षा)- 1991 ई.
52. महासमर-3, (कर्म)- उपन्यास- 1991 ई.
53. तोड़ो कारा तोड़ो-1 (निर्माण)- उपन्यास- 1992 ई.
54. जहां है धर्म, वहीं है जय (महाभारत का विवेचनात्मक अध्ययन)- 1993 ई.
55. महासमर-4 (धर्म)- उपन्यास- 1993 ई.
56. तोड़ो कारा तोड़ो-2 (साधना)- उपन्यास- 1993 ई.
57. महासमर-5 (अंतराल)- उपन्यास- 1995 ई.
58. क्षमा करना जीजी!- उपन्यास- 1995 ई.
59. अभी तुम बच्चे हो-बाल कथा- 1995 ई.
60. प्रतिनाद (पत्र-संकलन)-1996 ई. प्रकाशक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-110002
61. आत्मा की पवित्रता (व्यंग्य) - 1996 ई.
62. किसे जगाऊं? (सांस्कृतिक निबंध)- 1996 ई.
63. महासमर-6 (प्रच्छन्न) उपन्यास- 1997 ई.
64. नरेन्द्र कोहली ने कहा (आत्मकथ्य तथा सूक्तियां)- 1997 ई.
65. मेरी इक्यावन व्यंग्य रचनाएं (व्यंग्य)- 1997 ई.
66. गणतंत्र का गणित (व्यंग्य)- 1997 ई.
67. कुकुर (बाल कथा)
68. समाधान (बाल कथा)- 1997 ई.
69. महासमर-7 (प्रत्यक्ष) उपन्यास- 1998 ई.
70. समग्र व्यंग्य-1, (देश के शुभचिंतक)- व्यंग्य- 1998 ई.
71. समग्र व्यंग्य-2 (त्रहि-त्रहि)- व्यंग्य- 1998 ई.
72. समग्र व्यंग्य-3, (इश्क एक शहर का)- व्यंग्य- 1998 ई.
73. मेरी तेरह कहानियां, (कहानियां)- 1998 ई.
74. संघर्ष की ओर (नाटक)- 1998 ई.
75. किष्किंधा (नाटक)- 1998 ई.
76. अगस्त्यकथा (नाटक)- 1998 ई.
77. हत्यारे (नाटक)- 1999 ई.
78. महासमर-8 (निर्बंध)- उपन्यास- 2000 ई.
79. स्मरामि (संस्मरण)- 2000 ई.
80. मेरे मुहल्ले के फूल (व्यंग्य)- 2000 ई.
81. समग्र व्यंग्य-4 (रामलुभाया कहता है)- व्यंग्य- 2000 ई.
82. सब से बड़ा सत्य (व्यंग्य संग्रह)- 2003 ई.
83. वह कहां है (व्यंग्य संग्रह)- 2003
84. तोड़ो कारा तोड़ो-3 (परिव्राजक)- 2003 ई.
85. तोड़ो कारा तोड़ो-4 (निर्देश), 2004 ई.
86. न भूतो न भविष्यति- 2004 ई.
87. स्वामी विवेकानन्द- 2004 ई.
88. समग्र व्यंग्य-5 (आयोग)- व्यंग्य- 2005 ई.
89. दस प्रतिनिधि कहानियां- 2006 ई.
90. कुकुर तथा अन्य कहानियां (बाल कथाएं)- 2006 ई.
91. एक दिन मथुरा में तथा अन्य कहानियां (बाल कथाएं)
92. हम सबका घर तथा अन्य कहानियां (बाल कथाएं)-2007 ई.
93. प्रजातंत्र का चक्रवर्ती- 2007
94. नवनीत (संकलित रचनाएं)- 2007 ई.
95. वसुदेव (उपन्यास)- 2007 ई.
96. मेरे साक्षात्कार (साक्षात्कार)- जनवरी 2008
97. तोड़ो कारा तोड़ो-5 (संदेश), उपन्यास- फरवरी 2008 ई.
98. मेरे राम : मेरी रामकथा (रामकथा का विवेचनात्मक अध्ययन)

पुरस्कार तथा सम्मान

1 'राज्य साहित्य पुरस्कार', 1975-76 ई. साथ सहा गया दुख शिक्षा विभाग, उत्तरप्रदेश शासन, लखनऊ।

2. 'उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान पुरस्कार', 1977-78 ई. मेरा अपना संसार, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ।

3. 'इलाहाबाद नाट्य संघ पुरस्कार', 1978 ई. शंबूक की हत्या, इलाहाबाद, नाट्य संगम, इलाहाबाद।

4. 'उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान पुरस्कार', 1979-80 ई. संघर्ष की ओर उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ।

5. 'मानस संगम साहित्य पुरस्कार', 1978 ई. समग्र रामकथा, मानस संगम, कानपुर।

6. 'श्रीहनुमान मंदिर साहित्य अनुसंधान संस्थान विद्यावृत्ति'- 1982 ई. समग्र रामकथा, श्रीहनुमान मंदिर साहित्य अनुसंधाान संस्थान, कोलकाता।

7. 'साहित्य सम्मान', 1985-86 ई. समग्र साहित्य, हिंदी अकादमी, दिल्ली।

8. 'साहित्यिक कृति पुरस्कार', 1987-88 ई. महासमर-1, बंधन, हिंदी अकादमी, दिल्ली।

9. 'डॉ. कामिल बुल्के पुरस्कार', 1989-90 ई. समग्र साहित्य, राजभाषा विभाग, बिहार सरकार, पटना।

10. 'चकल्लस पुरस्कार', 1991 ई. समग्र व्यंग्य साहित्य, चकल्लस पुरस्कार ट्रस्ट, मुंबई ।

11. 'अट्टाहास शिखर सम्मान', 1994 ई. समग्र व्यंग्य साहित्य, माध्यम साहित्यिक संस्थान, लखनऊ।

12. 'शलाका सम्मान', 1995- 96 ई. समग्र साहित्य, दिल्ली हिंदी अकादमी, दिल्ली।

13. 'साहित्य भूषण', 1998 ई. समग्र साहित्य, उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ।

14. 'डॉ. हेडगेवार प्रज्ञा सम्मान', 2000 ई. समग्र साहित्य, कुमारसभा पुस्तकालय, कोलकाता ।

15. 'रामकथा सम्मान', 2003 ई. अभ्युदय, साकेत निधि, दिल्ली।

16. 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय सम्मान', 2004 ई. समग्र साहित्य, उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ।

17. 'भाषा भूषण', 2004 ई., साहित्य मंडल, श्रीनाथद्वारा, राजस्थान

18. 'हिंदी गौरव', 2005 ई., साहित्य सभा, सीतापुर उत्तर प्रदेश

19. 'जनवाणी सम्मान', 2007 ई. समग्र साहित्य, इटावा हिंदी सेवा निधि, इटावा।

20. 'गोयनका व्यंग्य साहित्य सम्मान', 2008, कमला गोयनका फाउंडेशन, मुंबई।

एक और लाल तिकोन

1970, 2000 ई.
प्रकाशक: क्रियेटिव बुक कंपनी, दिल्ली - 110009

हास्य-व्यंग्य रचनाओं का पहला संकलन, जिसमें कथा-तत्व भी पर्याप्त मात्र में विद्यमान है। बहुत सारी रचनाएं तो व्यंग्य कथाएं ही बन गई हैं। चढ़ती उम्र में लिखी गई इन प्रखर रचनाओं में से अनेक रचनाएं आज हिंदी व्यंग्य साहित्य के श्रेणी साहित्य में परिगणित होती हैं। इसका पहला संस्करण नेशनल पब्लिशिंग हाउससे 1970 ई. में प्रकाशित हुआ था। कुछ समय तक अनुपलब्ध रह कर अब सन 2000 ई. में इसका प्रकाशन क्रियेटिव बुक कंपनी से अजिल्द (पेपरबैक) संस्करण के रूप में हुआ है।

पांच एब्सर्ड उपन्यास

1972 ,1994 ई.
प्रकाशक, भारतीय प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली-2
पृष्ठ : 107, मूल्य : पचास रुपए मात्र

जब एक उपन्यासकार की कलम, कार्टूनिस्ट की दृष्टि पा जाती है, तो एब्सर्ड उपन्यासों की रचना होती है। नरेन्द्र कोहली की इन पांच रचनाओं में आपको उपन्यास का गठन, व्यंग्यचित्रकार की पैनी दृष्टि, एक अनोखा अप्रस्तुत विधान, तीखा करारा व्यंग्य तथा समकालीन जीवन की कुतर्कशीलता अपनी समग्रता में उपलब्ध होगी। सर्वथा नवीन कथ्य, शिल्प, शैली और विधा। व्यंग्य लेखन का एक सर्वथा नवीन आयाम। इन रचनाओं में आपको व्यंग्य अपनी संपूर्ण गंभीरता में मिलेगा और आप समझ पाएंगे कि व्यंग्य हंसाने के साथ रुला भी सकता है, घावों को कुरेद भी सकता है, और व्यक्ति को उसके आक्रोश का जीवन्त साक्षात्कार भी करा सकता है। इसका पहला संस्करण 1972 ई. में नेशनल पब्लिशिंग हाउससे प्रकाशित हुआ था। दो एक संस्करण और भी हुए, क्योंकि यह कृति हिमाचल विश्वविद्यालय में पाठयक्रम में निर्धारित हो गई थी। प्राय: बीस वर्ष तक अनुपलब्ध रहने के पश्चात् 1994 ई. में भारतीय प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली से इसका पुनर्प्रकाशन हुआ। अब यह डायमंड बुक्स में भी उपलब्ध है।

आश्रितों का विद्रोह

1973,1991 ई.
प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-2
पृष्ठ : 169, मूल्य : तीस रुपए मात्र

आश्रितों का विद्रोह आजकी भ्रष्ट राजनीति, समस्याओं से भरे असुविधपूर्ण जीवन तथा निष्क्रिय सहिष्णु जनता की मृत मन:स्थिति के प्रति एक सर्जनात्मक विरोध है। भ्रम की अंतिम परत तक को चीर देने वाले इस उपन्यास में नए शिल्प, फंतासी-प्राय विधा और सूक्ष्म व्यंग्य के बीच भी सामान्य जनजीवन अपनी संपूर्ण समस्याओं के साथ यथार्थ रूप में विद्यमान है। इस उपन्यास में नरेन्द्र कोहली ने कथा कहने की एक अद्‍भुत व्यंग्य-प्रधान शैली, तीखी, चुभती हुई पारदर्शी भाषा के साथ अन्याय के विरुद्ध शस्त्र के रूप में निर्मित एक नए जीवन दर्शन को समझने समझाने का सार्थक प्रयास किया है। महानगर दिल्ली के सामान्य जन की अपनी आवश्यकताओं- राशन, दूध, यातायात इत्यादि- के लिए जूझने की एक फंतासीय कथा। सरकार पर आश्रित जन-सामान्य सरकारी व्यवस्था के बहिष्कार द्वारा अपना विद्रोह जताता है, किंतु राजनीति उसे पुन: शासनतंत्र पर आश्रित बना देती है। एक अनोखा व्यंग्य उपन्यास, जो एक प्रकार से समाज के विषय में कुछ भविष्यवाणियां ही नहीं कर रहा, सत्ताशाहों की निरंकुशता और प्रजा की असहायता की ओर भी संकेत करता है। साथ ही साथ यह चेतावनी भी देता है कि जो लोग अपने आलस्य और स्वार्थ में अपना कर्तव्य पूरा नहीं करते, वे आत्मविनाश का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं। संसार में केवल वही टिक पाता है, जो किसी न किसी प्रकार से समाज के लिए उपयोगी है।

जगाने का अपराध

1973 ई.
प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-2
पृष्ठ : 165, मूल्य : साढ़े पांच रुपए मात्र

'. . .गोडसे को फांसी इसलिए हुई क्योंकि उसने महात्मा गांधी को समाधि से जगाने का प्रयत्न किया था। कैनेडी भाइयों को गोली इसलिए मारी गई, क्योंकि वे अपने देश को जगा रहे थे। प्रत्येक आंदोलन में नेताओं को दंड मिलता है, क्योंकि वे किसी न किसी को जगाने का प्रयत्न करते हैं। चीन को हम अपना शत्रु मानते हैं क्योंकि उसने हमें जगाने का प्रयत्न किया। पाकिस्तान हमारा शत्रु है, क्योंकि वह हमें सोने नहीं देता। बड़े बड़े देश हमारे मित्र हैं, क्योंकि उन्होंने सदा ही इस देश की जागृति का विरोध किया है। वे चाहते हैं कि यह देश सोता रहे. . .।' और नरेन्द्र कोहली का यह संकल्प है कि वे जगाने का यह अपराध बार बार करेंगे, क्योंकि उनका यह व्यंग्य लेखन न तो खाली मन की चुहल है, न पाठकों के मनोरंजन का प्रयत्न। सार्थक व्यंग्य की ये

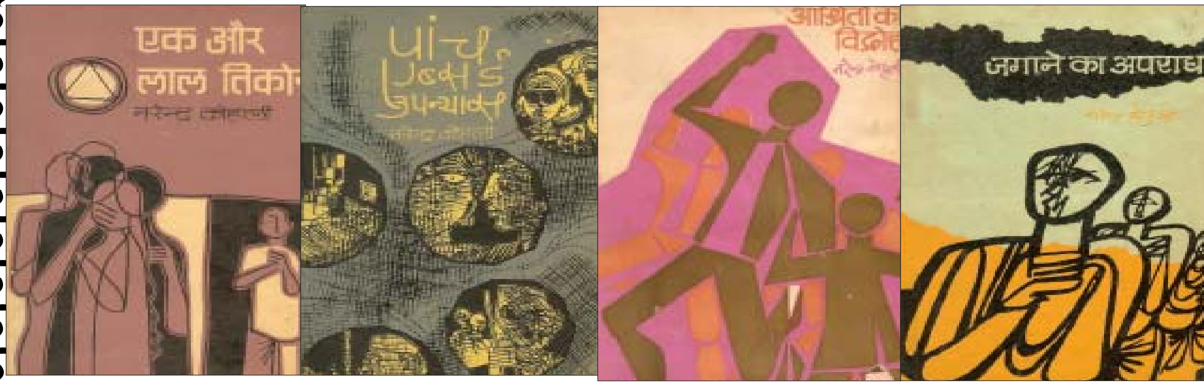

तीस रचनाएं निश्चित् रूप से पाठकों को विभिन्न क्षेत्रों में फैली हुई सड़ांध के प्रति जागरूक बनाने का ईमानदार प्रयत्न हैं।

शंबूक की हत्या

1975 ई.
प्रकाशक: विवेक प्रकाशन, दिल्ली-32
पृष्ठ : 84, मूल्य :बीस रुपए मात्र।

'अभ्युदय' के लेखन को बीच में ही रोक कर लेखक ने यह नाटक लिखा। लिखा तो यह भी आरंभ में एक उपन्यास के रूप में ही गया था, किंतु इसकी सामग्री नाटक के अनुरूप होने के कारण इसे नाटक का रूप दिया गया। नरेन्द्र कोहली द्वारा संपादित पत्रिका 'अतिमर्श' के फरवरी-अप्रैल 1974 ई. के अंक में यह पहली बार प्रकाशित हुआ। वह समय श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा देश में आपात् स्थिति लागू करने का था। अत: प्रकाशक ने नाटक में कुछ परिवर्तन तो किए, किंतु नाटक प्रकाशित हो गया। 'शंबूक की हत्या' पौराणिक नाटक नहीं है। इसमें पौराणिक संदर्भ का सहारा मात्र लिया गया है। रामायण के उस ब्राह्मण ने तत्कालीन शासक से पूछा था, 'मेरे पुत्र की अकाल मृत्यु के लिए उत्तरदायी कौन है?' और स्वयं ही उत्तर दिया था, 'राजा की असत्वृत्तियों से ही प्रजा की अकाल मृत्यु होती है।' अपने इस नाटक में नरेन्द्र कोहली पूरे देश की ओर से पूछ रहे हैं,'करोड़ों की संख्या में भारत की जनता की शारीरिक, आर्थिक और नैतिक अकाल मृत्यु के लिए दोषी कौन है?' और नाटक अपने आप ही पुकार पुकार कर कहता है, 'शासन का पाप ही जनता की अकाल मृत्यु के लिए दोषी है।' हिंदी का अद्वितीय व्यंग्य नाटक,जिसका कथ्य ही नहीं,शिल्प भी,व्यंग्य की अपूर्व ऊंचाइयों को छूता है। पहली बार इसका मंचन चंद्रमोहन के निर्देशन में लिट्ल थियेटर ग्रुप,नई दिल्ली में जनवरी 1978 ई. में हुआ।

मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं

1977 ई.
प्रकाशक : ज्ञान भारती, दिल्ली - 110007

हिंदी का व्यंग्य साहित्य जिस तीव्र गति से आगे बढ़ा, उसी तेजी से पाठकों तथा समीक्षकों ने उससे स्वयं को दोहराने तथा चुक जाने की शिकायत भी की। कदाचित् यही कारण है कि सजग व्यंग्यकारों ने स्वयं को पुनरावृत्ति से बचाने का सक्षम प्रयत्न किया। नरेन्द्र कोहली ऐसे व्यंग्यकार हैं, जिन्होंने स्वयं को परंपरागत व्यंग्य-लेखन में ही बंधा नहीं जाने दिया। व्यंग्य के क्षेत्र में इतने शिल्पगत प्रयोग किसी और वरिष्ट व्यंग्यकार ने कदाचित् कभी नहीं किए। किंतु ये प्रयोग केवल प्रयोग के लिए ही नहीं हैं। नरेन्द्र कोहली का कहना है कि प्रत्येक विषय अपने लिए एक विशिष्ट शिल्प की मांग करता है। अत: विषय की विवेचना तथा नवीन ख्रष्टि के अभाव में नए शिल्प का जन्म नहीं हो सकता। नरेन्द्र कोहली ने व्यंग्य को सदा सार्थक व्यंग्य के रूप में ग्रहण किया है। वह तीखा, गहरा और नुकीला व्यंग्य है, जिससे कभी अभिधात्मक कटाक्ष हो जाने की शिकायत तो हो सकती है, किंतु वह हल्का नहीं हो सकता। श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाओं के संकलन के साथ लेखक की व्यंग्य संबंधी एक विस्तृत भूमिका। व्यंग्य लेखन की प्रवृत्ति, सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियां, व्यंग्य के स्वरूप तथा व्यंग्य विधा पर लेखक के मौलिक स्वानुभूत विचार। व्यंग्य के शोधार्थियों के लिए महत्वपूर्ण सामग्री।

आधुनिक लड़की की पीड़ा

1978, 2000 ई.
प्रकाशक: क्रियेटिव बुक कंपनी, दिल्ली-110009

लेखक की व्यंग्य रचनाओं का चौथा संकलन। नए विषयों पर तीव्र व्यंग्यात्मक शैली में अपने समसामयिक समाज का विश्लेषण। अब यह पुस्तक उपलब्ध नहीं है। इस की सामग्री समग्र व्यंग्य (वाणी प्रकाशन)-1998 ई. में संकलित कर ली गई है। स्वतंत्र रूप से इसका अजिल्द संस्करण 2000 ई. में क्रियेटिव बुक कंपनी, दिल्ली से प्रकाशित हुआ है।

त्रासदियां

1982 ई.
प्रकाशक : राजपाल एंड संस, दिल्ली - 110006

लेखक की व्यंग्य रचनाओं का पांचवां संकलन। व्यंग्य के साथ विनोद की ओर विशेष झुकाव। अब यह संकलन स्वतंत्र रूप से उपलब्ध नहीं है। इसकी रचनाएं समग्र व्यंग्य (वाणी प्रकाशन)-1998 ई. में सम्मिलित कर ली गई हैं।

परेशानियां

1986, 2000 ई.
प्रकाशक: क्रियेटिव बुक कंपनी, दिल्ली-110009

व्यंग्य का नवीन संकलन, जिसमें हास्य और व्यंग्य के साथ कुछ उत्कृष्ट विनोदी रचनाएं भी हैं। यह पुस्तक अब उपलब्ध नहीं है। इसकी रचनाएं 'समग्र व्यंग्य' (वाणी प्रकाशन)-1998 ई. में सम्मिलित कर ली गई हैं। इसका पहला संस्करण किताबघर,

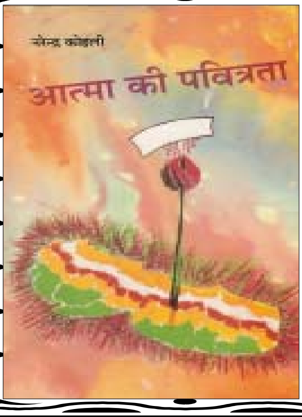

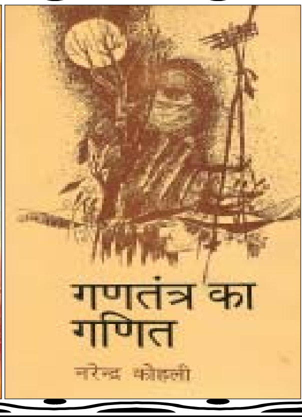

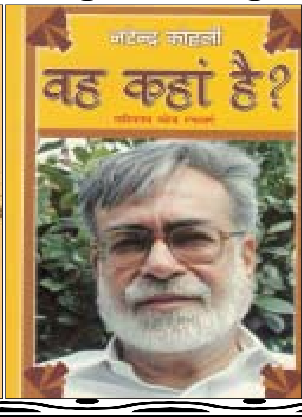

दिल्ली से 1986 ई. में प्रकाशित हुआ था। कुछ समय तक अनुपलब्ध रह कर अब सन् 2000 ई. में इसका प्रकाशन क्रियेटिव बुक कंपनी से अजिल्द संस्करण के रूप में हुआ।

समग्र व्यंग्य

1991 ई.

प्रकाशक : किताबघर, नई दिल्ली - 110002

इस पुस्तक में लेखक की 1991 ई. तक की सारी व्यंग्य रचनाएं संकलित कर दी गई हैं। पूर्वप्रकाशित व्यंग्य पुस्तकें- एक और लाल तिकोन, पांच एब्सर्ड उपन्यास, जगाने का अपराध, आश्रितों का विद्रोह, आधुनिक लड़की की पीड़ा, त्रासदियां तथा परेशानियां, इसमें सम्मिलित हैं। इस एक पुस्तक के माधयम से व्यंग्यकार नरेन्द्र कोहली के विकास और रचना संसार को सहज ही जाना और समझा जा सकता है। यह पुस्तक अब उपलब्ध नहीं है।

आत्मा की पवित्रता

1996 ई.

प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली - 110003

अनुचित, अन्यायपूर्ण अथवा गलत होते देख कर जो आक्रोश जागता है, वह अपनी असहायता में वक्र होकर, जब अपनी तथा दूसरों की पीड़ा पर हंसने लगता है, तो वह विकट व्यंग्य होता है। वह पाठक के मन को चुभलाता सहलाता नहीं, कोड़े लगाता है।

मेरी इक्यावन व्यंग्य रचनाएं

1997 ई.

प्रकाशक : डायमंड बुक्स, नई दिल्ली

कहानीकार नरेन्द्र कोहली ने 1965 ई. में व्यंग्य लिखना आरंभ किया तो वे व्यंग्यकार ही हो गए। इन बत्तीस वर्षों में नरेन्द्र कोहली ने कभी व्यंग्य की अवहेलना नहीं की। समय के साथ उनका व्यंग्य और पैना और प्रखर हुआ। अट्टहास और चकल्लस पुरस्कारों से सम्मानित नरेन्द्र कोहली के व्यंग्य लेखन में पिछले दिनों राजनीति का रंग कुछ गहरा हुआ। वे उन विसंगतियों पर भी लिखते हैं, जिसे लोगों ने देखा और भोगा तो है, किंतु उन्हें चित्रित करने का साहस नहीं कर सकते। समग्र व्यंग्य में से चुने हुए इक्यावन व्यंग्यों का संकलन। पृष्ठ-327, मूल्य तीन सौ रुपए मात्र।

गणतंत्र का गणित

1997 ई.

प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली- 110002

नरेन्द्र कोहली जीवन में ही नहीं, साहित्य में भी रूढ़ियों का विरोध करते हैं। इसीलिए वे उन विषयों पर भी लिखते हैं, जिन पर देश के प्रखर व्यंग्यकार लेखनी उठाने से कतरा जाते हैं। नरेन्द्र कोहली के लिए वे क्षेत्र भी निषिद्ध नहीं हैं, जिनमें प्रवेश करने से देश की सरकार और राजनीतिज्ञ ही नहीं, साहित्यिक प्रभु भी रुष्ट हो जाते हैं। विडंबना यह है कि समाज की विडंबनाओं का चित्रण करने वाला व्यंग्यकार स्वयं साहित्यिक विडंबनाओं का शिकार है। नरेन्द्र कोहली दूसरों की बनाई हुई रूढ़ सीमाओं में बंधा कर, फैशनेबल नारों को ध्यान में रखकर, व्यंग्य नहीं लिखते, न वे रूढ़िवादियों की स्वीकृति की चिंता करते हैं। इसीलिए उनके व्यंग्य पढ़कर पाठक यह अनुभव करता है कि वह उन विसंगतियों को पहली बार साहित्य के रूप में पढ़ रहा है, जो उसकी आंखों ने देखी तो थीं, किंतु जिन्हें शब्द देकर किसी ने भी साक्षात् नहीं किया था। वह पहली बार अपनी पीड़ा को, नरेन्द्र कोहली के शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्ति पाते देखता है और उसके साथ पूर्ण तादात्म्य का अनुभव करता है। पृष्ठ-196, मूल्य रुपए एक सौ पचास रुपए मात्र।

समग्र व्यंग्य-1, देश के शुभचिंतक

1998 ई.

प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली- 110002

1991 ई. में 'किताबघर' से समग्र व्यंग्य प्रकाशित हुआ था। उसमें 1991 ई. तक की व्यंग्य रचनाएं थीं। इधर सात वर्षों में और भी बहुत कुछ लिखा गया था। फिर किताबघर वाला संस्करण उपलब्धा भी नहीं था। अत: पुन: समग्र व्यंग्य को प्रकाशित करने की योजना बनी। उसके विस्तार को देखते हुए यह निश्चय किया गया कि एक जिल्द में उस सारी सामग्री का प्रकाशित होना सुविधाजनक नहीं होगा, अतरू उसे तीन खंडों में प्रकाशित किया जाए, ताकि समय आने पर भविष्य में लिखे जाने वाले व्यंग्य साहित्य को लेकर, समग्र व्यंग्य का चौथा खंड तैयार किया जा सके। अनासक्त विवेक जब न्याय के पक्ष में अपने आक्रोश को कलात्मक रूप में अभिव्यक्त करता है, तो व्यंग्य का जन्म होता है। व्यंग्य की आत्मा है, उसकी प्रखरता और तेजस्विता। हास-परिहास, विनोद-कटाक्ष, इत्यादि उसके सहयोगी हो सकते हैं, किंतु उनका असंतुलित प्रयोग उसकी प्रखरता की हानि भी कर सकता है, जैसे पक्षपात अथवा पूर्वाग्रह, उसके तेज को नष्ट कर देता है। विधा के रूप में व्यंग्य का केन्द्रीय रूप यद्यपि निबंध के रूप में ही उभरा है, किंतु कथा तथा काव्य के ही

समान व्यंग्य एक ऐसा तत्व है, जिससे व्यंग्य निबंध, व्यंग्य कथा, व्यंग्य उपन्यास तथा व्यंग्य नाटक का जन्म होता है।

समग्र व्यंग्य-2 त्राहि-त्राहि

1998 ई.

प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली- 110002

समग्र व्यंग्य का दूसरा खंड। इस खंड में व्यंग्य निबंधों के एक पूरे संकलन के साथ व्यंग्य उपन्यास 'आश्रितों का विद्रोह' तथा पूरी पुस्तक 'पांच एब्सर्ड उपन्यास' पृष्ठ : 298, मूल्य तीन सौ पचास रुपए मात्र।

समग्र व्यंग्य-3, इश्क एक शहर का

1998 ई.

प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली- 110002

समग्र व्यंग्य का तीसरा खंड। इसमें 1991 ई. तक की सारी व्यंग्य रचनाएं आ गई हैं। पृष्ठ-310, मूल्य : तीन सौ पचास रुपए मात्र

मेरे मुहल्ले के फूल

2000 ई.

प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली - 110003

जब साहित्य में शुद्ध व्यंग्य को अपनी जगह बनाने में कठिनाई आती है, तो जीवन में तो स्थिति और भी विषम हो उठती है। वैसे भी सच्ची बात सबको अच्छी नहीं लगती, खास तौर से जब वह बिना चाशनी के परोस दी गई हो। यह नहीं कि नरेन्द्र कोहली मीठा बोलते नहीं, पर वे मानते हैं कि जहां कहीं भी अतिरिक्त मिठास है, वहां झूठ उतना ही अधिक है। बहुत अधिक मीठा बोलने वाले समाज के तथाकथित अत्यंत शिष्ट लोगों को झूठा और मक्कार कहने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता। अपनी इसी मान्यता के कारण, उनकी प्रवृत्ति सीधी और खरी बात कह देने में अधिक है। प्रतीकात्मकता, विधायकता, तटस्थता, समग्र प्रभाव और संयम नरेन्द्र कोहली के व्यंग्य के प्रभावक तत्व हैं। अपने व्यंग्य में उन्होंने हिंदी व्यंग्य साहित्य की एकरसता को तोड़ कर उसे एक नई दिशा भी दी है। कहना असंगत नहीं होगा कि उनकी व्यंग्य रचनाएं, समकालीन जीवन में व्याप्त विसंगतियों पर जहां करारी चोट करती है, वहीं टूटते जीवन मूल्यों के रेशे-रेशे अलग करते हुए, जीवन्त मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित करने की कोशिश भी करती हैं। उनकी व्यंग्य रचनाओं के विषय में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कहना सही है कि इतना सहज भाव और ऐसी भेदक दृष्टि कदाचित ही देखने को मिलती है। अपने संपूर्ण व्यंग्य साहित्य में से स्वयं लेखक द्वारा चुनी गई एक सौ रचनाएं। पृष्ठ-505, मूल्य-दो सौ पच्चीस रुपए मात्र

समग्र व्यंग्य-4 रामलुभाया कहता है

2000 ई.

प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली- 110002

नरेन्द्र कोहली के व्यंग्यों का यह नवीन संग्रह, वक्रता और प्रखरता की अपनी परंपरा का निर्वाह करते हुए भी, उनकी पहले की व्यंग्य रचनाओं से कुछ भिन्न है। वे सदा से प्रयोगधार्मी रहे हैं। एक शिल्प को सिद्ध कर वे उसका अतिक्रमण कर आगे बढ़ जाते हैं। किसी एक प्रकार की छवि से बंधा जाना, उनको प्रिय नहीं है। इन व्यंग्यों में आपको एक ओर राजनीति की मात्र कुछ अधिक दिखाई देगी किंतु दूसरी ओर यह भी लगेगा कि वे एक सीमित परिवार की सामान्य सी कथा कह रहे हैं, जिसमें न कोई व्यंग्य है और न वक्रता। किंतु अंत आते ही रचना कोई ऐसा मोड़ ले लेती है कि परिवार और देश एक हो जाते हैं और वह कथा, पारिवारिक न होकर किसी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय स्थिति पर व्यंग्य करने लगती है। पति-पत्नी की कथा कहते-कहते वे भारत और पाकिस्तान के संबंधों पर व्यंग्य करने लगते हैं। उनकी भेदक दृष्टि पारिवारिक संबंधों से लेकर अंतर्राष्ट्रीय संबंधों तक समान रूप से विसंगतियों को चुन लेती है। पत्नी हो, भाई हो, मित्र हो या कोई पड़ौसी हो, वे अपने व्यवहार से अंतर्राष्ट्रीय स्वार्थों और स्वार्थपूर्ण संबंधों को प्रकट करते रहते हैं। वे केवल विसंगतियों पर व्यंग्य ही नहीं करते, क्षुद्रता, लोभ, स्वार्थ और विभाजक प्रवृत्तियों का खंडन करते हुए कुछ भावात्मक स्थापनाएं भी करते हैं। पृष्ठ-376, मूल्य-तीन सौ पचास रुपए मात्र

सबसे बड़ा

2003 ई.

प्रकाशक : राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6

हिंदी में हास्य व्यंग्य कम ही लिखा जाता है और इनका लेखन कुछ कठिन भी है। नरेन्द्र कोहली के ये नए व्यंग्य आज के राजनीतिक विषयों पर हैं- और नाम ले लेकर लिखे गए हैं- न केवल बहुत गहरी मार करने वाले हैं, वरन् इस विधा में नई जमीन भी तोड़ते हैं। इन्हें पढ़ना अपने आप में एक अनुभव है, जो पाठक को जकड़ कर बांधता है और उसे यह सोचने पर बाध्य कर देता है कि यदि यह सत्य है- जो वह है, यद्यपि उसकी बार-बार उपेक्षा की गई है- तो फिर इसका उपाय भी क्या है? आज की अनेक देशी विदेशी घटनाएं, और उनके साथ दैनन्दिन जीवन में घटने वाली पुलिस, भ्रष्टाचार, धर्मांतरण, सांप्रदायिकता, चुनाव, हिंदी-अंग्रेजी समस्या, क्रिकेट इत्यादि- ऊपर से सामान्य दिखने वाली, किंतु भीतर से अत्यंत जटिल घटनाएं- अत्यंत तेज नश्तर के तले अपनी वास्तविकता व्यक्त कर रही हैं। आप देखेंगे कि यह नश्तर प्राय: अन्य व्यंग्यकारों की तीखी छुरी को भोथरी सिद्ध कर रहा है। ये व्यंग्य हंसाते भी हैं, परेशन भी करते हैं, और नए ढंग से कुछ करने की प्रेरणा भी देते हैं।

वह कहां है

2003 ई.

प्रकाशक : डायमंड बुक्स, एक्स- 30, ओखला औ

यह 'सब से बड़ा सत्य' का अजिल्द संस्करण है।

समग्र व्यंग्य-5 आयोग

2005 ई.

प्रकाशक: वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-2

समग्र व्यंग्य का पांचवां खंड। नरेन्द्र कोहली के ये नए व्यंग्य आज के राजनीतिक विषयों पर हैं- और नाम ले लेकर लिखे गए हैं– न केवल बहुत गहरी मार करने वाले हैं, वरन इस विधा में नई जमीन भी तोड़ते हैं। इन्हें पढ़ना अपने आप में एक अनुभव है, जो पाठक को जकड़ कर बांधता है और उसे यह सोचने पर बाध्य कर देता है कि यदि यह सत्य है- जो वह है, यद्यपि उसकी बार-बार उपेक्षा की गई है।

12वां रमाकांत स्मृति कहानी पुरस्कार समारोह

मैं एक अजीब खिंचाव की तरह रमाकांत स्मृति कहानी पुरस्कार समारोह में लगातार शामिल होता रहा हूं। यह मेरी इमोशनल मजबूरी है। 'अक्षर' की शुरुआत में रमाकांत जी से खूब बहसें हुआ करती थीं। असहमति भी होती थी। हमें गर्व है कि हमने रमाकांत की सर्वश्रेष्ठ कहानी 'कार्लो हब्शी का संदूक' 'हंस' के शुरू में ही प्रकाशित की।

यह कहना था हस के संपादक और वरिष्ठ कथाकार राजेंद्र यादव का। वह 12वें रमाकात स्मृति कहानी पुरस्कार समारोह में मुरारी शर्मा की कहानी 'बाणमूठ' को 'हंस' में प्रकाशन के लिए अलग-अलग कारणों से चुना। संजीव को जहां गांव दिखाई पड़ता है, वह खुश हो जाते हैं, लेकिन मुझे यह कहानी विचारणीय दूसरी वजह से लगी। शुरू में मुझे लगा कि हम मनोज रुपड़ा या प्रियवंद की कहानी पढ़ रहे हैं। ये कौन-सी दुनिया मुरारी हमारी सामने रखना चाहते हैं। ऐसी सारी कहानियां व्यक्ति केंद्रित होती हैं और अतीत से बाहर नहीं निकलतीं। ये वो दुनिया है जिसे वह छोड़ना नहीं चाहते हैं। निर्मल वर्मा से मेरी शिकायत रही है कि उनके पास दो-तीन पात्र ही हैं। इतनी खूबसूरत भाषा है, लेकिन सिर्फ अतीत है उनके पास। ये भविष्यहीन कहानियां हैं। निर्मल ने एक बार टाईम्स ऑफ इंडिया में कहा था कि एक मौका भाजपा को भी मिलना चाहिए। वहां अतीत की महानता बताई जाती है। जिन समाजों के अतीत इतने महान हैं, वे आज सबसे पतित समाज हैं। हिंदी साहित्य बहुत दिनों तक अतीत में भटकता रहा है। आज लेखन में नई ताकतें आकर जुड़ी हैं। ऐसी ताकतें, जिनका अतीत शर्म का है, यातना भरा। चाहे वह अतीत स्त्रियों का हो या दलितों का।

राजेंद्र जी ने यह मजाक भी किया कि 'बाणमूठ' का अंतिम हिस्सा पढ़ते हुए मुझे लगा कि यह जादू टोने की ही कहानी नहीं है। उस बच्चे को उस वक्त भी चीजें हॉंट करती रहीं और जब उसे 'बाणमूठ' से मुक्ति मिली तो वह बाहर की दुनिया से जुड़ा। इस अर्थ में यह कहानी एक सामाजिक भय और संत्रास में बदल जाती है। एक भयानक नरक में आकर गिरने वाली है ये कहानी। यहां सवाल ये उठता है कि क्या इस यात्रा का यह सही लक्ष्य था। पढ़ चुकने के बाद मुझे लगा कि यह तो अद्भुत कहानी है। गांव से जड़ता की मुक्ति की।

राजेंद्र जी ने यह मजाक भी किया कि इस पुरस्कार के लिए 'हंस' का नंबर काफी देर से आया है। प्रारंभ में रमाकांत स्मृति कहानी पुरस्कार समिति की ओर से अनुराग श्रीवास्तव ने अतिथियों को मंच पर आमंत्रित करते हुए रमाकांत जी की स्मृति को नमन किया। संयोजक महेश दर्पण ने बताया कि अब तक इस पुरस्कार के तहत 11 कथाकार पुरस्कृत हो चुके हैं– नीलिमा सिन्हा, अजय प्रकाश, कृपाशंकर, मुकेश वर्मा, नीलाक्षी सिंह, सूरजपाल चौहान, पूरन हार्डी, अरविंद कुमार सिंह, नवीन नथानी, योगेंद्र आहूजा और उमा शंकर चौधरी। अब तक दो निर्णायक मंडलों का कार्यकाल रहा है। आगामी निर्णायक मंडल के सदस्य हैं– डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, असगर वजाहत और दिनेश खन्ना। 2010 के पुरस्कार का निर्णय करेंगे डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी। रमाकांत जी के कॉफी हाऊस के मित्र डॉ. वीरेंद्र सक्सेना ने कहा, रमाकांत और भीष्म साहनी प्रेमचंद की परंपरा के लेखक थे। शिल्प पर अधिक नहीं, कथ्य पर जोर देते थे। उनसे 25 बारह खंभा रोड और सामयिक प्रकाशन में मुलाकातें होती थीं। वह विष्णु प्रभाकर की तरह नए लेखकों की खूब मदद करते थे। उन्हें इस बात की पूरी खबर रहती थी कि कौन क्या लिख रहा है। उन पर केंद्रित पुस्तक स्मृतियों में रमाकांत का तो अब नया संस्करण आना चाहिए। उनके समग्र लेखन का प्रकाशन भी एक साथ होना चाहिए।

अस्वस्थता के चलते इस पुरस्कार के निर्णायक डॉ. विजय मोहन सिंह के न पाने पर उनका वक्तव्य पढ़ा युवा कहानीकार युवा कहानीकार ज्योति चावला ने। डॉ. सिंह ने 'बाणमूठ' पर एक नजर शीर्षक से अपनी टिप्पणी में बताया कि यह कहानी आदिम युग और आज के युग के बीच हुए परिवर्तनों की तुलना करती है। पहले किसी 'बाणमूठ' के अभिशाप से एक भैंसे की बलि किसी ग्राम को मुक्त कर देती थी पर आज विश्व ग्राम को कौन बाणमूठ मुक्त करेगा?

पुरस्कृत कथाकार मुरारी शर्मा के मित्र और कवि सुरेश सैन निशांत ने बताया कि वह मुरारी के लेखन के साक्षी रहे हैं। राजेंद्र जी द्वारा पुरस्कृत किए जाने के बाद मुरारी शर्मा ने कहा : अपनी कहानियों के किरदार मेरे बहुत करीब रहे हैं। बतौर पत्रकार, इन घटनाओं और त्रासदियों के साथ मेरा करीबी नाता रहा है। इन्होंने मेरे अंदर जो खलबली मचाई, उसने कई कहानियों को जन्म दिया। कोई रचना पुरस्कार पाने के लिए नहीं लिखी जाती, लेकिन मेरे लिए रमाकांत स्मृति पुरस्कार पाना गर्व की बात है।

इस अवसर पर एक चित्र प्रदर्शनी लगाई गई और स्मारिका 'कथापर्व' का लोकार्पण भी किया गया। हर बार की तरह इस बार भी पंकज बिष्ट, चित्रा मुद्‌गल, विष्णु चंद शर्मा, हिमांशु जोशी, डॉ. राम किशोर द्विवेदी, सुरेश उनियाल, हरिपाल त्यागी, क्षितिज शर्मा, हरि नारायण, गौरी नाथ, लीलाधर मंडलोई, देवेंद्रराज अंकुर, जगदीश चंद्रिकेश, प्रदीप पंत, केवल गोस्वामी, सत सोनी, सुरेश शर्मा, सुषमा जगमोहन, संजीव, विश्वनाथ त्रिपाठी, विष्णु नागर, काजल पांडे और अनेक साहित्य प्रेमियों सहित कुछ रमाकांत पुरस्कार प्राप्त कथाकार भी उपस्थित थे।

– विजय श्रीवास्तव

व्यंग्य को आलोचना की बैसाखी की जरूरत नहीं– के.पी. सक्सेना

'अट्टहास' शिखर सम्मान इस बार हिन्दी व्यंग्य के वरिष्ठ हस्ताक्षर डॉ. शेरजंग गर्ग को एवं युवा सम्मान संजय झाला को दिया गया तथा हरिशंकर परसाई पुरस्कार से सुश्री अलका पाठक को विभूषित किया गया। इस अवसर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी सम्पन्न का आयोजन किया गया जिसका विषय था– हिन्दी व्यंग्य साहित्यिक आलोचना की परिधि से बाहर तो है? इस विषय पर विचार गोष्ठी में यह निष्कर्ष निकला कि व्यंग्यकारों को आलोचना की चिन्ता न करते हुये विसंगतियों के विरूद्ध हस्तक्षेप की चिन्ता करनी चाहिये, क्योंकि वैसे भी अब व्यंग्य को आलोचना की बैसाखी की जरूरत नहीं। राष्ट्रीय संगोष्ठी की शुरूआत प्रख्यात व्यंग्यकार के.पी. सक्सेना की चर्चा से शुरू हुयी। श्री सक्सेना का कहना था कि हिन्दी आलोचना को अब व्यंग्य विधा को गंभीरता पूर्वक लेना चाहिये। उन्होंने यह भी कहा कि अब व्यंग्य को आलोचना की बैसाखी की जरूरत नहीं है। व्यंग्य लेखन अपने उस मुकाम पर पहुंच गया है जिसमें राजनीति, समाज एवं शिक्षा जैसे सभी पहलुओं को अपने दायरे में ले लिया है अब वह किसी आलोचना का मोहताज नहीं है। यह गोष्ठी राय उमानाथ बली प्रेक्षागार के जयशंकर प्रसाद सभागार में आयोजित की गयी थी जिसमें देश गिरीश पंकज, अरविन्द तिवारी, बुद्धिनाथ मिश्र, सुश्री विद्यबिन्दु सिंह, डा. महेन्द्र ठाकुर, वाहिद अली वाहिद, अरविन्द झा, सौरभ भारद्वाज, आदित्य चतुर्वेदी, पंकज प्रसून, श्रीमती इन्द्रजीत कौर नरेश सक्सेना, महेश चन्द्र द्विवेदी, एवं अन्य प्रमुख लेखकों ने अपने विचार प्रकट किए। गोष्ठी का समापन माध्यम के महामंत्री श्री अनूप श्रीवास्तव के धन्यवाद प्रकाश से हुआ। इससे पूर्व संस्था के उपाधयक्ष श्री आलोक शुक्ल ने आशा प्रकट की कि प्रस्तुत संगोष्ठी के माध्यम से व्यंग्य लेखन को उसका आपेक्षित सम्मान मिल सकेगा। अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में उत्तर प्रदेश भाषा संस्थान के कार्यकारी अध्यक्ष और सुविख्यात व्यंग्यकार श्री गोपाल चतुर्वेदी ने कहा कि व्यंग्यकार लेखन करते रहें एक न एक दिन आलोचना उनकी ओर आकर्षित होगी। उन्होंने नये व्यंग्यकारों से आग्रह किया कि वे समाज की बेहतरी के लिये लिखते रहें और आलोचना की परवाह न करें। अट्टहास शिखर सम्मान से कल नवाजे गये डा. शेरजंग गर्ग का कहना था कि आज जितने भी व्यंग्यकार स्थापित हैं वे अपनी गंभीर लेखनी के कारण ही प्रतिष्ठित हैं। आलोचकों की कृपा पर नहीं हैं। हिन्दी संस्थान के निदेशक डा. सुधाकर अदीब का कहना था अगर व्यंग्य लेखन में गुणवत्ता का ध्यान रखा जाय तो हमें आलोचना से घबराना नहीं चाहिये। श्री महेश चन्द्र द्विवेदी का कहना था कि हास्य और व्यंग्य अलग-अलग हैं इनको परिभाषित करने की आवश्यकता है। श्री सुभाष चन्दर का कहना था कि व्यंग्य लेखन को दोयम दर्जे का साहित्य समझा जाता रहा है लेकिन हिन्दी के संस्थापक सम्पादक स्व. बाल मुकुन्द गुप्त ने लिखा है कि मैंने व्यंग्य के माध्यम से लोहे के दस्ताने पहनकर अंग्रेज नाम के अजगर के मुंह में हाथ डालने का प्रयास किया था। आवश्यकता इस बात की है कि हम व्यंग्य के सौन्दर्य शास्त्र को समझें और आलोचना की समग्र पक्षों के अनुरूप व्यंग्य लेखन का विकास हो। हरिशंकर परसाई पुरस्कार से विभूषित सुश्री अलका पाठक ने कहा– व्यंग्य की आलोचना अनुचित है हम असंभव लेखन को भी संभव करके अपनी उपस्थिति दर्ज करवाते हैं। श्री अरविन्द तिवारी का कहना था कि व्यंग्य के माध्यम से हम आम जनता का ध्यान तमाम विषयों पर दिला पाते हैं। श्री बुद्धिनाथ मिश्र ने कहा– व्यंग्य कोई नयी विधा नहीं है विदूषकों की परम्परा रही है। व्यंग्य को निंदारस मानना गलत होगा। वास्तव में यथार्थ की विद्रूपता पर आक्रोश व्यंग्य के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। श्री गोपाल मिश्र का कहना था कि अच्छा व्यंग्य छोटा साहित्य होता है अतः इसे परिभाषित करने की आवश्यकता नहीं है। डा. महेन्द्र ठाकुर का कहना था कि हम व्यंग्यकार हैं और हमें अपने साहित्यिक शिल्प को मजबूत करने की आवश्यकता है। श्री वाहिद अली वाहिद का कहना था कि व्यंग्य हमारी परम्परा में रहा है और नई पीढ़ी को इसे आगे बढ़ाना चाहिए। श्री रामेन्द्र त्रिपाठी का कहना था कि व्यंग्यकार मूलतः आलोचक ही है इसकी लोकप्रियता ही इसकी सफलता का मापदण्ड बनता है। श्री आदित्य चतुर्वेदी के विचार मे समाज के सुधार में व्यंग्य की प्रमुख भूमिका है। श्री भोलानाथ अधीर के विचार में लेखक का दायित्व है कि वह समाज की कमियों को उजागर करे और उन पर प्रहार करे इसके लिए व्यंग्य एक सशक्त माध्यम है।

प्रस्तुति– अनूप श्रीवास्तव

हिंदी साहित्य के लिए बेवसाइट

हिंदी पुस्तकों को बिना किसी शुल्क के डाउनलोड करने के लिए एक नया बेवसाइट शुरू किया गया है– http://kitabghar.tk इस साइट पर फिलहाल देवकीनंदर खत्री, प्रेमचंद, महादेवी वर्मा, यशपाल, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, गुलजार आदि की पुस्तकें उपलब्ध हैं। बंकिम चंद्र, शरत चंद्र आदि विख्यात लेखकों का हिंदी में अनुदित साहित्य भी डाउनलोड किया जा सकता है।

'कौन कुटिल खल कामी' पुरस्कृत

मोगा, पंजाब की संस्था ने दिल्ली की प्रसिद्ध साहित्यिक संस्था 'शब्दसेतु' के तत्वावधान में आयोजित एक भव्य कार्यक्रम में प्रसिद्ध व्यंग्यकार प्रेम जनमेजय की कृति 'कौन कुटिल खल कामी' को दसवें 'लीलारानी स्मृति पुरस्कार' से सम्मानित किया। कार्यक्रम की अध्यक्षता डॉ. हरीश नवल ने की तथा कार्यक्रम के विशिष्ट अतिथि नेशनल बुक ट्रस्ट में संपादक, डॉ. बलदेव सिंह बद्दन थे। कार्यक्रम में दिविक रमेश, प्रताप सहगल, गिरीश पंकज, एवं लालित्य ललित ने प्रेम जनमेजय के रचना कर्म तथा व्यक्तित्व पर अपने विचार व्यक्त किए। आरंभ में पुरस्कार-समिति के अध्यक्ष के.एल. गर्ग ने 'कौन कुटिल खल कामी'

की समाकलीन हिंदी व्यंग्य साहित्य में विशिष्टता को रेखांकित किया तथा बताया कि इससे पूर्व यह पुरस्कार रवींद्रनाथ त्यागी, ज्ञान चतुर्वेदी, गिरीश पंकज, आदि को दिया जा चुका है। अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में हरीश नवल ने समाकलीन व्यंग्य परिदृश्य का विस्तृत विश्लेषण करते हुए उसमें प्रेम जनमेजय के व्यंग्य-रचना-कर्म एवं 'व्यंग्य यात्रा' के संपादक के रूप में उनके विशिष्ट योगदान की चर्चा की।

इस अवसर पर डॉयमंड पॉकेट बुक्स द्वारा प्रकाशित प्रेम जनमेजय के सद्य: प्रकाशित संकलन 'इक्यावन श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं', डॉ. बलदेव सिंह बद्दन एवं धर्मपाल सिंघल की पुस्तक 'गुरु रविदास जी की सटीक वाणी' तथा के.एल. गर्ग द्वारा संपादित 'हास्य-चालीस' का लोकार्पण भी किया गया। इस कार्यक्रम में सुरेश धींगडा, सुभाष चंदर, श्रवणकुमार उर्मालिया, शशि सहगल, गौरव त्रिपाठी, हर्षवर्धन आर्य, आस्था, स्नेह सुधा, आशा कुंद्रा, समेत अनेक साहित्य प्रेमियों ने भाग लिया । कार्यक्रम का कुशल संचालन डॉ. रवि शर्मा एवं धन्यवाद ज्ञापन डॉ हरीश अरोड़ा ने किया।

–रवि शर्मा, सचिव 'शब्दसेतु'

'स्मरण हबीब तनवीर' का आयोजन

हबीब कभी हार न मानने वाले इंसान थे। संकल्पों के लिए निरंतर लड़ते रहना उनकी खासियत थी। उन्होंने अपने नाटकों में हिन्दू और मुसलमान कट्टरपंथियों पर करारा प्रहार किया। वह मानवता के जबर्दस्त हिमायती थे। इसलिए हमेशा सत्ता विरोधी विषयों पर नाटक रचते रहे। ये बातें रंग समीक्षक और 'रंग हबीब' पुस्तक के लेखक भारत रतन भार्गव ने महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के क्षेत्रीय केन्द्र में आयोजित कार्यक्रम 'स्मरण: हबीब तनवीर' में कहीं। उन्होंने कहा कि हबीब सैद्धांतिक नाटककार थे, व्यावसायिक नहीं। अंग्रेजों के आने के बाद भारती रंगकर्मी अपनी परम्परा, संस्कृति और विशिष्टता से विमुख हाते चले गए किंतु हबीब तनवीर ने हमेशा अपनी मिट्टी की सोंधी महक और आस-पास के माहौल से सीखा। कार्यक्रम के अध्यक्ष वरिष्ठ नाट्यकर्मी अजित पुष्कल ने कहा कि सृजनात्मकता का क्षेत्रीयता से बहुत गहरा नाता है, गरीब गांवों में भारतीय संस्कृति बसती है, हबीब ने इसे हमेशा अपने जेहन में रखा और पात्रों के माध्यम से थियेटर की भाषा गढ़ी। रंगकर्मी के क्षेत्र में पैदा हुई है, उसे पूरा होने में समय लगेगा। नाट्यकर्मी नंदन हितैषी ने कहा कि हबीब तनवीर को याद करने का मतलब दलित शौर्य और वनवासी स्थितियों को याद करना है। महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के विशेष कर्तव्य अधिकारी (संस्कृत) एवं नाट्य लेखक श्री राकेश ने कहा कि हबीब तनवीर ने हमेशा हाशिए के लोगों को वकालत की। वह अन्याय और शोषण के खिलाफ डटकर खड़े रहने वाले रंगकर्मी थे। कार्यक्रम के संचालन क्षेत्रीय केन्द्र के निदेशक संतोष भदौरिया ने किया।

इस अवसर पर सुधन्वा देशपांडे की फिल्म 'गांव का नाव थियेटर मोर नाव हबीब' का भी प्रदर्शन किया गया।

शरद जोशी की रचनाओं पर आधारित सीरियल

शरद जोशी की व्यंग्य रचनाओं के आधार पर अश्विनी धीर एक टीवी सीरियल बना रहे हैं, जिसका नाम है- लापतागंज। इसका निर्देशन स्वर्गीय जोशी के मित्र मंजुल सिन्हा कर रहे हैं। धारावाहिक की पटकथा एक गांव के इर्द-गिर्द घूमती है। मंजुल सिन्हा ने अस्सी के दशक में बेहद लोकप्रिय टीवी धारावाहिक 'ये जो है जिंदगी' के पटकथा लेखन में शरद जोशी के साथ सहयोग किया था।

हिंदी अकादमी का कार्यक्रम

नई दिल्ली। त्रिवेणी सभागार में हिंदी अकादमी द्वारा 'कथासमुच्चय' श्रृंखला कार्यक्रम के अंतर्गत तीन कहानीकारों के कहानी-पाठ का आयोजन किया गया। संजीव, चंद्रकांता और बलराम ने अपनी कहानियों को पाठक किया। पठित कहानियों पर वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. विजयमोहन सिंह ने कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए अपने विचार रखे। इस अवसर पर डॉ. विजय मोहन सिंह ने बलराम के 'गोवा में तुम' शीर्षक कहानी-संग्रह का विमोचन भी किया।

त्रिवेणी सभागार में अकादमी द्वारा आयोजित एक कार्यक्रम में हाथरस शैली में 'इंदल हरण' नौटंकी का मंच किया गया। शिकोहाबाद की कृष्णा माथुर और उनके साथियों द्वारा मंचित इस नौटंकी के माध्यम से आल्हा-ऊदल की वीरता, उनसे उनके मामा माहिल द्वारा छलपूर्वक बदला लेने की कुटिल चालों, आल्हा के बेटे का अपहरण आदि का मंच-प्रदर्शन किया गया। नौटंकी की शुरुआत परंपरा के अनुसार 'भेंट' गायन से हुई। नौटंकी की प्राचीन और वर्तमान स्थिति पर चर्चा करते हुए डॉ. मुकेश गर्ग ने कहा कि यह विधा खत्म होने के कगार तक पहुंच चुकी है, इसलिए इसे बचाने की दिशा में अकादमी का यह प्रयास सराहनीय है।

बाल-साहित्य में स्वप्न-चित्र

नई दिल्ली। नेशनल बुक ट्रस्ट के सभागार में ट्रस्ट के राष्ट्रीय बाल-साहित्य केंद्र की ओर से 'वर्तमान बाल-साहित्य में स्वप्न-चित्र की प्रासंगिकता' विषय पर एक सेमिनार का आयोजन किया गया। सेमिनार की शुरुआत करते हुए ट्रस्ट की निदेशक नुजहत हसन ने कहा कि हम सभी स्वप्न-चित्र के बारे में सोचते हैं और हमें स्वप्न-चित्र को समझने की कोशिश भी करनी चाहिए। लेखक मनोज दास ने कहा कि स्वप्न-चित्र एक आनंददायक अनुभव है, जो हमें नकारात्मक परिस्थितियों से जूझने के लिए हमारे मस्तिष्क को विश्राम देता है। सेमिनार का संयोजन केंद्र के मानसरंजन महापात्र ने किया।

भारती बंधुओं का कबीर पद गायन

नई दिल्ली। हिंदी भवन के सभागार में पुरुषोत्तम हिंदी भवन न्यास समिति द्वारा न्यास की आजीवन न्यासी कवयित्री स्वर्गीय इंदु गुप्ता की स्मृति को समर्पित 'कबीर-तेज

अनंत' शीर्षक कार्यक्रम के अंतर्गत रायपुर (छत्तीसगढ़) के कबीर वाणी के प्रख्यात गायक भारती बंधुओं द्वारा कबीर के पदों के गायन का आयोजन किया। भारती बंधु कबीर के पदों को जिस लय और ताल के साथ गाते हैं वह श्रोताओं पर जादू की तरह छा जाता है। 'मन लगा मेरा यार फकीरी में' से गायन आरंभ करने से पूर्व फकीर की व्याख्या करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के कथन कि 'कबीर सिर से पैर तक मस्त फकीर थे' को उद्धृत कियां 'तू ही तू', 'जरा धीरे-धीरे हांको मेरे राम गाड़ी वाले', 'मेरे नयना में राम रंग छाय रहा हो' तथा 'भजन में लगे रहना भाई रे' आदि रचनाओं का गायन कर उन्होंने पूरे सभागार को कबीरमय बना दिया।

मंच का संचालन डॉ. दिविक रमेश ने किया। डॉ. निर्मला जैन ने भारती बंधुओं का स्वागत किया। भवन के मंत्री गोविंद व्यास ने आभार प्रदर्शन किया।

17वां अखिल भारतीय हिंदी सम्मेलन

गाजियाबाद। स्थानीय हिंदी भवन में प्रतिवर्ष की भांति इस वर्ष 17वां अखिल भारतीय हिंदी साहित्य समारोह का आयोजन किया गया। आयोजन में उ.प्र. भाषा संस्थान, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद तथा नेशनल बुक ट्रस्ट ने अपना विशिष्ट आयोजन दिया।

दो दिवसीय आयोजन में भाषा, साहित्य, संस्कृति और संस्कार पर व्यापक चर्चा हुई जिसमें देश भर से आए हिंदी विद्वानों ने अपने विचार रखे। समारोह में अनेक विद्वानों को सम्मानित किया गया। समारोह का आयोजन व संचालन उमाशंकर मिश्र ने किया।

सूरीनाम का हिंदी साहित्य

नई दिल्ली। साहित्य अकादमी के सभागार में अकादमी ने अपनी एक नई कार्यक्रम श्रृंखला 'प्रवासी मंच' के अंतर्गत 'सूरीनाम का हिंदी और सारनामी साहित्य' पर व्याख्यान का आयोजन किया। भारत-यात्रा पर आईं नीदरलैंड के हिंदी यूनिवर्स फाउंडेशन की निदेशक पुष्पिता अवस्थी ने अपने व्याख्यान में इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला। कार्यक्रम की अध्यक्षता विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने की।

राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत हुए डॉ. स्वर्णकार

नई दिल्ली के विशाल विज्ञान भवन में महामहिम राष्ट्रपति जी के मुख्य आतिथ्य और केन्द्रीय गृहमंत्री पी. चिदम्बरन की अध्यक्षता में आयोजित एक भव्य समारोह में दमोह क्षेत्र के चिकित्सव और 'राजपाल एण्ड संज़' के लेखक डी. प्रेमचंद स्वर्णकार को उनकी पुस्तक 'संतुलित भोजन' के लिए महामहिम प्रतिभा देवीसिंह पाटिल ने 'राजीव गांधी ज्ञान-विज्ञान सम्मान' से सम्मानित किया। विज्ञान भवन के विशाल प्लेनरी हाल में लगभग दो हजार विशिष्ट आमंत्रितों को संबोधित करते हुए महामहिम राष्ट्रपति ने पुरस्कृत लेखकों को बधाई दी और कहा कि वे लेखन के माध्यम से हिंदी को और भी समृद्ध भाषा बनाएंगे। उन्होंने अधिकाधिक कार्य राजभाषा हिंदी में करने पर बल दिया।

समारोह के अध्यक्ष गृहमंत्री पी. चिदम्बरम ने अपने संबोधन में कहा कि हिंदी ही ऐसी भाषा है जिसे देश का अधिकांश जनमानस समझता है। हमारे देश ने विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में अभूतपर्वू प्रगति की है।

'समाज को बदलने वाले महान लेखक थे वी.पी.'

पूर्व प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह गरीब-पिछड़ों के मसीहा और समाज को बदलने वाले महान लेखक थे। उन्होंने कलम की ताकत से सदैव समाज और देश को बदलने का काम किया। वे जितने अच्छे लेखक थे, उतने ही अच्छे कवि और चित्रकार भी।

ये कहना है हिंदी के प्रख्यात समालोचक प्रो. नामवर सिंह का। वे विगत 27 नवंबर

को पटना के तारामण्डल सभागार में अशोक कुमार सिन्हा की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'वी.पी. सिंह: सफर और संघर्ष' को लोकार्पण कर रहे थे। समारोह की अध्यक्षता बिहार सरकार के ग्रामीण विकास मंत्री भगवान सिंह कुशवाहा ने की, जबकि संचालन कवि-समालोचक डॉ. शिवनारायण ने किया।

इस अवसर पर लोकार्पित पुस्तक की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए प्रो. नामवर सिंह ने कहा कि पहली बार पूर्व प्रधानमंत्री वी.पी. सिंह के समग्र व्यक्तित्व का मूल्यांकन उस भूमि के लेखक ने किया, जहां से भारत को आजादी दिलाने के लिए 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में अनेक क्रांतिकारियों ने भागीदारी निभायी थी।

इस अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में बिहार सरकार के ग्रामीण विकास मंत्री श्री भगवान सिंह कुशवाहा ने कहा कि वी.पी. सिंह जीवन के अंतिम क्षण तक समाज के सबसे कमजोर वर्गों के अधिकार और उत्थान के लिए लड़ते रहे।

आरंभ में अतिथियों का स्वागत करते हुए लोकार्पित पुस्तक के लेखक अशोक कुमार सिन्हा ने कहा कि मेरी पुस्तक 'वी. पी. सिंह : सफर और संघर्ष' में केवल वी.पी. सिंह के प्रेरक व्यक्तित्व के विविध आयामों को ही समझने की कोशिश नहीं है, बल्कि कला, साहित्य और राजनीति के क्षेत्र में इनके जीवनकर्म का मूल्यांकन भी किया है।

इस अवसर पर विधान पार्षद प्रो. नवल किशोर, विधायक हृदयनारायण सिंह, 'नई धारा' के संपादक डॉ. शिवनारायण, चर्चित कथाकार रामधारी सिंह दिवाकर, कवि श्री राम तिवारी, कवि अरूण कमल आदि ने भी लोकार्पित पुस्तक और लेखक की भूरी-भूरी सराहना की। आयोजन में वी.पी. सिंह की पत्नी श्रीमती सीता सिंह के भेजे गए पत्र का वाचन रीना रानी ने किया।

समारोह का समापन वरिष्ठ पत्रकार

डॉ. ध्रुव कमार ने धन्यवाद ज्ञापन से हुआ।

प्रस्तुति- समन्वय आनंद

राजेंद्र अवस्थी

प्रतिष्ठित साहित्यकार राजेंद्र अवस्थी का 30 दिसंबर को निधन हो गया। वे 79 वर्ष के थे और लंबे समय से बीमार थे। वे तीस वर्ष तक 'कादबिंनी' के संपादक रहे। उन्होंने 11 उपन्यासों, 8 कहानी संग्रहों, तथा विविध विषयों पर अनेक पुस्तकों का सृजन किया। 'काल चिंतन' के नाम से उनके संपादकीय विचारोत्तेजक होते थे।

धर्मशाला में नेशनल बुक ट्रस्ट

धर्मशाला (हिमाचल प्रदेश) में आयोजित पुस्तक का लोकार्पण एवं संगोष्ठी का आयोजन नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया ने स्थानीय बचत भवन में किया।

इस अवसर पर ट्रस्ट द्वारा हिमाचल प्रदेश के दो चर्चित रचनाकारों द्वारा तैयार की गई चार पुस्तकों का लोकार्पण पूर्व चुनाव आयुक्त व शिक्षाविद श्री कृष्णचंद्र शर्मा ने किया। इस अवसर पर श्री कृष्णचंद्र शर्मा ने कहा- नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया एक वाहन है हमारी भव्य, व्यापक विचार संपदा को प्रकाशन के माध्यम से जन-जन तक लाने का। यह कार्य इस प्रकाशन संस्था ने बखूबी निभाया है। इस पर पूर्व ट्रस्ट के सहायक संपादक डॉ. ललित किशोर मंडोरा ने राष्ट्रीय पुस्तक सप्ताह व ट्रस्ट के प्रकाशन व गतिविधियों पर विस्तार से चर्चा की। लोकार्पित पुस्तकें थीं- हिमाचली लोकथा (संपा. प्रत्यूष गुलेरी), दादी की दिलेरी (प्रत्युष गुलेरी), बालगीत (प्रत्युष गुलेरी), चंद्रधर शर्मा गुलेरी की चर्चित कहानियां (संयु. संपा. पीयूष गुलेरी एवं प्रत्यूष गुलेरी)

लोकार्पित पुस्तकों पर अपना आलेख पढ़ते हुए साहित्य अकादमी के सदस्य डॉ. सुदर्शन वशिष्ठ ने कहा- ट्रस्ट द्वारा हिमाचली में पुस्तकों का प्रकाशन किया गया। इसके लिए यह संस्था बधाई की पात्र है।

कार्यक्रम के दूसरे चरण में संगोष्ठी का विषय था- 'मौजूदा दौर में मुद्रित शब्द का भविष्य' इस अवसर पर हिमाचल प्रदेश सरकार के संयुक्त सचिव, प्रशासनिक सुधार

प्रणाम

प्रभाष जोशी

नई दिल्ली। हिंदी पत्रकारिता के समाकलीन शिखर पुरुष प्रभाष जोशी का 5 नवंबर की रात क्रिकेट मैच देखते-देखते हृदयाघात से निधन हो गया। वह 73 वर्ष के थे। उनकी पार्थिव देह को विमान से उनके गृह-नगर इंदौर ले जाया गया, जहां अंतिम संस्कार किया गया। इंदौर से निकलने वाले हिंदी दैनिक 'नई दुनिया' से अपनी पत्रकारिता शुरू करने वाले प्रभाष जोशी, राजेंद्र माथुर, शरद जोशी के समकक्ष थे। उनका साप्ताहिक स्तंभ 'कागद कारे' रचना संसार और शब्द संस्कार की मिसाल है। उन्होंने पत्रकारिता के नैतिक मूल्यों को नई ऊंचाइयां दीं।

प्रो. कुंवरपाल सिंह

अलीगढ़। हिंदी के मूर्धन्य समालोचक प्रो. कुंवरपाल सिंह का 8 नवंबर को देहांत हो गया। उनकी इच्छा के अनुसार उनके पार्थिव शरीर को मेडिकल छात्रों के लिए जे.एन. मेडिकल कॉलेज को सौंप दिया गया। हाथरस जनपद में जन्मे प्रो. सिंह ने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से एम.ए. (हिंदी) तथा पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की और उनकी यहीं विश्वविद्यालय में व्याख्याता के पद पर नियुक्ति हुई, जहां 1977 में रीडर और 1985 में प्रोफेसर बने और यहीं से सेवानिवृत्त हुए। डॉ. सिंह जाने-माने साहित्यिक, समाजवादी, सकारात्मक विचारवान समीक्षक थे।

कमला सांकृत्यायन

दार्जिलिंग। महापंडित राहुल सांकृत्यायन की पत्नी कमला सांकृत्यायन का 25 अक्टूबर को निधन हो गया। नेपाली मूल की कमला जी पांचवें दशक में राहुल जी के संपर्क में आईं और उच्चशिक्षा प्राप्त कर उन्होंने राहुल जी से विवाह किया। राहुल जी की मृत्यु के बाद उन्होंने दार्जिलिंग को अपना निवास बना वहीं के लोरेटो कॉलेज में अध्यापन कार्य कर उन्होंने कई पुरस्कार भी प्राप्त किए और राहुल सांकृत्यायन की कई कृतियों को संपादित किया।

प्रो. रामचंद्र शर्मा

नई दिल्ली। सुप्रसिद्ध भूगोलविद् एवं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के पूर्व प्राध्यापक प्रो. रामचंद्र शर्मा का 14 नवंबर को निधन हो गया। वह 78 वर्ष के थे। प्रो. शर्मा प्रसिद्ध लेखिका नासिका शर्मा के पति थे। अजमेर में जन्मे रामचंद्र शर्मा ने राष्ट्रीय व वैश्विक स्तर के मरुस्थलों पर महत्वपूर्ण कार्य किया था। उनके द्वारा लिखित 'ओशनोग्राफी' प्रसिद्ध पुस्तक है। भूगोलवेत्ता के रूप में उन्होंने 25 पुस्तकों का संपादन भी किया है।

एवं साहित्यिक पत्रिका 'सेतु' के संपादक सुपरिचित लेखक डॉ. देवेंद्र कुमार गुप्ता ने कहा, 'शब्द किसी भी भाषा की सबसे महत्वपूर्ण सार्थक स्वतंत्र ईकाई के रूप में स्वीकार्य है। संस्कृत, ग्रीक लैटिन सभ्यता, ईसाइयत में शब्द को ईश्वर, ब्रह्म व क्रिएटिव जिनीयस का दर्जा दिया गया है।

हिमाचल प्रदेश के वरिष्ठ लेखक व आलोचक डॉ. सुशील कमार फुल्ल ने कहा– पुस्तकें हमें बड़ा बनाती हैं, हमें दूसरों की संस्कृति को समझने में मदद करती है और हमें पैरों पर खड़ा करने को तैयार करती है।

कार्यक्रम में धर्मशाला शहर के पत्रकार, बुद्धिजीवी, साहित्यकारों सहित छात्र-छात्राओं ने रूचि ली और हिस्सेदारी की। इस एक दिवसीय कार्यक्रम का संचालन ट्रस्ट के सहायक संपादक, डॉ. ललित किशोर मंडोरा ने किया।

प्रस्तुति- ललित किशोर मंडोरा

ग्यारहवां आचार्य निरंजननाथ सम्मान युवा कवि डॉ. शैलेय को

साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका 'संबोधन' के सौजन्य से ग्यारहवां आचार्य निरंजननाथ सम्मान हिंदी के सुप्रसिद्ध यशस्वी कवि डॉ. शैलेय को उनके चर्चित कविता संग्रह 'या' पर प्रदान किया गया।

डॉ. शैलेय को वरिष्ठ साहित्यकार मधुसूदन पांड्या ने शॉल एवं श्रीफल, समारोह के मुख्य अतिथि प्रो. नंद चतुर्वेदी ने प्रशस्ति पत्र, विशिष्ट अतिथि डॉ. महेंद्र भानावत ने श्रीजी का प्रसाद, कमर मेवाड़ी ने साहित्य, समारोह के अध्यक्ष डॉ. भगवतीलाल व्यास ने स्मृति चिन्ह, एम.डी. कनेरिया ने श्रीनाथ जी का बीडत्र एवं चित्र तथा कर्नल देशबंधु आचार्य ने इक्कीस हजार रुपए की सम्मान राशि भेंट कर सम्मानित किया।

आचार्य निरंजननाथ जी के मित्र, निकट सहयोगी श्री पूर्णचंद बड़ाला ने उल्लेख किया कि श्री आचार्य स्वाभव से विद्रोही थे। उन्होंने आजादी के पूर्व नाटक, कविताएं एवं लोकगीत लिखकर एवं स्वयं गाकर सामंतों एवं जागीदारों के विरुद्ध बिगुल बजाया।

सम्मानित कवि शैलेय ने अपनी दो कविताओं का वाचन करने के बाद वक्तव्य में कहा कि कविता हमें सपने देती है साथ ही उन सपनों को पाने के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा भी देती है।

समारोह के मुख्य अतिथि प्रोफेसर नंद चतुर्वेदी ने कहा कि जब सारी चीजें हार जाती है तब केवल साहित्य ही प्रेरणा देता है। कविता के संदर्भ में आपने कहा कि हम इसके माध्यम से सृष्टि के वैभव को देखते हैं।

समारोह के अध्यक्ष डॉ. भगवतीलाल व्यास ने श्री निरंजननाथ आचार्य के व्यक्तित्व को रेखांकित करते हुए कहा कि वे अत्यंत संवेदनशील, अध्ययनशील, साहित्यानुरागी एवं लोक चेतना के पक्षधर थे।

समारोह समिति के संयोजक कमर मेवाड़ी ने आचार्य निरंजननाथ सम्मान की पूरी प्रक्रिया एवं पारदर्शिता के बारे में बताते हुए आचार्य जी के जीवन से संबंधित थे।

प्रस्तुति- नरेन्द्र 'निर्मल'

कनाडा में सम्मानित होंगे गुरमीत बेदी

हिमाचल के युवा व्यंग्यकार गुरमीत बेदी को नके व्यंग्य-संग्रह 'नाक का सवाल' के लिए कनाडा की साहित्यिक सस्था, 'विरसा' द्वारा सम्मानित किया जाएगा। गुरमीत बेदी को 51 हजार की पुरस्कार राशि के अतिरिक्त प्रशस्ति पत्र भी प्रदान किया जाएगा। उनके आने-जाने का खर्चा भी संस्था ही करेगी। गुरमीत बेदी 'व्यंग्य यात्रा' के सम्मानित युवा व्यंग्यकार हैं। व्यंग्य यात्रा की बधाई।

दूरदर्शन पर गंजायमान 'गूंजते स्वर'

नई दिल्ली, 'बनाया है मैंने ये घर धीरे-धीरे, कटा जिंदगी का सफल धीरे-धीरे, 'बेचकर खुद को कई कर्ज चुकाए तो सही, पर खरीदार का अहसान अभी बाकी है', 'बेटियां शीतल हवायें हैं, जो पिता के घर बहुत दिन तक नहीं रहतीं'- सुप्रसिद्ध कवि रामदरश मिश्र, बालस्वरूप राही, डॉ. कुंवर बेचैन की इस कर्णप्रिय रचनाओं की तरह ही देश के 26 वरिष्ठ कवि, गीतकार, गज़लकारों की श्रेष्ठ रचनाएं इन दिनों दूरदर्शन के डी.डी. भारती पर गुंजायमान हो रही हैं।

अंकित प्रोड्क्शंस के बैनर तले बनाए गए इन वृत्त चित्रों के परिकल्पनाकार तथा लेखक जाने-माने कवि गजलकार बालस्वरूप राही हैं और निर्देशन टी.वी. फिल्म निर्माता एवं पत्रकार प्रदीप जैन का है। 'गूंजते स्वर' का छायांकन, संपादन और तकनीकी निर्देशन युवा फिल्मकार अंकित जैन ने किया है। रचनाओं को संगीत और स्वर दिया है दिवेश भारद्वाज, अंजली और वंदना भारद्वाज ने।

'गूंजते स्वर' के तहत देश के जिन 26 कवियों को श्रृंखलाबद्ध किया गया है उनमें गोपालदास नीरज, रामदरश मिश्र, भारतभूषण, बालस्वरूप राही, कन्हैया लाल नंदन, शेरजंग गर्ग, बाल कवि बैरागी, कुंवर बेचैन, अशोक चक्रधर, उदय प्रताप सिंह, किशन सरोज, सोम ठाकुर, डॉ. सादिक, सुरेश नीरव, जयकुमार 'जलज', परशुराम शुक्ल 'विरही', स्वर्गीय श्री गिरजा कुमार माथुर, स्व. राधेश्याम 'प्रगल्भ', स्व. रामकुमार चतुर्वेदी 'चंचल', स्व. हरि प्रसाद 'हरि', स्व. तन्मय बुखारिया जैसे नाम शामिल हैं। इन रचनाकारों के अलावा वयोवृद्ध कवियित्री श्रीमती ज्ञानवती सक्सेना, श्रीमती पुष्पा राही, श्रीमती पद्मा सचदेव, श्रीमती उर्मिल सत्यभूषण और स्वर्गीय श्रीमती इंदू जैन की सशक्त रचनाओं को भी स्वरबद्ध करके फिल्मांकन किया गया है।

अभिनेत्री कनुप्रिया के अलावा कविवर श्री लक्ष्मीशंकर वाजपेयी, पं. सुरेश नीरव, श्री श्याम निर्मम ने भी रचनाकारों का जीवंत साक्षात्कार किया है।

प्रेषक- अंकित जैन

अभिनव बालमन का विमोचन

कार्यक्रम में विमोचनकर्ता मेधावियों को बाल रचनाकार मण्डल की ओर से मैडल, शील्ड व पुरस्कार देकर सम्मानित किया गया। पत्रिका में प्रकाशित व अन्य बाल रचनाकारों ने अपनी स्वरचित रचनाओं को प्रस्तुत किया। जिसमें मुकुल उत्कर्ष ने कहानी सुनायी तो आशीष ने बालमन की अब तक की यात्रा को शब्दों में बांधकर प्रस्तुत किया। बाल रचनाकार शुभम, देवमित्र, शुभि, रामकुमार, प्रीति, उर्वशी, लखन, रीतिका, गुंजन, नेहा कादिर, महक फातिमा, मानसी, देवाशीष, इशिता, गुंजन, आशीष कुमार, तुषार, देव ने अपनी कविताएं प्रस्तुत कीं।

प्रस्तुति- आशीष (सचिव)

साहित्य चेतना समिति का महाधिवेशन सम्पन्न

ग्राम्यांचल में साहित्यिक माहौल कायम करने के लिए संघर्षरत राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित 'तरुण सांस्कृतिक चेतना समिति' मऊशेरपुर, समस्तीपुर (बिहार) का 28वां महाधिवेशन त्रि-दिवसीय साहित्योत्सव के साथ सम्पन्न हुआ। साहित्योत्सव का विधिवत उद्घाटन 'मुक्त कथन' के संपादक एवं समर्पित साहित्य साधक जनार्दन प्रसाद सिंह ने दीप प्रज्वलित कर किया। सेवा निवृत्त प्राचार्य महेन्द्र कुमार शास्त्री के स्वागत भाषण, मिथिलेश कुमार के स्वागत गान के बाद अर्जुन का 'गवैया' ने जय-जय भैरवि' गायन से विद्यापति की निर्वाण भूमि के पार्श्व के इस साहित्यिक महाकुंभ में एक समां बांध दिया।

सम्मान सत्र में साहित्यकारों / पत्रकारों को विविध सम्मानों से सम्मानित किया गया।

कविवर सम सकल 'विद्यार्थी' की अध्यक्षता में सम्पन्न अ.भा. ग्रामीण कवि-सम्मेलन ने साहित्योत्सव को यादगार बना दिया।

धन्यवाद ज्ञापन भागवत प्रसाद यादव ने किया।

प्रस्तुति- सीताराम शेरपुरी

निर्मिश ठाकुर के कार्टून की सोनिया गांधी द्वारा प्रशंसा

सानिया गांधी ने एक पत्र द्वारा निर्मिश ठाकुर के कार्टून की प्रशंसा की है। निर्मिश ठाकुर के कृतित्व से 'व्यंग्य यात्रा' के पाठक परिचित ही हैं। निर्मिश ठाकुर व्यंग्यकार, कार्टूनिस्ट, तबला वादक, इंजीनियर हैं। इनके तीस से अधिक प्रकाशन है। 'व्यंग्य तज़्मीन' उनके द्वारा किया गया नया प्रयोग है। 'व्यंग्य यात्रा' की बधाई।

दिव्य पुरस्कार

भोपाल। शीर्ष ऐतिहासिक उपन्यासकार, कवि, चित्रकार एवं साठ महत्वपूर्ण ग्रंथों के सर्जक स्व. अम्बिका प्रसाद दिव्य की स्मृति में साहित्य सदन, भोपाल द्वारा प्रदान किए जाने वाले राष्ट्रपति ख्याति के दिव्य पुरस्कारों हेतु रचनाकारों से कृतियां आमंत्रित हैं। उपन्यास विधा हेतु पांच हजार तथा कहानी और काव्य विधा के लिए इक्कीस-इक्कीस सौ रुपए राशि के पुरस्कार प्रदान किए जाएंगे। नाटक, व्यंग्य, ललित निबंध, पत्रिकारिता, बाल साहित्य, दिव्य साहित्य पर शोध एवं साहित्यिक पत्रिकाओं को दिव्य रजत अलंकरण प्रदान किए जाएंगे। दिव्य पुरस्कारों के संयोजक एवं 'दिव्यलोक' पत्रिका के संपादक री जगदीश किंजल्क ने बताया कि पुस्तकें 2006 से दिसंबर 2008 के मध्य प्रकाशित होना चाहिए। पुस्तकों के साथ सौ रुपए प्रवेश शुल्क, लेखक / संपादक के दो रंगीन चित्र, 30 नवंबर 2009 तक श्रीमती राजो किंजल्क, साहित्य सदन, 145-ए सांईनाथ सी, महावीर नगर, कोलार, भोपाल-462042 (म.प्र.) के पते पर पहुंचा जाना चाहिए। अन्य जानकारी मोबाइल नंबर 09977792777 पर ली जा सकती है। (म.प्र. विवरणिका, जून)

डॉ. कुंवरपाल सिंह की स्मृति में शोकसभा

विचारधारा मंच (रजि.) एवं अनिरुद्ध यादगारी ट्रस्ट की ओर से जालंधर में आज 11.11.2009 को आयोजित शोक सभा में हिंदी के मूर्धन्य आलोचक प्रगतिशील चिंतक एवं सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता डॉ. कुंवरपाल सिंह के असामयिक निधन से होने वाली अपूरणीय क्षति के संदर्भ में भावपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित की। विशेष रूप में डॉक्टर कुंवरपाल सिंह की पंजाब एवं जालंधर के साथ आत्मीय रिश्तों को याद किया गया। उनका प्रेरक व्यक्तित्व हिंदी साहित्य जगत में भविष्य में अनेक सार्थक विचार सारणियों एवं सृजनकर्म को सम्यक दिशा प्रदान करने का कार्य करता रहेगा। इस सदिच्छा के साथ हम उनके परिवार विशेष रूप में डॉ. नमिता सिंह के साथ गहरी संवेदना व्यक्त करते हैं एवं यह उम्मीद जाहिर करते हैं कि उनके बाद भी नमिता जी के प्रयासों से वर्तमान साहित्य के द्वारा आरंभ किया गया कार्य बदस्तूर बुलंदियों को छूता रहेगा।

विनीत- डॉ. विनोद शाही

डॉ. शिवनारायण को 'भारतीय भाषा रत्न' सम्मान

सुप्रतिष्ठ कवि, समालोचक एवं 'नई धारा' के संपादक डॉ. शिवनारायण को विक्रमशिला हिंदी विद्यापीठ, भागलपुर ने विगत 27 दिसंबर, 2009 को अपने शिखर सम्मान 'भारतीय भाषा रत्न' की मानसेवी उपाधि से विभूषित किया। डॉ. शिवनारायण को सम्मानित करते हुए विद्यापीठ के कुलपति डॉ. तेजनारायण कुशवाहा ने कहा कि कविता, आलोचना सहित विभिन्न विधाओं में डॉ. शिवनारायण की अब तक 26 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें वर्ष 2009 में प्रकाशित इनकी 'संस्कृति का विवेक', 'हिंदी विज्ञापनों का समकालीन विमर्श', 'हिंदी पत्रकारिता का समकालीन विमर्श' आदि शामिल हैं।

'हरीश पाठक ने रघुवीर सहाय की परंपरा को आगे बढ़ाया

'त्रिकोण के तीनों कोण' के माध्यम से कथाकार-पत्रकार हरीश पाठक ने हिंदी में रघुवीर सहाय की परंपरा को आगे बढ़ाने का काम किया है। इनकी रचनाओं में मानवीय संवेदना पाठकों को झकझोरती है। कमलेश्वर, तीजनबाई, प्रमोद महाजन आदि पर लिखीं इनकी रचनाएं बार-बार पढ़ने का मन करता है।

ये बातें प्रख्यात कथा लेखिका चित्र मुद्गल ने कहीं। वे विगत 10 दिसंबर को पटना के गांधी मैदान में चर्चित कथाकार-पत्रकार हरीश पाठक की पुस्तक 'त्रिकोण के तीनों कोण' का लोकार्पण कर रही थीं। साहित्यिक पत्रिका 'नई धारा' एवं प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली द्वारा आयोजित इस समारोह की अध्यक्षता वरिष्ठ आई.ए.एस. पदाधिकारी एवं कथाकार व्यासजी ने की, जबकि संचालन कवि-समालोक डॉ. शिवनारायण ने किया। हरीश पाठक की भाषा संवेदना की जमकर तारीफ करते हुए चित्रा मुद्गल ने कहा कि हरीश पाठक की तरह कम लिखो, पर वह लिखो जो लिखना चाहिए। हरीश की किताब 'त्रिकोण के तीनों कोण' लोकतंत्र के तीनों कोण विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की ओर इंगित करता है, जबकि चौथा कोण पत्रकार होने के नाते वह स्वयं बनाते हैं।

'नई धारा' के संपादक डॉ. शिवनारायण ने इस अवसर पर कहा कि 'त्रिकोण के तीनों कोण' के पहले खण्ड 'सिलसिला' के सारे लेख 'धर्मयुग' के चर्चित स्तंभ 'सुर्खियों के पीछे' में 1987 से 1996 तक लिखे गए। इस खंड में 38 लेख हैं, जबकि दूसरे खंड 'कुछ और चेहरा' में 24 लेख। पुस्तक के पहले लेख 'भूल सकता नहीं भुलाने से' में लेखक ने अपने संघर्षशील जीवन-चित्रण के माध्यम से कथालेखिका चित्रा मुद्गल के उदात्त व्यक्तित्व को रेखांकित किया है। अन्य वक्ताओं में मीरा मिश्र, कमलेश पाठक, कथाकार ए.एन. नंद, डॉ. ध्रुव कुमार आदि ने भी पुस्तक की सराहना करते हुए हरीश पाठक के पत्रकारिता कर्म को रेखांकित किया।

इस अवसर पर हरीश पाठक ने अपने लेखन की रचना प्रक्रिया बताते हुए पुस्तक से दो चुनिंदा संलेखों का पाठ किया। अंत में अध्यक्षीय भाषण करते हुए बिहार सरकार के प्रधान श्रम सचिव एवं कथाकार व्यासजी ने कहा कि हरीश पाठक के लेखन में निर्भीकता, सच्चाई एवं संस्कृति-विमर्श प्रभावित करता है। श्री पाठक ने 'कृपया गुंडों को नायक न बनाएं' जैसे लेख से समाज को सकारात्मक दिशा देने का प्रयास किया है। उनका लेखन असहाय एवं उत्पीड़ित वर्ग के प्रति संवेदना एवं सहानुभूति का भाव परोसता है, जिसकी प्रशंसा की जानी चाहिए।

आयोजन के आरंभ में प्रभात प्रकाशन के स्वामी पीयूष कुमार ने अतिथियों का स्वागत करते हुए पुस्तक की प्रासंगिकता रेखांकित की, जबकि अंत में डॉ. ध्रुव ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

भूमंडलीकरण भाषा के लिए खतरे की घंटी-डॉ. स्नेहलता पाठक

हास्य-व्यंग्य की पत्रिका 'विदूषक-' द्वारा स्वतंत्रता सेनानी जगन्नाथ राय शर्मा स्मृति समारोह का भव्य साहित्यिक आयोजन विगत 13 दिसंबर 2009 को श्रीकृष्ण सिन्हा संस्थान, बिष्टुपुर में श्री नंद कुमार उन्मन की अध्यक्षता में संपन्न हुआ।

समारोह के मुख्य अतिथि डॉ. शांति सुमन, विशिष्ठ अतिथि न्यायमूर्ति श्री सत्य प्रकाश तथा री के.के. सिंह थे। इस अवसर पर चर्चित व्यंग्य लेखिका डॉ. स्नेहलता पाठक, रायपुर (छत्तीसगढ़) एवं स्थानीय साहित्यकार श्री रामनिवास को शाल, श्रीफल, स्मृति-चिन्ह, नगद राशि प्रदान कर सम्मानित किया गया। मुख्य अतिथि डॉ. शांति सुमन ने

डॉ. स्नेहलता पाठक एवं श्री रामनिवास को न्यायमूर्ति श्री सत्यप्रकाश ने सम्मानित किया।

इस अवसर पर मुख्य अतिथि शांति सुमन ने विदूषक के नये अंक का विमोन किया। यह अंक स्व. कवि निर्मल मिलिंद को समर्पित है।

सम्मानित अतिथि डॉ. स्नेहलता पाठक ने अपने उद्‌बोधन में कहा कि व्यंग्य राष्ट्रीय और सामाजिक कुरीतियों पर तीखा प्रहार करते हैं। व्यंग्य लेखन आज की आवश्यकता है और इसने साहित्य में अपना खास स्थान कायम कर लिया है। व्यंग्य के हटकर कुछ भी लिख पाना किसी के लिए भी संभव नहीं है। उन्होंने कहा कि आज आदमी से आदमी डर रहा है। व्यंग्यकार इस तस्वीर को बदलना चाहता है।

न्यायमूर्ति श्री सत्यप्रकाश ने कहा कि व्यंग्यकार अपनी व्यंग्य की चाबुक की मार से समाज को सही रास्ते पर ला सकता है।

डॉ. स्नेहलता पाठक ने अपनी असीम उदारता का परिचय देते हुए अपनी सम्मान राशि को विदूषक परिवार को सस्नेह लौटा दिया।

मंच संचालन कवि दिनेश्वर प्रसाद दिनेश, स्वागत भाषण श्री अनिरुद्ध त्रिपाठी अशेष एवं धन्यवाद ज्ञापन श्री यमुना तिवारी 'व्यथित' ने किया।

राष्ट्रपति सरअनिरुद्ध जगन्नाथ ने किया पुस्तक का विमोचन

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा के दूसरे दीक्षांत समारोह में कन्हैया त्रिपाठी द्वारा लिखित पुस्तक 'सतह से शिखर तक भारत के राष्ट्रपति' का विमोचन मारीशस के राष्ट्रपति महामहिम सर

अनिरुद्ध जगन्नाथ और विश्वविद्यालय के कुलपति श्री विभूति नारायण राय ने किया। इस अवसर पर मारीशस केन्द्रीय हिन्दी सचिवालय के सचिव श्री राजेन्द्र प्रसाद मिश्र, सुप्रसिद्ध साहित्यकार गनपत उपस्थित थे। पुस्तक का विमोचन विश्वविद्यालय के दूसरे दीक्षांत समारोह के संध्या कार्यक्रम में किया गया जिसमें सर्वप्रथम विश्वविद्यालय के कुलपति श्री विभूति नारायण राय ने महामहिम राष्ट्रपति जगन्नाथ से श्री त्रिपाठी का परिचय कराते हुए कहा कि कन्हैया त्रिपाठी एक अच्छे लेखक व चिंतक हैं। उसके बाद भारतीय गणराज्य के समस्त राष्ट्रपतियों के जीवनवृत्त पर आधारित सतह से शिखर तक भारत के राष्ट्रपति नामक पुस्तक का विमोचन सर अनिरुद्ध जगन्नाथ, कुलपति श्री विभूति नारायण राय व साहित्यकार राजेन्द्र प्रसाद मिश्र ने किया तथा लेखक को बधाई तथा शुभकामनाएं दी। ज्ञातव्य है कि श्री त्रिपाठी सामाजिक क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के अलावा लगातार सृजनरत हैं। इससे पूर्व हिन्दी समय में उनकी पुस्तक आदिवासी समाज और मानव अधिकार का विमोचन विश्वविद्यालय में ही हुआ था।

प्रस्तुति– बी.एस. मिरगे
जनसम्पर्क अधिकारी

शरद उपाध्याय पुरस्कृत

पत्रिका समूह की ओर से प्रतिवर्ष साहित्य को क्षेत्र में सृजनात्मक लेखन के लिए दिए जाने वाले पुरस्कारों की कड़ी में इस साल कहानी का द्वितीय पुरस्कार कोटा के शरद उपाध्याय को दिया गया है। यह पुरस्कार उन्हें उनकी कहानी 'अपने और पराए' के लिए दिया गया है। इसमें उन्हें पांच हजार रूपए और प्रशस्ति पत्र प्रदान किए गए। इस वर्ग में प्रथम पुरस्कार दिल्ली की शोभा नारायण को दिया गया है। चार जनवरी को राजस्थान पत्रिका और माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रींय पत्रकारिता व संचार विश्वविघालय भोपाल की ओर से आयोजित पंडित झाबरमल्ल शर्मा स्मृति व्याख्यानमाला में सोमवार को यह पुरस्कार प्रदान किए गए।

आलोक मेहता सम्मानित

रशियन सांस्कृतिक एवं सूचना केंद्र में आयोजित एक समारोह में वरिष्ठ पत्रकार एवं 'नई दुनिया' के प्रधान संपादक, आलोक मेहता को हरिदत्त शर्मा जयंती पुरस्कार से सम्मनित किया गया।

योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण' सम्मानित

मौन तीर्थ फाउडेंशन द्वारा रुड़की के साहित्यकार डॉ. योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण' को उनके महाकाव्य 'वैदुष्यमणि विद्योत्तमा' के लिए वर्ष 2009 के 'राष्ट्रीय विदुषी विद्योत्तमा स्त्री–शक्ति सम्मान' से सम्मानित किया गया।

मीडिया, हिन्दी और नव मध्यवर्ग' पर बोले प्रो. रामशरण जोशी

हिन्दी भवन के तत्वावधान में 'धर्मवीर स्मृति हिन्दी महिमा व्याख्यानमाला' के अंतर्गत वरिष्ठ पत्रकार और चिंतक प्रो. रामशरण जोशी ने 'मीडिया, हिन्दी और नव मध्यवर्ग' विषय पर अपना वक्तव्य दिया। वरिष्ठ समालोचक डॉ. निर्मला जैन के सान्निध्य में संपन्न हुए इस कार्यक्रम की अध्यक्षता साहित्य सिनेमा और मीडिया के विशेषज्ञ प्रो. जवरीमल्ल पारख ने की और मुख्य अतिथि थे कर्नाटक के पूर्व राज्यपाल श्री त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी। प्रो. रामशरण जोशी ने अपने विद्वतापूर्ण व्याख्यान में कहा कि 'इस सदी में मधयवर्ग की नई पीढ़ी अस्तित्व में आ चुकी है। इस पीढ़ी का कृषि–महाजनी–भारत, औपनिवेषिक भारत या गांधीकालीन भारत और स्वातंत्र्योत्तर भारत की नेहरू–शास्त्री–इंदिराकालीन पीढ़ी के साथ न कोई सरोकार है, और न ही उसका कोई 'हैंगओवर' है। डॉ. रामशरण जोशी ने यह भी कहा कि 'प्रेस शब्द' इतिहास बन चुका है, 'मीडिया शब्द' ने इसे प्रतिस्थापित कर दिया है।

डॉ. निर्मला जैन ने कहा कि आज का मीडिया पूरी तरह बाजारू हो गया है। आज नैतिकता दिखाने वाले संपादकों को मालिक कान पकड़कर बाहर कर देते हैं, आज की पत्रकारिता पर 'सेंशेसनलिज़्म' हावी है। अध्यक्ष प्रो. जवरीमल्ल पारख ने अपने वक्तव्य में कहा कि मीडिया के मालिकों का नजरिया व्यावसायिक और मुनाफा केन्द्रित है। अखबारों को मुनाफा पाठकों की खरीद से नहीं, विज्ञापनदाताओं से होता है। मुख्य अतिथि श्री त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी ने प्रो. जोशी के विचारों की सराहना करते हुए कहा कि इस विषय पर और अधिक विचार–विमर्श की आवश्यकता है।

कार्यक्रम के प्रारंभ में अतिथियों ने स्व. धर्मवीर के चित्र पर पुष्पांजलि अर्पित की और संचालिका डॉ. सुषामा यादव ने धर्मवीरजी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डाला

-देव राजेंद्र

गिरिजाकुमार माथुर की सोलहवीं पुण्यतिथि पर एक कविता शाम

'तारसप्तक' और नई कविता के दौर के एक महत्वपूर्ण कवि गिरिजाकुमार माथुर की सोलहवीं पुण्य तिथि के अवसर पर गिरिजाकुमार माथुर स्मृति न्यास के तत्वावधान में उन्हीं के निवास पर एक कविता शाम का आयोजन किया गया। कार्यक्रम की शुरुआत में प्रताप सिंह ने माथुर जी की कुछ उन कविताओं का पाठ किया जो किसी जमाने में कल्पना, धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान और माध्यम आदि पत्रिकाओं में छपी थीं। उन्होंने माथुर साहब की कविता यात्रा को भी अपने समय का सार्थक दस्तावेज माना। इसके बाद कविताओं का सिलसिला शुरू हुआ। पवन माथुर ने माथुर जी एवं शकुन्त माथुर की कविताओं का पाठ किया। कवियों में नरेन्द्र मोहन, प्रताप सहगल, शशि सहगल, सुरेश रितुपर्ण, अश्विनी पराशर और सुरेश धींगडा ने अपनी कविताओं का पाठ किया। गोष्ठी में गुरचरण सिंह, मधु माथुर, अमित, अशोक सहित कई काव्य रसिक मौजूद थे। इस गोष्ठी की सबसे बड़ी खासियत थी इसकी सादगी और उस सादगी भरे माहौल में सिर्फ और सिर्फ कविता।

– प्रताप सहगल

सृजन स्मरण

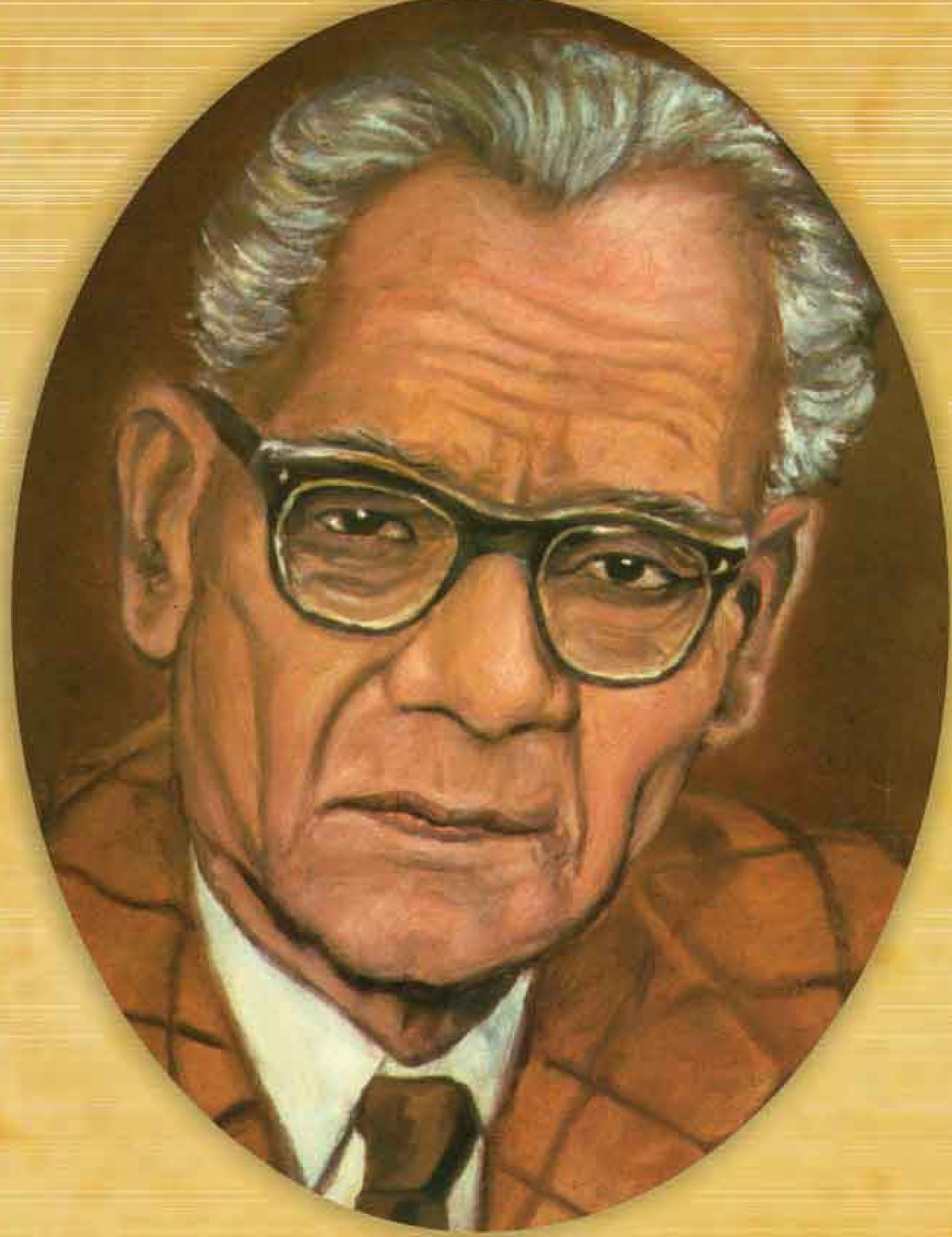

काश! जीवन में मेरे सुख-दुख का कोई एक अवलम्ब होता।
मेरा कोई साथी होता! मैं अपने दुख-सुख का एक भाग उसे दे,
उसकी अनुभूति का भाग ग्रहण कर सकता!
मैं अपने इस निस्सार यश को दूर फेंक संसार का जीव बन जाता।

यशपाल
(1903-1976)

दिल्ली सरकार
टीम दिल्ली – स्वप्न करे साकार

सूचना एवं प्रचार निदेशालय

वर्ष-5 पंजीयन संख्या : DELHIN/2004/15013 अंक-21

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ॰ प्रेम प्रकाश की ओर से सचदेवा प्रिंट आर्ट्स प्राइवेट लिमिटेड, 44, राजस्थानी उद्योगनगर, जी॰टी॰ करनाल रोड, दिल्ली-110033 द्वारा मुद्रित एवं 73, साक्षर अपार्टमैंट्स, ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063 से प्रकाशित

संपादक : प्रेम जनमेजय